हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

6



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

मूल्य · रु. 75.00

प्रथम संस्करण : अगस्त, 1981

प्रकाशक · राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002

मुद्रक : रचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली-110032

कलापक्ष : मोहन गुप्त

HAZARIPRASAD DWIVEDI GRANTHAVALI
Price : Rs. 75 00



"व्यक्ति नहीं रहेगा, लेकिन समष्टि रहेगी। सोचना-विचारना
उसी के लिए है।"

—ज़िन्दगी और मौत के दस्तावेज



"उतरो महागुरो, एक बार और उतरो ! हम तुम्हारी ऊँचाई तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। आज भी मनुष्य की क्षुद्र अहमिका विक्षिप्त नर्तन कर रही है, आज भी भय और लोभ की आशंका और तृष्णा की धमाचौकडी व्याप्त है। एक बार और आओ, रक्षा करो मनुष्यता की, धर्म की, सत्य की !"

—सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण

गुरु की वाणियों को बार-बार पढ़ते हुए मैं आनन्द विभोर, विस्मय-
[illegible] और कविता का महत्व कितना! महाप्रभु चैतन्य देव ने कहा—
'तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना' (घास की नोक से भी नीचे
और वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होकर सदा भगवान् की सेवा करनी
चाहिए। गुरु नानक ने और भी आगे बढ़कर कहा है— [illegible] मैं
से यही मांगता हूँ कि जो [illegible] हैं 'मैं उनका
साथी बनूँ।' बड़ा [illegible] लोगों के [illegible] की मेरी
इच्छा नहीं होगी क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरी [illegible] नहीं होगी है
जहाँ इन [illegible] की [illegible] होगी—

नीचा अंदरि नीच जाति नीची हू अति नीचु।
नानकु तिन कै संगि साथि वडिआ सिउ किआ रीस
जिथै नीच समालीअनि तिथै नदरि तेरी बखसीस॥

'सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण' की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ

नाथमार्गी अवधू

नाथमार्गी अवधूत की चर्चा नानक ने भी उठाया था। सन्तों के परिभाषा से उसका मत नहीं मिलता, पर भी स्पष्ट है कि अवधूत शब्द मार्गों में ही चलते हैं, वह सन्त-साहित्य हठयोग मार्ग के अवधूतों को ही अवधू कहते थे। गुरु नानकदेव ने भी अत्यन्त मधुरता से यह उपदेश दिया कि नाथमार्गी और नाम स्मरण की ओर ले आने का प्रयत्न किया:

जाकै रुपु नाही जाति नाही नाही मुखु माथा ।
सतिगुरि मिले निरंजनु पाइआ तेरै नामि है निवासा ।
अउधू सहजे ततु बीचारि । जा ते फिरि न आवहु सैसारि ।
जाकै करमु नाही धरमु नाही नाही सुचि माला ।
सिव जोति कंनहु बुधि पाई सतिगुरू रखवाला ।
जाकै बरतु नाही नेमु नाही नाही बकबाई ।
गति अवगति की चिंत नाही सतिगुरू फुरमाई ।
जाकै आस नाही निरास नाही चिति सुरति समझाई ।
तंत कउ परम तंतु मिलिआ नानका बुधि पाई

(रागु परभाती बिभास म० । असटपदी घरु । सबद-३)

कहते हैं, हे अवधू, सहज भाव से वास्तविक तत्त्व का विचार करो। उस परम तत्त्व को जिसके न रूप है, न जाति है न मुख है न माथा है। केवल नाम रूप में निवास है—जिसका स्थूल रूप नहीं है, पर सूक्ष्म रूप के रूप में वह नाम से ही जाना जाता है और निरंजन-निर्लेप है—माया से रहित है—उसे सतगुरु की कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है, नाना प्रकार की बाह्य साधनाओं और क्रियाओं से उसे पाना असंभव है। इस तत्त्व को सहज भाव से बिना जाने यह हो सकता है कि तुम फिर इस संसार में आ सकते हो।

प्रातः स्मरणीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समग्र साहित्य को एक सूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी-पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्यजी के मन में अनेक परिकल्पनाएँ तथा योजनाएँ थी जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए वे निरन्तर क्रियाशील थे। परन्तु नियति-निर्णय से उन्हें अधूरी ही छोड़कर वे चले गये हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना उसी सम्पूर्णता की शृंखला की पहली कड़ी है।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को चमत्कृत और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। मनीषियों की दृष्टि में वे चिन्तन और भावना दोनों ही स्तरों पर महत्त्व-बिन्दु पर भासमान हैं। उनकी रचनादृष्टि समय के आरपार देखने में समर्थ थी। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जड़ता खो बैठा और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य में हिल्लोलित हो उठी, जो तीनों कालों को जोड़ देती है।

आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन-साधना ने हिन्दी वाङ्मय के एक पूरे और विशाल युग को प्रभावित किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी और बांग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। साथ ही, अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होंने परिशीलन किया था और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पाण्डित्य में सहजता का मणिकांचन योग उन्हें सामान्य मानव की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था और वे अनायास ही जनहृदय से स्पन्दित और आन्दोलित हो उठते थे। उनका विद्वान् सरलता से सजग हो उठता था। वे प्रत्येक मन में विराजमान हो जाने की अपूर्व मेधा के धनी हो जाते थे।

आचार्यजी की इन्हीं अद्वितीय प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनायी गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को साथ रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये ग्यारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड : उपन्यास-1
2. दूसरा खण्ड : उपन्यास-2
3. तीसरा खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. चौथा खण्ड : प्रमुख सन्त कवि
5. पांचवां खण्ड : मध्यकालीन साधना
6. छठवां खण्ड : मध्यकालीन साहित्य
7. सातवां खण्ड : लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म
8. आठवां खण्ड : कालिदास और रवीन्द्र
9. नवां खण्ड : निबन्ध-1
10. दसवां खण्ड : निबन्ध-2
11. ग्यारहवां खण्ड : विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेकों समस्याएँ आयी हैं। निबन्धों का विभाजन भी निबन्ध-संग्रह तथा तिथि-क्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है। निबन्ध के अन्त में मूल निबन्ध-संग्रह का नाम दे दिया गया है। ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके; इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया है। कबीर, सूर और तुलसी के अतिरिक्त कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आचार्यप्रवर प्राय: अभिभूत रहे हैं, अत: दोनों महाकवियों से सम्बद्ध सामग्री एक ही खण्ड में दे दी गयी है। अन्तिम खण्ड में विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री संकलित है। आचार्य द्विवेदी ने प्रारम्भ में काव्य रचनाएँ भी की थी और अनेक अनुवाद भी। उन्हें यहाँ समाहित कर दिया गया है।

इस विशाल योजना की परिपूर्णता मे अनेक लोगों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है जिसके बिना निश्चय ही यह कार्य पूर्ण नही हो पाता। उन सबके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करते हैं। पं. राजाराम शास्त्री ने अप्रकाशित ज्योतिःशास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के विषय में परामर्श दिया; और श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त' ने मुद्रण प्रति तैयार करके हमारे दायित्व को आसान बनाया। हम इन दोनों को साधुवाद अर्पित करते हैं। श्रीमती शीला सन्धू, और राजकमल प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और रुचि से इस योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दो के साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप मे, हम वृहद् हिन्दी विश्व-परिवार को समर्पित करते हैं। इससे ज्ञानधारा एवं रससृष्टि मे थोडा भी विकास सम्भव हुआ तो हम अपने को कृतकार्य मानेंगे

जगदीशनारायण द्विवेदी
मुकुन्द द्विवेदी

अनुक्रम

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

6

"गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्मनेता थे। उनकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्मगुरु का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश से एकदम अनाविल और कुशाग्र थी। उनके चरित्र में कही भी भाव-विह्वलता नही है। जिन दिनों उन्होने जन्म ग्रहण किया था, उन दिनों भारतीय धर्मसाधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन, सात्विक वृत्ति, और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। लोक-जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी, उसे गोरक्षनाथ ने नयी प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होंने दुर्बलता नही दिखायी। वे स्वयं पण्डित व्यक्ति थे, पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नही, साधन है। उन्होने किसी से भी समझौता नही किया, लोक से भी नही, वेद से भी नही; परन्तु फिर भी उन्होने समस्त प्रचलित साधना-मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया।"

—नाथ सम्प्रदाय
ग्रन्थावली-6, पृष्ठ 210

नाथ सम्प्रदाय

निवेदन

नाथ-सम्प्रदाय का यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इसका प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से प्रकाशित हुआ था। जिन दिनों यह पुस्तक लिखी गयी थी, उन दिनों इस विषय पर कोई पुस्तक नहीं थी। इसके विभिन्न अंगों पर विद्वानों ने कुछ-कुछ लिखा अवश्य था, पर सम्पूर्ण सम्प्रदाय का परिचय उनसे नहीं मिलता था। इधर इस दिशा में अनेक शोधी विद्वान् प्रयत्नशील हुए हैं और बहुत-कुछ लिखा जा रहा है। फिर भी नित्य आते रहनेवाले पत्रों से लगता है कि जिज्ञासु पाठक इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने कृपापूर्वक इसके नये संस्करण के प्रकाशन का अधिकार नैवेद्य-निकेतन (वाराणसी) को दिया है। अब यह वहीं से प्रकाशित हो रहा है। इस नये संस्करण में कुछ नयी जानकारियाँ बढ़ायी अवश्य गयी हैं, पर यथासम्भव पुस्तक के पुराने ढाँचे को ज्यों-का-त्यों रहने देने का प्रयत्न किया गया है।

जैसे-जैसे नाथ सम्प्रदाय के विस्तार और प्रभाव की जानकारी प्राप्त होती जा रही है, वैसे-वैसे इसका असाधारण महत्त्व भी स्पष्ट होता जा रहा है। भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में इस सम्प्रदाय का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलन रहा है और बाद में भी पर्याप्त शक्तिशाली रहा है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में से प्रायः सबके साहित्यिक प्रयत्नों की पृष्ठभूमि में इसका प्रभाव सक्रिय रहा है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की प्रेरक शक्तियों का अध्ययन इस सम्प्रदाय के अध्ययन के बिना अधूरा ही रह जायेगा।

पुस्तक के प्रथम संस्करण का विद्वानों ने स्वागत किया है। प्रायः इसके विषय में उत्साहवर्द्धक पत्र मिलते रहे हैं। मैं उन सहृदय विद्वान् पाठकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने इसे प्रेमपूर्वक अपनाकर इसका गौरव बढाया है।

19.12.66 — हजारीप्रसाद द्विवेदी

नाथ सम्प्रदाय का विस्तार

1. नाम

साम्प्रदायिक ग्रन्थों में नाथ-सम्प्रदाय के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। 'हठ-योग प्रदीपिका की टीका' (1-5) में ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि सब नाथों में प्रथम आदिनाथ है जो स्वयं शिव ही है—ऐसा नाथ-सम्प्रदायवालों का विश्वास है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानन्द इस सम्प्रदाय को 'नाथ-सम्प्रदाय' नाम से ही जानते थे[1]। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में बराबर यह उल्लेख मिलता है कि यह मत 'नाथोक्त' अर्थात् नाथ द्वारा कथित है। परन्तु सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द हैं : सिद्ध-मत (गो. सि. सं., पृ. 12), सिद्ध-मार्ग (योगबीज), योगमार्ग (गो. सि.सं.पृ. 5, 21), योग सम्प्रदाय (पृ. 58), अवधूत-मत (पृ. 18), अवधूत-सम्प्रदाय (पृ. 56) इत्यादि। इस मत के योग-मत और योग-सम्प्रदाय नाम तो सार्थक ही है, क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध-मार्ग इसलिए कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध है। इनके मत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' है, जिसे अठारहवी शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी के बलभद्र पण्डित ने संक्षिप्त करके 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। इन ग्रन्थों के नाम से पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्ध-मत' कहा जा रहा है। सिद्धान्त वस्तुतः वादी और प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ को कहते है, परन्तु इस सम्प्रदाय में यह अर्थ नहीं स्वीकार किया जाता। इन लोगों के मत से सिद्धों द्वारा निर्णीत या व्याख्यात तत्त्व को ही सिद्धान्त कहा जाता है (गो. सि. सं., पृ. 18), इसीलिए अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को ही ये लोग 'सिद्धान्त-ग्रन्थ' कहते हैं। नाथ-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य अन्त में नाथ-सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये और उसी अवस्था में उन्होंने 'सिद्धान्त-

1. आदिनाथः सर्वेषां नाथानां प्रथमः, ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदन्ति।

विन्दु' ग्रन्थ लिखा था। अपने मत को ये लोग 'अवधूत मत' भी कहते हैं। 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में लिखा है कि हमारा मत तो अवधूत मत ही है (अस्माकं मतं त्ववधूतमेव, पृ 18)। कबीरदास ने 'अवधू' (=अवधूत) को सम्बोधन करते समय इस मत को ही बराबर ध्यान में रखा है। कभी-कभी इस मत के ढोंगी साधुओं को उन्होंने 'कच्चे सिद्ध' कहा है।[1] गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' के शुरू में ही 'सिद्ध-मत' की भक्तिहीनता[2] की ओर इशारा किया है। गोस्वामीजी के ग्रन्थों से पता चलता है कि वे यह विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था।[3] मेरा अनुमान है कि 'रामचरितमानस' के आरम्भ में शिव की वन्दना के प्रसंग में जब उन्होंने कहा था कि "श्रद्धा और विश्वास के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव हैं; इन्हीं दो गुणों (अर्थात् श्रद्धा और विश्वास) के अभाव में 'सिद्ध' लोग भी अपने ही भीतर विद्यमान ईश्वर को नहीं देख पाते",[4] तो उनका तात्पर्य इन्हीं नाथपन्थियों से था। यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामीजी इस मत को 'सिद्ध-मत' ही कहते थे। यह नाम सम्प्रदाय में भी बहुत समादृत है और इसकी परम्परा बहुत पुरानी मालूम होती है। मत्स्येन्द्रनाथ के 'कौल ज्ञान निर्णय' के सोलहवें पटल से अनुमान होता है कि वे जिस सम्प्रदाय के अनुयायी थे, उसका नाम 'सिद्ध कौल सम्प्रदाय' था। डॉ. बागची ने लिखा है कि बाद में उन्होंने जिस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया था, उसका नाम 'योगिनी कौल मार्ग' था। आगे चलकर इस बात की विशेष आलोचना करने का अवसर आयेगा। यहाँ इतना ही कह रखना पर्याप्त है कि यह 'सिद्ध कौल मत' ही आगे चलकर नाथ-परम्परा के रूप में विकसित हुआ।

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में इस सिद्ध-मत को सबसे श्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि कर्कशतर्कपरायण वेदान्ती माया से ग्रमित है, भाट्ट मीमांसक कर्म-फल के चक्कर में

1 कच्चे सिद्धन माया प्यारी।—'बीजक', 69वीं रमैनी

2 (1) लियोनार्ड ने अपने 'नोट्स ऑन दि कन-फटा योगीज़' नामक प्रबन्ध में दिखाया है कि गोरक्षनाथ भक्तिमार्ग के प्रतिद्वन्द्वी थे। देखिए इ. ए., जिल्द 7, पृ. 299.

(2) नाथ योगियों और भक्तों की तुलना के लिए देखिए—'कबीर', पृ. 153-4.

3. बरन धरम गयो आस्रम निवास तज्यो
 त्रासन चकित सो परावनो परो सो है।
करम उपासना कुवासना विनास्यो ज्ञान
 बचन विराग वेस जगत हरो सो है।
गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग
 निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।
काय मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि
 राम नाम को भरोसो ताहि को भरोसो है।

—'कवितावली', उत्तरकाण्ड, 84

4 भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

पड़े हुए है, वैशेषिक लोग अपनी द्वैत-बुद्धि से ही मारे गये हैं तथा अन्यान्य दार्शनिक भी तत्त्व से वंचित ही हैं; फिर, सांख्य, वैष्णव, वैदिक, वीर, बौद्ध, जैन, ये सब लोग व्यर्थ के कष्टकल्पित मार्ग में भटक रहे है; फिर, होम करनेवाले बहुदीक्षित आचार्य, नग्नव्रतवाले तापस, नाना तीर्थों में भटकनेवाले पुण्यार्थी बेचारे दुःख-भार से दबे रहने के कारण तत्त्व से शून्य रह गये हैं,—इसलिए एकमात्र स्वाभाविक आचरण के अनुकूल सिद्धमार्ग को आश्रय करना ही उपयुक्त है।[1] यह सिद्धमार्ग नाथ-मत ही है। 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना, इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण से 'नाथ' कहा जाता है।[2] फिर 'ना' शब्द का अर्थ नाथ-ब्रह्म जो मोक्ष-दान में दक्ष है, उनका ज्ञान कराना है और 'थ' का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करनेवाला। चूँकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है, इसीलिए 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है।[3]

2. बौद्ध और शाक्त मतों का अन्तर्भाव

यह विश्वास किया जाता है कि आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं[4] और मूलतः समग्र नाथ-सम्प्रदाय शैव है। सबके मूल उपास्य देवता शिव है। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह'

1. वेदान्तो बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्त. परं मायया ।
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः ।
अन्ये भेदरता विवादविकलास्ते तत्त्वतोवंचिता-
स्तस्मात् सिद्धमत स्वभावसमय धीर· परं सश्रयेत् ।
साङ्ख्या वैष्णव वैदिका विधिपरा· सन्यासिनस्तापमा· ।
सौरा वीरपरा· प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिना. श्रावका. ।
एते कष्टरता वृथा पथगता ते तत्त्वतोवञ्चिता-
स्तस्मात् सिद्धमत. ।
आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापमा· ।
नानातीर्थनिषेवका जिनपरा मौनेस्थिता नित्यश. ।
एते ते खलु दु खभारनिरता ते तत्त्वतोवंचिता–
स्तस्मात् सिद्धमत. ।

2 राजगुह्य मे —नाकारोऽनादि रूप थकार. स्थाप्यते सदा ।
भुवनत्रयमेवैक. श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते ॥

3. 'शक्ति संगमतन्त्र' मे—
श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथब्रह्मानुबोधनात ।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्रीनाथ इति गीयते ॥

4 देदीप्यमानस्तत्त्वस्य कर्त्ता साक्षात् स्वय शिव ।
संरक्षन्तो विश्वमेव धीरा· सिद्धमताश्रया ॥—'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति'
'शक्ति संगमतन्त्र' बड़ौदा सिरीज (91) के तारा खण्ड मे आदिनाथ और काली के संवाद से ग्रन्थ आरम्भ होता है। ये आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं।

(पृ 18) मे शंकराचार्य के अद्वैत मत के पराभव की कहानी दी हुई है। पराभव एक कापालिक द्वारा हुआ था। कहानी कहने के बाद ग्रन्थकार को सन्देह हुआ है कि पाठक कहीं कापालिक के विजय से उल्लसित होने के कारण ग्रन्थकार को भी उसी मत का अनुयायी न मान लें, इसलिए उन्होंने इस शंका को निर्मूल करने के लिए कहा है कि ऐसा कोई न समझे कि हम कापालिक मत को मानते हैं। मत तो हमारा अवधूत ही है। किन्तु इतना अवश्य है कि कापालिक मत को भी श्री 'नाथ' ने ही प्रकट किया था, क्योंकि 'शावरतन्त्र' मे कापालिकों के बारह आचार्यों मे प्रथम नाम आदिनाथ का ही है और बारह शिष्यों में से कई नाथ मार्ग के प्रधान आचार्य है।[1] फिर शाक्त मार्ग, जो तन्त्रानुसारी है, के उपदेष्टा भी नाथ ही हैं। नाथ ने ही तन्त्रों की रचना की है, क्योंकि षोडश नित्यातन्त्र में शिव ने कहा है कि मेरे कहे हुए तन्त्र का ही नवनाथों ने लोक मे प्रचार किया है।[2] शाक्त मत के अनुसार चार प्रधान आचार है. वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के हैं : वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। अब, 'षट् शाम्भव रहस्य' नामक ग्रन्थ मे बताया गया है कि वैदिक आचार से वैष्णव श्रेष्ठ हैं, उसमे गाणपत्य, उससे सौर, उससे शैव और शैव आचार से भी शाक्त आचार श्रेष्ठ है। शाक्त आचारों मे भी वाम, दक्षिण और कौल उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं और कौलमार्ग ही अवधूत-मार्ग है। इस प्रकार तन्त्र ग्रन्थों के अनुसार भी कौल या अवधूत-मार्ग श्रेष्ठ है, इसलिए शाक्त तन्त्र भी नाथानुयायी ही हैं (गो. सि. सं., पृ. 19)। यह लक्ष्य करने की बात है कि इस वक्तव्य मे शाक्त तन्त्र को ही नाथ-मत का अनुयायी कहा गया है। शाक्त आगम तीन प्रकार के है। सात्विक अधिकारियों को लक्ष्य करके उपदिष्ट आगम 'तन्त्र' कहे जाते है, राजस अधिकारियो के लिए उपदिष्ट शास्त्र 'यामल' कहे जाते है, और तामस अधिकारियों के लिए उपदिष्ट शास्त्र को 'डामर' कहा जाता है। फिर तान्त्रिको के सर्वश्रेष्ठ कौलाचार को ही अवधूत-मार्ग बताया गया है। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' (पृ. 20) में तान्त्रिक और अवधूत का अन्तर भी बताया गया है। कहा गया है कि तान्त्रिक लोग पहिले बहिरंग उपासना करते हैं और अन्त में क्रमशः सिद्धि प्राप्त करते हुए कुण्डलिनी शक्ति की उपासना करते है, जो हू-ब-हू अवधूत-मार्ग की ही उपासना है।

1. कापालिकों के बारह आचार्य ये है : आदिनाथ, अनादि, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल, कालभैरवनाथ, वटुकनाथ, वीरनाथ, भूतनाथ और श्रीकण्ठ। इनके बारह शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं : नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, मीननाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवद्य, वैरागी, कन्थाधारी, जालन्धर और मलयार्जुन। स्पष्ट ही इस सूची मे के अनेक नाम नाथ-योगियों के है।

2 कादिसज्ञा भवेद्रूपा सा शक्ति. सर्व सिद्धये।
तत्र यदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयन्॥
तया तैर्भुवने मत्र कल्पे कल्पे विजृम्भते।
अवसाने तु कल्पाना सा तै सार्द्धं व्रजेच्च माम्॥

इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों की अपनी गवाही से ही मालूम होता है कि तान्त्रिकों का कौल-मार्ग
ध्यान देने की बात है कि
कौल-मत का उल्लेख है
सम्बन्ध इसी योगिनी कौल-मार्ग से बताया गया है।[1] यह मार्ग कामरूप देश में उद्भूत हुआ था। इस प्रकार नाथ-पन्थियों का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि कौलाचार उनके आचार्यो द्वारा उपदिष्ट मार्ग है। त्रिपुरा सम्प्रदाय के अनेक सिद्धों के नाम वे ही है जो नाथपन्थियों के हैं। प्रसिद्ध है कि दत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्त्व पर अठारह हजार श्लोकों की 'दत्तसंहिता' लिखी थी। परशुराम नामक किसी आचार्य ने पचास खण्डों में तथा छः हजार सूत्रों मे इसे संक्षिप्त किया था। बाद में यह संक्षिप्त ग्रन्थ भी बड़ा समझा गया और हरितायन सुमेधा ने इसे 'परशुराम कल्पसूत्र' नाम से पुनर्वार संक्षिप्त किया। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ उपलब्ध हुई है और दोनों ही गायकवाड़ संस्कृत सिरीज मे (न. 22, 23) प्रकाशित हो गयी है। 'नित्योत्सव' नामक प्रथम टीका उमानन्दनाथ की लिखी हुई है। इसे अशुद्ध समझकर रामेश्वर ने दूसरी वृत्ति लिखी। उमानन्दनाथ ने प्रथम मंगलाचरण के श्लोक मे 'नाथ परम्परा' की स्तुति की है।[2] इस प्रकार त्रिपुरा मत के तान्त्रिको के आचार्य स्वयं अपने को 'नाथ मतानुयायी' कहते है। कश्मीर के कौल-मार्ग में मत्स्येन्द्रनाथ को बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।

अब थोड़ा-सा कापालिक मत के विपय मे भी विचार किया जाय। कापालिक मत इस समय जीवित है या नही, इस विपय मे सन्देह ही प्रकट किया जाता है।[3] यामुनाचार्य के 'आगम प्रामाण्य' (पृ. 48) से इस मत का थोड़ा-सा परिचय मिलता है। भवभूति के 'मालती माधव' नामक प्रकरण में कापालिकों का जो वर्णन है वह बहुत ही भयंकर है। वे लोग मनुष्यवलि किया करते थे। परन्तु इस नाटक से इतना तो स्पष्ट ही है कि उनका मत पटचक्र और नाड़िका-निचय के काया-योग से सम्बद्ध था।[4] यह काया-योग नाथपन्थियो की अपनी विशेपता है। महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से जो संग्रह प्रकाशित

1. बागची : 'कौलावलि निर्णय', भूमिका, पृ. 35
   उपाध्याय : 'भारतीय दर्शन', पृ. 538
2. नत्वा नाथ परपरा शिवमुखा विद्येश्वर श्री महाराज्ञी तत्सचिवा नदीयपृतनानाथा तदन्तः पराम्। इत्यादि।
3. बंगाल मे कपाली नाम की एक जाति है। पण्डित लोग इसे कापालिक परम्परा का अवशेष मानते हैं। परन्तु स्वयं यह जाति इस बात को नही स्वीकार करती। ये लोग अपने को वैश्य कपाली कहने लगे हैं। इनके समस्त आचार आधुनिक हिन्दुओं के है। इनके पुरोहित ब्राह्मण हैं, परन्तु अन्य ब्राह्मण इन्हें हीन समझते हैं। सन् 1901 की मर्दुमशुमारी के अनुसार इनकी संख्या 14,700 थी।
4. नित्यन्यस्तपडङ्गचक्रनिहितं हृत्पद्ममध्योदितं।
   पश्यन्ती शिवरूपिणं लयवशादात्मानमभ्यागता।

किया है, उसका एक भाग 'चर्याचर्यविनिश्चय' है। यहाँ सुझाया गया है कि ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'चर्याश्चर्यविनिश्चय' होना चाहिए। इसमें चौरासी बौद्ध सिद्धों में से चौबीस सिद्धों के रचित पद संगृहीत हैं। एक सिद्ध हैं कान्हूपाद या कृष्णपाद। इनके रचित बारह पद उक्त संग्रह में पाये जाते हैं और सबसे अधिक पद इन्हीं के हैं। ये कान्हूपाद अपने को 'कपाली' या 'कापालिक' कहते हैं।[1] एक पद में उन्होंने अपने गुरु का नाम जालन्धरि दिया है।[2] हम आगे चलकर देखेंगे कि जालन्धरपाद नाथपन्थ के बहुत प्रसिद्ध आचार्य थे। परवर्ती परम्परा के अनुसार भी कान्हूपाद या कानपा जालन्धरनाथ के शिष्य बताये गये हैं। मानिकचन्द्र के 'मयनामतीर गान' में इन्हें नाथपन्थी योगी जालन्धर का शिष्य बताया है। इन्हीं जालन्धर का नाम हाड़ीपा या हल्लीकपाद भी है। जालन्धरनाथ ने कोई 'सिद्धान्त वाक्य' नामक संस्कृत पुस्तक भी लिखी थी। वह पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है, पर एक श्लोक से पता चलता है कि जालन्धर नाथ-मार्ग के अनुयायी थे। इस श्लोक में नाथ की बड़ी सुन्दर स्तुति है।[3] स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में नव नाथों के विन्यास के सिलसिले में जालन्धरनाथ का नाम पाया जाता है।[4] 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' (पृ. 20) में कापालिक मत के प्रकट करने का मनोरंजक कारण बताया गया है। जब विष्णु ने चौबीस अवतार धारण किये और मत्स्य, कूर्म, नृसिंह आदि के रूप में तिर्यग् योनि के जीवों की-सी क्रीडा करने लगे, कृष्ण के रूप में व्यभिचारि भाव ग्रहण किया, परशुराम के रूप में निरपराध क्षत्रियों का निपात आरम्भ किया, तो इन अनर्थों से कुपित होकर श्रीनाथ ने चौबिस कापालिकों को भेजा। इन्होंने चौबीसों अवतारों से युद्ध करके उनका सिर या कपाल काटकर धारण किया! इसीलिए ये लोग कापालिक कहलाये।

इस समय जयपुर के पावनाथ शाखावाले अपनी परम्परा जालन्धरनाथ और

-→ नाडीनामुदयक्रमेण जगत पंचामृताकर्षणाद्
अप्राप्तोल्लासनश्रमा विघटयन्त्यग्रे नभोऽम्भोमुचः ॥ -'मालती माधव', 5-2

1 (1) आलो डोम्बि तोए सम करिब मो साग।
निघिण कान्ह कापालि जोइ लाग ॥—चर्या., पद 10
(2) कइसन हालो डोम्बि तोहोरि भाभरि आली।
अन्ते कुलीन जन माझे कावाली ॥
(3) तुलो डोम्बी हाउँ कपाली—वही, पद 10

2. शाखि करिब जालन्धरि पाए।
पाखि ण राहअ मोरि पाडिआ चादे ॥—वही, पद 36

3 जालन्धर के 'सिद्धान्त वाक्य' में यह श्लोक है :
वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा
सत्कर्तुं व्यापकं त्वां पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं
द्वैताद्वैतस्य द्वारं उत परं योगिनं शङ्करं वा ॥—स. भ. सृ., 28

4 जालन्धरो वसेन्नित्यमुत्तरायमाश्रितः।

गोपीचन्द से मिलाते हैं। अनुश्रुति के अनुसार बारह पन्थों में से छः स्वयं शिव के प्रवर्तित हैं और बाकी छः गोरखनाथ के। यह परम्परा लक्ष्य करने की है कि जालन्धरिपा नामक जो सम्प्रदाय इस समय जीवित है, वह जालन्धरपाद का चलाया हुआ है। पहले इसे 'पा पन्थ' कहते थे और नाथ-मार्ग से ये लोग स्वतन्त्र और भिन्न थे। जालन्धर या जालन्धरनाथ को मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ से अलग करने के लिए कहा गया है। जालन्धरनाथ औघड़ थे जबकि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा।[1] कान चीरकर मुद्रा धारण करने पर योगी लोग कनफटा कहलाते हैं, परन्तु उसके पूर्व औघड कहे जाते है। परन्तु 'सिद्धान्त वाक्य' से जालन्धर-पाद का जो श्लोक पहले उद्धृत किया गया है उससे पता चलता है कि मुद्रा, नाद और त्रिशूल धारण करनेवाले नाथ ही इनके उपास्य हैं। आजकल जालन्धरिपा सम्प्रदाय के लोग गोरखनाथ द्वारा प्रवर्त्तित पावनाथी शाखा के ही हैं। परन्तु कानिपा सम्प्रदायवाले, जिन्हें कोई-कोई जालन्धरिपा से अभिन्न भी मानते हैं और जो लोग अपने को गोपीचन्द का अनुवर्ती मानते है, बारहपन्थियों से अलग समझे जाते है।[2] सपेला या सँपेरे इसी सम्प्रदाय के माने जाते हैं। एक अन्य परम्परा के अनुसार वामारग (वाममार्ग) सम्प्रदाय कानिपा पन्थ से ही सम्बद्ध है।[3] इन बातों से यह अनुमान होता है कि कापालिक मार्ग का स्वतन्त्र अस्तित्व था, जो बाद मे गोरख-पन्थी साधुओं मे अन्तर्भुक्त हो गया है। गोरखपन्थियों से कुछ बातों मे ये लोग अब भी भिन्न हैं। गोरखपन्थी लोग कान के मध्यभाग मे ही कुण्डल धारण करते हैं, पर कानिपा लोग कान की लोरों मे भी उसे पहनते है। यह मुद्रा गोरखनाथी योगियों का चिह्न है। गोरक्षपन्थ में इसके अनेक आध्यात्मिक अर्थ भी बताये जाते है। कहते हैं यह शब्द मुद् (प्रसन्न होना) और रा (आदान, ग्रहण) धातुओं से बना है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं। चूँकि इससे देवता लोग प्रसन्न होते हैं और असुर लोग भाग खड़े होते हैं, इसलिए इसे साक्षात्कल्याणदायिनी मुद्रा माना जाता है।[4] मुद्राधारण के लिए कान का फाड़ना आवश्यक है और यह कार्य छुरी या क्षुरिका से ही होता है। इसीलिए 'क्षुरिकोपनिषद्' में छुरी का माहात्म्य वर्णित है।[5] तात्पर्य यह कि जो साधु कान फाडकर मुद्रा धारण नहीं करते, उनका गोरखनाथ के मार्ग से सम्बन्ध सन्देहास्पद ही है। इस आलोचना से स्पष्ट होता है कि जालन्धर (वा जलन्धर)-पाद और कृष्णपाद (कानिपा, कानुपा,

1-2 ब्रिग्स : 'गोरखनाथ ऐण्ड दि कनफटा योगीज', पृ. 67

3 वही, पृ. 69

4 मुद् मोदे तु रादाने जीवात्मपरमात्मनो. ।
उभयोरैक्यमभूतिर्मुद्रेति परकीर्तिता ॥
मोदन्ते देवसंघाश्च द्रवन्तेऽसुरराशया ।
मुद्रेति कथिता साक्षात् सदाभद्रार्थदायिनी ॥ —'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति'

5 क्षुरिकां सम्प्रवक्ष्यामि धारण योगसिद्धये ।
संप्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तः प्रजायते ।

कान्हूपा) द्वारा प्रवर्तित मत नाथ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत तो था, परन्तु मत्स्येन्द्रनाथ-गोरखनाथ-परम्परा से भिन्न था। बाद में चलकर वह गोरखनाथी शाखा में अन्तर्भुक्त हुआ होगा।

जो हो, जालन्धरपाद और कृष्णपाद कर्णकुण्डल धारण करते थे या नहीं, यह निश्चय करना आज की वर्तमान उपलभ्य सामग्रियों के आधार पर बहुत कठिन है। परन्तु 'चर्यापद' में शवरपाद का एक पद हमें ऐसा मिला है[1] जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कम-से-कम शवरपाद या तो स्वयं कर्णकुण्डल धारण करते थे या फिर उनके सामने ऐसे योगी जरूर थे जो कर्णकुण्डल धारण करते थे। पहली बात ज्यादा मान्य जान पडती है। इन शवरपाद को कृष्णपाद (कानुपा) ने बहुत श्रद्धा और सम्मान के साथ याद किया है और एक दोहे में परम पद—महासुख के आवास—के प्रसंग में बताया है कि यही वह जालन्धर नामक महामेरु गिरि के शिखर का उष्णीप कमल है जो साधकों का चरम प्राप्तव्य है, जहाँ स्वयं शवरपाद ने वास किया था।[2] यदि यह अनुमान सत्य हो कि शवरपाद किसी प्रकार का कर्णकुण्डल धारण करते थे तो यह अनुमान भी असंगत नहीं है कि उनके प्रति नितरा श्रद्धाशील कानुपा भी कर्णकुण्डल धारण करते होंगे। अद्वयवज्र ने इस पद के इस शब्द की भी रूपक के रूप में व्याख्या की है।

यद्यपि यही विश्वास किया जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने या गोरक्षनाथ ने ही कर्णकुण्डल धारण करने की प्रथा चलायी थी तथापि कर्णकुण्डल कोई नयी बात नहीं है। इस प्रकार के प्राचीन प्रमाण मिलते है जिससे अनुमान होता है कि कर्ण-कुण्डलधारी शिवमूर्त्तियाँ बहुत प्राचीन काल में भी बनती थी। एलोरा गुफा के कैलास नामक शिवमन्दिर में शिव की एक महायोगी मुद्रा की मूर्त्ति पायी गयी है। इस मूर्त्ति के कान में बड़े-बड़े कुण्डल हैं। यह मन्दिर और मूर्त्ति सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी की है। परन्तु ये कर्णकुण्डल कनफटा योगियों की भाँति नहीं पहने गये हैं। ब्रिग्स ने बम्बई की लिटरेरी सोसायटी के अनुवादों से उद्धृत करके लिखा है कि मालसेटी, एलोरा और एलीफेण्टा की गुफाओं में, जो आठवीं शताब्दी की हैं, शिव की ऐसी अनेक योगी-मूर्त्तियाँ हैं जिनके कान में वैसे ही बड़े-बड़े कुण्डल हैं जैसे कनफटा योगियों के होते है और उनको कान में उसी ढंग से पहनाया भी गया है।

1 मोरंगी सवरी ए यन हिण्डइ
वर्ण कुण्डल वज्रधारी।—चर्या पद 28
इस पर टीका—कर्णेति नानास्थाने कुण्डलादि पञ्चमुद्रा निरंशुकालंकार कृत्वा वज्र-मुद्रायतनं विधृत्य युगवनद्धरूपेण अत्र कायपर्वत वने हिण्डति क्रीड़ति।
—बौ. गा. दो., पृ. 44

2. वरगिरि शिहर उत्तुंग मुनि
शबरे जहिं किअ वास।
णउ सो लंघिअ पञ्चाननेहिं
करिवर दुरिअ आस॥—बौ. गा. दो., पृ 130

इसके अतिरिक्त मद्रास के उत्तरी आरकाट जिले मे परशुरामेश्वर का जो मन्दिर है उसके भीतर स्थापित लिंग पर शिव की एक मूर्ति है जिसके कानो में कनफटा योगियों के समान कुण्डल है। इस मन्दिर का पुनः सस्कार सन् 1126 ई मे हुआ था इसलिए मूर्ति निश्चय ही उसके बहुत पूर्व की होगी। टी. ए. गोपीनाथ राव ने 'इण्डियन एण्टिक्वैरी' के चालीसवें जिल्द (1911 ई.) मे इस लिंग का वर्णन किया है। इनके मत से यह लिंग सन् ईसवी की दूसरी या तीसरी शताब्दी के पहले का नही होना चाहिए। इन सब बातों को देखते हुए यह अनुमान करना असंगत नही कि मत्स्येन्द्रनाथ के पहले भी कर्णकुण्डलधारी शिवमूर्त्तियाँ होती थी। इससे परम्परा का भी कोई विरोध नही होता, क्योंकि कहा जाता है कि शिवजी ने ही अपना वेश ज्यों-का-त्यों मत्स्येन्द्रनाथ को दिया था। एक अनुश्रुति के अनुसार तो शिव का वह वेश पाने के लिए मत्स्येन्द्रनाथ को दीर्घकाल तक कठोर तपस्या करनी पड़ी थी।

3. गोरखनाथी शाखा

नाथपन्थियों का मुख्य सम्प्रदाय गोरखनाथी योगियों का है। इन्हें साधारणतः कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। कनफटा नाम का कारण यह है कि ये लोग कान फाड़कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं। इस मुद्रा के नाम पर ही इन्हें 'दरसनी' साधु कहते है। यह मुद्रा नाना धातुओं और हाथीदाँत की भी होती है। अधिक धनी महन्त लोग सोने की मुद्रा भी धारण करते है। गोरखनाथी साधु सारे भारतवर्ष मे पाये जाते है। पजाब, हिमालय के पाददेश, बगाल और बम्बई मे ये लोग 'नाथ' कहे जाते है। ये लोग जो मुद्रा धारण करते है वे दो प्रकार की होती हैं—कुण्डल और दर्शन। 'दर्शन' का सम्मान अधिक है, क्योंकि विश्वास किया जाता है कि इसे धारण करनेवाले ब्रह्म-साक्षात्कार कर चुके होते है। कुण्डल को 'पवित्री' भी कहते है।

इन योगियों की ठीक-ठीक संख्या कितनी है, यह मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों से भलीभाँति नही जाना जाता। जार्ज वेस्टन ब्रिग्स ने अपनी मूल्यवान पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़' में भिन्न-भिन्न वर्षों की मनुष्य-गणना की रिपोर्टों से इनकी संख्या का हिसाब बताया है। सन् 1891 ई. की मनुष्य-गणना में सारे भारतवर्ष मे योगियों की संख्या 214546 बतायी गयी थी। इसी वर्ष आगरा और अवध के प्रान्तों मे औघड 5319, गोरखनाथी 28816 और योगी (जिनमें गोरखनाथी भी शामिल हैं) 78387 थे। इनमें औघडों को लेकर समस्त गोरखनाथियो का अनुपात 45 फीसदी है। उसी रिपोर्ट के अनुसार योगियो मे पुरुषों और स्त्रियो का अनुपात 42 और 35 का था। ये संख्याएँ विशेष रूप से मनोरंजक है, क्योंकि साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि ये योगी लोग ब्रह्मचारी हुआ करते है। वस्तुतः इनमें गृहस्थ और घरबारी लोग बहुत है। यह समझना भूल है कि केवल हिन्दुओं मे ही योगी है। उस साल की पंजाब की रिपोर्ट से पता चलता

है कि 38137 योगी मुसलमान थे। सन् 1921 ई. की मनुष्य-गणना में इनकी संख्या इस प्रकार है :

जोगी हिन्दू	629978	पुरुष/स्त्री	325/305
जोगी मुसलमान	31158	पुरुष/स्त्री	16/15
फकीर हिन्दू	141132	पुरुष/स्त्री	80/61

मनुष्य-गणना की परवर्ती रिपोर्टों में इन लोगों का अलग से कोई उल्लेख नहीं है।[1] इतना निश्चित है कि जोगियों में कनफटा साधुओं की संख्या बहुत अधिक है।

गोरखनाथी लोग मुख्यत बारह शाखाओं में विभक्त हैं। अनुश्रुति के अनुसार स्वयं गोरखनाथ ने परस्पर-विच्छिन्न नाथपन्थियों का संगठन करके इन्हें बारह शाखाओं में विभक्त कर दिया था। वे बारह पन्थ ये हैं—सत्यनाथी, धर्मनाथी, रामपन्थ, नटेश्वरी, कन्हड, कपिलानी, वैराग, माननाथी, आईपन्थ, पागलपन्थ, धजपन्थ और गंगानाथी। इन बारह पन्थों के कारण ही शंकराचार्य के दशनामी संन्यासियों की भाँति इन्हें 'बारहपन्थी योगी' कहा जाता है। प्रत्येक पन्थ का एक-एक विशेष 'स्थान' है जिसे ये लोग अपना पुण्य-क्षेत्र मानते हैं। प्रत्येक पन्थ किसी पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदिप्रवर्त्तक मानता है। गोरखपुर के प्रसिद्ध सिद्ध महन्त बाबा गम्भीरनाथ के एक बंगाली शिष्य ने, सम्भवतः गोरखपुर की परम्परा के आधार पर, इन बारह पन्थों का विवरण अगले पृष्ठ के अनुसार दिया है।[2]

एक अनुश्रुति के अनुसार शिव ने बारह पन्थ चलाये थे और गोरखनाथ ने भी बारह ही पन्थ चलाये थे। ये दोनों दल आपस में झगड़ते थे, इसलिए बाद में स्वयं गोरखनाथ ने अपने छः तथा शिवजी के छः पन्थों को तोड़ दिया और आजकल की बारह-पन्थी शाखा की स्थापना की। यह अनुश्रुति पागल बाबा नाम के एक औघड़ साधु से सुनी हुई है। ब्रिग्स ने किसी और परम्परा के अनुसार लिखा है कि शिव के अट्ठारह पन्थ थे और गोरखनाथ के बारह। पहले मत के बारह को और दूसरे के छः पन्थों को तोड़कर आधुनिक बारहपन्थी शाखा बनी थी।[3] इन दोनों अनुश्रुतियों में पहली अधिक प्रामाणिक होगी; क्योंकि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में शिव के दो प्रधान शिष्य बताये गये हैं— मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ। मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरखनाथ थे। जालन्धरनाथ द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय कापालिक मार्ग होगा, इसका विचार हम पहले ही कर आये हैं। इन कापालिकों के बारह ही आचार्य प्रसिद्ध हैं। (आचार्य और शिष्यों के नाम के लिए देखें ऊपर पृष्ठ 22 की टिप्पणी)। पुनर्गठित

1. विशेष विवरण के लिए देखिए 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़', पृ. 4-6
2. 'गम्भीरनाथ प्रसंग', 50-51
3. ब्रिग्स, पृ 63

सं.	नाम	मूलप्रवर्त्तक	स्थान	प्रदेश	विशेष
1	सत्यनाथी	सत्यनाथ	पाताल भुवनेश्वर	उड़ीसा	सत्यनाथ स्वय ब्रह्मा का ही नाम है। इसीलिए ये लोग 'ब्रह्मा के योगी' कहलाते है।
2	धर्मनाथी	धर्मराज (युधिष्ठिर)	दुल्लुदेलक	नेपाल	—
3	रामपन्थ	श्रीरामचन्द्र	चौक तप्पे पंचौरा	गोरखपुर (उत्तरप्रदेश)	इस समय ये लोग गोरखपुर के 'स्थान' को ही अपना स्थान मानते हैं।
4	नाटेश्वरी	लक्ष्मण	गोरखटिल्ला	झेलम (पंजाब)	इनकी दो शाखाएँ हैं— नाटेश्वरी और दरियापन्थी।
5	कन्हड	गणेश	मानफरा	कच्छ	—
6	कपिलानी	कपिल मुनि	गंगासागर	बंगाल	इस समय कलकत्ता (दमदम) के पास 'गोरखवंशी' इनका स्थान है।
7	वैरागपन्थ	भर्तृहरि	रतढोंडा	पुष्कर के पास अजमेर	—
8	माननाथी	गोपीचन्द	अज्ञात	—	इस समय जोधपुर का महामन्दिर मठ ही इनका स्थान है।
9	आईपन्थ	भगवती विमला	जोगी गुफा या गोरख कुंई	बंगाल के दिनाजपुर जिले में	—
10	पागलपन्थ	चौरंगीनाथ (पूरनभगत)	अबोहर	पंजाब	—
11	धजपन्थ	हनुमानजी	—	—	—
12	गंगानाथी	भीष्म पितामह	जखबार	गुरदासपुर (पंजाब)	—

बारह सम्प्रदाय इस प्रकार है :[1]

शिव द्वारा प्रवर्तित

1. भुज (कच्छ) के कण्ठरनाथ
2. पेशावर और रोहतक के पागलनाथ
3. अफ़गानिस्तान के रावल
4. पंख या पंक
5. मारवाड़ के वन
6. गोपाल या राम के

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित

1. हेठनाथ
2. आईपन्थ के चोलीनाथ
3. चाँदनाथ कपिलानी
4. रतढोंडा, मारवाड़ का वैरागपन्थ और रतननाथ
5. जयपुर के पावनाथ
6. धजनाथ महावीर

इन शाखाओं की बहुत-सी उपशाखाएँ है। कुछ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपशाखाओ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। परन्तु इतना ध्यान मे रखना चाहिए कि इन बारह पन्थों के बाहर भी ऐसे अनेक सम्प्रदाय है जिनका स्पष्ट सम्बन्ध इन छ. मार्गों से नहीं जोड़ा जा सका है। हो सकता है कि वे गोरखनाथ द्वारा तोड़ दिये हुए कुछ पन्थो के अनुयायी ही हो। ये लोग शिव या गोरखनाथ से अपना सम्बन्ध किसी-न-किसी तरह जोड़ ही लेते हैं।

ऊपर जिन बारह मुख्य पन्थों के नाम गिनाये गये हैं, वे ही पुराने विभाग हैं। पर आजकल बारह पन्थो मे ये पन्थ ही माने जाते हैं—(1) सतनाथ, (2) रामनाथ, (3) धरमनाथ, (4) लक्ष्मणनाथ, (5) दरियानाथ, (6) गंगानाथ, (7) वैराग, (8) रावल या नागनाथ, (9) जालन्धरिपा, (10) आईपन्थ, (11) कपिलानी, और (12) धजनाथ। गोरखपुर मे सुनी हुई परम्परा के अनुसार चौथी संख्या नाटेसरी और पाँचवी कन्हड़ है। आठवीं संख्या माननाथी, नवी आईपन्थ और दसवी पागलपन्थ है। ऊपर के सम्बन्धों का विवेचन करने पर दोनों अनुश्रुतियों में कोई विशेष अन्तर नही दिखता। केवल एक के अनुसार जो उपशाखा है वह दूसरी के अनुसार पन्थ है। तेरहवाँ महत्त्वपूर्ण पन्थ कानिपा का है, जिसके विषय में ऊपर थोड़ी चर्चा हो चुकी है।

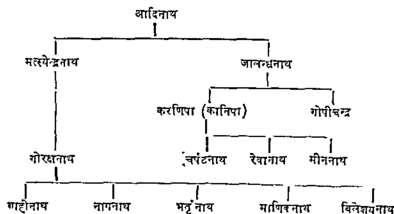
1. ब्रिग्स : पृ. 63 के आधार पर। इन सम्प्रदायों की यह सर्वसम्मत सूची नहीं समझी जानी चाहिए।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पन्थ हैं जिनका किसी बड़ी शाखा से सम्बन्ध नहीं खोजा जा सका। हाड़ी भारंग की चर्चा ऊपर हो चुकी है। वे लोग बम्बई में रसोइए का काम करते पाये जाते है। गोरखनाथ के एक शिष्य सक्करनाथ थे, जिन्हें उनके रसोइए ने स्वाद जानने के लिए पहले ही चखकर बनायी हुई दाल दी थी। इसी अपराध के कारण चार वर्ष तक उसे गले में हाँड़ी बाँधकर भीख माँगने का दण्ड दिया गया। बाद में सिद्धि प्राप्त करने के कारण इन्होंने अपना अलग पन्थ चलाया। मुख्य स्थान पुणे में है। इसके अतिरिक्त कायिकनाथी, पायलनाथी, उदयनाथी, आरयपन्थ, फीलनाथी, चर्पटनाथी[1], गैनी या गाहिणीनाथी[2], निरंजन-नाथ[3], वरंजोगी, पा-पन्थ, कामभज, काषाय, अर्धनारी, नायरी, अमरनाथ, कुम्भी-दास, तारकनाथ[4], अमापन्थी, भृंगनाथ[5], आदि अनेक उपशाखाएँ है जिनका विस्तार समूचे भारतवर्ष और सुदूर अफ़गानिस्तान तक है।[6]

एक दूसरी परम्परा के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ ने चार सम्प्रदाय चलाये थे :— गोरखनाथी, गल या अरजनंगा (रावल), मीननाथ सिवतोर, पारसनाथ पूजा। अन्तिम दोनों जैन है।

गोरक्ष[7] के निम्नलिखित शिष्यों ने पन्थ चलाये :

1. 'वर्ण रत्नाकर' के 31वें सिद्ध, हठ. के 16वें सिद्ध तथा तिब्बती परम्परा के 59वें सिद्ध का नाम चर्पटी या चर्पटीनाथ है।
2. नामदेव परम्परा के गैनीनाथ और बहिनीबाई की परम्परा के गाहिनी नामक सिद्धो का उल्लेख है।
3 हठ. के 20वें सिद्ध।
4. तारकनाथ विलेशय के शिष्य थे।—यो. सं. आ, पृ. 246
5. नेपाल राज के कमण्डलु में भृंग रूप से प्रवेश करने के कारण मत्स्येन्द्रनाथ का एक नाम भृंगनाथ था। 'कौल ज्ञान निर्णय', पृ 58, श्लोक 17 मे मत्स्येन्द्रनाथ को भृंगपाद कहा गया है।
6 ब्रिग्स : पृ. 73 74
7. 'योगि सम्प्रदायाविष्कृति' के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ (ज्वालेन्द्रनाथ) की शिष्य-परम्परा इस प्रकार है .



कपिलमुनि, कारकाई, भूष्टाई, सबकरनाथ, सन्तनाथ, सन्तोषनाथ और लक्ष्मणनाथ।

कपिलमुनि के शिष्य अजयपाल हुए, जिन्होंने कपिलानी पन्थ चलाया। इसी परम्परा में एक-दूसरे सिद्ध गंगानाथ हुए, जिनका अलग पन्थ चला।

कारकाई शाखा में आईपन्थ के प्रवर्तक चोलीनाथ हुए। इनका सम्बन्ध भूष्टाई से भी बताया जाता है।

सबकरनाथ का कोई अपना सम्प्रदाय नहीं है, पर हाड़ी भरंग सम्प्रदाय उनके ही शिष्य द्वारा प्रवर्तित है।

सन्तनाथ के शिष्य धर्मनाथ हुए, जिन्होंने अपना पन्थ चलाया। सन्तोषनाथ के शिष्य रामनाथ हुए। जाफिर पीर भी इन्हीं के साथ अपना सम्बन्ध बताते हैं।

लक्ष्मणनाथ की शाखा में नटेसरी और दरियानाथ पड़ते हैं।

जालन्धरनाथ के दो शिष्य हुए—भरथरीनाथ और कानिपा।

कानिपा सम्प्रदाय से सिद्ध सागरी सम्प्रदाय उद्भूत हुआ।

4 नाथ योगी का वेश

नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। मेखला, शृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण-मुद्रा, बघम्बर, झोला आदि चिह्न ये लोग धारण करते हैं। पहले ही बताया गया है कि कान फाड़कर कुण्डल धारण करने के कारण ये लोग कनफटा कहे जाते हैं। कान फड़वाने की प्रथा किस प्रकार शुरू हुई, इस विषय में नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कुछ लोग बताते हैं कि स्वयं मत्स्येन्द्रनाथ (मछन्दरनाथ) ने इस प्रथा का प्रवर्तन किया। उन्होंने शिव के कानों में कुण्डल देखा था और उसे प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या की थी; एक दूसरा विश्वास यह है कि गोपीचन्द्र की प्रार्थना पर जालन्धरनाथ ने इस पन्थ के योगियों को अन्य सम्प्रदायवालों से विशिष्ट करने के लिए इस प्रथा को चलाया था। कुछ लोगों का कहना है कि गोरखनाथ ने भरथरी का कान फाड़कर इस प्रथा को चलाया था। भरथरी के कान में गुरु ने मिट्टी का कुण्डल पहनाया था। अब भी बहुत-से योगी मिट्टी का कुण्डल धारण करते हैं, परन्तु इसके टूटने की सदा आशंका बनी रहती है, इसलिए धातु या हरिण के सींग की मुद्रा धारण की जाती है। जो विधवा स्त्रियाँ सम्प्रदाय में दीक्षित होती हैं, वे भी कुण्डल धारण करती हैं और गृहस्थ योगियों की पत्नियाँ भी इसे धारण करते पायी जाती हैं। गोरखनाथी लोग किसी शुभ दिन को (विशेषकर वसन्तपचमी को) कान को चिरवाकर मन्त्र के संस्कार के साथ इस मुद्रा को धारण करते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि स्त्रियों के दर्शन से घाव पक जाता है, इसलिए जब तक घाव अच्छा नहीं हो जाता तब तक स्त्री-दर्शन से बचने के लिए किसी कमरे में बन्द रहते हैं, और फलाहार करते हैं।[1]

1 गु. च., पृ 241

कान का फट जाना भावाजोखी का व्यापार माना जाता है। जिस योगी का कान खराब हो जाता है, वह सम्प्रदाय से अलग हो जाता है और पुजारी का अधिकार खो देता है।[1] यह कर्णकुण्डल निस्सन्देह योगी लोगो का बहुत पुराना चिह्न है, परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इसे नही धारण करते। ये लोग औघड़ कहे जाते हैं। औघड़ लोगों का जब कर्णमुद्रा-संस्कार हो जाता है तब उन्हे योगी कनफटा कहा जाता है। ऐसे भी औघड़ हैं जो आजीवन कर्णमुद्रा धारण करते ही नही। कहते है कि हिंगलाज में दो सिद्ध एक शिष्य का कान चीरने लगे थे, पर हर बार छेद बन्द हो जाता था। तभी से औघड़ लोग कान चिरवाते ही नही।[2] सुधारक मनोवृत्ति के योगी लोग मानते है कि श्रीनाथ ने यह प्रथा इसलिए चलायी होगी कि कान चिरवाने की पीड़ा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में प्रवेश ही नही कर सकेंगे।[3]

'पद्मावत' मे मलिक मुहम्मद जायसी ने योगियो के वेश का सुन्दर वर्णन दिया है। उससे अनुमान किया जा सकता है कि योगियों का जो वेश आज है वह दीर्घ काल से चला आ रहा है। योगी वेश धारण करनेवाले रतनसेन राजा ने हाथ में किंगरी, सिर पर जटा, शरीर में भस्म, मेखला, शृंगी, योग को शुद्ध करनेवाला धँधारी चक्र, रुद्राक्ष और अधार (आसन का पीढ़ा) धारण किया था। कन्था पहनकर हाथ में सोटा लिया था और 'गोरख, गोरख' की रट लगाता हुआ निकल पड़ा था, उसने कान में मुद्रा, कण्ठ में रुद्राक्ष की माला, हाथ में कमण्डल, कन्धे पर बघम्बर (आसन के लिए), पैरों में पाँवरी, सिर पर छाता और बगल में खप्पर धारण किया था। इन सबको उसने गेरुए रंग मे रँगकर लाल कर लिया था।[4] कबीरदास के अनेक पदो से पता चलता है कि जोगी लोग मुद्रा, नाद, कन्था, आसन, खप्पर, झोली, विभूति, बटुवा आदि धारण करते थे, यन्त्र अर्थात् सारंगी यन्त्र का व्यवहार करते थे (गोपीचन्द्र का चलाया हुआ होने के कारण सारंगी को गोपीयन्त्र कहते है), मेखला और भस्म धारण करते थे (क. ग्रं. 205, 206, 207, 208) और अजपा जाप करते थे (209)।[5] इसी प्रकार सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियों

1 ब्रिग : पृ. 89

2 ट्रा. का. सें. प्रो., भाग (?), पृ. 398, ब्रिग ने लिखा है कि औघड़ लोगों को योगियों से आधी ही दक्षिणा मिलती है। कहीं-कहीं सम्मान भी मिलता है।'

3. पी. स. जा.

4. 'पद्मावत', जोगी खण्ड, 12, 128

5. बंगाल के पुराने नाथपन्थी अपने को योगी या कापालिक कहते थे। वे कान में मनुष्य की हड्डियों का कुण्डल और गले में हड्डियों की ही माला धारण करते थे। पैरों में ये लोग नूपुर और हाथ में नर-कपाल लेते थे और शरीर में भस्म लगाया करते थे—श्री सुकुमार सेन : 'प्राचीन बाङ्गला ओ बाङ्गाली', विश्वविद्या संग्रह सिरीज, शान्ति निकेतन, पृ. 33। ऐसा जान पड़ता है कि कर्णकुण्डल धारण करने की प्रथा बहुत पुरानी है। 'साधन माला' नामक वज्रयानी साधना ग्रन्थों में 'हेरुक' के ध्यान में कहा गया है कि वे कानों में नरास्थि की माला धारण करते हैं। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

ने जिन योगियों की चर्चा की है, उनका भी यही वेश वर्णित है।

इन चिह्नों में किंगरी एक प्रकार की चिकारी है जिसे गोपीचंद या भर्तृहरि के गीत गानेवाले योगी लिये फिरते हैं, मेखला मूँज की रस्सी का कटिबन्ध है[1] और सींगी हरिण के सींग का बना हुआ एक बाजा है जो मुँह से बजाया जाता है। औघड और योगी दोनों ही एक प्रकार का 'जनेव' धारण करते हैं जो काले भेड़े की ऊन से बनाया जाता है। हर कोई उसे नहीं बना सकता। सम्प्रदाय के कुछ लोग ही, जो इस विद्या के जानकार होते हैं, उसे बनाते हैं। ब्रिग्स (पृ. 11) ने लिखा है कि कुमायूँ के योगी रुई के सूत का 'जनेव' भी धारण करते हैं। इसी सूत में एक गोल 'पवित्री' बँधी रहती है जो हरिण की सींग या पीतल, ताँबा आदि धातु से बनी होती है। इसमें रुई के सफेद धागे से शृंगी (सिंगीनाद) नाम की सीटी बँधी रहती है और रुद्राक्ष की एक मनिया भी झूलती रहती है। प्रातः और सन्ध्या-कालीन उपासना के पूर्व और भोजन ग्रहण करने के पूर्व योगी लोग इसे बजाया करते हैं। इस सिंगीनाद के बँधे रहने के कारण ही 'जनेव' को 'सिंगीनाद-जनेव' कहते हैं। मेखला सब योगी नहीं धारण करते। कुछ योगी काले भेड़े के ऊन की बनी मेखला कमर में बाँधते हैं। लँगोटी पहनने में इस मेखला का उपयोग होता है। एक और प्रकार की मेखला होती है, जिसे धारण करने के बाद योगी को भिक्षा के लिए निकलना ही पड़ता है। इसे हाल मटंगा कहते हैं।[2] ऐसे योगी भी हैं जो सिंगीनाद-जनेव नहीं धारण करते और दावा करते हैं कि ये चिह्न उन्होंने अन्तर में धारण किया है या चमड़े के नीचे पहने हुए हैं। मस्तनाथ नामक सिद्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने चमड़े के नीचे जनेव [illegible] उसी योगी को [illegible] है।[3]

'धँधारी' एक तरह का चक्र है। गोरखपन्थी साधु लोहे या लकड़ी की शला-काओं के हेर-फेर से चक्र बनाकर उसके बीच में छेद करते हैं। इस छेद में कौड़ी या मालाकार धागे को डाल देते हैं। फिर मन्त्र पढ़कर उसे निकाला करते हैं। बिना क्रिया जाने उस चक्र में से सहसा किसी से डोरा या कौड़ी नहीं निकल पाती। ये चीजें चक्र की शलाकाओं में इस प्रकार उलझ जाती हैं कि निकालना कठिन पड़ जाता है। जो निकालने की क्रिया जानता है, वह उसे सहज ही निकाल सकता है। यही 'धँधारी' या गोरखधन्धा है। गोरखपन्थियों का विश्वास है कि मन्त्र पढ-पढ-कर गोरखधन्धे से डोरा निकालने से गोरखनाथ की कृपा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और संसार-चक्र में उलझे हुए प्राणियों को डोरे की भाँति इस भवजाल से मुक्त

1 सु. च., पृ. 238, 239

2 ब्रिग्स : पृ 11, 12

3 सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
रात दिवस ना करई निद्रा ॥ टेक ॥
मन में आसण मन में रहणां। मन का जप तप मन सूं कहँणा ॥

→

कर देते हैं।[1]

रुद्राक्ष की माला प्रसिद्ध ही है। योगी लोग जिस माला को धारण करते है, उसमे 32, 64, 84 या 108 मनके होते है। छोटी मालाएँ, जिन्हे 'सुमिरनी' कहते हैं, 18 या 28 मनकों की होती है और कलाई में बँधी रहती है। रुद्राक्ष शब्द का अर्थ रुद्र या शिव की आँख है। तन्त्रशास्त्र के मत से यह माला जपकार्य मे विशेष फलदायिनी होती है। इस रुद्राक्ष में खरबूजे के फाँक-जैसी जो रेखाएँ होती है, उसे 'मुख' कहते हैं। जप में प्राय. पंचमुखी रुद्राक्ष का विशेष महत्त्व है। एकमुखी रुद्राक्ष बड़ा शुभ माना जाता है। घर में उसके रहने से लक्ष्मी अविचल होकर बसती है। जिसके गले में एकमुखी रुद्राक्ष हो उस पर शस्त्र की शक्ति नही काम करती—ऐसा विश्वास है। एकमुखी रुद्राक्ष असल में एकमुखी ही है या नही, इस बात की परीक्षा के लिए प्रायः भेड़े के गले में बाँधकर परीक्षा की जाती है। यदि भेड़े की गर्दन शस्त्र से कट जाय तो वह नकली माना जाता है। यदि न कटे तो सच्चा एकमुखी रुद्राक्ष समझा जाता है।[2] ग्यारह मुखवाला रुद्राक्ष भी बहुत पवित्र समझा जाता है। गृहस्थ योगी साधारणतः दो मुखवाले रुद्राक्ष से जप करने को अधिक फलदायक मानते है।

'अधारी' (=आधार) काठ के डण्डे में लगा हुआ काठ का पीढा (आसा) है, जिसे योगी लोग प्रायः लिये फिरते है और जहाँ कही रखकर उस पर बैठ जाते है। बिना अभ्यास के इस पर बैठ सकना असम्भव है। कन्था गेरुए रंग की सुजनी का चोलना है जो गले में डाल लेने से अंग को ढांक लेता है। इसी को गूदरी कहते है। यह फटे-पुराने चिथड़ों को बटोरकर सी ली जानी चाहिए।[3] गेरुआ या लाल रंग ब्रह्मचर्य का साधक माना जाता है। इसे धारण करने से वीर्यस्तम्भ की शक्ति बढ़ती है। क्रुक्स ने एक दन्तकथा का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार पार्वती ने पहले-पहल अपने रक्त से रँगकर एक चोलना गोरखनाथ को दिया था। कहते हैं, तभी से लाल (गेरुआ) रंग योगी लोगो का रंग हो गया है। 'सोंटा' झाड़-फूँक करने का डण्डा है जो हाथ-डेढ़ हाथ के काले रूलर के ऐसा होता है। बहुत-से योगी इसे भैरवनाथ का और बहुत-से गोरखनाथ का डण्डा या सोंटा कहते हैं।[4] योगी लोग शरीर में भस्म लगाते हैं और ललाट पर और बाहुमूल तथा हृदयदेश पर भी त्रिपुण्ड्र लगाया करते हैं। गूदरी का धारण करना योगी के लिए आवश्यक नही है। बहुत-से योगी तो आरबन्द (मेखला) से बँधी हुई लँगोटी-भर ही धारण करते है

→ मन पपरा मन मैं सीगी। अनहदनाद बजावै रंगी।।
पंच प्रजारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका।।
क. ग्र., पद 206, पृ 158

1. मु. चं., पृ. 239
2. वही, पृ. 240
3. वही
4. वही

और कुण्ड [illegible] भी नहीं धारण करने ।[1] 'खप्पर' मिट्टी [illegible] यह दर्याई नारियल का बना है । [illegible] इसलिए खप्पर को 'कौआ' भी कहते हैं । [illegible] नामक अश्लील गानों के गाते समय लिए [illegible] कुछ लोग आग रखकर जादू से हाथ पर लिये फिरते हैं ।

योगिसम्प्रदाया[illegible] इन चिह्नों के धारण करने की विधि और कारण [illegible] । जब मत्स्येन्द्रनाथजी से प्रसन्न होकर शिवजी ने [illegible] उन्होंने शिवजी का स्वरूप ही वरदान में मांगा । शिवजी [illegible] पर मत्स्येन्द्रनाथ की तपस्या से प्रसन्न होकर अन्त में अपना [illegible] राजी हो गये । फिर प्रथम तो सिर में विभूति डालकर भस्म-स्नान कराया और उसका यह तात्पर्य बताया कि यह भस्म अर्थात् भूति [illegible] का अभिप्राय यह है कि योगी अपने को मानापमान में अतीत [illegible] समान समझे या अग्नि-संयोग से भस्म-रूप में परिणत [illegible] होकर अपनी कठोरता आदि को छोड़ दे और ज्ञानाग्नि से [illegible] भस्मसात् कर दे । फिर जलस्नान कराया और इसके दो अभिप्राय बताए । एक तो यह कि मेघ जिस प्रकार जल को समान भाव से [illegible] विचरण करता है, उसी प्रकार तुम समस्त प्राणियों के साथ समान व्यवहार करना और दूसरा यह कि पानी जिस प्रकार तप्त होने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, उसी प्रकार तुम भी अपना स्वभाव न छोड़ना । इसके अनन्तर श्रीमहादेवजी ने उन्हें 'नाद-जनेउ' पहनाया और उसका यह अभिप्राय समझाया—काष्ठादि का बना हुआ यह नाद है। नाद अर्थात् शब्द । इसके धारण करने का मतलब यह हुआ कि अब से शिष्य अपनी उत्पत्ति 'नाद' से समझे । (शब्द गुरु और श्रोता चेला – ऐसा योगियों का सिद्धान्त है) और यह ऊर्णादि निर्मित 'जनेउ' जिस प्रकार संसार के अन्य 'जनेउओं' से भिन्न है, उसी प्रकार तुम अपने को संसार में भिन्न समझना । इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के धारण करने का ठीक-ठीक कारण समझाने के बाद महादेवजी ने कुण्डलादि अपने अनेक चिह्न मत्स्येन्द्रनाथजी को दिये । तभी से सम्प्रदाय में यह प्रथा प्रचलित हुई। इतना लिखने के बाद ग्रन्थकार ने बड़े खेद के साथ लिखा है कि आजकल सम्प्रदाय में इन अभिप्रायों को कोई नहीं जानता । इस ज्ञान के अभाव का कारण उन्होंने यह बताया है कि धनाढ्य महन्त लोग शिमला, मसूरी, नैनीताल और आबू जैसी जगहों में हवा बदलने जाते हैं और उनके पीछे उनके स्थानों पर उन्हीं के नाम पर शिष्य

1 त्रिग्स, पृ 19 20
2 गु. च., पृ 241
3 यो स आ., पृ 20-21

बनाये जाते है। अब भला जिस शिष्य ने वेश ग्रहण करने के समय जिस व्यक्ति के शब्द को गुरु समझा है उसका मुँह-मत्था भी नही देखा, वह उन चिह्नो का क्या अभिप्राय समझ सकता है।

इब्नबतूता नामक मिस्री पर्यटक जब भारत आया था, तो उसने इन योगियो को देखा था। उसने लिखा है कि उन (योगियो) के केश पैर तक लम्बे होते है, सारे शरीर मे भभूत लगी रहती है और तपस्या के कारण उनका वर्ण पीत हो गया होता है। चमत्कार करने की शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक बहुत-से मुसलमान भी इनके पीछे लगे फिरते है, मावश उन्नहर के सम्राट 'तरम शीरी' के कैम्प मे बतूता ने इनको सर्वप्रथम देखा था। गिनती मे ये पूरे पचास थे। इनके रहने के लिए धरती मे गुफाएँ बनी हुई थी और वही ये अपना जीवन व्यतीत करते थे, केवल शौच के लिए बाहर आते थे और प्रातः, साय तथा रात्रि मे शृग के सदृश किसी वस्तु को बजाया करते थे।[1] इब्नबतूता ने इन योगियो की अदभुत करामातो को स्वयं देखा था। बतूता की गवाही पर यह मान लिया जा सकता है कि दीर्घ काल से साधारण जनता इन योगियों को भय की दृष्टि से देखती रही है। उन दिनो ग्वालियर के पास किसी बरौन नामक ग्राम मे एक बाघ का बड़ा उपद्रव था। लोगो ने बतूता को बताया कि वह कोई योगी है जो बाघ का रूप धर के लोगो को खा जाता है।[2]

कबीरदास के जमाने मे ही योगियो का सैनिक सगठन हो चुका था। उन्होने इन योगियो की इस विचित्र लीला का बड़ा मनोहर वर्णन दिया है।[3] सोलहवी शताब्दी मे इन योगियों से सिक्खो की घनघोर लड़ाई हुई थी। दिनोधर के मठ की दीवारों मे शस्त्र फेंकने के लिए छिद्र बने हुए है जो निश्चय ही आत्मरक्षा के उद्देश्य से बने होगे। कच्छ के योगी सोलहवी शताब्दी मे भयंकर हो उठे थे। वे अतीथो को जबर्दस्ती कनफटा बनाते थे। बाद में अतीथो ने सगठित होकर लोहा लिया था। इन अतीथों का प्रधान स्थान जूनागढ़ था। इस लड़ाई मे योगियों की शक्ति टूट गयी थी।[4]

1. इ. भा. या.; पृ 292-3
2 वही, पृ. 288
3 ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई ॥
महादेव को पथ चलावै। ऐसो बड़ो महन्त कहावै ॥
हाट बजारे लावै तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी ॥
कब दत्ते मावासी तोरी। कब सुख देव तोपची जोरी ॥
नारद कब बंदूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बजाया ॥
करहिं लराई मति कै मंदा। ई अतीत की तरकस बंदा ॥
भए विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावै बाना ॥
घोरा घोरी कीम बटोरा। गाँव पाय जस चलै करोरा ॥
—बीजक, 69वी रमैनी
4 ग्लो. पं. ट्रा. का., पृ. 165

इस प्रकार वैराग्यप्रवण और गार्हस्थ्यप्रवण, सैकड़ों योगी सम्प्रदाय और जातियाँ समूचे भारत में फैली हुई हैं। यह परम्परा वैदिक धर्म से भिन्न थी और अब भी बहुत-कुछ है, इसका आभास ऊपर के विवरण से मिल गया होगा। हम आगे चलकर देखेंगे कि अनुमान निराधार नहीं है।

सम्प्रदाय के पुराने सिद्ध

'हठयोग प्रदीपिका' के आरम्भ में ही नाथपन्थ के अनेक सिद्धयोगियों के नाम दिये हुए हैं। विश्वास किया जाता है कि सिद्ध लोग आज भी जीवित हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' की सूची में जिन सिद्धों के नाम हैं, वे ऐसे ही हैं जो कालदण्ड को खण्डित करके ब्रह्माण्ड में विचर रहे हैं। नाम इस प्रकार हैं :[1]

आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सारदानन्द, भैरव, चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मन्थानभैरव, सिद्धबोध, कन्थड़ीनाथ, कोरण्टकनाथ, सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, कानेरीनाथ, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कापालिनाथ, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, मयनाथ, अल्लामनाथ, प्रभुदेव, घोड़ाचूलीनाथ, टिण्टिणीनाथ, भल्लरीनाथ, नागबोध और खण्डकापालिक। इनमें से अनेक सिद्धों के नाम कोई अनुश्रुति शेष नहीं रह गयी है। कुछ के नाम नाथसिद्धों, योगियों और निर्गुणिया सन्तों की परम्परा में बचे हुए हैं और कुछ की ऐतिहासिकता महायान में और वज्रयानी सिद्धों में स्थापित की जा सकती है। कुछ सिद्धों के विषय में करामाती कहानियाँ प्रचलित हैं, पर उनका ऐतिहासिक रूप बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है।

सबसे आदि में नव मूलनाथ हुए हैं जिन्होंने सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था—ऐसी प्रसिद्धि है। पर ये नौ नाथ कौन-कौन हैं, इसकी कोई सर्वसम्मत तालिका बची नहीं है। 'महार्णव तन्त्र' में कलियुग के नौ सिद्धनाथों को दिशाओं में स्थापन करने की विधि बतायी गयी है। उस तन्त्र के अनुसार ये नव नाथ इस प्रकार मालूम होते हैं : गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़भरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ। [illegible] ऊपर जिन सिद्धों की चर्चा हो चुकी है, उनमें से कई ऐसे हैं जिनका नाम 'हठयोग प्रदीपिका' के सिद्धों से अभिन्न है।[2]

1. हठयोग प्रदीपिका
2. वही, पृ. 4

'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में[1] नवनारायणों के नवनाथों के रूपों में अवतरित होने की कथा दी हुई है। परन्तु उसमें यह नहीं लिखा कि आविर्होत्रनारायण ने किसका अवतार धारण किया था। फिर यह भी नहीं लिखा कि गोरक्षनाथ का अवतार किस नारायण ने लिया था। स्वयं महादेव ने भी एक 'नाथ' के रूप में अवतार धारण अवश्य किया था। ग्रन्थकार ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि महादेवजी ने गोरक्षनाथ न मक इत्तिक को नवनाथों के अवतरित होने के बाद उत्पन्न किया था। तो क्या नवनाथों में गोरक्षनाथ नहीं थे? जिन नारायणों ने अवतार धारण किया था, वे (यद्यपि ग्रन्थ में यह नहीं लिखा कि आविर्होत्रनारायण ने क्या अवतार धारण किया, पर भूमिका में[2] गोरक्षनाथ समेत जिन दस आचार्यों का नाम है उनमें नागनाथ का नाम भी है। सम्भवतः आविर्होत्रनारायण ने नागनाथ का अवतार लिया था) इस प्रकार हैं

1 कविनारायण	मत्स्येन्द्रनाथ
2 करभाजननारायण	गाहनिनाथ
3 अन्तरिक्षनारायण	ज्वालेन्द्रनाथ (जालन्धरनाथ)
4 प्रबुद्धनारायण	करणिपानाथ (कानिपा)
5 आविर्होत्रनारायण	? नागनाथ
6 पिप्पलायननारायण	चर्पटनाथ (चर्पटी)
7 चमसनारायण	रेवानाथ
8 हरिनारायण	भर्तृनाथ (भरथरी)
9 द्रुमिलनारायण	गोपीचन्द्रनाथ

इन आठ नाथों के साथ आदिनाथ (महादेव) का नाम जोड़ लेने से संख्या नौ होती। गोरक्षनाथ दसवें नाथ हुए। 'महार्णवतन्त्र' में जड़भरत का नाम नवनाथों में है, परन्तु 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' उन्हें नौ नाथों से अलग मानती है। एक और नाथों की सूची है जो इनसे भिन्न है, परन्तु गोरक्षनाथ का नाम उसमें भी नहीं आता। इस सूची 'सुधाकर चन्द्रिका'[3] में भी दी गयी है। इसके अनुसार नवनाथ ये हैं:

1 एकनाथ	4 उदयनाथ	7. सन्तोषनाथ
2 आदिनाथ	5 दण्डनाथ	8. कूर्मनाथ
3 मत्स्येन्द्रनाथ	6. गुप्तनाथ	9. जालन्धरनाथ

केनार की परम्परा में एकदम भिन्न नाम गिनाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं:[4]

1 प्रकाश	4 ज्ञान	7. स्वभाव
2 विमर्श	5. सत्य	8. प्रतिभा
3 आनन्द	6. पूर्ण	9. सुभग

1 [illegible] 1 11 18
2 [illegible]
3 [illegible] पृ. 211
4 [illegible] पृ. 1[illegible]

इन सूचियों मे गोरक्षनाथ का नाम न आने का कारण स्पष्ट है। गोरखपन्थी लोगों का विश्वास है कि इन नौ नाथो की उत्पत्ति श्री गोरखनाथ (जिन्हे श्रीनाथ भी कहते हैं) से हुई है। ये गोरख के ही नव-विध अवतार है। गोरखपन्थियों का सिद्धान्त है कि गोरख ही भिन्न-भिन्न समय मे अवतार लेकर भिन्न-भिन्न नाथान्त-नाम से अवतरित हुए हैं और गोरख ही अनादि अनन्त पुरुष है। उन्ही की इच्छा से ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि हुए है।[1] 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' मे शिव के गोरक्ष-रूप धारण करने के विषय में यह मनोरंजक कथा दी हुई है : यह प्रवाद परम्परा से योगियों में प्रचलित है कि महादेव को वश करने की इच्छा से प्रकृति देवी ने एक बार घोर तप किया था। इसलिए देवी का मान रखने और अपने को बचाने के हेतु से महादेवजी ने स्वयं गोरक्ष नाम से प्रसिद्ध कृत्रिम पुतले महादेव का उससे विवाह किया। कभी रहस्य खुलने पर देवी ने फिर इसको वश करने का उद्योग किया, पर विफल हुई। 'पश्चिम दिशा से आयी भवानी, गोरख छलने आयी जियो'—इत्यादि आख्यान से यह वृत्त आज तक गाया जाता है।[2]

इन सभी सूचियों मे सर्वसाधारण नाम इस प्रकार है : आदिनाथ, मत्स्येन्द्र-नाथ, जालन्धरनाथ और गोरक्षनाथ। ये नाम तान्त्रिक सिद्धों मे भी परिचित है और तिब्बती परम्परा के सहजयानी बौद्ध सिद्धों मे भी। 'ललिता सहस्र नाम'[3] मे तीन प्रकार के गुरु बताये गये है—दिव्य, सिद्ध और मानव; 'तारा रहस्य'[4] मे दो प्रकार के गुरुओ का उल्लेख है—दिव्य और मानव। प्रथम श्रेणी मे चार है और द्वितीय श्रेणी मे आठ। मानव दिव्यगुरु है . ऊर्ध्वकेशानन्दनाथ, व्योमकेशानन्द-नाथ, नीलकण्ठानन्दनाथ और वृषध्वजानन्दनाथ। मानवगुरु ये है :

1. वशिष्ठ	5. विरूपाक्ष
2. मीननाथ	6. महेश्वर
3. हरिनाथ	7. मुख
4. कुलेश्वर	8. पारिजात

इनमें केवल मीननाथ नाम नाथपन्थियों मे परिचित है। किन्तु अन्यान्य तन्त्रो मे मानवगुरुओं के जो नाम गिनाये गये हैं उनमे कई नाथ सिद्धो के नाम है। 'कौलावलीतन्त्र'[5] के अनुसार बारह मानव गुरु ये है :

1. मु. चं., पृ. 241
2. यो स. आ., पृ 13
3. ल. स. ना., पृ. 15
4. ता. र., पृ. 115
5. विमलः कुशलश्चैव भीमसेनः सुधाकरः।
मीनो गोरक्षकश्चैव, भोजदेव प्रकीर्तितः॥
मूलदेव रन्तिदेवो, विघ्नेश्वर हुताशनो।
समरानन्दसन्तोषौ, मानवौघाः प्रकीर्तिताः॥
कौ. त., पृ. 70

सं.	नाथ सिद्ध	सं.	सहजयानी सिद्ध	विशेष
1	मीननाथ	1	लूहिपा	
2	गोरक्षनाथ	2	लीलापा	
3	चौरंगीनाथ	3	विरूपा	नाथ सिद्ध (= ना. सि.)
4	चामरीनाथ	4	डोम्भीपा	
5	तन्तिपा	5	शबरीपा	ना. सि. 47 से तु.
6	हालिपा	6	सरहपा	
7	केदारिपा	7	कंकालीपा	
8	धोंगपा	8	मीनपा	ना. सि. 1 से तु.
9	दारिपा	9	गोरक्षपा	ना. सि. 3
10	विरूपा	10	चौरंगीपा	ना. सि. 3
11	कपाली	11	वीणापा	
12	कमारी	12	शान्तिपा	ना. सि. 44 से तु.
13	कान्हू	13	तन्तिपा	ना. सि. 5 से तु.
14	कनखल	14	चमरिपा	
15	मेखल	16	खड्गपा	
16	उन्मन	16	नागार्जुन	ना. सि. 22
17	काण्डलि	17	कण्हपा	ना. सि. 13 से तु.
18	धोबी	18	कर्णरिपा (आर्यदेव)	
19	जालन्धर	19	थगनपा	ना. सि. 48 से तु.
20	टोंगी	20	नारोपा	
21	मवह	21	शलिपा (शीलपा) शृगालीपाद ?	ना. सि. 55 से तु.
22	नागार्जुन	22	तिलोपा	
23	दौली	23	छत्रपा	
24	भिपाल	24	भद्रपा	ना. सि. 37 से तु.
25	अचिति	25	दोखन्धिपा (द्विखण्डिपा)	
26	चम्पक	26	अजोगिपा	
27	ढेण्टस	27	कालपा	
28	भुम्बरी	28	धोम्भिपा	ना. सि. 18 से तु.
29	बाकलि	29	कंकणपा	
30	तुजी	30	कमरिपा (कम्बलपा)	ना. सि. 34 से तु.
31	चर्पटी	31	डेंगिपा	ना. सि. 8 ?
32	भादे	32	भदेपा	ना. सि. 32 से तु.

1. विमल	5. गोरक्ष	9. विघ्नेश्वर
2. कुशर	6 भोजदेव	10. हुताशन
3. भीमसेन	7. मूलदेव	11. समरानन्द
4 मीन	8. रन्तिदेव	12. सन्तोप

लगभग ये ही नाम 'श्यामा रहस्य'[1] मे भी दिये है। 'श्यामा रहस्य' के नाम इस प्रकार है :

1. विमल	6. गोरक्ष	11. विघ्नेश्वर
2. कुशर	7. भोजदेव	12. हुताशन
3 भीमसेन	8 प्रजापति	13. सन्तोप
4 सुधाकर	9. कुलदेव	14. समयानन्द
5 मीन	10. वृन्तिदेव	

इन दोनो सूचियो में नाममात्र का भेद है। पहली सूची मे सुधाकर और प्रजापति के नाम नही है। 'भीमसेनसुसाधक' का 'सुसाधक' शब्द मैंने विशेषण मान लिया है। ऐसा जान पड़ता है कि परवर्ती सूची मे गलती से 'सुसाधक' का 'सुधाकर' हो गया है। और 'प्रकीर्तित' का 'प्रजापतिः' हो गया है, जो हो, इनमें गोरक्षनाथ, मीननाथ और सन्तोपनाथ तथा भीमनाथ नाथमतावलम्बियों के सुपरिचित है। इस प्रकार मीननाथ, गोरक्षनाथ आदि का अनेक परम्परा के सिद्धों मे परिगणित होना उनके प्रभाव और प्राचीनत्व को सूचित करता है। एशियाटिक सोसायटी की लाइब्रेरी मे एक तालपत्र की पोथी है जिसका नम्बर 48/34, अक्षर बांग्ला और लिपिकाल लक्ष्मण स 388 दिया है। ग्रन्थकार कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर है जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (1300-1321 ई.) के सभासद् थे। इस पोथी का नाम 'वर्णरत्नाकर' है'। इस पोथी मे चौरासी नाथ सिद्धो की तालिका दी हुई है। यद्यपि ग्रन्थकार उनकी संख्या चौरासी बताता है, तथापि वास्तविक सख्या 76 ही है।[2] लेखक के प्रमादवश शायद आठ नाम छूट गये हैं। इन 76 नामो मे अनेक पूर्व परिचित है, पर नये नाम ही अधिक है। तिब्बती परम्परा के चौरासी सहजयानी सिद्धो से इनमे के कई सिद्ध अभिन्न है। दोनों सूचियो को आस-पास रखकर देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि नाथपन्थियों और सहजयानियो के अनेक सिद्ध उभय साधारण है। नीचे दोनों सूचियाँ दी गयी हैं। पहली 'वर्णरत्नाकर' के नाथ सिद्धो की है और दूसरी महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा संगृहीत वज्रयानियो की है :[3]

1 विमलश्शरश्चैव भीमसेनः सुधाकरः।
मीनो गोरक्षकश्चैव, भोजदेवः प्रजापति.॥
कुलदेवो वृन्तिदेवो, विघ्नेश्वर हुताशनो।
सन्तोषः समयानंद पान्तु मां मानव सदा॥—श्या. र., पृ 24

2 वी गा. दो, भूमिका पृ. 36

3. 'गंगा'—पुरातत्वांक, पौष माघ 1989, पृ 221-224

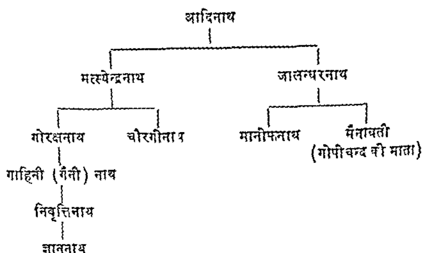
सं. नाथ सिद्ध	सं. सहजयानी सिद्ध	विशेष
64 चाटल	64 चवरि(जवरि) अजपालिपा	ना. सि. 4 से तु.
65 नाचन	65 मणिभद्रा (योगिनी)	ना. सि. 74 से तु.
66 भीलो	66 मेखलापा (योगिनी)	ना. सि. 15 से तु.
67 पाहिल	67 कनखलापा (योगिनी)	ना. सि. 14 से तु.
68 पासल	68 कलकलपा	
69 कमल-कंगारि	69 कन्ताली (कन्याली)-पा	
70 चिपिल	70 धहुलि (रि) पा (दवड़ीपा ?)	
71 गोविन्द	71 उधनि (उधलि) पा	
72 भीम	72 कपाल (कमल) पा	ना. सि. 69 से तु.
73 भैरव	73 किलपा	
74 भद्र	74 सागरपा	
75 भमरी	75 सर्वभक्षपा	
76 मुरुकुटी	76 नागबोधिपा	ना. सि. 56 से तु.
77	77 दारिकपा	ना. सि. 9 से तु.
78	78 पुतुलिपा	
79	79 पनहपा	
80	80 कोकालिपा	
81	81 अनंगपा	
82	82 लक्ष्मीकरा	
83	83 समुदपा	
84	84 भलि (व्यालि) पा	

सं. नाथ सिद्ध	सं. सहजयानी सिद्ध	विशेष
33 चांदन	33 तन्धेपा (तन्तिपा)	
34 कामरी	34 कुकुरिपा	
35 करवत	35 कुचिपा (कुमूलिपा)	
36 धर्मपापतग	36 धर्मपा	ना. सि. 36
37 भद्र	37 महीपा (महिलपा)	
38 पातलिभद्र	38 अचिन्तिपा	ना. सि 25 से तु.
39 पलिहिह	39 भलहपा (भवपा)	
40 भानु	40 नलिनपा	
41 मीन	41 भूसुकपा	
42 निर्दय	42 इन्द्रभूति	
43 सवर	43 मेकोपा	
44	44 कुड़ालिपा (कुद्लिपा)	ना. सि. 7 से तु.
45 भर्तृहरि	45 कमरिपा (कम्मरिपा)	ना. सि. 12 से तु.
46 भीषण	46 जालन्धरपा (जालन्धारक)	ना. सि. 19 से तु.
47 भटी	47 राहुलपा	
48 गगनपा	48 धर्मरिपा (धर्मरि)	
49 गमार	49 धोकरिपा	
50 मेनुरा	50 मेदनीपा (हालीपा ?)	ना. सि 6 से तु.
51 कुमारी	51 पंकजपा	
52 जीवन	52 घण्टा (वज्रघण्टा) पा	
53 अघोसाधव	53 जोगीपा (अजोगिपा)	
54 गिरिवर	54 चेलूकपा	
55 सियारी	55 गुण्डरिपाः (गोरुपा)	
56 नागवालि	56 लुपिकपा	
57 विभवत्	57 निर्गुणपा	
58 सारंग	58 जयानन्त	
59 विविकिधज	59 चर्पटापा (पचरीपा)	ना. सि. 31 से तु.
60 मगरधज	60 चम्पकपा	ना. सि. 26
61 अचित	61 भिखनपा	ना. सि. 46 से तु.
62 विचित	62 भलिपा	ना. सि. 66 से तु.
63 नेचक	63	ना. सि. 51 से तु.

'वर्णरत्नकार' = व. 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' = गो.
'महार्णव तन्त्र' = म. 'योगीसम्प्रदायाविष्कृति' = यो.
'हठयोग प्रदीपिका' = ह. 'सुधाकर चन्द्रिका' = सु.
'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' = ज्ञा.

सं.	नाम	आधारग्रन्थ	सं.	नाम	आधारग्रन्थ
1	अक्षय	ह.	2	अघोसाधव	व.
3	अचित	व.	4	अजपानाथ	यो.
5	अजयनाथ	यो.	6	अतिकाल	का.
7	अनादिनाथ	का.	8	अवद्य	का.
9	आदिनाथ	सब	10	उदयनाथ	सु., गो.
11	उनमन	व.	12	एकनाथ	सु., गो.
13	कनखल	व.	14	कमलकंगारि	व.
15	कन्याधारी	ह.	16	कन्हड़ी	ह.
17	करवत	व.	18	काणेरी	ह, गो.
19	काण्डालि	व.	20	कान्ह (करणिपा)	व. (यो.) ज्ञा.
21	कामरी	व.	22	कापालि	ह.
23	काल	का.	24	काल भैरवनाथ	का.
25	कुमारी	व.	26	कूर्मनाथ	सु., गो.
27	केदारिपा	व.	28	कोरण्टक	ह.
29	खण्डकापालिक	ह.	30	गगनपा	व.
31	गमार	व.	32	गिरिवर	व.
33	गाहिनीनाथ	ज्ञा., यो.	34	गोपीचन्द्रनाथ	यो., गो.
35	गोरक्षनाथ	सब	36	गोविन्द	व.
37	घोड़ा चूली	ह.	38	चर्पट	का. हा. व. गो.
39	चाटल	व.	40	चम्पक	व.
41	चाँदन	व.	42	चामरी	व.
43	चिपिल	व.	44	चौरंगी	ह., व., ज्ञा.
45	जड़भरत	म., का.	46	ज(जा)लन्धर	सब
47	जीवन	व.	48	ज्ञाननाथ	ज्ञा.
49	टोंगी	व.	50	ढिण्ढिणी	ह.
51	ढेण्टस	व.	52	तन्तिपा	व.
53	तारकनाथ	यो.	54	तुजी	व.
55	दण्डनाथ	सु., गो.	56	दत्तात्रेय	म.
57	दारिपा	व.	58	देवदत्त	म.

'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' में पं. लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर ने ज्ञाननाथ तक की गुरुपरम्परा इस प्रकार बतायी है :



इस प्रकार यदि नवनाथों, कापालिकों, ज्ञाननाथ तक के गुरु-सिद्धों और 'वर्णरत्नाकर' के चौरासी नाथ-सिद्धों को नाथ-परम्परा में मान लिया जाय तो चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ होने के पूर्व लगभग सवा सौ सिद्धों के नाम उपलब्ध होते हैं। नीचे इनकी सूची दी जा रही है। इनमें तन्त्र ग्रन्थों के मानवगुरुओं का उल्लेख नहीं है, क्योंकि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे गुरु नाथ-सिद्ध होंगे ही। फिर नेपाली परम्परा के नाथ शिव के आनन्द और शक्ति के प्रतीक से जान पड़ते हैं, व्यक्ति-विशेष नहीं। आगे उन पर विचार करने का अवसर आयेगा। यद्यपि नीचे की सूची में 137 सिद्धों के नाम हैं, पर उनमें से कई अभिन्न-से जान पड़ते हैं। कान्ह, कन्हड़ी, कारणिपा, काणफीनाथ आदि एक ही सिद्ध के नाम के उच्चारण-भेद से भिन्न रूप हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' के ढिण्ढिणी, सहजयानी सिद्ध ढेण्ढण और 'वर्णरत्नाकर' के ढेण्टस एक ही सिद्ध हैं। 'वर्णरत्नाकर' की मेनुनुरा, मैना या मयनामती का ही नामान्तर जान पड़ती है। कालभैरवनाथ और भैरवनाथ एक ही हो सकते हैं और नागनाथ और नागार्जुन तथा नागबोध और नागावलि की विभिन्नता भी सन्देह का विषय है। जहाँ सन्देह ज्यादा है वहाँ हमने अलग से नाम गिनाना ही उचित समझा, परन्तु इन सिद्धों में सवा सौ के करीब ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य हैं और वे तेरहवीं शताब्दी (ईसवी सन्) के समाप्त होने के पूर्व के ही हैं। स्पष्ट ही सम्प्रदाय के सर्वमान्य आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धरनाथ, गोरक्षनाथ और कानिपा हैं, क्योंकि इनका नाम सब ग्रन्थों में पाया जाता है। आगे इन पर विचार करके ही अन्य सिद्धों पर विचार किया जायेगा। सूची में निम्नांकित संकेत व्यवहृत हुए हैं :

. . .

सं.	नाम	आधारग्रन्थ	सं.	नाम	आधारग्रन्थ
127	सहस्रार्जुन	म.	128	सारदानन्द	ह.
129	सान्ति	व.	130	सारंग	व.
131	सिद्धपाद	ह.	132	सिद्धबोध	ह.
133	सियारी	व.	134	सुरानन्द	ह.
135	सूर्यनाथ	यो.	136	हरिश्चन्द्र	का.
137	हालिपा	व., गो.			

कभी-कभी परवर्त्ती ग्रन्थों में इनके अतिरिक्त अन्य नाम भी आते हैं जो चौरासी सिद्धों में गिने गये हैं। 'प्राण संगली' नामक सिख ग्रन्थ में गुरु नानक के साथ चौरासी सिद्धों के साथ साक्षात्कार का प्रसंग है। इन चौरासी सिद्धों में कई प्रकार के सिद्ध थे। कुछ सुरति-सिद्ध थे, कुछ निरति-सिद्ध और कुछ कनक-सिद्ध। कुछ सिद्ध क्रोधी और तामसिक प्रकृति के भी थे। इस पुस्तक से निम्नांकित सन्तों का पता लगता है :

1. परवत सिद्ध (पृ. 154)।
2. ईश्वरनाथ (पृ. 155)।
3. चरपटनाथ (पृ. 155)।
4. घुघूनाथ (पृ. 156)।
5. चम्पानाथ (वही)।
6. खिन्थड़नाथ (कन्थड़ि ?) (पृ. 162)।
7. झगरनाथ (पृ. 161)।
8. धूर्मनाथ (ऊरमनाथ) (पृ. 165)।
9. धंगरनाथ (पृ. 167)।
10. मंगलनाथ (पृ. 169)।
11. प्राणनाथ (पृ. 169)।

परवर्त्ती ग्रन्थों में सिद्धों के नाम इतने विकृत हुए हैं कि कभी-कभी भ्रम होता है कि दूसरा कोई सिद्ध है। इस प्रकार नागार्जुन नागाअरजन्द हो गये हैं, नेमिनाथ नीमनाथ बन गये है और कन्थाधारी खिन्थड़ हो गये हैं। सम्प्रदायप्रवर्त्तक सिद्धों में कुछ तो पुराने है, कुछ नये हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनका मूल नाम विकृत होकर कुछ-का-कुछ हो गया है।

सं. नाम	आधारग्रन्थ	सं. नाम	आधारग्रन्थ
59 दौली	व.	60 धर्मपापतंग	व.
61 धोगपा	व.	62 धोरंग (दूरंगम)	यो.
63 धोवी	व.	64 नागनाथ	यो.
65 नागावलि	व.	66 नागवोध	ह.
67 नागार्जुन	का., म. व.	68 नाचन	व.
69 नित्यनाथ	ह.	70 निरंजन	ह., यो.
71 निर्दय	व.	72 निवृत्तिनाथ	ज्ञा.
73 नीमनाथ	यो.	74 मेचक	व.
75 पलिहिह	व.	76 पातलीभद्र	व.
77 पासल	व.	78 पूज्यपाद	ह.
79 प्रभुदेव	ह.	80 वटुक	का.
81 वार्कलि	व.	82 भटी	व.
83 भद्र (1)	व.	84 भद्र (2)	व.
85 भमरी	व.	86 भर्तृहरि	व., यो.
87 भवनाजि	गो.	88 भल्लटि	ह.
89 भादे	व.	90 भानु	व.
91 भिपाल	व.	92 भीमनाथ	का., व.
93 भीषण	व.	94 भीलो	व:
95 भुरुकुटी	व.	96 भूतनाथ	का.
97 भूम्बरी	व.	98 भैरव	का. व.
99 मगरधन	व.	100 मत्स्येन्द्रनाथ	व. के सिवा सव
101 मन्थानभैरव	ह.	102 मय	ह.
103 मवह	व.	104 मलयार्जुन	का.
105 महाकाल	का.	106 माणिकनाथ	यो.
107 मालीपाव	गो.	108 मीन	ह., व., यो. गो.
109 मेखल	व.	110 मेनुरा (मयनावती)	व. (ज्ञा.)
111 रेवानाथ	यो.	112 विकराल	का.
113 विचित	व.	114 विन्दुनाथ	ह., यो.
115 विभवत्	व.	116 विरूपा	व.
117 विरूपाक्ष	ह.	118 विविगधज	व.
119 विलेशय	ह., यो.	120 वीरनाथ	का.
121 वैराग्य	का.	122 शम्भुनाथ	यो.
123 श्रीकण्ठ	का.	124 सत्यनाथ	का., सु. गो.
125 सन्तोषनाथ	सु., गो.	126 सवर	व.

हुआ है कि वस्तुतः इन ग्रन्थों की हस्तलिपि ईसवी सन् की ग्यारहवी शताब्दी के मध्यभाग की है, नवी शताब्दी की नही। इन पुस्तको की पुष्पिका में आचार्य का नाम कई प्रकार से लिखा गया है। नीचे वे दिये जा रहे है :

'कौलज्ञाननिर्णय' में—मच्छघ्नपाद, मच्छेन्द्रपाद, मत्स्येन्द्रपाद और मीनपाद
'अकुलवीरतन्त्र' में (ए)—मीनपाद
" (बी)—मच्छेन्दपाद
'कुलानन्द' में—मत्स्येन्द्र
'ज्ञानकारिता' मे—मच्छिन्द्रनाथपाद

मच्छेन्द्र, मच्छिन्द्र और मच्छेन्द आदि नाम मत्स्येन्द्रनाथ के अपभ्रंश रूप हो सकते हैं, पर 'मच्छघ्न' शब्द मत्स्येन्द्र का प्राकृत रूप किसी प्रकार नही हो सकता। इस नाम पर से हरप्रसाद शास्त्री का अनुमान है कि मत्स्येन्द्रनाथ मछली मारने-वाली कैवर्त्त जाति मे उत्पन्न हुए थे। 'कौलज्ञाननिर्णय' से भी मत्स्यघ्न नाम का समर्थन होता है। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि मत्स्येन्द्रनाथ थे तो ब्राह्मण, परन्तु एक विशेष कारण से उनका नाम 'मत्स्यघ्न' पड़ गया। कार्तिकेय ने 'कुलागम शास्त्र' को चुराकर समुद्र मे फेंक दिया था तब उस शास्त्र का उद्धार करने के लिए स्वयं भैरव अर्थात शिव ने मत्स्येन्द्रनाथ का अवतार धारण कर समुद्र मे घुसकर उस शास्त्र का भक्षण करनेवाले मत्स्य का उदर विदीर्ण करके शास्त्र का उद्धार किया। इसी कारण से वे 'मत्स्यघ्न' कहलाये।

यह ध्यान देने की बात है कि अभिनवगुप्तपाद ने भी 'मच्छन्द' नाम का ही प्रयोग किया है और रूपकात्मक अर्थ समझकर उसकी व्याख्या की है। इनके मत से आतान-वितान-वृत्यात्मक जाल को छिन्न करने के कारण उनका नाम 'मच्छन्द' पड़ा।[1] और 'तन्त्रालोक' के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी प्रकार का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार 'मच्छ' चपल चित्तवृत्तियों को कहते है। ऐसी वृत्तियों का छेदन करने के कारण ही वे 'मच्छन्द' कहलाये।[2] कबीर-सम्प्रदाय में अब भी 'मच्छ' शब्द मन अर्थात् चपल चित्तवृत्तियो को कहते हैं।[3] यह परम्परा अभिनवगुप्त तक जाती है। उसके पहले भी ऐसी परम्परा नही रही होगी, यह नही कहा जा सकता। प्राचीनतर बौद्ध सिद्धों के पदों से इस प्रकार के प्रमाण संग्रह किये जा सके है कि 'मत्स्य' प्रज्ञा का वाचक था। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ की जीवितावस्था मे ही, मच्छघ्न के प्रतीकात्मक अर्थ में उनका कहा जाना असंगत कल्पना नही है।

1 रागारुण ग्रंथिविलावकीर्णं यो जालमातान वितान वृत्ति—
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार स्यामे स मच्छन्दविभु: प्रसन्न: ॥ 1।17

2 मच्छा: पाशा: समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तय: ।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तित: ॥ —'तन्त्रालोक', प्रथम भाग, पृ. 25

3. विचारदास की टीका, पृ. 40

या मीननाथ माना जाता था।

ये मत्स्येन्द्रनाथ कौन थे और किस कुल तथा देश में उत्पन्न हुए थे? इनके रचित ग्रन्थ क्या-क्या हैं? इनका साधन-मार्ग क्या था और कैसा था? इत्यादि प्रश्न सहज-समाधेय नहीं हैं। सारे देश में इनके तथा इनके गुरुभाई जालन्धरनाथ और शिष्य गोरक्षनाथ के सम्बन्ध में इतनी तरह की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं कि उनके आधार पर इतिहास की खोज निकालना काफी कठिन है। फिर भी सभी परम्पराएँ कुछ बातों में मिलती हैं, इसीलिए उन पर से ऐतिहासिक ककाल का अनुमान हो सकता है।

किसी-किसी पण्डित ने बौद्ध सहजयानियों के आदिसिद्ध[1] लुईपाद और मत्स्येन्द्र-नाथ को एक ही व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया है। लुई शब्द को लोहित (= रोहित = मत्स्य) शब्द का अपभ्रंश मानकर इस मत की स्थापना की गयी है। इस कल्पना का एक और भी कारण यह है कि तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार लुईपाद का एक और नाम मत्स्यान्त्राद (= मछली की अँतड़ी खानेवाला) दिया हुआ है।[2] यह नाम मच्छघ्न नाम से मिलता है। इस प्रकार उपर्युक्त कल्पना को बल मिलता है। यदि यह कल्पना सत्य हो तो मत्स्येन्द्रनाथ का समय आसानी से मालूम हो सकता है। लुईपाद के एक ग्रन्थ में दीपंकर श्रीज्ञान ने सहायता दी थी। ये दीपंकर श्रीज्ञान 1038 ई. में 58 वर्ष की उमर में विक्रमशिला से तिब्बत गये थे।[3] अतएव लुईपाद का समय इसी के आसपास होगा। परन्तु कई कारणों से लुईपाद और मत्स्येन्द्रनाथ के एक व्यक्ति होने में सन्देह है। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरक्षनाथ पर तो बहुत नाराज हैं, पर मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार मानते हैं। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ ने लिखा है कि गोरक्ष-नाथ पहले बौद्ध थे। उस समय उनका नाम अनंगवज्र था (यद्यपि शास्त्रीजी को कोई विश्वसनीय प्रमाण मिला है कि गोरक्षनाथ का पुराना नाम अनंगवज्र नहीं बल्कि रमणवज्र था), इसलिए नेपाली बौद्ध उन्हें धर्मत्यागी समझकर घृणा करते हैं। परन्तु मत्स्येन्द्रनाथ पर जब उनकी श्रद्धा है तो मानना पड़ेगा कि वे धर्मत्यागी नहीं हो सकते। शास्त्रीजी का अनुमान है कि मत्स्येन्द्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नहीं, क्योंकि मत्स्येन्द्रनाथ का पूर्वनाम मच्छघ्न था अर्थात् वे मछली मारनेवाले कैवर्त थे। बौद्धों के स्मृतिग्रन्थों में लिखा है कि जो लोग निरन्तर प्राणि-हत्या करते हैं उनको—जैसे जाल फेंकनेवाले मल्लाह, कैवर्त आदि को—बौद्ध धर्म में दीक्षित नहीं करना चाहिए। इसलिए मच्छघ्ननाथ बौद्ध नहीं हो सकते। वे नाथपन्थियों के ही गुरु थे, फिर भी नेपाली बौद्धों के उपास्य हो सके हैं।[4] शास्त्रीजी की युक्ति

1. राहुलजी के मत से सहजयानियों के आदिसिद्ध सरह थे, लुई नहीं।
2. बौ. गा. दो., पृ. 15
3. वही, पृ. 15
4 वही, पृ. 16

एक और प्रश्न उठता है कि मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न-भिन्न। 'हठयोग प्रदीपिका' में मीननाथ को मत्स्येन्द्रनाथ से पृथक् व्यक्ति बताया गया है। डॉ. बागची ठीक कहते हैं कि यह बात बाद की कल्पना जान पड़ती है। कौलज्ञाननिर्णय में बार-बार मीननाथ का नाम आने से उन्हें इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। साम्प्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार मीननाथ मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र थे।[1] डॉ. बागची इस मत को परवर्ती ही मानते हैं। परन्तु सिद्धों की सूची देखने से जान पड़ता है कि यह परम्परा काफी पुरानी है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार मीननाथ मत्स्येन्द्रनाथ के पिता थे। इस प्रकार चार विभिन्न मत उपलब्ध हैं (1) 'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार मीननाथ व मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न हैं, (2) साम्प्रदायिक अनुश्रुति में वे मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र हैं और (3) तिब्बती परम्परा में वह स्वयं मत्स्येन्द्रनाथ के ही पिता हैं फिर (4) नेपाल में प्रचलित विश्वास के अनुसार वे मत्स्येन्द्रनाथ के छोटे भाई हैं।[1]

'वर्णरत्नाकर' में प्रदत्त नाथ सिद्धों की सूची काफी पुरानी है। इसमें प्रथम सिद्ध का नाम मीननाथ है और 41वें सिद्ध का नाम मीन है। प्रथम सिद्ध मीननाथ निश्चय ही मत्स्येन्द्रनाथ हैं। 41वें मीन कोई दूसरे हैं जो मीननाथ की शिष्य-परम्परा में पड़ने के कारण उनके पुत्र मान लिये गये होंगे। परन्तु 'वर्णरत्नाकर' से स्पष्ट रूप से दो बातें मालूम होती हैं (1) यह कि मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ एक ही प्रथम नाथ सिद्ध के दो नाम हैं और (2) यह कि 'हठयोग प्रदीपिका' में मत्स्येन्द्र के अतिरिक्त भी जो एक मीन नाम आता है, उसका कारण यह है कि वस्तुतः ही नाथ-परम्परा में एक और भी मीन नामधारी सिद्ध हो चुके हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ के एक होने का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि 'तन्त्रालोक' की टीका में जयद्रथ ने दो पुराने श्लोक उद्धृत किये हैं। इनमें शिव ने कहा है कि मीननाथ नामक महासिद्ध 'मच्छन्द' ने कामरूप नामक महापीठ में मुझसे योग पाया था।[3] निस्सन्देह टीकाकार के मत में 'कौलज्ञाननिर्णय' नाम ग्रन्थ ही रहा होगा, क्योंकि उन्होंने लिखा है कि यह मच्छन्द 'सकल कुल शास्त्रों के अवतारक रूप में प्रसिद्ध हैं'।[4] यह लक्ष्य करने की बात है कि 'कौलज्ञान की पुष्पिका' में बराबर मच्छन्द या मत्स्येन्द्रनाथ को 'योगिनी कौलज्ञान' का अवतारक बताया गया है।[5] इस प्रकार यह निर्विवाद है कि प्राचीन काल में मत्स्येन्द्रनाथ का नाम ही मीन

1 गो. म. आ., पृ. 227 और आगे।

2 कौ. ज्ञा. नि., पृ. 4, 'गंगा' पुरातत्त्वांक, पृ. 221

3 भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।
कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना ॥—तन्त्रालोक टीका, पृ. 24

4 स च (मच्छन्द) सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः।—वहीं

5 तु —तारावतारितं ज्ञानं कामरूपी त्वया मया।—कौ. ज्ञा. नि., पृ. 16-21

ब्रह्मचर्य पर आधारित है।[1] स्पष्ट ही 'स्मर दीपिका' के ग्रन्थकार मीननाथ[2] यह मीननाथ नही हो सकते, क्योंकि दोनो के प्रतिपाद्य परस्पर-विरुद्ध है। वस्तुत: स्मरदीपिकाकार कोई दूसरे मीननाथ है और नाथ मार्ग से उनका कोई सम्बन्ध नही है। यह ध्यान देने की वात है कि 'गोरक्षशतक' के टीकाकार लक्ष्मीनारायण भी मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ को एक ही मानते है।[3]

नेपाल दरवार लाइब्रेरी में 'नित्याह्निकतिलकम्' नामक पुस्तक है। इसमे एक जगह पचीस कौल सिद्धों के नाम, जाति, जन्म-स्थान, चर्यानाम, गुप्तनाम, कीर्ति-नाम और उनकी शक्तियो के नाम दिये हुए है। डॉ. वागची ने 'कौलज्ञाननिर्णय' की भूमिका में इस सूची को उद्धृत किया है। इस सूची में एक नाम मत्स्येन्द्रनाथ भी है। इसके अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ का विवरण इस प्रकार है:

नाम—विष्णुशर्मा
जाति—ब्राह्मण
जन्मभूमि—वारणा (वगदेश)
चर्यानाम—श्री गौडीशदेव
पूजानाम—श्री पिप्लीशदेव
गुप्तनाम—श्री भैरवानन्दनाथ

कीर्त्तिनाम—तीन थे। ये भिन्न-भिन्न अवसरो पर भिन्न-भिन्न सिद्धियों को दिखाने से प्राप्त हुए थे। प्रथम कीर्तिनाम वीरानन्दनाथ था, पर जब इन्द्र से अनुगृहीत हुए तब इन्द्रानन्ददेव हुआ; फिर जव मर्कट नदी मे बैठकर समस्त मत्स्यो को कंपित किया तो मत्स्येन्द्रनाथ नाम पड़ा। यह कीर्त्तिनाम ही देश-विश्रुत हुआ है।

शक्तिनाम—इनकी शक्ति का नाम श्री ललिताभैरवी अम्बा पापू था। चन्द्रद्वीप के वारे में तरह-तरह के अटकल लगाये गये है। किसी के मत से वह कलकत्ते के दक्षिण में अवस्थित सुन्दर वन है (क्योंकि सुन्दर वस्तुत: 'चन्द्र' का ही परवर्ती रूपान्तर है) और किसी-किसी के मत से नवाखाली जिले मे। पागलवावा ने मुझे बताया था कि चन्द्रद्वीप असम का कोई पहाड़ी स्थान है जो नदी के बहाव से घिर-

1. परमहंसास्तु कामनिषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येवम्। कथम्? तदुक्तं श्री मीननाथेन—
हरकोपानलेनैव भस्मीभूत कृत स्मरः।
अर्द्धगौरीशरीरो हि तेन तस्मै नमोऽस्तु ते।
अतो महासिद्धा विपयरीत्या तु त्यागमेव कुर्वन्ति॥
—गो. सि. सं., पृ 66-67

2. 'नागर सर्वस्व' (पद्मश्री-विरचित) बम्बई 1921 की टिप्पणी मे पं. तनसुखराम शर्मा ने मीननाथ नामक एक कामशास्त्रीय आचार्य की पुस्तक 'स्मरदीपिका' से अनेक वचन उद्धृत किये हैं।

3. लेवी (ल नेपाल, जि. 1, पृ 155) ने लिखा है कि श्रीनाथ महाराज जोशी राखर (सार्थ ज्ञानेश्वरी, 18-1754) ने मीननाथ का अनुवाद मत्स्येन्द्रनाथ किया है। इस पर टीका करते हुए ब्रिग्स (पृ. 230) ने लिखा है कि बंगाल मे मीननाथ मत्स्येन्द्रनाथ से भिन्न माने जाते है। कहना व्यर्थ है कि यह बात आंशिक रूप मे ही सत्य है।

सम्पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं मालूम होती, क्योंकि बौद्ध सिद्धों मे कम-से-कम एक मीनपा ऐसे अवश्य है जिनकी जाति मछुआ है।[1] परन्तु आगे हम जो विचार करने जा रहे है, उससे इतना निश्चित है कि शास्त्रीजी का यह मन्तव्य कि मत्स्येन्द्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नही, ठीक है। तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ के अनुसार गोरक्ष-नाथ पहले बौद्ध तान्त्रिक ही थे, पर बारहवी शताब्दी मे सेन राजवंश के अन्त के साथ वे शिव (ईश्वर) के उपासक हो गये; क्योंकि वे मुसलमान विजेताओं का विरोध नही करना चाहते थे।[2]

'गोरक्षशतक' के दूसरे श्लोक मे मीननाथ को अपना गुरु मानकर गोरक्षनाथ ने स्तुति की है। वही श्लोक 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' (पृ. 40) में 'विवेक मार्तण्ड' का कहकर उद्धृत है। इसमे मीननाथ की स्तुति है। प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि ये मीननाथ मत्स्येन्द्रनाथ ही है। इसमे कहा गया है कि जिन्होंने मूलाधारबन्ध, उड्डियानबन्ध, जालन्धरबन्ध आदि योगाभ्यास से हृदय-कमल में निश्चल दीप की ज्योति सरीखी परमात्मा की कला का साक्षात्कार करके युग-कल्प आदि के रूप मे चक्कर काटनेवाले काल के रहस्यो को तथा समस्त तत्त्वों को योगाभ्यास से जय कर लिया था और स्वय ज्ञान और आनन्द के महासमुद्र श्री आदिनाथ का स्वरूप हो गये थे, उन श्री मीननाथ को प्रणाम है।[3] उसी ग्रन्थ मे मीननाथ का कहा हुआ एक श्लोक है जिसमे बताया गया है कि योगी लोग जिस शिव की उपासना करते है, उनके कोपानल से कामदेव जलकर भस्म हो गया था। इस पर से ग्रन्थ संगृहीता ने निष्कर्ष निकाला है कि योगी लोग कामभाव के विरोधी हैं और उनका मत पूर्ण

1 राहुल सांकृत्यायन, 'गंगा' पुरातत्त्वांक, पृ 221
2 (1) गेशिस्टेदे स बुधिस्म द्रा इन-इण्डिएन, द्रा. शीफनेर, सेण्ट पीटर्सबर्ग, सन् 1869, पृ 174, 255, 323
(2) लेवी, ल नेपाल, पृ. 355 और आगे।
(3) ग्रियर्सन, इ रे. ए., पृ 328
3 अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारबंधादिभिर्यो
योगीयुगकल्पकालकलनात्तत्त्व च यो गीयते।
ज्ञानान्मोदमहोदधि समभवद्यत्रादिनाथं स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिक तमनिश श्री मीननाथभजे॥
'गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह' मे यह श्लोक अशुद्ध रूप मे उद्धृत है। इसका शुद्ध रूप प. महीधर शर्मा की पुस्तक मे उपलब्ध है। तदनुसार द्वितीय पंक्ति के 'योगीयते' के स्थान मे 'जेगीयते' पाठ होना चाहिए। तृतीय पंक्ति के आरम्भ मे 'ज्ञानामोदमहोदधि.' होना चाहिए और 'आदिनाथ' के स्थान मे 'आदिनाथ' पाठ होना चाहिए (गो. प., पृ 7)। इसका यही शुद्ध रूप 'गोरक्ष शतक' में भी मिलता है (ब्रिग्स, पृ. 284)।

'गोरक्षविजय' और दूसरी श्यामादास का 'मीन चेतन'। दोनों पुस्तकें वस्तुत: एक ही हैं। इनमें जो कहानी दी हुई है उसे श्री सुकुमार सेन के 'बांग्ला साहित्य के इतिहास', पृ. 937 से संक्षिप्त रूप में संग्रह किया जा रहा है :

आद्य और आद्या ने पहले देवताओं की सृष्टि की। बाद में चार सिद्धों की उत्पत्ति हुई। पश्चात् एक कन्या भी उत्पन्न हुई, नाम रखा गया : गौरी। आद्य के आदेश से शिव ने गौरी से विवाह किया और पृथ्वी पर चले आये। चारों सिद्धों ने, जिनके नाम मीननाथ, गोरक्षनाथ, हाड़िफा (जालन्धरिनाथ) और कानफा (कानूपा कृष्णपाद) थे, वायुमात्र के आहार से योगाभ्यास आरम्भ किया। गोरक्षनाथ मीननाथ के सेवक हुए और कानपा (कानफा) हाड़िपा (हाड़िफा) के। उधर एक दिन गौरी ने शिव के गले में मुण्डमाला देखकर उसका कारण पूछा। शिव ने बताया कि वस्तुत: वे मुण्ड गौरी के ही हैं। गौरी हैरान! क्या कारण कि वे बराबर मरती रहती हैं और शिव कभी नहीं मरते। पूछने पर शिव ने बताया कि यह गुप्त रहस्य सबके सुनने योग्य नहीं है। चलो, हम लोग क्षीरसागर में 'टंग' (=डोंगी) पर बैठकर इस ज्ञान के विषय मे वार्तालाप करें। दोनों ही क्षीरसागर में पहुँचे, इधर श्री मीननाथ मछली बनकर टंग के नीचे बैठे गये। देवी को सुनते-सुनते जब नींद आ गयी तब भी मीननाथ हुँकारी भरते रहे। इस आवाज से जब देवी की निद्रा टूटी, तो वे कह उठी कि मैंने तो महाज्ञान सुना ही नहीं। शिव विचारने लगे कि यह हुँकारी किसने भरी। देखते हैं तो 'टंग' के नीचे मीननाथ है। उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि तुम एक समय महाज्ञान भूल जाओगे।

आदिगुरु शिव कैलास पर्वत पर चले गये और वहीं रहने लगे। गौरी ने उनसे बार-बार आग्रह किया कि वे सिद्धों को विवाह करके वंश चलाने का आदेश दें। शिव ने कहा कि सिद्ध लोगों में काम-विकार नहीं है। गौरी ने कहा कि भला यह भी सम्भव है कि मनुष्य के शरीर में काम-विकार हो ही नहीं, आप आज्ञा दें तो मैं
। लूं। शिव ने आज्ञा दे दी। चारों सिद्ध चार दिशाओं में तप कर रहे थे—
हाड़िफा, दक्षिण में कानफा, पश्चिम में गोरक्ष और उत्तर मे मीननाथ।
परीक्षा का अवसर देने के लिए शिव ने ध्यानबल से चारों सिद्धों का
। चारों उपस्थित हुए। देवी ने भुवनमोहिनी रूप धारण करके
परोसा। चारों ही सिद्ध उस रूप पर मुग्ध हुए। मीननाथ ने मन-ही-
ऐसी सुन्दरी मिले तो आनन्द-केलि से रात काटूं। देवी ने उन्हें
ज्ञान भूलकर कदलीदेश मे सोलह सौ सुन्दरियों के साथ
। हाड़िफा ने ऐसी सुन्दरी का झाड़ूदार होने मे भी कृतार्थता
और फलस्वरूप मयनामती रानी के घर में झाड़ूदार होने
के पुत्र गाभूर सिद्ध (पुस्तक मे ये अचानक आते हैं) ने
हाथ-पैर कटा देने पर भी जीवन को सफल माना और

कर द्वीप-जैसा बन गया है। अब भी योगी लोग उस स्थान पर तीर्थ करने जाते हैं। चन्द्रद्वीप कामरूप के आसपास ही कोई जगह होगी, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में साधना की थी। 'तन्त्रालोक' की टीका से भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है। नदी के बहाव से घिरे हुए स्थान को पुराने ज़माने में द्वीप कहते थे। 'नवद्वीप' नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ-नगर इसी प्रकार के बहावों के मध्य में स्थित नौ छोटे-छोटे टापुओं (द्वीपों) को मिलाकर बसा था। 'रत्नाकर जोपम कथा' नामक भोट ग्रन्थ से भी चन्द्रद्वीप का लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के भीतर होना पुष्ट होता है ('गंगा', पुरातत्त्वांक, पृ. 244), परन्तु 'कौलज्ञाननिर्णय' के 16वें पटल से जान पड़ता है कि चन्द्रद्वीप कहीं समुद्र के आसपास था। 'योगि-सम्प्रदायाविष्कृति' (पृ. 22) में चन्द्रगिरि नामक स्थान को गोरक्षनाथ की जन्म-भूमि कहा गया है। यह स्थान गोदावरी गंगा के समीपवर्ती प्रदेश में बताया गया है।

मत्स्येन्द्रनाथ-विषयक कथाएँ और उनका निष्कर्ष

मत्स्येन्द्रनाथ-विषयक मुख्य कहानियाँ नीचे संग्रह की जा रही हैं :

1. 'कौलज्ञाननिर्णय' (16-29-36)

भैरव और भैरवी चन्द्रद्वीप में गये हुए थे। वहाँ कार्त्तिकेय उनके शिष्यरूप में पहुँचे। अज्ञान के प्राबल्य से उन्होंने महान् 'कुलागम शास्त्र' को समुद्र में फेंक दिया। भैरव ने समुद्र में जाकर मछली का पेट फाड़कर उस शास्त्र का उद्धार किया। इस कार्य से कार्त्तिकेय बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने एक बड़ा-सा गड्ढा खोदा और छिपकर दुबारा उस शास्त्र को समुद्र में फेंक दिया। इस बार एक प्रचण्डतर शक्तिशाली मत्स्य ने उसे खा लिया। भैरव ने शक्ति-तेज से एक जाल बनाया और उस मत्स्य को पकड़ना चाहा। पर वह प्राय: उतना ही शक्ति-सम्पन्न था जितना स्वयं भैरव थे। हारकर भैरव को ब्राह्मणवेश त्याग करना पड़ा। उस महामत्स्य का उदर फिर से विदीर्ण करके उन्होंने 'कुलागम शास्त्र' का उद्धार किया।

2. बंगला में मीननाथ

(मत्स्येन्द्रनाथ) के उद्धार के सम्बन्ध में दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। एक है फैजुल्लाह का

उसी मौलगिरी के नीचे लौट आये और लंग और महालंग नामक दो शिष्यों को लेकर गुरु के उद्धार के लिए कदलीवन में प्रविष्ट हुए। वेश उन्होंने ब्राह्मण का बनाया। ब्राह्मण देखकर लोग उन्हें प्रणाम करने लगे, गोरखनाथ को भी आशीर्वाद देना पड़ा। पर यह आशीर्वाद पत्राधारी ब्राह्मण का तो था नहीं। सिद्ध गोरखनाथ के मुँह से निकला था। फल यह होने लगा कि सब पापी-तापी दुःख-मुक्त होने लगे। गोरखनाथ ने इस वेश को ठीक नहीं समझा। उन्होंने योगी का वेश धारण किया। कदलीदेश के एक सरोवर के तट पर बकुल वृक्ष के नीचे समासीन हुए। उस सरोवर से एक कदली नारी आयी। वह गोरखनाथ को देखकर मुग्ध हो गयी। उसी से गोरखनाथ को पता लगा कि उनके गुरु मीननाथ सोलह सौ सेविकाओं द्वारा परिवृता मंगला और कमला नामक पटरानियों के साथ विहार कर रहे हैं। वहाँ योगी का जाना निषिद्ध है। जाने पर उनको प्राणदण्ड होगा। केवल नर्तकियाँ ही मीननाथ का दर्शन पा सकती हैं। गुरु के उद्धार के लिए गोरखनाथ ने नर्तकी का रूप धारण किया, पर द्वारी के मुख से इस अपूर्व सुन्दरी की रूप-सम्पत्ति की बात सुनकर रानियों ने मीननाथ के सामने उसे नहीं आने दिया। अन्त में गोरखनाथ ने द्वार से ही मर्दल की ध्वनि की। आवाज सुनकर मीननाथ ने नर्तकी को बुलाया। मर्दलध्वनि के साथ गोरखनाथ ने गुरु को पूर्ववर्ती बातों का स्मरण कराया और महाज्ञान का उपदेश दिया। सुनकर मीननाथ को चैतन्य हुआ। रानियों ने बिन्दुनाथ पुत्र को लेकर क्रन्दन करके मीननाथ को विचलित करना चाहा, पर गोरखनाथ ने बिन्दुनाथ को मृत बनाकर और बाद में जीवित करके फिर उन्हें तत्त्वज्ञान दिया। कदली नारियों ने भी गोरखनाथ का प्राण लेने का षड्यन्त्र किया। सो गोरखनाथ ने उन्हें शाप दिया, वे चमगादड हो गयी। फिर गुरु और बिन्दुनाथ को लेकर गोरखनाथ अपने स्थान विजयनगर में लौटे।

3. ल नेपाल

लेवी ने 'ल नेपाल' (जि. 1, पृ. 347-355) में नेपाल में प्रचलित दो कहानियों का संग्रह किया है। ग्रियर्सन ने इ. रे. ए. में और बागची ने 'कौलज्ञाननिर्णय' की भूमिका में इन कहानियों का सार दिया है। यो. सं. आ. में भी यह कहानी कुछ परिवर्तित रूप में पायी जाती है। नीचे इन तीनों कहानियों का संग्रह किया जा रहा है :

(क) नेपाल में प्रचलित बौद्धकथा : बौद्धकथा में मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर समझा गया है। मत्स्येन्द्रनाथ एक पर्वत पर रहते थे, जिस पर चढ़ना कठिन था। गोरक्षनाथ उनके दर्शन के लिए गये हुए थे, पर पर्वत पर चढना दुष्कर समझकर उन्होंने एक चाल चली। नौ नागो को बाँधकर वे बैठ गये जिसका परिणाम यह हुआ कि नेपाल में बारह वर्ष तक वर्षा नही हुई। राजा नरेन्द्रदेव के गुरु बुद्धदत्त कारण समझ गये और अवलोकितेश्वर को ले आने का संकल्प करके कपोतक पर्वत पर गये। उनकी सेवा से प्रसन्न होकर अवलोकितेश्वर ने उन्हें एक

बदले मे कामार्त्त सौतेली माँ से अपमान पाने का शाप मिला।[1] कानफा ने मन-ही-मन सोचा कि ऐसी सुन्दरी मिले तो प्राण देकर भी कृतार्थ होऊँ और इसीलिए देवी ने उन्हे शाप दिया कि तुरमान देश मे डाहुका(?)होओ। पर गोरक्ष ने सोचा कि ऐसी सुन्दरी मेरी माता हो तो उसकी गोद में बैठकर स्नेह पाऊँ और दूध पीऊँ। गोरक्षनाथ परीक्षा मे खरे उतरे और वर भी पाया, पर देवी ने उनकी कठोरतर परीक्षा लेने का सकल्प किया। शापानुसार सभी सिद्ध तत्तत्स्थानों में जाकर फल भोगने लगे। गोरक्षनाथ एक बार बकुल वृक्ष के नीचे बैठे समाधिस्थ हुए थे। देवी ने उन्हें नाना भाव से योगभ्रष्ट करना चाहा, पर वे अन्त तक खरे उतरे। वे रास्ते मे नग्न सो गयी, गोरक्ष ने बिल्वपत्र से उनका शरीर ढँक दिया। वे मक्खी बनकर गोरक्ष के उदर मे प्रविष्ट हो पीड़ा देने लगी, गोरक्ष ने श्वास रुद्ध करके उन्हे बुरी तरह छका दिया। अन्त मे देवी राक्षसी बनकर मनुष्य बलि लेने लगी। शिवजी के द्वारा अनुरुद्ध होकर गोरक्ष ने देवी का उद्धार किया और उनके स्थान पर एक मूर्ति प्रतिष्ठित की। प्रवाद है कि कलकत्ते में कालीरूप से पूजी जानेवाली मूर्ति वही मूर्त्ति है। देवी ने प्रसन्न होकर सुन्दर स्त्रीरत्न पाने का वर देकर गोरक्ष को अनुगृहीत किया। देवी के वर की मान-रक्षा के लिए शिव ने माया से एक कन्या उत्पन्न की जिसने गोरक्षनाथ को पतिरूप में वरण किया। गोरक्ष उसके घर मे जाकर छ. महीने के बालक बन गये और दूध पीने के लिए मचलने लगे। कन्या बड़े फेर मे पडी। गोरक्षनाथ ने उससे कहा कि मुझमे काम-विकार तो होने से रहा, पर तुम हमारा कौपीन या करपटी धोकर उसका पानी पी जाओ, तुम्हे पुत्र होगा। आदेश के अनुसार कन्या ने करपटी धोकर जलपान कर लिया। जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम कर्पटीनाथ पडा।

इसके बाद गोरक्षनाथ बकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए। उधर कानफा ठीक उनके सिर पर से उड़ते हुए आकाशमार्ग से कही जा रहे थे। छाया देखकर गोरक्षनाथ ने सिर ऊपर उठाया और क्रोधवश अपना खड़ाऊँ ऊपर फेंका। खड़ाऊँ ने कानपा को पकड़कर नीचे किया। गोरखनाथ के सिर पर से उड़ने के अविचार का फल उन्हे हाथोहाथ मिला। पर कानपा ने व्यंग्य करते हुए कहा, 'बड़े सिद्ध बने हो, कुछ गुरु का भी पता है कि वे कहाँ हैं। कदलीदेश मे महाज्ञान भूलकर स्त्रियो के साथ वे विहार कर रहे है। उनकी शक्ति समाप्त हो गयी। यमराज के कार्यालय मे देखकर आ रहा हूँ कि उनकी आयु के तीन ही दिन बाकी हैं। बड़े सिद्ध हो तो जाओ, गुरु को बचाओ। गोरखनाथ ने कहा, 'मुझे तो समझा रहे हो। कुछ अपने गुरु की भी खबर है तुम्हे? मेहरकुल की महाज्ञानशीला रानी मयनामती के पुत्र गोपीचन्द ने उन्हें मिट्टी मे गड़वा रखा है। इस प्रकार अपने-अपने गुरु की बात जानकर दोनों सिद्ध उनके उद्धार के लिए अग्रसर हुए। पहले तो गोरखनाथ ने यमराज के कार्यालय मे जाकर गुरु की आयुक्षीणता को ही मिटा दिया, फिर

1. सम्भवतः चौरंगीनाथ से तात्पर्य है।

गुरु गोरक्षनाथ ने वसन्त नामक अपने अकिंचन शिष्य को मिट्टी के पुतले बनाने का आदेश दिया। गुरु की कृपा से ये पुतले सैनिक बन गये। इन्हीं को लेकर वसन्त ने महीन्द्रदेव पर चढ़ाई की। बाद में पराजित महीन्द्रदेव ने वसन्त को राज्य का *उत्तराधिकारी स्वीकार किया और इस प्रकार सं. 420 में गोरखा राज्य प्रतिष्ठित* हुआ।

4. 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में मत्स्येन्द्रनाथ सम्बन्धी कथाएँ

नारदजी से पार्वती को यह रहस्य मालूम हुआ कि शिवजी ने गले में जो मुण्डमाल धारण किया है, वह उनके ही पूर्वजन्मो के कपाल है; अमरकथा न जानने के कारण ही वे मरती रहती है और उसके जानने के कारण ही शिव अमर बने हुए हैं। पार्वती के अत्यन्त आग्रह पर शिवजी ने अमरकथा सुनाने के लिए समुद्र में निर्जन स्थान चुना। इधर कवि नारायण मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में एक भृगुवंशीय ब्राह्मण के घर अवतरित हुए थे। पर गण्डन्त योग में पैदा होने के कारण उस ब्राह्मण ने उन्हें समुद्र में फेंक दिया था। एक मछली बारह वर्ष तक उन्हे निगले रही और वे उसके पेट में ही बढ़ते रहे। पार्वती को सुनायी जानेवाली अमरकथा को मछली के पेट से इस बालक ने सुना और बाद में शिवजी द्वारा अनुगृहीत और उद्धृत होकर महासिद्ध हुआ (अध्याय 2)। इस बालक ने (मत्स्येन्द्र ने) अपनी अपूर्व सिद्धि के बल से हनुमान, वीरवैताल, वीरभद्र, भद्रकाली, और चामुण्डा देवी को पराजित किया (अध्याय 5-10); परन्तु दो बार ये गृहस्थी के चक्र में फँस गये। प्रथम बार तो प्रयागराज के राजा के मरने से शोकाकुल जन-समूह को देखकर गोरक्षनाथ ने ही उनसे राजा के मृत शरीर में प्रवेश करके लोगों को सुखी करने का अनुरोध किया और मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने मृत शरीर की बारह वर्ष तक रक्षा करने की अवधि देकर राजा के शरीर में प्रवेश किया। बारह वर्ष तक वे सानन्द गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे। किसी प्रकार रानियों को रहस्य मालूम हो गया और उन्होने मत्स्येन्द्रनाथ के मृत शरीर को नष्ट कर देना चाहा। पर वीरभद्र उस शरीर को ले गये और वह नष्ट होने से बच गया। अपने पुराने वैर के कारण वीरभद्र उस शरीर को लौटाना नही चाहते थे, परन्तु गोरक्षनाथ की अद्भुत शक्ति के सामने उन्हे झुकना पड़ा और मत्स्येन्द्रनाथ को फिर अपना शरीर प्राप्त हुआ। इसी समय मत्स्येन्द्रनाथ के माणिकनाथ नामक पुत्र उत्पन्न हुए, जो बाद में चलकर बहुत बड़े सिद्ध योगी हुए। एक दूसरी बार त्रियादेश (अर्थात् सिंहल देश) की रानी ने अपने रुग्ण-क्षीण पति से असन्तुष्ट होकर अन्य योग्य पुरुष की कामना करते हुए हनुमानजी की कृपा प्राप्त की। हनुमानजी ने स्वयं गृहस्थी के बन्धन में बँधना अस्वीकार किया, पर मत्स्येन्द्रनाथ को ले आ दिया। रानी ने राज्य मे योगियों का आना निषेध कर दिया था। गोरक्षनाथ गुरु का उद्धार करने आये तो हनुमानजी ने बाधा दी। व्यर्थ का झगड़ा मोल न लेकर गोरक्षनाथ ने बालक-वेश बना राज्य में प्रवेश किया। उसी समय कलिंगा

मन्त्र दिया और कहा कि इसके जप से वे आकृष्ट होकर जपकर्ता के पास आ जायेंगे। घर लौटकर बुद्धदत्त ने मन्त्र जप का अनुष्ठान किया। मन्त्रशक्ति से आकृष्ट होकर अवलोकितेश्वर भृंग बनकर कमण्डलु में प्रविष्ट हुए। उस समय राजा नरेन्द्रदेव सो रहा था। बुद्धदत्त ने लात मारकर उसे जगाया और इशारा किया कि कमण्डलु का मुख बन्द कर दे। वैसा करने पर अवलोकितेश्वर नेपाल में ही बँधे रह गये और नेपाल में प्रचुर वर्षा हुई। तभी से बुगम नामक स्थान में आज भी मत्स्येन्द्रनाथ की यात्रा होती है।[1]

(ख) 'बुद्धपुराण' नामक ग्रन्थ में ब्राह्मणों में प्रचलित कहानी है : महादेव ने एक बार पुत्राभिलाषिणी किसी स्त्री को खाने के लिए भभूत दी। अविश्वास होने के कारण उस स्त्री ने उसे गोबर में फेंक दिया। बारह वर्ष बाद जब वे उस तरफ लौटे तो उस स्त्री से बालक के बारे में पूछा। स्त्री ने कहा कि उसने उस भभूत को गोबर में फेंक दिया था। गोबर में देखा गया तो बारह वर्ष का दिव्य बालक खेलता हुआ पाया गया। महादेव ही मत्स्येन्द्र थे और बालक गोरक्षनाथ। मत्स्येन्द्रनाथ ने उसे शिष्य रूप में साथ रख लिया। एक बार गोरक्षनाथ नेपाल गये पर वहाँ लोगों ने उनका उचित सम्मान नहीं किया फलतः रुष्ट होकर गोरक्षनाथ बादलों को बाँधकर बैठ गये और नेपाल में बारह वर्ष का घोर अकाल पड़ा। नेपाल के सौभाग्य से मत्स्येन्द्रनाथ उधर से पधारे और गुरु को समागत देखकर गोरक्षनाथ को अभ्युत्थान आदि से उनका सम्मान करना पड़ा। उठते ही बादल छूट गये और प्रचुर वर्षा हुई. इसीलिए मत्स्येन्द्रनाथ के उस उपकार की स्मृतिरक्षा के लिए उत्सव यात्रा प्रवर्तित हुई।

(ग) 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में कहानी का प्रथम भाग (अध्याय 3) कुछ अन्तर के साथ दिया हुआ है। पुत्र-लाभ की कामना करनेवाली सरस्वती नामक ब्राह्मणी ने, जो गोदावरी गंगा के समीपवर्ती चन्द्रगिरि नामक स्थान के ब्राह्मण सुराज की पत्नी थी, भभूत को फेंका नहीं दिया था बल्कि खा गयी थी और उसी के गर्भ में गोरक्षनाथ आविर्भूत हुए थे। कहानी का दूसरा भाग भी परिवर्तित रूप में पाया जाता है (अध्याय 49)। इस ग्रन्थ के अनुसार नेपाल में एक मत्स्येन्द्री जाति थी जिस पर तत्कालीन राजा और राजपुरुष लोग अत्याचार कर रहे थे। यह जाति गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की पूजा करती थी। उनकी करुण कहानी सुनकर ही गोरक्षनाथ ने नेपाल के राजा को दण्ड देने के लिए तीन वर्ष तक अकाल उत्पन्न कर दिया था। राजा के गलती स्वीकार करने और मत्स्येन्द्रियों पर अत्याचार न करने का आश्वासन देने के बाद गुरु गोरक्ष ने कृपा की और प्रचुर वर्षा हुई। राजा ने मत्स्येन्द्रनाथ के सम्मान में शानदार यात्रा प्रवर्तित की, पर असल में वह दिखावा-भर था। अपने पुराने दुष्कृत्यों को वह दुहराता ही रहा। लाचार होकर

1. और भी देखिए : डॉ. राइट, 'दि हिस्टरी ऑफ नेपाल', कैम्ब्रिज, 1877, पृ 140 और आगे।

अवतार थी, बहुत चिन्तित हुई। इस पर मत्स्येन्द्र ने रानी से फिर मिलने की प्रतिज्ञा की। अन्त में मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के जाने पर रानी ने अग्नि-प्रवेश कर वह शरीर त्याग दिया और कुछ काल बाद एक राजा के यहाँ जयन्ती नामक कन्या के रूप में जन्म लिया। उसके बड़े होने पर पूर्व प्रतिज्ञानुसार मत्स्येन्द्र वहाँ पहुँचे और उससे विवाह कर कदलीवन में उसके साथ विहार करने लगे। देवताओं और सिद्धों ने वहाँ जाकर उनकी स्तुति की और नाथजी ने पहुँचकर मत्स्येन्द्र और जयन्ती को आशीर्वाद दिया।

(2) एक बार मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप देश में जाकर तप करने लगे। परन्तु जब वहाँ का राजा मर गया, तब उन्होंने मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर उसकी मंगला नामक रानी के साथ विहार किया। इसी प्रकार उन्होने उस राजा की अन्य रानियों के साथ भी आनन्दोपभोग किया। इससे उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ काल बाद मंगला आदि रानियों ने मत्स्येन्द्र को पहचान लिया। अन्त मे गोरक्षनाथ वहाँ आ पहुँचे और अपने गुरु मत्स्येन्द्र और उनके दोनों पुत्रों को लेकर वहाँ से चल दिये। परन्तु बहुत काल तक भोगासक्त रहने के कारण मत्स्येन्द्र का मन अभी तक सुवर्ण और रत्नादि में फँसा हुआ था। यह देख गोरक्ष ने मार्ग के एक पर्वत-शिखर को अपनी सुराही के जल का छीटा देकर सुवर्ण का बना दिया। अपने शिष्य की इस सिद्धि को देख मत्स्येन्द्र ने अपने गले के आभूषण वगैरह तोड़कर फेंक दिये। इसके बाद गोरक्षनाथ ने सुवर्ण को कलह का मूल समझा, सुराही के जल से सुवर्ण शिखर को स्फटिक का बना दिया। परन्तु इससे भी उसको सन्तोष न हुआ। इसलिए उसने तीसरी बार सुराही का जल लेकर, उसे गेरू (गैरिक) का बना दिया।

आगे पहुँचने पर मत्स्येन्द्र ने अपने दोनों पुत्रों को पास के एक नगर मे भिक्षा माँग लाने के लिए भेजा। उनमें से एक तो पवित्र भिक्षा न मिलने से खाली हाथ लौट आया, और दूसरा एक चमार के दिये उत्तम भोज्य पदार्थों को ले आया। यह देख मत्स्येन्द्र ने पहले पुत्र को पार्श्वनाथ होने का वर दिया और दूसरे को श्वेताम्बरी जैन होने का शाप दिया। इसके बाद वे सब कदलीवन को गये, और वहाँ पर मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के बीच अनेक विषयों पर वार्त्तालाप होता रहा।

निष्कर्ष

गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ विषयक समस्त कहानियो के अनुशीलन से कई बातें स्पष्ट रूप से जानी जा सकती है। प्रथम यह कि मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ समसामयिक थे। दूसरी यह कि मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे और जालन्धरनाथ कानुपा या कृष्णपाद के गुरु थे। तीसरी यह कि मत्स्येन्द्रनाथ कभी योग-मार्ग के प्रवर्त्तक थे, फिर संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गये थे जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी—सम्भवतः यह वामाचारी साधना थी। चौथी यह कि शुरू से ही जालन्धरनाथ और कानिपा की साधना-पद्धति मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधना-पद्धति से भिन्न थी। यह स्पष्ट है कि

नामक अपूर्व नृत्य-चतुरा वेश्या मत्स्येन्द्रनाथ के अन्तःपुर में नाचने जा रही थी। गोरक्षनाथ ने साथ चलना चाहा और स्त्रीवेश बनाने और तबला बजाने में अपनी निपुणता का परिचय देकर उसे साथ ले चलने को राजी किया। रात को अन्तःपुर में कलिंगा का मनोहर नृत्य हुआ और मत्स्येन्द्रनाथ मुग्ध हो रहे। गोरक्षनाथ ने मन्त्र-बल से तबलची के पेट में पीड़ा उत्पन्न कर दी और इस प्रकार कलिंगा ने निरुपाय होकर उनसे तबला बजाने का अनुरोध किया। अवसर देखकर गोरक्षनाथ ने तबले पर 'जागो, गोरखनाथ आ गया' की ध्वनि की और गुरु को चैतन्य-लाभ कराया। रानी ने बहुत प्रकार से गोरक्षनाथ को वश करना चाहा और मत्स्येन्द्रनाथ भी वह सुख छोड़कर अन्यत्र जाने में बहुत पशोपेश करते रहे, पर अन्ततः गोरक्षनाथ उन्हें क्षणभंगुर विषय-सुख से विरक्त करने में सफल हुए। इसी समय मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुत्र हुए थे—परशुराम और मीनराम, जो आगे चलकर बड़े सिद्ध हुए (अध्याय 23)। यह कथा 'सुधाकर चन्द्रिका' (पृ. 240) में संक्षिप्त रूप में दी हुई है। इसके अनुसार गोरखनाथ ने तबले से यह ध्वनि निकाली थी 'जाग मछन्दर गोरख आया।'

5. 'नाथचरित्र' की कथा

पं. विश्वेश्वरनाथजी रेउ ने सदर म्यूजियम, जोधपुर से 1937 ई. में 'नाथचरित्र' 'नाथ पुराण' और 'मेघमाला' नामक पुस्तकों से और उनके आधार पर बने हुए चित्रों से नाथ-परम्परा की कुछ कथाएँ संगृहीत की हैं। 'नाथचरित्र' नामक ग्रन्थ आज से लगभग सौ-सवा सौ वर्ष पहले महाराजा मानसिंहजी के समय में संग्र किया गया था, जो किसी कारणवश पूरा नहीं हो सका। इस पुस्तक पर महाराज मानसिंह की एक संस्कृत टीका भी प्राप्त हुई है। प्रथम दो पुस्तकें मारवाड़ी भाषा में हैं और अन्तिम ('मेघमाला') संस्कृत में। इस संग्रह से मत्स्येन्द्रनाथ सम्बन्धी दो कथाएँ उद्धृत की जा रही हैं :

1. एक बार मत्स्येन्द्रनाथ संसारपर्यटन को निकले। मार्ग में जिस समय वह एक नगर में पहुँचे, उस समय वहाँ के राजा का स्वर्गवास हो गया और उसके नौकर उसके शरीर को वैकुण्ठी में रखकर जलाने को ले चले। इस पर मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शरीर की रक्षा का भार अपने साथ के शिष्यों को सौंप कर 'परकाय-प्रवेश' विद्या के बल से उस राजा के शरीर में प्रवेश किया। इससे वह राजा जी उठा और उसके साथवाले सब हर्ष मनाने लगे। इस प्रकार राज-शरीर में रहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने बहुत समय तक भोग-विलास का आनन्द लिया। इसी बीच एक पर्व के अवसर पर हरद्वार में योगी लोग इकट्ठे हुए। वहाँ पर मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरक्षनाथ और कनीपाव के बीच विवाद हो गया और कनीपाव ने गोरक्ष को उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के भोग-विलास में फँसे रहने का ताना दिया। यह सुन गोरक्ष राजा के शरीर में स्थित मत्स्येन्द्रनाथ के पास गये और उन्हें समझाकर वहाँ से चलने को तैयार किया। यह हाल जान रानी परिमला, जो विमलादेवी का

अवतार थी, बहुत चिन्तित हुई। इस पर मत्स्येन्द्र ने रानी से फिर मिलने की प्रतिज्ञा की। अन्त में मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के जाने पर रानी ने अग्नि-प्रवेश कर वह शरीर त्याग दिया और कुछ काल बाद एक राजा के यहाँ जयन्ती नामक कन्या के रूप में जन्म लिया। उसके बड़े होने पर पूर्व प्रतिज्ञानुसार मत्स्येन्द्र वहाँ पहुँचे और उससे विवाह कर कदलीवन में उसके साथ विहार करने लगे। देवताओं और सिद्धों ने वहाँ जाकर उनकी स्तुति की और नाथजी ने पहुँचकर मत्स्येन्द्र और जयन्ती को आशीर्वाद दिया।

(2) एक बार मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप देश में जाकर तप करने लगे। परन्तु जब वहाँ का राजा मर गया, तब उन्होंने मृत राजा के शरीर मे प्रवेश कर उसकी मंगला नामक रानी के साथ विहार किया। इसी प्रकार उन्होने उस राजा की अन्य रानियों के साथ भी आनन्दोपभोग किया। इससे उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ काल बाद मंगला आदि रानियों ने मत्स्येन्द्र को पहचान लिया। अन्त में गोरक्षनाथ वहाँ आ पहुँचे और अपने गुरु मत्स्येन्द्र और उनके दोनो पुत्रो को लेकर वहाँ से चल दिये। परन्तु बहुत काल तक भोगासक्त रहने के कारण मत्स्येन्द्र का मन अभी तक सुवर्ण और रत्नादि में फँसा हुआ था। यह देख गोरक्ष ने मार्ग के एक पर्वत-शिखर को अपनी सुराही के जल का छींटा देकर सुवर्ण का बना दिया। अपने शिष्य की इस सिद्धि को देख मत्स्येन्द्र ने अपने गले के आभूषण वगैरह तोड़कर फेंक दिये। इसके बाद गोरक्षनाथ ने सुवर्ण को कलह का मूल समझा, सुराही के जल से सुवर्ण शिखर को स्फटिक का बना दिया। परन्तु इससे भी उसको सन्तोष न हुआ। इसलिए उसने तीसरी बार सुराही का जल लेकर, उसे गेरू (गैरिक) का बना दिया।

आगे पहुँचने पर मत्स्येन्द्र ने अपने दोनों पुत्रों को पास के एक नगर में भिक्षा माँग लाने के लिए भेजा। उनमें से एक तो पवित्र भिक्षा न मिलने से खाली हाथ लौट आया, और दूसरा एक चमार के दिये उत्तम भोज्य पदार्थों को ले आया। यह देख मत्स्येन्द्र ने पहले पुत्र को पार्श्वनाथ होने का वर दिया और दूसरे को श्वेताम्बरी जैन होने का शाप दिया। इसके बाद वे सब कदलीवन को गये, और वहाँ पर मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के बीच अनेक विषयों पर वार्तालाप होता रहा।

निष्कर्ष

गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ विषयक समस्त कहानियों के अनुशीलन से कई बातें स्पष्ट रूप से जानी जा सकती हैं। प्रथम यह कि मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ समसामयिक थे। दूसरी यह कि मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे और जालन्धरनाथ कानुपा या कृष्णपाद के गुरु थे। तीसरी यह कि मत्स्येन्द्रनाथ कभी योग-मार्ग के प्रवर्त्तक थे, फिर संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गये थे जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी—सम्भवतः यह वामाचारी साधना थी। चौथी यह कि शुरू से ही जालन्धरनाथ और कानिपा की साधना-पद्धति मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधना-पद्धति से भिन्न थी। यह स्पष्ट है कि

किसी एक का समय भी मालूम हो जाय तो बाकी कई सिद्धों के समय का पता आसानी से लग जायगा। समय मालूम करने के लिए कई युक्तियाँ दी जा सकती हैं। एक-एक करके हम उन पर विचार करें।

1. सबसे प्रथम तो मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञाननिर्णय' ग्रन्थ का लिपि-काल निश्चित रूप से सिद्ध कर देता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं।

2. हमने ऊपर देखा है कि सुप्रसिद्ध कश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने 'तन्त्रालोक' में मच्छन्द विभु को नमस्कार किया है। ये 'मच्छन्द विभु' मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं, यह भी निश्चित है। अभिनवगुप्त का समय निश्चित रूप से ज्ञात है। उन्होंने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की बृहतीवृत्ति' 1015 ई. में लिखी थी और 'क्रमस्तोत्र' की रचना 991 ई. में की थी। इस प्रकार अभिनवगुप्त सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त में और ग्यारहवीं शताब्दी के आदि में वर्तमान थे।[1] मत्स्येन्द्रनाथ इससे पूर्व ही आविर्भूत हुए होंगे।

3. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'गंगा' के 'पुरातत्त्वांक' में 84 वज्रयानी सिद्धों की सूची प्रकाशित करायी है। इसके देखने से मालूम होता है कि मीनपा नामक सिद्ध, जिन्हें तिब्बती परम्परा में मत्स्येन्द्रनाथ का पिता कहा गया है; पर जो वस्तुतः मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न हैं, राजा देवपाल के राज्य-काल में हुए थे। राजा देवपाल 809-49 ई. तक राज्य करते रहे ('चतुराशीति सिद्ध प्रवृत्ति', तनजूर 86/1। कार्डियर, पृ. 247) इससे यह सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ नवीं शताब्दी के मध्यभाग में और अधिक-से-अधिक अन्त्य भाग तक वर्तमान थे।

कालीन थे।[1] इस प्रकार जालन्धरपाद का समय इनसे कुछ पूर्व ही ठहरता है।

6. कन्यड़ी नामक एक सिद्ध के साथ गोरक्षनाथ का सम्बन्ध बताया जाता है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में एक कथा आती है कि चौलुक्य राजा मूलराज ने एक मूलेश्वर नाम का शिवमन्दिर बनवाया था। सोमनाथ ने राजा के नित्य-नियत वन्दनपूजन से सन्तुष्ट होकर अणहिल्लपुर में अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट की। फलस्वरूप राजा ने वहाँ त्रिपुरुषप्रासाद नामक मन्दिर बनवाया। उसका प्रबन्धक होने के लिए राजा ने कन्थड़ी नामक शैव सिद्ध से प्रार्थना की। जिस समय राजा उस सिद्ध से मिलने गया उस समय सिद्ध को बुखार था, पर अपने बुखार को उसने कन्था में संक्रमित कर दिया। कन्था काँपने लगी। राजा ने कारण पूछा तो उसने बताया कि उसी ने कन्था में ज्वर संक्रमित कर दिया है। बड़े छल-बल से उस निस्पृह तपस्वी को राजा ने मन्दिर का प्रबन्धक बनवाया।[2] कहानी के सिद्ध के सभी लक्षण नाथपन्थी योगी के हैं। इसलिए यह कन्थड़ी निश्चय ही गोरखनाथ के शिष्य ही होंगे। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की सभी प्रतियों में लिखा है कि मूलराज ने सम्वत् 993 की आषाढ़ी पूर्णिमा को राज्यभार ग्रहण किया था। केवल एक प्रति में 998 सम्वत् है।[3] इस हिसाब से जो काल अनुमान किया जा सकता है, वह पूर्ववर्ती प्रमाणों से निर्धारित तिथि के अनुकूल ही है। ये ही गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ का काल-निर्णय करने के ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक आधार हैं। परन्तु प्राय. दन्त-कथाओं और साम्प्रदायिक परम्पराओं के आधार पर भी काल-निर्णय का प्रयत्न किया जाता है। इन दन्तकथाओं से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों का काल बहुत समय जाना हुआ रहता है। बहुत-से ऐतिहासिक व्यक्ति गोरक्षनाथ के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। उनके समय की सहायता से भी गोरक्षनाथ के समय का अनुमान किया जा सकता है। ब्रिग्स ने इन दन्तकथाओं पर आधारित काल को चार मोटे विभागों मे इस प्रकार बाँट लिया है :

(1) कबीर, नानक आदि के साथ गोरक्षनाथ का संवाद हुआ था, इस पर दन्त-कथाएँ भी है और पुस्तकें भी लिखी गयी है। यदि इन पर से गोरक्षनाथ का काल-निर्णय किया जाय, जैसा कि बहुत से पण्डितों ने किया भी है, तो चौदहवीं शताब्दी के ईषत् पूर्व या मध्य में होगा। (2) गूंगा की कहानी, पश्चिमी नाथों की अनु-श्रुतियाँ, बंगाल की शैवपरम्परा और धर्मपूजा का सम्प्रदाय, दक्षिण के पुरातत्त्व के प्रमाण, ज्ञानेश्वर की परम्परा आदि को प्रमाण माना जाय तो यह काल 1200 ई. के उधर ही जाता है। तेरहवीं शताब्दी मे गोरखपुर का मठ ढहा दिया गया था, इसका ऐतिहासिक सबूत है। इसलिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ 1200 ई. के पहले हुए थे। इस काल के कम-से-कम एक सौ वर्ष पहले तो यह काल होना ही चाहिए। (3) नेपाल की शैव-बौद्ध-परम्परा के नरेन्द्रदेव,

1. गंगा, पुरातत्त्वांक, पृ. 254
2. प्र. चि., पृ. 22-23
3. प्र. चि., पृ 20

किसी एक का समय भी मालूम हो जाय तो बाकी कई सिद्धों के समय का पता आसानी से लग जायगा। समय मालूम करने के लिए कई युक्तियाँ दी जा सकती हैं। एक-एक करके हम उन पर विचार करें।

1 सबसे प्रथम तो मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञाननिर्णय' ग्रन्थ का लिपि-काल निश्चित रूप से सिद्ध कर देता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं।

2 हमने ऊपर देखा है कि सुप्रसिद्ध कश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने 'तन्त्रालोक' मे मच्छन्द विभु को नमस्कार किया है। ये 'मच्छन्द विभु' मत्स्येन्द्रनाथ ही है, यह भी निश्चित है। अभिनवगुप्त का समय निश्चित रूप से ज्ञात है। उन्होंने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की बृहतीवृत्ति' 1015 ई मे लिखी थी और 'क्रमस्तोत्र' की रचना 991 ई मे की थी। इस प्रकार अभिनवगुप्त सन् ईसवी की दसवी शताब्दी के अन्त मे और ग्यारहवी शताब्दी के आदि मे वर्तमान थे।[1] मत्स्येन्द्रनाथ इससे पूर्व ही आविर्भूत हुए होंगे।

3 महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'गंगा' के 'पुरातत्त्वांक' मे 84 वज्रयानी सिद्धों की सूची प्रकाशित करायी है। इसके देखने से मालूम होता है कि मीनपा नामक सिद्ध, जिन्हे तिब्बती परम्परा मे मत्स्येन्द्रनाथ का पिता कहा गया है; पर जो वस्तुत मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न है, राजा देवपाल के राज्य-काल मे हुए थे। राजा देवपाल 809-49 ई तक राज्य करते रहे ('चतुराशीति सिद्ध प्रवृत्ति', तनजूर 86।1। कार्डियर, पृ 247) इससे यह सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ नवी शताब्दी के मध्यभाग मे और अधिक-से-अधिक अन्त्य भाग तक वर्तमान थे।

4. गोविन्दचन्द्र या गोपीचन्द्र का सम्बन्ध जालन्धरपाद से बताया जाता है। वे कानफा के शिष्य होने से जालन्धरपाद की तीसरी पुश्त मे पडते हैं। इधर तिरु-मलय की शैललिपि से यह तथ्य उद्धार किया जा सका है कि दक्षिण के राजा राजेन्द्र चोल ने माणिकचन्द्र के पुत्र गोविन्दचन्द्र को पराजित किया था। बंगला मे 'गोविन्दचन्द्रेर गान' नाम से जो पोथी उपलब्ध हुई है, उसके अनुसार भी गोविन्द-चन्द्र से किसी दाक्षिणात्य राजा का युद्ध वर्णित है। राजेन्द्र चोल का समय 1063-1112 ई है।[2] इससे अनुमान किया जा सकता है कि गोविन्दचन्द्र ग्यारहवी शताब्दी के मध्यभाग मे वर्तमान थे। यदि जालन्धरपाद उनसे सौ वर्ष पूर्ववर्ती हो, तो भी उनका समय दसवी शताब्दी के मध्यभाग मे निश्चित होता है। मत्स्येन्द्र-नाथ का समय और भी पहले निश्चित हो चुका है। जालन्धरपाद उनके सम-सामयिक थे, इस प्रकार उनकी कष्ट-कल्पना के बाद भी इस बात से पूर्ववर्ती प्रमाणो की अच्छी संगति नही बैठती।

5. वज्रयानी सिद्ध कण्हपा ने स्वयं अपने गानो मे जालन्धरपाद का नाम लिया है। तिब्बती परम्परा के अनुसार ये भी राजा देवपाल (809-849 ई.) के सम-

1 एस के दे, 'संस्कृत पोएटिक्स', जिल्द 1, पृ 105
2 दीनेशचन्द्र सेन, 'बंगभाषा ओ साहित्य'।

कालीन थे।[1] इस प्रकार जालन्धरपाद का समय इनसे कुछ पूर्व ही ठहरता है।

6. कन्यड़ी नामक एक सिद्ध के साथ गोरक्षनाथ का सम्बन्ध बताया जाता है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में एक कथा आती है कि चौलुक्य राजा मूलराज ने एक मूलेश्वर नाम का शिवमन्दिर बनवाया था। सोमनाथ ने राजा के नित्य-नियत वन्दनपूजन से सन्तुष्ट होकर अणहिल्लपुर में अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट की। फलस्वरूप राजा ने वहाँ त्रिपुरुषप्रासाद नामक मन्दिर बनवाया। उसका प्रबन्धक होने के लिए राजा ने कन्यड़ी नामक शैव सिद्ध से प्रार्थना की। जिस समय राजा उस सिद्ध से मिलने गया उस समय सिद्ध को बुखार था, पर अपने बुखार को उसने कन्था में संक्रमित कर दिया। कन्था काँपने लगी। राजा ने कारण पूछा तो उसने बताया कि उसी ने कन्था में ज्वर संक्रमित कर दिया है। बड़े छल-बल से उस निस्पृह तपस्वी को राजा ने मन्दिर का प्रबन्धक बनवाया।[2] कहानी के सिद्ध के सभी लक्षण नाथपन्थी योगी के हैं। इसलिए यह कन्यड़ी निश्चय ही गोरखनाथ के शिष्य ही होंगे। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की सभी प्रतियों में लिखा है कि मूलराज ने सम्वत् 993 की आषाढ़ी पूर्णिमा को राज्यभार ग्रहण किया था। केवल एक प्रति में 998 सम्वत् है।[3] इस हिसाब से जो काल अनुमान किया जा सकता है, वह पूर्ववर्ती प्रमाणों से निर्धारित तिथि के अनुकूल ही है। ये ही गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ का काल-निर्णय करने के ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक आधार है। परन्तु प्रायः दन्त-कथाओं और साम्प्रदायिक परम्पराओं के आधार पर भी काल-निर्णय का प्रयत्न किया जाता है। इन दन्तकथाओं से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों का काल बहुत समय जाना हुआ रहता है। बहुत-से ऐतिहासिक व्यक्ति गोरक्षनाथ के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। उनके समय की सहायता से भी गोरक्षनाथ के समय का अनुमान किया जा सकता है। ब्रिग्स ने इन दन्तकथाओं पर आधारित काल को चार मोटे विभागों में इस प्रकार बाँट लिया है :

(1) कबीर, नानक आदि के साथ गोरक्षनाथ का संवाद हुआ था, इस पर दन्त-कथाएँ भी है और पुस्तकें भी लिखी गयी है। यदि इन पर से गोरक्षनाथ का काल-निर्णय किया जाय, जैसा कि बहुत से पण्डितों ने किया भी है, तो चौदहवीं शताब्दी के ईषत् पूर्व या मध्य में होगा। (2) गूँगा की कहानी, पश्चिमी नाथों की अनुश्रुतियाँ, बंगाल की शैवपरम्परा और धर्मपूजा का सम्प्रदाय, दक्षिण के पुरातत्त्व के प्रमाण, ज्ञानेश्वर की परम्परा आदि को प्रमाण माना जाय तो यह काल 1200 ई. के उधर ही जाता है। तेरहवीं शताब्दी में गोरखपुर का मठ ढहा दिया गया था, इसका ऐतिहासिक सबूत है। इसलिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ 1200 ई. के पहले हुए थे। इस काल के कम-से-कम एक सौ वर्ष पहले तो यह काल होना ही चाहिए। (3) नेपाल की शैव-बौद्ध-परम्परा के नरेन्द्रदेव,

1. गंगा, पुरातत्त्वाक, पृ. 254
2. प्र. चि., पृ. 22-23
3. प्र. चि., पृ. 20

उदयपुर के बाप्पा रावल, उत्तर-पश्चिम के रसालू और होदी, नेपाल के पू
शंकराचार्य से भेंट आदि पर आधारित काल आठवीं शताब्दी से लेकर नवीं शता
तक के काल का निर्देश करते हैं। (4) कुछ परम्पराएँ इससे भी पूर्ववर्ती ति
की ओर संकेत करती है। ब्रिग्स दूसरे नम्बर के प्रमाणों पर आधारित काल क
उचित काल समझते हैं, पर साथ ही यह स्वीकार करते हैं कि यह अन्तिम निर्णय
नहीं है। जब तक और कोई प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक वे गोरक्षनाथ के
विषय में इतना ही कह सकते हैं कि गोरक्षनाथ 1200 ई. से पूर्व, सम्भवतः
ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में, पूर्वी बंगाल में प्रादुर्भूत हुए थे।[1] परन्तु सब मि
कर वे निश्चित रूप से ज़ोर देकर कुछ नहीं कहते और जो काल बताते हैं उ
क्यों अन्य प्रमाणों से अधिक युक्तिसंगत माना जाय, यह भी नहीं बताते। हम आ
'सम्प्रदाय भेद' नामक अध्याय में तिथि की इस बहुरूपता के कारण का अनुसन्धान
करेंगे।

हमें ऊपर के प्रमाणों के आधार पर नाथमार्ग के आदि-प्रवर्तकों का समय नवीं
शताब्दी का मध्य-भाग ही उचित जान पड़ता है। इस मार्ग में इसके पूर्ववर्ती सिद्ध
भी बाद में चलकर अन्तर्भुक्त हुए हैं और इसलिए गोरक्षनाथ के सम्बन्ध में ऐसी
दर्जनों दन्तकथाएँ चल पड़ी हैं, जिनको ऐतिहासिक तथ्य मान लेने पर तिथि-
सम्बन्धी झमेला खड़ा हो जाता है। आगे हम इसकी युक्ति-संगत संगति बैठा सकेंगे।

मत्स्येन्द्रनाथजी जिस कदलीदेश या स्त्रीदेश में नये आचार में जा फँसे थे,
वह कहाँ है? 'मीनचेतन' और 'गोरक्षविजय' में उसका नाम कदलीदेश बताया
गया है और 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में 'त्रियादेश' अर्थात् सिंहल द्वीप कहा गया
है। सिंहल देश ग्रन्थकार की व्याख्या है। भारतवर्ष में स्त्रीदेश नामक एक स्त्री-
प्रधान देश की ख्याति बहुत पुराने ज़माने से है। नाना स्थानों के रूप में इसे
पहचानने की कोशिश की गयी है। हिमालय के पार्वत्य अंचल में ब्रह्मपुर के उत्तरी
प्रदेश को, जो वर्तमान गढ़वाल और कुमायूँ के अन्तर्गत पड़ता है, पुराना स्त्रीराज्य
बताया गया है। सातवीं शताब्दी में इसे 'सुवर्ण गोत्र' कहते थे ('विक्रमांक
चरित', 18-57, गरुड़पुराण, 55 अ) कहते हैं। इस देश की रानी प्रमीला ने
अर्जुन के साथ युद्ध किया था[2] (जैमिनि भारत, अ 22)। कभी-कभी कुलूत देश
(कुल्लू) को भी स्त्रीदेश कहा गया है। हुएन्त्सांग ने सतलज के उद्गम-स्थान के
पास किसी स्त्री-राज्य का सन्धान पाया था। आटकिन्सन के 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स'
में भी यह तथ्य प्रमाणित हुआ है। किसी-किसी पण्डित ने कामरूप को ही स्त्रीदेश
कहा है। शेरिंग ने 'वेस्टर्न डिबेट' नामक पुस्तक (पृ 338) में तिब्बत के पूर्वी
छोर पर बसे किसी स्त्री-राज्य का जिक्र किया है, जहाँ की जनता बराबर किसी
स्त्री को ही अपनी शासिका चुनती है।[3] यह लक्ष्य करने की बात है कि 'गोरक्ष-

1 ब्रिग्स, पृ 243-44
2 मजूमदार दे, 'जिओग्राफिकल डिक्शनरी', पृ 194
3 वही

विजय' में स्त्रीदेश न कहकर कदलीदेश कहा गया है। 'महाभारत' में कदलीवन की चर्चा है (वनपर्व, 146 अ.)। कहते है कि इस कदलीदेश में अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य और परशुराम, ये सात चिरजीवी सदा निवास करते है। हनुमानजी ने भीमसेनजी से कहा था कि इसके बाद दुरारोह पर्वत है, जहाँ सिद्ध लोग ही जा सकते है। मनुष्य की गति वहाँ नही है (वनपर्व, 146, 92-93)। पं. सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि देहरादून से लेकर हृषीकेश-बदरिकाश्रम और उसके उत्तर के हिमालय प्रान्त सब कजरीवन (कदलीवन) कहे जाते है।[1] 'पदमावत' मे लिखा है कि गोपीचन्द जोगी होकर कजरीवन (कदलीवन) मे चले गये थे।[2] इन सब बातो से प्रमाणित होता है कि यह हिमालय के पाददेश मे अवस्थित कुमायूं-गढ़वाल के अन्दर पड़नेवाला प्रदेश है। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' मे जिस परम्परा का उल्लेख है, उसमे भी हनुमान का नाम आता है। हनुमानजी कदलीवन मे ही रहते है, इसलिए इसी कदलीवन को वहाँ गलती से सिंहलद्वीप समझ लिया गया है। परन्तु त्रियादेश कहकर सन्देह का अवकाश नही रहने दिया गया है। एक और विचार यह है कि स्त्रीदेश कामरूप ही है। 'कामसूत्र की जयमंगला टीका' मे लिखा है कि वज्रावतंसदेश के पश्चिम मे स्त्रीराज्य है। पं. तनसुख राम ने 'नागरसर्वस्व' नामक बौद्ध कामशास्त्रीय ग्रन्थ की टिप्पणी में लिखा है कि यह स्थान भूतस्थान अर्थात् भोटान (भूतान) के पास कही है।[3] इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि कदलीदेश असम के उत्तरी इलाके में है। 'तन्त्रालोक की टीका' और 'कौलज्ञाननिर्णय' से यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप मे ही कौल साधना की थी। इसलिए कदलीवन या स्त्रीदेश से वस्तुतः कामरूप ही उद्दिष्ट है। कुलूत, सुवर्ण गोत्र, भूतस्थान और कामरूप मे भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों के स्त्री-राज्य का पता बताना यह साबित करता है कि किसी समय हिमालय के पार्वत्य-अंचल में पश्चिम से पूर्व तक एक विशाल प्रदेश ऐसा था जहाँ स्त्रियों की प्रधानता थी। अब भी यह बात उत्तर भारत की तुलना मे, बहुत दूर तक ठीक है।

इन सारे वक्तव्यो का निष्कर्ष यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ चन्द्रगिरि नामक स्थान मे पैदा हुए थे जो कामरूप से बहुत दूर नही था और या तो बंगाल के समुद्री किनारे पर कही था, या जैसा कि तिब्बती परम्परा से स्पष्ट है, ब्रह्मपुत्र से घिरी हुई किसी द्वीपाकार भूमि पर अवस्थित था। इतना निश्चित है कि वह स्थान पूर्वी भारतवर्ष में कामरूप के पास कही था। इनका प्रादुर्भाव नवीं शताब्दी मे किसी समय हुआ था। शुरू-शुरू मे वह एक प्रकार की साधना का व्रत ले चुके थे, परन्तु बाद मे

1 गु. च., पृ. 252-3

2. जउ मन होन राज थउ भोगू। गोपीचंद नाहि साधन जोगू॥
उहउ सिगिर जउ देख परेवा। तजा राज कजरी बन सेवा॥

—जोगी खण्ड, पृ. 294

3. 'नागरसर्वस्व', पृ. 67

किसी ऐसे आचार मे जा फँसे थे जिसमे स्त्रियों का साहचर्य प्रधान था और यह आचार ब्रह्मचर्यमय जीवन का परिपन्थी था। वे जिस स्थान मे इस प्रकार के नये आचार मे व्रती हुए थे, वह स्थान स्त्रीदेश या कदलीदेश था जो कामरूप ही हो सकता है। इस मायाजाल से उनका उद्धार उन्ही के प्रधान शिष्य गोरक्षनाथ ने किया और एक बार वे फिर अपने पुराने मार्ग पर आ गये। अब विचारणीय यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ का मत क्या था और क्या उस मत की जानकारी से हमें ऊपर की दन्तकथाओ को समझने मे मदद मिलती है? आगे के अध्याय मे हम इसी बात को समझने का प्रयत्न करेंगे।

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान

1. कौलज्ञाननिर्णय

'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ कौल मार्ग के प्रथम प्रवर्त्तक है। 'तन्त्रालोक की टीका' (पृ. 24) मे उन्हें सकल-कुल-शास्त्र का अवतारक कहा गया है। कुल-शास्त्र और कौलज्ञान वस्तुत. समानार्थक शब्द है। परन्तु 'कौलज्ञान-निर्णय' मे ही ऐसे अनेक प्रमाण है, जिनसे मालूम होता है कि यह कौलज्ञान एक कान से दूसरे कान तक चलता हुआ दीर्घकाल से (6-9) और परम्परा-क्रम से चला आ रहा था (14-9)। इस ग्रन्थ मे कई कौल-सम्प्रदायों की चर्चा भी है। चौदहवें पटल मे रोमकूपादि कौल (14-32), वृषणोत्थ कौलिक (14-33), वह्निकौल (14-34), कौल सद्भाव (14-37) और पद्मोत्तिष्ठ कौल शब्द आये हैं। विद्वानो ने इनका सम्प्रदायपरक तात्पर्य बताया है।[1] परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि ये शब्द सम्प्रदायपरक न होकर 'सिद्धिपरक' है। यद्यपि चौदहवाँ पटल 'देव्युवाच' से शुरू होता है, पर सारा पटल देवी की उक्ति के रूप मे नहीं है, बल्कि भैरव के उत्तर के रूप मे है; क्योंकि इसमे देवी को सम्बोधन किया गया है। उत्तर देने के ढंग से लगता है कि भैरव (= शिव) ऐसे ध्यान की विधि बता रहे है, जिसमे मन्त्र, प्राणायाम और चक्रध्यान की जरूरत नहीं होती और फिर भी वह परम सिद्धि-दायक होता है।[2] इस पटल की पुष्पिका से भी पता चलता कि यह ध्यान-योग- ... को छोड़ देने

1. बागची, कौ. ज्ञा नि, भूमिका, पृ ... को कहा गया है।
2 उपाध्याय, 'भारतीय दर्शन', पृ.

मुद्रा का प्रकरण है। इसीलिए मुझे ये शब्द सिद्धिपरक जान पड़ते हैं। ये सम्प्रदाय-वाचक नहीं हैं। परन्तु सोलहवें पटल में लिखा है :

भक्तियुक्ताः समत्वेन सर्वे शृण्वन्तु कौलिकम् ॥ 46 ॥
महाकौलात् सिद्धकौलं सिद्धकौलात् मसादरम् (?)
चतुर्युगविभागेन अवतारं चोदितं मया ॥ 47 ॥
ज्ञानादौ निर्णितिः कौलं द्वितीये महत्संज्ञकम्।
तृतीये सिद्धामृतं नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये ॥ 48 ॥
ये चास्मिन्निर्गता देवि वर्णयिष्यामि तेऽखिलम्।
एतस्माद् योगिनीकौलात् नाम्ना ज्ञानस्य निर्णितौ ॥ 49 ॥

इन श्लोकों से जान पड़ता है कि आदियुग में जो कौलज्ञान था, वह द्वितीय अर्थात् त्रेता युग में 'महत्कौल' नाम से परिचित हुआ, तृतीय अर्थात् द्वापर में 'सिद्धामृत' नाम से और इस कलिकाल में 'मत्स्योदर कौल' नाम से प्रकट हुआ है। प्रसग से ऐसा लगता है कि 47वें श्लोक में पंचमी विभक्ति का प्रयोग 'अनन्तर' अर्थ में हुआ है। इस श्लोक का 'मसादरम्' पद शायद 'मत्स्योदरम्' का गलत रूप है और 46वें श्लोक के शृण्वन्तु क्रिया का कर्म है। संक्षेप मे इन श्लोकों का अर्थ यह हुआ कि भक्तियुक्त होकर सब लोग उस तत्त्व को समान भाव से सुनें (जिसे भैरव ने अब तक सिर्फ पार्वती और षडानन आदि को ही सुनाया है)। महाकौल के बाद सिद्धकौल और सिद्धकौल के बाद मत्स्योदर का अवतार हुआ। इस प्रकार चार युगों में शिव ने चार अवतार धारण किये। प्रथम युग में उनके द्वारा निर्णीत ज्ञान का नाम 'कौलज्ञान', द्वितीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धकौल', तृतीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धामृत' था और चतुर्थ युग मे अवतारित ज्ञान का नाम 'मत्स्योदर' है। इनसे (=मत्स्योदर) विनिर्गत ज्ञान का नाम योगिनीकौल है।

इसी प्रकार इक्कीसवें पटल मे अनेक कौल-मार्गों का उल्लेख है। इन श्लोको पर से डॉ. बागची अनुमान करते हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुवर्त्ती थे और उन्होंने योगिनीकौल-मार्ग का प्रवर्त्तन किया था। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि नाथपन्थी लोग अपने को सिद्धमार्ग का अनुयायी कहते है और परवर्त्ती साहित्य मे 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग नाथपन्थी साधुओं के लिए हुआ है। यह स्पष्ट है कि द्वापर युग का सिद्धमार्ग उस श्रेणी का नही था जिसे बाद में मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने कौलज्ञान के रूप में अवतारित किया। दन्तकथाओं से यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ अपना असली मत छोड़कर कदलीदेश की स्त्रियो की माया मे फँस गये थे। ये कदली-स्त्रियाँ योगिनी थी, यह बात 'गोरक्षविजय' आदि ग्रन्थों से स्पष्ट है। 'कौलज्ञाननिर्णय' से भी इस बात की पुष्टि होती है कि जिस साधनमार्गपरक शास्त्र की चर्चा इस ग्रन्थ मे हो रही है, वह शास्त्र कामरूप योगिनियों के घर-घर मे विद्यमान था और मत्स्येन्द्रनाथ उसी कामरूपी स्त्रियो के घर से अनायास-लब्ध

शास्त्र का सारसंकलन कर सके थे।[1] तन्त्रालोक की टीका के जो श्लोक हमने पहले उद्धृत किये हैं, उनसे भी पता चलता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में साधना की थी। कामरूप की योगिनियों के मायाजाल से गोरक्षनाथ ने मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार किया था, यह भी दन्तकथाओं से स्पष्ट है। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में एक प्रसंग इस प्रकार का भी है कि वाममार्गी लोग गोरक्षनाथ को अपने मार्ग में ले जाना चाहते थे।[2] बाद में क्या हुआ, इस विषय में उक्त ग्रन्थ मौन है। परन्तु सारी बातों पर विचार करने से यह अनुमान पुष्ट होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ पहले सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे, बाद में कामरूप में वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हुए और वहाँ से कौलज्ञान अवतारित किया और इसके पश्चात् अपने प्रवीण शिष्य गोरक्षनाथ के द्वारा उद्‌बुद्ध होकर फिर पुराने रास्ते पर आ गये।

ध्यान देने की बात यह है कि 'कुल' शब्द का प्रयोग भारतीय साधना-साहित्य में बहुत हुआ है, परन्तु सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी के पहले इस प्रकार के अर्थ में कदाचित ही हुआ है। बौद्ध तान्त्रिकों में सम्भवतः डोम्बी हेरुक ने ही इस शब्द का प्रयोग इससे मिलते-जुलते अर्थ में दिया है। 'साधनमाला' में एक साधना के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि कुल-सेवा से ही सर्व-काम-प्रदायिनी शुभ सिद्धि प्राप्त होती है।[3] इस शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि पाँच ध्यानी बुद्धों से पाँच कुलों की उत्पत्ति हुई है। अक्षोभ्य से वज्र-कुल, अमिताभ से पद्म-कुल, रत्न-सम्भव से भावरत्न-कुल, वैरोचन से चक्र-कुल और अमोघसिद्धि से कर्म-कुल उत्पन्न हुए थे।[4] प्रो. विनयतोष भट्टाचार्य ने डोम्बी हेरुक का काल 777 ई. माना है। 'कौलज्ञाननिर्णय' से इस प्रकार की कुलकल्पना का कोई आभास नहीं मिलता। परन्तु इतना जरूर लगता है कि शुरू-शुरू में वे सिद्ध-मार्ग या सिद्ध-कौल-मार्ग के उपासक थे। कौलज्ञान उनके परवर्ती, और सम्भवत. मध्यवर्ती जीवन का ज्ञान है।

प्रश्न यह है कि वह सिद्धमत क्या था जिसके अनुयायी मत्स्येन्द्रनाथ थे और जिसे छोड़कर उन्होंने अन्य मार्ग का अवलम्बन किया था? दन्तकथाओं से अनुमान होता है कि वह मार्ग पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आश्रित था, देवी अर्थात् शक्ति उसकी प्रति-द्वन्द्विनी थी और उसमें स्त्रीसंग पूर्णरूप से वर्जित था। गोरक्षनाथ ने कामरूप से मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार करके उन्हें इसी मत में फिर लौटा लिया था।

'कौलज्ञाननिर्णय' में निम्नांकित विषयों का विस्तार है—सृष्टि, प्रलय,

1. तस्य मध्ये इमं नाथ सारभूतं समुद्धृत।
   कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे॥ 22। 10
2. यो. सं. आ., 49वाँ अध्याय।
3. कुलसेवात् भवेत् सिद्धिः सर्वकाम प्रदा शुभा।
4. अक्षोभ्यवज्रमित्युक्त अमिताभ पद्ममेव च।
   रत्नसम्भवो भावरत्नः वैरोचनस्तथागतः॥
   अमोघः कर्ममित्युक्तं कुलान्येतानि सर्वशः।

मानसलिंग का मानसोपचार से पूजन, निग्रह-अनुग्रह-क्रामण-हरण, प्रतिमाजल्पन, घट पाषाण-स्फोटन आदि सिद्धियाँ, भ्रान्तिनिरसन ज्ञान, जीवस्वरूप, जरा-मरण, पलित (केशों का पकना) का निवारण, अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूजनादि, गुरुपंक्ति, सिद्धपंक्ति, और योगिनीपंक्ति, चक्रध्यान, अद्वैतचर्या, पात्रचर्या, न्यासविधि, शीघ्र सिद्धि देनेवाली ध्यानमुद्रा, महाप्रलय के समय भैरव की आत्म-रक्षा, भक्ष्यविधान तथा कौलज्ञान का अवतारण, आत्मवाद, सिद्धपूजन और कुल-द्वीप विज्ञान, देहस्थ चक्रस्थिता देवियाँ, कपालभेद; कौलमार्ग का विस्तार, योगिनी संचार और देहस्थ सिद्धों की पूजा।

इन विषयों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि कौलज्ञान सिद्धिपरक विद्या है और यद्यपि शास्त्र मे अद्वैत भाव की चर्चा है, पर मुख्यतः यह उन अधिकारियों के लिए लिखा गया है जो कुल और अकुल--शक्ति और शिव--के भेद को भूल नही सके है। इसके विपरीत 'अकुलवीरतन्त्र' का अधिकारी वह है जिसे अद्वैत ज्ञान हो गया है और जो अच्छी तरह समझ चुका है कि कुल और अकुल में कोई भेद नही है, शक्ति और शिव अविच्छन्नभाव से विराज रहे है। यद्यपि 'कौलज्ञाननिर्णय' हृदय स्थित अनेक पद्म-चक्रों की चर्चा करता है, पर यह लक्ष्य करने की बात है कि 'कुण्डली' शब्द भी उसमें नही आया है। कुण्डलीयोग या कुण्डलिनी-योग परवर्ती नाथ-पन्थियों की सर्वमान्य साधना है। फिर 'समरस' या 'सामरस्य' की भी कोई चर्चा नही है। केवल 'अकुलवीरतन्त्र' मे ये दोनो शब्द आते है। वहाँ कुण्डली और सहज, ये दोनों योग कौल-मार्ग में विहित है, ऐसा स्पष्ट लिखा है। 'कुण्डली' कृत्रिम (कृतक) अर्थात् दुरूह साधना से प्राप्त योग है और सहज, समरस में स्थिति-वश प्राप्य योग है ('अकुलवीरतन्त्र', बी 43)। कुण्डली योग में द्वैतभाव (प्रेय-प्रेरकभाव) बना रहता है और सहज मे वह लुप्त हो गया होता है (44)। 'कौलावलीनिर्णय' में इसी प्रेय-प्रेरक भाव के मध्यम अधिकारी के लिए चक्रध्यान की साधना विहित है, पर 'अकुलवीरतन्त्र' मे उस सहज-साधना की चर्चा है जो प्रेय-प्रेरक रूप द्वैत भावना के अतीत है। इसमें ध्यान-धारणा-प्राणायाम की जरूरत नही (अ. वी. तन्त्र, बी. 112), इड़ा-पिंगला और चक्रध्यान अनावश्यक है (123-125)। यह सहज-समर-सानन्द का प्रदाता अकुलवीर मार्ग है—कौलमार्ग की समस्त विधियाँ यहाँ अनावश्यक हैं। इस तन्त्र का स्वर 'गोरक्ष-संहिता' से पूरी तरह मिलता है। क्या 'कौलज्ञाननिर्णय' मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित योगिनी कौल का द्योतक है और 'अकुलवीरतन्त्र' उनके पूर्व परित्यक्त और बाद में स्वीकृत सिद्ध मत का ? दोनों को मिलाने पर यह धारणा दृढ़ ही होती है।

फिर यह भी प्रश्न होता है कि बौद्ध सहजयानी और वज्रयानी सिद्धों से इस मत का क्या सम्बन्ध था। डॉ. बागची ने 'कौलज्ञाननिर्णय' की भूमिका मे बताया है कि बौद्ध सिद्धों की कई बातों से 'कौलज्ञाननिर्णय' की कई बातें मिलती है। (1) सहज पर जोर देना, (2) वाह्याचार का विरोध, (3) कुलक्षेत्र और पीठों की चर्चा, (4) वशीकरण का प्रयोग, (5) पंचपवित्र आदि बौद्ध पारिभाषिक

शब्द सूचित करते है कि इस साधना का सम्बन्ध बौद्ध साधना से था अवश्य। इसी बात मे तो कोई सन्देह ही नही कि जिन दिनों मत्स्येन्द्रनाथ का प्रादुर्भाव हुआ था, उन दिनो बौद्ध और ब्राह्मण तन्त्रो मे बहुत-सी बातें मिलती-जुलती रही होगी। एक-दूसरे पर प्रभाव भी जरूर पड़ता रहता होगा। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि मत्स्येन्द्रनाथ तिब्बती परम्परा मे भी बहुत बड़े सिद्ध माने जाते है और नेपाल के बौद्ध तो उन्हे अवलोकितेश्वर का अवतार ही मानते है। इसलिए उनकी प्रवर्तित साधना मे ऐसी कोई बात जरूर रही होगी जिसे लोग विशुद्ध बौद्ध समझ सकते। ऊपर की पाँच बातें बौद्ध तन्त्रों में भूरिश आती है, पर ब्राह्मण तन्त्रो में भी उन्हें खोज निकालना कठिन नही है। यह कह सकना बहुत कठिन है कि जिन तन्त्रो में या उपनिषदो मे ये शब्द आये है वे बौद्ध तन्त्रों के बाद के ही है। कई ग्रन्थ नये भी है और कई पुराने भी। इन विषयो की जो चर्चा हुई है वह इतनी अल्प और अपर्याप्त है कि उस पर से कुछ निश्चयपूर्वक कहना साहसमात्र है। परन्तु नाथ-परम्परा की सभी पुस्तको के अध्ययन से ऐसा ही लगता है कि पुराना सिद्ध मार्ग मुख्य रूप से योगपरक था और पच मकारों या पंचपवित्रों की व्याख्या उसमे सदा रूपक के रूप मे ही हुआ करती थी। यह उल्लेख योग्य बात है कि 'कौलज्ञान-निर्णय' मे जो परम्परा बतायी गयी है उसमे शिव (भैरव) के विभिन्न युग के कई अवतारो का उल्लेख तो है पर कही भी बुद्ध या बोधिसत्व अवतार का नाम नही है। अवलोकितेश्वर के अवतार का भी उसमे पता नही है। इसके विरुद्ध सहजयानी सिद्धो की पोथियो मे बराबर तथागत का नाम आता है और वे अपने को शायद कही भी कौल नही कहते। मत्स्येन्द्रनाथ ने जिस प्राचीन कौलमार्ग की चर्चा की है वह निश्चय ही शाक्तमत था, बौद्ध नहीं। 'अकुलवीरतन्त्र' में बौद्धों को स्पष्ट रूप मे मिथ्यावादी और मुक्ति का अपात्र बताया गया है।[1]

2. कुल और अकुल

कुल और अकुल शब्द के अर्थ पर भी विचार कर लेना चाहिए। कौल लोगों के मत से 'कुल' का अर्थ शक्ति है और 'अकुल' का अर्थ शिव है। कुल से अकुल का सम्बन्ध-स्थापन ही 'कौल'-मार्ग है।[2] इसलिए कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना

1 सवादयन्ति ये केचिन्न्यायवैशेषिकास्तथा ।
बौद्धास्तु अर्हन्ता ये सोमसिद्धान्तवादिनः ॥7॥
मीमांसा पचरात्राश्च वामसिद्धान्तदक्षिणाः ।
इतिहासपुराणं च भूततन्त्रं तु गारुडम् ॥8॥
एभिः शैवागमैः सर्वैः परोक्षं च क्रियान्वितैः ।
सविकल्पसिद्धिसचारं तत्सर्वं पारमार्थिकम् ॥9॥
विकल्प बहुला सर्वे मिथ्यावादा निरर्थका ।
न ते मुच्यन्ति संसारे अकुलवीरविवर्जिताः ॥10॥—'अकुलवीरतन्त्र'

2 कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते ॥
कुलेऽकुलस्य संबंधः कौलमित्यभिधीयते ॥—'सौभाग्य भास्कर', पृ. 53

ही कौल-साधना का लक्ष्य है और 'कुल' और 'अकुल' का सामरस्य (= समरस होना) ही कौलज्ञान है। 'कुल' शब्द के और भी अनेक अर्थ किये गये हैं, परन्तु यही मुख्य अर्थ है। शिव का नाम अकुल होना उचित ही है; क्योंकि उनका कोई कुल-गोत्र नहीं है, आदि-अन्त नहीं है। शिव की सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा का नाम ही शक्ति है। शक्ति से समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, शक्ति शिव की प्रिया है। परन्तु शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं है। चन्द्रमा और चन्द्रिका का जो सम्बन्ध है वही शिव और शक्ति का सम्बन्ध है।[1] 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' के चतुर्थ उपदेश में कहा गया है कि शिव अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, धर्महीन और निरंग हैं, इसलिए उन्हें 'अकुल' कहा जाता है।[2] चूँकि शक्ति सृष्टि का हेतु है और समस्त जगतरूपी प्रपंच की प्रवर्तिका है, इसलिए उसे 'कुल' (= वंश) कहते हैं।[3] शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं।[4] इकार शक्ति का वाचक है और शिव में से इकार निकाल देने से वह 'शव' हो जाता है,[5] इसीलिए शक्ति ही उपास्य है। इस शक्ति की उपासना करनेवाले शाक्त लोग ही कौल हैं। यह मत बौद्ध धर्म-साधना से मूलतः भिन्न है। इस साधना के लक्ष्य हैं अखण्ड, अद्वय और अविनश्वर शिव और बौद्ध साधना का लक्ष्य है नैरात्म्य भाव। वे लोग किसी अविनश्वर सत्ता में विश्वास नहीं रखते। 'कौलज्ञाननिर्णय' में भी शिव और शक्ति के उपर्युक्त सम्बन्ध का प्रतिपादन है।[6] कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष के बिना छाया नहीं रह सकती, अग्नि के बिना धूप नहीं रह सकती; उसी प्रकार शिव और शक्ति अविच्छेद्य है, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।[7]

कौल-मार्ग का अत्यन्त संक्षिप्त और फिर भी अत्यन्त शक्तिशाली उपस्थापन

1 शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥
—गो. सि. सं. में उद्धृत, पृ. 67

2. वर्णगोत्रादिराहित्यादेकः एवाकुलं मतम्।
अनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात्
निर्धर्मत्वादनंगत्वादकुलं स्यान्निरन्तरम्।—सि. सि. स., 4। 10-11

3. कुलस्य सामरस्येति सृष्टिः हेतु प्रकाशभूः।
सा चापरपरा शक्तिराशेषस्यापर कुलम्।
प्रपंचस्य समस्तस्य जगदुपप्रवर्तनात्॥—वही, 4। 12-13

4 शिवोऽपिशक्ति रहितः कर्तुं शक्तो न किंचन।
शिवः स्वशक्तिमहितो ह्याभासाद् भासको भवेत्॥—सि. सि. स., 4। 26

5. शिवोऽपिशवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
—देवी भागवत का वचन

6 अकुलंतु इमं भद्रे यत्नाहं निष्ठते सदा।—कौ. ज्ञा. नि., 16-41

7. न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अन्योऽन्यं च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये।
न वृक्षरहिता छाया नच्छाया रहितो द्रुमः॥—वही, 17 8-9

'कौलोपनिषद्' में दिया हुआ है। इस उपनिषद् के पढ़ने से इस मत के साधकों का अडिग विश्वास और रूढ़िविरोधी मनोभाव स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध नैरात्म्यवाद से इस मत का मौलिक भेद है। यह उपनिषद् सूत्र-रूप में लिखी गयी है। आरम्भ में कहा गया है कि ब्रह्म का विचार हो जाने के बाद ब्रह्मशक्ति (धर्म) की जिज्ञासा होती है। ज्ञान और बुद्धि, ये दोनों ही धर्म (शक्ति) के स्वरूप हैं, जिनमें एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का कारण है; और मोक्ष वस्तुतः सर्वात्मता सिद्धि (अर्थात् समस्त जागतिक प्रपंचों के साथ अपने को अभिन्न समझने) को कहते हैं। प्रपंच से तात्पर्य पाँच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) से है। इन पाँच विषयों को जाननेवाला प्राण-विशिष्ट जीव भी अभिन्न ही है। फिर योग और मोक्ष दोनों ज्ञान हैं, अधर्म का कारण अज्ञान है, परन्तु यह अज्ञान भी ज्ञान से भिन्न नहीं है। मतलब यह कि यद्यपि ब्रह्म का कोई धर्म नहीं है, फिर भी अविद्या के कारण ब्रह्म को ही मनुष्य नानारूपधर्मारोप के साथ देखता है; यह अविद्या भी ज्ञान (अर्थात् ब्रह्म की शक्ति) ही है। प्रपंच ही ईश्वर है और अनित्य भी नित्य है, क्योंकि वह भी ब्रह्मशक्ति का रूप ही है। अज्ञान ही ज्ञान है और अधर्म ही धर्म है (इसका मतलब यह है कि ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति में कोई भेद नहीं है)। यही मुक्ति है। जीव के पाँच बन्धन हैं : (1) अनात्मा में आत्मबुद्धि, (2) आत्मा में अनात्मबुद्धि, (3) जीवों में परस्पर भेदज्ञान, (4) ईश्वर (अर्थात् उपास्य) और आत्मा (अर्थात् उपासक) में भेदबुद्धि, और (5) चैतन्य अर्थात् परब्रह्म से आत्मा को पृथक् समझने की बुद्धि। ये पाँचों बन्धन भी ज्ञानरूप ही हैं, क्योंकि ये सभी ब्रह्मशक्ति के विलास हैं। इन्हीं बन्धों के कारण मनुष्य जन्म-मरण के चक्रों में पड़ता है। इसी देह में मोक्ष है। ज्ञान यह है : समस्त इन्द्रियों में नयन प्रधान है, नयन अर्थात् आत्मा। धर्मविरुद्ध कार्य करणीय है, धर्मविहित करणीय नहीं है (यहाँ धर्म का तात्पर्य धर्मशास्त्र से है जो सीमित जीवन के विधि-निषेध का व्यवस्थापक माना जाता है)। सबकुछ शाम्भवी (शक्ति) का रूप है। इस मार्ग के साधक के लिए वेद मान्य नहीं है, गुरु एक ही होता है और अन्त में सर्वैक्यताबुद्धि प्राप्त होती है। मन्त्रसिद्धि के पूर्व वेदादि त्याग करना चाहिए, उपासना-पद्धति को प्रकट नहीं करना चाहिए। अन्याय ही न्याय है। किसी को कुछ नहीं गिनना चाहिए। अपना रहस्य शिष्य-भिन्न किसी को नहीं बताना चाहिए। भीतर से शाक्त, बाहर से शैव और लोक में वैष्णव होकर रहना—यही आचार है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। लोकनिन्दा वर्जनीय है। अध्यात्म यह है : व्रताचरण न करे, नियमपूर्वक न रहे, नियम मोक्ष का बाधक है, कभी कौल सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करनी चाहिए। सबमें समता की बुद्धि रखनी चाहिए, ऐसा करनेवाला ही मुक्त होता है—वही मुक्त होता है।

संक्षेप में 'कौलोपनिषद्' का यही मर्म है। इसमें स्पष्टतः ही ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो अपरिचित श्रोता के चित्त को झकझोर देती हैं। थोड़ी और चर्चा करके उसका रहस्य समझ लेना चाहिए, क्योंकि नाथ सम्प्रदाय की साधना को इन बातों

बिन्दुरूपा। नादरूपा सृष्टि गुरुपरम्परा से और बिन्दुरूपा सृष्टि जन्म परम्परा से।[1] चूंकि इस मार्ग में परमशिव से लेकर परमगुरु तक चली आती हुई ज्ञान-परम्परा का ही प्राधान्य है, इसलिए विद्याक्रम को ही 'कुल' कहा जाता है। इसी कुल के अनुवर्ती 'कौल' हैं।

3. रहस्यपरक अर्थ : कुल का अर्थ जाति है। एक ही जाति के वस्तुओं में अज्ञानवश भिन्नजातीयता का भान हो गया होता है। उपास्य भी चेतन है, उपासक भी चेतन है। इन दोनों को एक ही 'कुल' की वस्तु बतानेवाले शास्त्र भी कुल-शास्त्र हुए। इन शास्त्रों को माननेवाले इसीलिए कौल कहे जाते हैं।

4. योगपरक अर्थ : 'सौभाग्य भास्कर' (पृ. 35) में 'कुल' शब्द का एक योगपरक अर्थ भी दिया हुआ है। 'कु' का अर्थ पृथ्वी है और 'ल' का अर्थ 'लीन' होना। हम आगे चलकर देखेंगे कि पृथ्वीतत्त्व मूलाधार चक्र में रहता है। इसलिए मूलाधार चक्र को 'कुल' कहते हैं। इसी प्रकार मूलाधार से सुषुम्ना-नाड़ी मिली हुई है, जिसके भीतर से उठकर कुण्डलिनी सहस्रार चक्र में परमशिव से सामरस्य प्राप्त करती है। इसीलिए लक्षणा वृत्ति से सुषुम्ना को भी 'कुल' कहते हैं।[2] 'तत्त्वसार' नामक ग्रन्थ में कुण्डलिनी को शक्तिरूप में बताया गया है। शक्ति ही सृष्टि है, और सृष्टि ही कुण्डली।[3] इसीलिए कुण्डलिनी को भी कुल-कुण्डलिनी कहा जाता है।

3. दार्शनिक सिद्धान्त

तन्त्रमत दार्शनिक दृष्टि से सत्कार्यवादी है। जो वस्तु कभी थी ही नहीं वह कभी हो नहीं सकती। कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम ही 'कारण' है और कारण की व्यक्तावस्था का नाम ही 'कार्य' है।

प्रलयकाल में समग्र जगत्प्रपंच को अपने-आपमें विलीन करके और समस्त प्राणियों के कर्मफल को सूक्ष्म रूप से अपने में स्थापन करके एकमात्र अद्वितीय परम शिव विराजमान रहते है। सृष्टि का चक्र जब फिर शुरू होता है (क्योंकि प्रलयकालीन प्राणियों का अवशिष्ट कर्मफल परिपक्व होने को शेष रह गया होता है और इसी कर्मफल के परिपाक के लिए जगत्प्रपंच फिर शुरू होता है), तो शिव में अव्यक्त भाव से स्थित शक्ति फिर से 'सिसृक्षा' के रूप में व्यक्त होती है। यह प्रथम आविर्भूता आद्या शक्ति ही 'त्रिपुरा' है। तान्त्रिक लोगों का सिद्धान्त है कि यद्यपि परंब्रह्म सदा वर्तमान रहते हैं, तथापि इस 'त्रिपुरा' शक्ति के बिना वे कुछ भी करने

1. गो सि सं., पृ. 71
2. वेदशास्त्रपुराणानि सामान्य गणिका इव।
   सा पुनः शाम्भरी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव॥
   —गो. सि. सं., पृ. 13
3. तत्त्वसारेऽप्यमेवार्थो निरूपणपदे कृत।
   सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा॥
   —सि. सि. सं, 4।30

में समर्थ नहीं होते। यह शक्ति स्वयं आविर्भूत होती है और स्वयमेव सृष्टिविधान करती है। 'सिसृक्षा' शब्द का अर्थ है सृष्टि की इच्छा। यद्यपि यह शक्ति इच्छा-रूपा है, तथापि चिन्मात्र (परब्रह्म) से उत्पन्न होने के कारण यह चिद्रूपा भी है। शक्ति ने ही सृष्टिविधान के द्वारा जगत् को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में कल्पित किया है। इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृ-रूप त्रिपुटीकृत जगत् की पुरोवर्तिनी आदिभूता होने के कारण ही यह शक्ति 'त्रिपुरा' कही जाती है।[1] मत्स्येन्द्रनाथ के कौलज्ञान में इस शक्ति का इसी नाम से निर्देश नहीं पाया जाता, पर यह स्पष्ट रूप से जान पड़ता है कि तान्त्रिकों के सृष्टितत्त्व को वे भी उसी प्रकार मानते हैं। परन्तु यदि तन्त्रशास्त्र सत्कार्यवादी है, तो ऊपर के बताये हुए सिद्धान्त में एक आपत्ति हो सकती है। जो वस्तु कभी थी ही नहीं, वह कभी उत्पन्न भी नहीं हो सकती, फिर जगत् शक्ति से उत्पन्न कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में बताया गया है कि वस्तुतः शक्ति प्रलयकाल में 36 तत्त्वात्मक जगत् को कवलीकृत करके अर्थात् अपने-आपमें स्थापित करके अव्यक्तरूप में स्थित रहती है और वस्तुतः जगत् उसकी व्यक्तावस्था का ही नाम है। फिर प्रश्न होता है कि क्यों न शिव को ही जगत् का कारण मान लिया जाय? यदि जगत् को सूक्ष्म रूप से अव्यक्त अवस्था में शक्ति धारण करती है तो शक्ति को भी तो सूक्ष्म रूप में शिव धारण किये होते हैं! फिर शक्ति को जगत् का कारण क्यों माना जाय? शिव ही वास्तविक और आदिकारण हुए। तान्त्रिक लोग ऐसा नहीं मानते। 'वामकेश्वरतन्त्र' (4-5) में कहा गया है कि जब शक्ति जगत्रूप में व्यक्त होती है तो उस अवस्था में परशिव नामक किसी पदार्थ की उसे आकांक्षा नहीं होती। जो शाक्त तन्त्र के अनुयायी नहीं हैं वे ब्रह्म की शक्ति-माया को जड़ मानते हैं। किन्तु तान्त्रिक लोग परशिव की शक्ति को चिद्रूपा अर्थात् चेतन मानते हैं। चूंकि यह जगत् भी चिद्रूपा शक्ति का परिणाम है, इसीलिए यह स्वयं भी चिद्रूप है (कौ. मा. र.)। 'कौलज्ञाननिर्णय' में मत्स्येन्द्रनाथ ने जब कहा कि शिव की इच्छा से समस्त जगत् की सृष्टि होती है और उसी में सब-कुछ लीन हो जाता है, तो वस्तुतः उनका तात्पर्य यही है कि शक्ति ही जगत् का कारण है; क्योंकि शिव की इच्छा (सिसृक्षा) ही शक्ति है, यह बात हमने पहले ही लक्ष्य की है।

इस प्रकार परमशिव के सिसृक्ष होने पर शिव और शक्ति, ये दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं। परमशिव निर्गुण और निरञ्जन है, शिव सगुण और सिसृक्षारूप उपाधि से विशिष्ट। शिव का धर्म ही शक्ति है। धर्मी और धर्म अलग-अलग नहीं रह सकते।

1. त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका ॥
कवलीकृतनिःशेष तत्त्वग्रामस्वरूपिणी।
तस्यां परिणतायान्तु न कश्चित् पर इष्यते ॥
'वामकेश्वरतन्त्र' (4।4-5) के इन श्लोकों पर सेतुबन्ध टीका (134-5) देखिए।

इसीलिए मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है कि शक्ति के बिना शिव नही होते और शिव के बिना शक्ति नहीं रह सकती (कौ. ज्ञा. नि., 17।8)। ये (1) शिव और (2) शक्ति 36 तत्त्वों के प्रथम दो है। पहले बताया गया है कि समस्त जगत्प्रपंच का मूल कारण शक्ति है। शक्ति ही अपने भीतर समस्त जगत् को धारण किये रहती है। शक्ति द्वारा जगत् की अभिव्यक्ति होने के समय शिव के दो रूप प्रकट होते हैं। प्रथम अवस्था में इस प्रकार का ज्ञान होता है कि मैं ही शिव हूँ। यही सदाशिव तत्त्व है। सदाशिव जगत् को अपने से अभिन्न (अहं = मैं) रूप मे जानते है। इनका यह 'मैं' का भाव (= अहं-ता) ही पराहंता या पूर्णाहंता कहलाता है। दूसरी अवस्था को ईश्वरतत्त्व—जो जगत् को अपने से भिन्न-रूप (इदं = यह) मे देखता है—कहते हैं। सो, जगत् को अहंरूप मे समझनेवाला तत्त्व (3) सदाशिव है और इदंरूप मे समझनेवाला तत्त्व (4) ईश्वर है। इस प्रकार प्रथम चार तत्त्व हुए—(1) शिव, (2) शक्ति, (3) सदाशिव, (4) ईश्वर। सदाशिव जगत् को अहंरूप में देखते है। 'जगत् मै ही हूँ'—इस प्रकार की सदाशिव की शक्ति को (5) शुद्ध विद्या कहते है और 'यह जगत् मुझसे भिन्न है'—इस प्रकार की ईश्वर-वृत्ति का नाम (6) माया है। शुद्ध विद्या को आच्छादन करनेवाली को अविद्या कहते हैं—कुछ लोग इसे विद्या भी कहते हैं। यह सातवाँ तत्त्व है। इस सातवें तत्त्व से आच्छन्न होने पर जो सर्वज्ञ था वह अपने को 'किंचिज्ज्ञ' अर्थात् 'थोड़ा जाननेवाला' समझने लगता है। फिर क्रमशः माया के बन्धन से शिव की 'सब-कुछ करने' की शक्ति [सर्वकर्तृत्व] सकुचित होकर 'कुछ करने' की शक्ति बन जाती है, इसे कला कहते हैं; फिर उनकी 'नित्यतृप्तता' संकुचित हो अपूर्ण 'तृप्ति' का रूप धारण करती है—यही रागतत्त्व है; उनका नित्यत्व संकुचित होकर छोटी सीमा मे बँध जाता है—इसे कालतत्त्व कहते है; और उनकी सर्वव्यापकता भी संकुचित होकर नियत देश में संकीर्ण हो जाती है—इसे नियति तत्त्व कहा जाता है। इस प्रकार माया के बाद उसके 6 संकोचनकारी तत्त्व या कंचुक प्रकट होते है और उनसे क्रमशः (7) विद्या या अविद्या, (8) कला, (9) राग, (10) काल और (11) नियति तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इन 6 कंचुकों से बद्ध शिव ही 'जीव' रूप मे प्रकट है, जीव तेरहवाँ तत्त्व है। यही सांख्य लोगो का 'पुरुष' है। इसके बाद का क्रम वही है जो सांख्यकों का है। तान्त्रिक और शैव लोग सांख्य के 24 तत्त्वों के अतिरिक्त पूर्वोक्त बारह तत्त्वों को अधिक मानते है।

चौदहवाँ तत्त्व प्रकृति है जो सत्व, रज. और तमः, इन तीनो गुणों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति को ही चित्त कहते है। रजोगुणप्रधान अन्त करण को मन कहते हैं, यह सकल्प का हेतु है। इस अवस्था में सत्व और तमः, ये दो गुण अभिभूत रहते हैं। इसी प्रकार जब रज. और तमः गुण अभिभूत रहते है और सत्वगुण प्रधान होता है तो वह अवस्था बुद्धि कहलाती है। वह निश्चयात्मक ज्ञान का हेतु है। सत्व और रज, ये दोनों गुण अभिभूत रहते हैं और तम.गुण प्रधान होता है तो उस अवस्था को अहंकार कहते हैं। इसमे भेदज्ञान प्रधान होता है। इस

प्रकार जीव नामक तत्त्व के बाद (14) प्रकृति, (15) मन, (16) बुद्धि और (17) अहंकार—ये चार और तत्त्व उत्पन्न हुए।

इसके बाद पांच ज्ञ.नेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच तन्मात्र और पांच स्थूल महाभूत—ये पन्द्रह तत्त्व उत्पन्न होते है। यही तान्त्रिको के 36 तत्त्व हैं। यही शैव योगियों को भी मान्य है, किन्तु 'कौलज्ञाननिर्णय' मे इनकी कोई स्पष्ट चर्चा नही मिलती।

भगवान् सदाशिव ने अपने पांच मुखों से पांच आम्नायों का उपदेश दिया था : (1) सद्योजात नामक पूर्वमुख से पूर्वाम्नाय, (2) अघोर नामक दक्षिण मुख से दक्षिणाम्नाय, (3) तत्पुरुष नामक पश्चिम मुख से पश्चिमाम्नाय, (4) वामदेव नामक उत्तर मुख से उत्तराम्नाय और (5) ईशान नामक ऊपरी मुख से उद्ध्र्वाम्नाय। इन पांच आम्नायो में इन्ही 36 तत्त्वों का निर्णय हुआ है।[1] ऊपर के विवरण से इनका क्रम विदित होगा। सब तत्त्वो का यहाँ फिर से एकत्र संकलन किया जा रहा है :

1. शिव
2. शक्ति
3. सदाशिव
4. ईश्वर
5. शुद्धविद्या
6. माया
7. विद्या (अविद्या)
8. कला
9. राग
10. काल
11. नियति
12. जीव
13. प्रकृति
14. मन
15. बुद्धि
16. अहंकार
17. श्रोत्र
18. त्वक्
19. चक्षु
20. जिह्वा
21. घ्राण
22. वाक्
23. पाणि (हाथ)
24. पाद (चरण)
25. पायु
26. उपस्थ
27. शब्द
28. स्पर्श
29. रूप
30. रस
31. गन्ध
32. आकाश
33. वायु
34. तेज
35. जल
36. पृथ्वी

इन 36 तत्त्वों में प्रथम दो—शिव और शक्ति—'शिवतत्त्व' कहे जाते हैं। कारण यह है कि इन दो तत्त्वों में सद्-चित-आनन्द, ये तीनों ही अनावृत और सुस्पष्ट रहते है। इसके बाद के तीन तत्त्व—सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या—

1. 'परशुराम कल्पसूत्र' 1/2-4 पर रामेश्वर की टीका।

'विद्यातत्त्व' कहे जाते है; क्योंकि इनमें आनन्द-अंश तो आवृत रहता है, परन्तु सत् और चित् अंश अनावृत रहते है। बाकी इक्तीस तत्त्व 'आत्मतत्त्व' कहे जाते हैं; क्योंकि उनमे आनन्द और चित्, ये दोनों ही आवृत रहते है और केवल 'सत्' (=सत्ता) अंश ही प्रकट और अनावृत रहता है। चित् अंश के आवृत रहने के कारण ये तत्त्व जड़वत् प्रतीत होते है। इस प्रकार सारे 36 तत्त्व तीन ही तत्त्वों के अन्तर्गत आ जाते हैं: (1) शिवतत्त्व, (2) विद्यातत्त्व और (3) आत्मतत्त्व। 'आत्मतत्त्व' में आये हुए 'आत्म' शब्द को देखकर यह भ्रम नही होना चाहिए कि ये चैतन्यप्रधान तत्त्व है। वस्तुत 'आत्म' शब्द का प्रयोग यहाँ जड़ शरीर की आत्मा समझने के अर्थ में हुआ है।

यह स्पष्ट है कि शिव ही जीवरूप में परिणत होते है। माया तीन प्रकार के मलो से शिव को जब आच्छादित करती है तब शिव 'जीव' रूप में व्यक्त होते हैं। ये तीन मल है: (1) आणव अर्थात् अपने को अणुमात्र समझना, (2) मायिक अर्थात् जगत् के तत्त्वत एक अद्वैत पदार्थो में भेदबुद्धि और (3) कर्म अर्थात् नाना जन्मो में स्वीकृत कर्मो का सस्कार। इन्ही तीन मलो से आच्छन्न शिव ही जीव है। इसीलिए 'परशुराम कल्पसूत्र' मे कहा गया है कि 'शरीरकञ्चुकित. शिवो जीवो निष्कञ्चुकः परमशिव' (1।5) अर्थात् शरीर (तीन मलों का परिणाम) द्वारा आच्छादित शिव ही जीव है और अनाच्छादित जीव ही शिव है। इसीलिए 'कौल-ज्ञाननिर्णय' मे मत्स्येन्द्रपाद ने कहा है कि वस्तुतः जीव से ही जगत् सृष्ट हुआ है, जीव ही समस्त तत्त्वो का नायक है क्योकि वह जीव ही हंस है, यही शिव है, यही व्यापक परशिव है; और सच पूछिए तो वही मन भी है, वही चराचर मे व्याप्त है। इसीलिए अपने को अपने ही समझकर वह जीव—जो वस्तुतः शिव का ही रूप है—भुक्ति और मुक्ति दोनो का दाता है। आत्मा ही गुरु है, आत्मा ही आत्मा को बांधता है, आत्मा ही आत्मा को मुक्त करता है, आत्मा ही आत्मा का प्रभु है। जिसने यह तत्त्व समझ लिया है कि यह काया आत्मा ही है, अपने को आप ही जाना जाता है और अपने से भिन्न समस्त पदार्थ भी आत्मा है, वही 'योगिराट्' है, वह स्वयं साक्षात् शिवस्वरूप है और दूसरे को मुक्त करने मे भी समर्थ है:

जीवेन च जगत् सृष्टं स जीवस्तत्त्वनायकः।
स जीव.पुद्गलो हंसः स शिवो व्यापकः परः।
स मनस्तूच्यते भद्रे व्यापक. स चराचरे।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा मुक्तिमुक्तिप्रदायकः॥
प्रथमस्तु गुरुर्ह्यात्मा आत्मान बन्धयेत् पुनः।
बंधस्तु मोचयेद्ध्यात्मा आत्मा वै कायरूपिणः॥
आत्मनश्चापरो देवि येन ज्ञात स योगिराट्।
स शिवः प्रोच्यते साक्षात् स मुक्तो मोचयेत् परः॥

—कौ. ज्ञा. नि., 17।33-37

4. कौल-साधना

यद्यपि गोरक्षसम्प्रदाय में यह कहा जाता है कि उनके योगमार्ग और कौलमार्ग के चरम लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, सिर्फ इतना ही विशेष है कि योगी पहले से ही अन्तरंग उपासना करने लगता है, परन्तु तान्त्रिक पहले बहिरंग उपासना करने के बाद क्रमशः अन्तरंग (कुण्डली) साधना की ओर आता है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि तान्त्रिक कौलों को भी यही मत मान्य है। निस्सन्देह कौलमार्ग में भी यह विश्वास किया जाता है कि योगी और कौल का लक्ष्य एक ही है। संक्षेप में यहाँ कौल-दृष्टिकोण को समझ लेने से हम आसानी से मत्स्येन्द्रनाथ के दोनों मार्गों का भेद समझ सकेंगे।[1]

हम आगे चलकर देखेंगे कि योगी लोग भोगवर्जनपूर्वक यम-नियमादि की कठोर साधना द्वारा अष्टांग योग-साधन करके समाधि के अन्त में व्युत्थान अवस्था में निर्विकल्पक आनन्द अनुभव करते हैं। तान्त्रिक लोगों का दावा है कि कौल साधक भी इसी आनन्द को अनुभव करते हैं। ये लोग कुलसाधना में विहित विधि से कुलद्रव्य—मद्यादि—का संस्कार करके उसका सेवन करते हैं और सिद्धिलाभ करते हुए सातवें उल्लास की अवस्था में पहुँचते हैं। 'कुलार्णवतन्त्र' में मद्यपान से उत्पन्न इन सात उल्लासों की चर्चा है। प्रथम उल्लास का नाम आरम्भ है। इसमें साधक तीन चुल्लू से अधिक नहीं पी सकता। दूसरी अवस्था 'तरुण उल्लास' है, जिसमें मन में नये आनन्द का उदय होता है। जरा और अधिक आनन्द की अवस्था का नाम 'यौवन उल्लास' है। यह तीसरी अवस्था है। चौथी अवस्था, जिसमें मन और वाक्य किंचित स्खलित होते रहते हैं, 'प्रौढ़ उल्लास' कही जाती है। पूरी मत्तता आने को 'तदन्तोल्लास' नामक पाँचवीं अवस्था कहते हैं। इसके बाद और पान करने पर एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें मनोविकार दूर हो जाते हैं और चित्त अन्तर्निरुद्ध हो रहता है। यही छठी 'उन्मनी-उल्लास' नामक अवस्था है। अन्तिम अवस्था का नाम 'अनवस्था उल्लास' है। इस अवस्था में जीवात्मा परमात्मा में विलीन होकर ब्रह्मानन्द अनुभव करने लगता है। कौल तान्त्रिकों का दावा है कि *यह आनन्द योगियों द्वारा अनुभूत निर्विकल्पक ब्रह्मानन्द से अभिन्न है।*[2] 'कौलज्ञाननिर्णय' में इन उल्लासों की चर्चा नहीं है। परन्तु वहाँ इसका विधान है अवश्य। 'कौलज्ञाननिर्णय' में प्रायः कुलद्रव्यों की आध्यात्मिक व्याख्या दी हुई है। मानस लिंग, मानस द्रव्य, मानस पुष्प, मानस पूजा आदि बातें उसमें सर्वत्र लिखी पायी जाती हैं। नाथपन्थियों में यह बात एकदम लुप्त नहीं हो गयी है।

1. बौद्ध तान्त्रिकों के सबसे प्राचीन तन्त्रों में से एक 'गुह्य समाजतन्त्र' है जिसकी रचना सम्भवत सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी में हो गयी थी। उसमें उपसाधन के प्रसंग में तान्त्रिक साधना बता लेने के बाद ग्रन्थकार ने लिखा है कि यदि ऐसा करने पर भी सिद्धि न मिले तो हठयोग से साधना करनी चाहिए (पृ. 165)।
2. कौ. ना. र., पृ. 40-41

कौलमार्गी का दावा है कि उसका रास्ता सहज है और योगी का दुरूह। 'रुद्रयामल' में कहा गया है कि जहाँ भोग होता है, वहाँ योग नहीं होता और जहाँ योग होता है, वहाँ भोग नहीं होता; परन्तु श्रीसुन्दरी-साधना के व्रती पुरुषों को योग और भोग दोनों ही हाथ में ही रहते है।[1] 'कौलज्ञाननिर्णय' में 'पंच मकार' शब्द नहीं आया है। 'पंच-पवित्र' जरूर आया है। ये पंच-पवित्र हैं—विष्ठा, धारामृत, शुक्र, रक्त और मज्जा। साधना में अग्रसर साधक के लिए ये विहित हैं (11वाँ पटल)। पंच मकार की प्रायः सारी बातें—मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा और मैथुन—किसी-न-किसी रूप में आ गयी हैं। ग्यारहवें पटल में जिन पाँच उत्तम भोज्यों का उल्लेख है, वे हैं: गोमांस, गोघृत, गोरक्त, गोक्षीर और गोदधि। फिर श्वान, मार्जार, उष्ट्र, हय, कूर्म, कच्छप, वराह, बक, कर्कट, शलाकी, कुक्कुट, शेरक, मृग, महिष, गण्डक और सब प्रकार की मछलियाँ उत्तम भक्ष्य बतायी गयी हैं। पैष्टी, माध्वी और गौण्डी मद्यों को श्रेष्ठ कहा गया है। 'अकुलवीरतन्त्र' में साधना में सिद्ध उस पुरुष के लिए, जिसे अद्वैतज्ञान प्राप्त हो गया है, यह उपदेश है कि जागते-सोते, आहार-विहार, दारिद्र्य, शोक, अभक्ष्यभक्षण में किसी प्रकार का भेद-भाव या विचिकित्सा न करे। किसी भी इन्द्रियार्थ के भोग में संशयालु न बने, समस्त वर्णों के साथ एक आचार पालन करे और भक्ष्याभक्ष्य का विचार बिल्कुल न करे। सर्वत्र उसकी बुद्धि इस प्रकार होनी चाहिए कि न मैं ही कोई हूँ, न मेरी ही कोई है, न कोई बद्ध है, न बन्धन ही है और न कुछ कर ही रहा हूँ।[2]

परवर्ती नाथ सम्प्रदाय में इन सभी बातों की आध्यात्मिक व्याख्या मिल जाती है। मानो मत्स्येन्द्रनाथ के उपदेशों को लक्ष्य करके ही 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है कि सच्चा कुलीन या कौल साधक वही है जो नित्य गोमांस भक्षण करता है और अमर वारुणी का पान करता है। और योगी तो कुलघातक हैं! क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालुदेश में ले जाने को (खेचरी मुद्रा में) ही 'गोमांस-भक्षण' कहते हैं। ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नामक त्रिकोण चक्र है, वहीं चन्द्रमा का स्थान है। इसी से सदा अमृत झरता है। यही अमर वारुणी है।[3] मत्स्येन्द्रनाथ की 'ज्ञानकारिका' (83-84) में भी इस प्रकार की यौगिक

1. यत्रास्ति भोगो न तु तत्र योगो तत्रास्ति मोक्षो न तु तत्रभोग।
श्रीसुन्दरीसाधक पुंगवाना भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥
2. नाहं कश्चिन्न मे कश्चित् न बद्धो न च बंधनम्।
नाहं किंचित करोमीति मुक्त इत्यभिधीयते॥
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्जाग्रद् भुज्यमाने च मैथुने।
भयदारिद्र्यशोकैश्च विष्ठामूत्रादिभक्षणे॥
विचिकित्सा नैव कुर्वीत इन्द्रियार्थे कदाचन।
आचरेत् सर्ववर्णानि न च भक्ष्य विचारयेत्॥
—'अकुलवीरतन्त्र', पृ. 66-68
3. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥ इत्यादि॥ —हठ., 3।46-48

व्याख्या मिलती है। परन्तु इन यौगिक व्याख्याओं से ही यह स्पष्ट है कि जहाँ कौल साधक मन्त्रपूत वास्तविक कुलद्रव्य को सेवनीय समझते है, वहाँ योगी उनके योग-परक रूपको से सन्तोष कर लेते है।

फिर भी यह कहा नही जा सकता कि गोरक्षनाथ के द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग का जो रूप आजकल उपलभ्य है, उसमे योग और भोग को साथ-ही-साथ पा लेने की साधना एकदम लुप्त हो गयी है। वज्रयान और सहजयान का प्रभाव रह ही गया है। महीधर शर्मा ने 'गोरक्षपद्धति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। इसमे किसी और ग्रन्थ से वज्रोली और सहजोली मुद्राएँ समृहीत है। ये दोनो ही निश्चित रूप से वज्रयानी और सहजयानी साधनाओ के अवशेष हैं। जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करता है वह योगोक्त कोई भी नियम पालन किये बिना ही और स्वेच्छापूर्वक आचरण करता हुआ भी सिद्ध हो जाता है। इस मुद्रा मे केवल दो ही आवश्यक वस्तुएँ हैं, यद्यपि ये सबको सुलभ नही है। ये वस्तुएँ है, वशवर्त्तिना स्त्री और प्रचुर दूध।[1] पुरुष की सिद्धि के लिए जिस प्रकार स्त्री आवश्यक उपादान है, उसी प्रकार स्त्री की सिद्धि के लिए भी पुरुष परम आवश्यक वस्तु है।[2] सो, यह पवित्र योग, भोग के आनन्द को देकर भी मुक्ति दाता है।[3] यहाँ इतना लक्ष्य करने की जरूरत है कि मूल 'गोरक्षपद्धति' में ये श्लोक अन्तर्भुक्त नही है और कहाँ से लिये गये हैं, यह भी विदित नहीं है। जैसा कि शुरू मे ही कहा गया है, गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आधारित है, उसमे पूर्वोपदिष्ट तन्त्रमार्ग के कुलद्रव्यों की केवल योगपरक और आध्यात्मिक व्याख्याएँ मिलती है। यहाँ केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि इस मार्ग मे उक्त साधनाएँ भी रेंगती हुई और सरकती हुई घुस आयी है या फिर हटाने के अनेक यत्नों के बावजूद भी छिपी हुई रह गयी हैं। 'घेरण्ड संहिता'[4] में इस वज्रोली या वज्रोणी का योगपरक प्रयोग पाया जाता है और 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' तथा 'अमरौघ शासन' मे भी इसकी चर्चा पायी जाती है।

आजकल जो नाथयोगी सम्प्रदाय वर्तमान है, उसमें भी वामाचार का प्रभाव है। ब्रिग्स ने लिखा है कि दुर्गापूजा मे कई स्थानों पर पंच मकारों या कुछ मकारों

1. स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोनी यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभ यस्यकस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी॥
—'गोरक्षपद्धति', पृ. 48

2. पुंसो बिंदु समाकुन्चय सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजोरक्षेद् वज्रोल्या सापि योगिनी॥—वही, पृ. 52

3. देहसिद्धि च लभते वज्रोल्याभ्यासयोगतः।
अयं पुण्यकरो योगी भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः॥—वही, पृ. 53

4. 'घेरण्ड संहिता,' 3·45-58

का प्रचलन है, यद्यपि साधारणतः इसे हीन कोटि की साधना माना जाता है और इसके साधक इस बात को छिपाया करते हैं।[1] बालसुन्दरी, त्रिपुरासुन्दरी, त्रिपुरा-कुमारी की पूजा अब भी प्रचलित है। त्रिपुरा दस महाविद्याओं में एक है। वे परम-शिव की आदिसिसृक्षा हैं और ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान रूप में प्रगट हुए इस त्रिपुटीकृत जगत् की आद्य-उद्‌भाविका हैं। मलाबार में 16 वर्ष की कन्या की पूजा प्रचलित है। इस पूजा का फल बच्चों की रक्षा और वंशवृद्धि है। अलमोड़ा में इस देवी का मन्दिर है। त्रिपुरा देवी की पूजा दक्षिणाचार से होती है, मांसबलि नहीं दी जाती। स्त्रियाँ रात-रात भर खड़ी रहकर देवी को प्रसन्न करती हैं और अभिलषित वर पाने की आशा करती हैं। भण्डारकर ने लिखा है कि योगी लोग त्रिपुरासुन्दरी के साथ अपना अभेदज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने को स्त्रीरूप में चिन्ता करने का अभ्यास करते हैं। इनके अतिरिक्त भैरवी अष्टनायिकाएँ, मातृकाएँ, योगिनियाँ, शाकिनियाँ, डाकिनियाँ और अन्य अनेक प्रकार की मृत्युचण्डस्वभावा देवियाँ योगि सम्प्रदाय में अब भी उपास्य मानी जाती हैं। ब्रिग्स[2] ने बताया है कि कनफटा योगी लिंग और योनि की पूजा करते हैं और विश्वास करते हैं कि वासनाओं को दबाना साधन-मार्ग का परिपन्थी है। वे स्त्री को पुरुष का परिणाम मानते हैं और इसलिए वामाचार साधना को बहुत महत्त्व दिया जाता है। चक्रपूजा, जिसे मत्स्येन्द्रनाथ ने बार-बार 'कौलज्ञाननिर्णय' में विवृत किया है, अब भी वर्त्तमान है। सर्वत्र इस साधना को रहस्यमय और गोप्य समझा जाता है।

5. कौल साधक का लक्ष्य

कौल साधक का प्रधान कर्त्तव्य जीवशक्ति कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध करना है। हम आगे चलकर इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार करने का अवसर पायेंगे। यहाँ संक्षेप में यह समझ लेना चाहिए कि शक्ति ही महाकुण्डलिनीरूप से जगत् में व्याप्त है। मनुष्य के शरीर में वही कुण्डलिनीरूप से स्थित है। कुण्डलिनी और प्राणशक्ति को लेकर ही जीव मातृकुक्षि में प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थाओं में रहते हैं : जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न; अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं, या सोते रहते हैं, या स्वप्न देखते रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इन अवस्थाओं में इसके द्वारा शरीर धारण का कार्य होता है। इस कुण्डलिनी के उद्‌बुद्ध होने की क्रिया को समझने के लिए मनुष्य-शरीर की कुछ खास बातों की जानकारी आवश्यक है। पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयम्भू लिंग है जो एक त्रिकोणचक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति

1. ब्रिग्स, पृ. 171
2. वही, पृ. 172-174

कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलों का एक कमल है, जिसे मूलाधार चक्र कहते है। फिर उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है, जो छ: दलो के कमल के आकार का है। इसके भी ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर, हृदय के पास अनाहत चक्र है। ये दोनो क्रमशः दस और बारह दलो के पद्मो के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जो सोलह दल के पद्म के आकार का है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य मे आज्ञा नामक चक्र है, जिसके सिर्फ दो ही दल है। ये ही षट्चक्र है। इन चक्रों को क्रमशः पार करती हुई उद्बुद्ध कुण्डलिनी शक्ति सबसे ऊपरवाले सातवें चक्र (सहस्रार) मे परमशिव से मिलती है। इस चक्र मे सहस्रदल होने के कारण इसे सहस्रार कहते है और परमशिव का निवास होने के कारण कैलास भी कहते है।[1] इस प्रकार सहस्रार में परमशिव, हृत्पद्म में जीवात्मा और मूलाधार मे कुण्डलिनी विराजमान है। जीवात्मा परमशिव से चैतन्य और कुण्डलिनी से शक्ति प्राप्त करता है, इसीलिए कुण्डलिनी जीव-शक्ति है। साधना के द्वारा निद्रिता कुण्डलिनी को जगाकर, मेरुदण्ड की मध्यस्थिता नाड़ी सुषुम्ना के मार्ग से सहस्रार में स्थित परमशिव तक उत्थापन करना ही कौल साधक का कर्त्तव्य है।[2] वही शिव-शक्ति का मिलन होता है। शिव-शक्ति का यह सामरस्य ही परम आनन्द है।[3] जब यह आनन्द प्राप्त हो जाता है तो साधक के लिए कुछ भी करणीय बाकी नहीं रह जाता।

'कौलज्ञाननिर्णय' में चक्रो की बात है, परन्तु वह हू-ब-हू परवर्त्ती नाथपन्थी चक्रो से नहीं मिलती है। तृतीय पटल में चार, आठ, बारह, सोलह, चौसठ, सौ, सहस्र कोटि, सार्ध कोटि और तीन कोटि दलवाले चक्रों का उल्लेख है[4] और बाद मे कहा गया है कि इन सबके ऊपर नित्य उदित, अखण्ड, स्वतन्त्र पद्म है जहाँ सर्वव्यापी अचल निरंजन (शिव) का स्थान है। यही शिव का वह लिंग है जिसकी इच्छा (शक्ति) से सृष्टि होती है और जिसमे समस्त सृष्टि लीन हो जाती है। वस्तुतः इस लीन होने की क्रिया के कारण वह 'लिंग' कहा जाता है। यही अखण्डमण्डला-

1 अतऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्य बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥
—'शिव संहिता', 5-151-2

2 निजावेशात्सम्यङ्निबिड़तमनंहत्यविधिवत्—
महानंदावस्था स्फुरति विनता कापि सततम्॥
ततः संविन्नित्यामलमुखचमत्कारगमकः—
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवनो भेदविरह॥
—सि. सि. सं., 5-11

3. समरसानन्दरूपेण एकाकारं चराचरे।
ये च ज्ञात स्वदेहस्थमकुलवीरंमहाद्भुतम्॥
—'अकुलवीरतन्त्रं', श्लो. 115

4 कौ. ज्ञा. नि., 3-6-8

कार निर्विकार निष्कल शिव है जिनको जाने बिना बन्ध होता है और जिनको जान लेने से मनुष्य सर्वबन्धों से मुक्त हो जाता है।[1] चक्रों के कमलदलों की न्यूनाधिक संख्या से यह नहीं समझना चाहिए कि नाथपन्थी मत इस मत से भिन्न है। वस्तुतः नाथपन्थ में नाना प्रकार से चक्रों की कल्पना की गयी है। असली बात यह है कि सिद्धान्त उभयत्र एक ही है। 'कौलज्ञाननिर्णय' साधनपरक शास्त्र है। उसमें विधियों का ही अधिक उल्लेख है, परन्तु मूल रूप से समस्त योगियों और कौलों का जो लक्ष्य है वह इस शास्त्र में भी है। अन्तिम लक्ष्य दोनों का एक ही है।[2]

प्रत्येक मनुष्य इस कौल साधना के लिए समान भाव से विकसित नहीं है। कुछ साधक ऐसे होते हैं जिनमें सांसारिक आसक्ति अधिक होती है। इस प्रकार मोहरूपी पाश या पगहे से बँधे हुए जीवों को 'पशु' कहते हैं। शास्त्र में उनके लिए अलग ढंग की साधना निर्दिष्ट है। परन्तु कुछ साधक ऐसे होते हैं जो अद्वैत ज्ञान का एक उथला-सा आभासमात्र पाकर साधनमार्ग में उत्साहित हो जाते हैं और प्रयत्न-पूर्वक मोहपाश को छिन्न कर डालते हैं। इन्हें 'वीर' कहा जाता है। यह साधक क्रमशः अद्वैत ज्ञान की ओर अग्रसर होता रहता है और अन्त में उपास्य देवता के साथ अपने-आपकी एकात्मकता पहचान जाता है। जो साधक सहज ही अद्वैत ज्ञान को अपना सकता है, वह उत्तम साधक 'दिव्य' कहलाता है। इस प्रकार साधक तीन श्रेणी के हुए : पशु, वीर और दिव्य। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं। इन तीनों की अवस्थाओं को क्रमशः पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव कहते हैं। शास्त्र में, इसके लिए अलग-अलग साधन-मार्ग उपदिष्ट हैं।

तन्त्रशास्त्र में सात प्रकार के आचार बताये गये हैं : वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें जो (1) वेदाचार है उसमें वैदिक काम्य कर्म योगयज्ञादि विहित हैं; तन्त्र के मत से यह सब से निचली कोटि की उपासना है। (2) वैष्णवाचार में निरामिष भोजन, पवित्र भाव से व्रत-उपवास, ब्रह्मचर्य और भजनासक्ति विहित है। (3) शैवाचार में यमनियम, ध्यान-धारणा, समाधि और शिव-शक्ति की उपासना, तथा (4) दक्षिणा-चार में उपर्युक्त तीनों आचारों के नियमों का पालन करते हुए रात्रिकाल में भाँग आदि का सेवन करके इष्ट मन्त्र का जप करना विहित है। यद्यपि इन चारों में पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा श्रेष्ठ है, परन्तु ये चारों ही

1. तस्योर्ध्वे व्यापकं तत्र नित्योदितमखण्डितम्।
स्वातंत्रमव्जमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम्॥
तस्येच्छया भवेत् सृष्टिर्लय तत्रैव गच्छति।
तेन लिंगं तु विख्यातं यत्र लीनं चराचरम्।
अखण्डमण्डलं रूपं निर्विकारं सनिष्कलम्।
अज्ञात्वा बधमुद्दिष्टं ज्ञात्वा बंधैः प्रमुच्यते।
— कौ. ज्ञा. नि., 3-9-11

2. गो. सि. सं., पृ. 20

आचार पशु-भाव के साधक के लिए ही विहित है। इनके बादवाले आचार वीर भाव के साधक के लिए है। (5) वामाचार में आत्मा को वामा (शक्ति) रूप में कल्पना करके साधना विहित है। (6) सिद्धान्ताचार में मन को अधिकाधिक शुद्ध करके यह बुद्धि उत्पन्न करने का उपदेश है कि शोधन से संसार की प्रत्येक वस्तु शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर ढेले तक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमशिव से भिन्न हो। इन सबमें श्रेष्ठ आचार है (7) कौलाचार। इसमें कोई भी नियम नहीं है। इस आचार के साधक साधना की सर्वोच्च अवस्था में उपनीत हो गये होते हैं; और जैसा 'भावचूड़ामणि' में शिवजी ने कहा है, कर्दम और चन्दन में, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में तथा स्वर्ण और तृण में लेशमात्र भी भेद-बुद्धि नहीं रखते :

कर्दमे चन्दनेऽभिन्न पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये ।।
श्मशाने भवने देवि तथा वै काञ्चने तृणे ।
न भेदो यस्य लेशोऽपि स कौलः परिकीर्तितः ।।

इसी भाव को बताने के लिए मत्स्येन्द्रनाथ ने 'अकुलवीरतन्त्र' में कहा है कि जब तक अकुलवीररूपी अद्वैत ज्ञान नहीं, तभी तक बालबुद्धि के लोग नाना प्रकार की कल्पना करते रहते हैं। यह धर्म है, यह शास्त्र है, यह तप है, यह लोक है, यह मार्ग है, यह दान है, यह फल है, यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, यह साध्य है, यह साधक है, यह तत्त्व है, यह ध्यान है— ये सब बाल-बुद्धि के विकल्प हैं ('अकुलवीरतन्त्र', ए 78-87)। जिसे यह अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो गया रहता है उसे प्राणायाम, समाधि और ध्यान-धारणा की आवश्यकता नहीं रहती (17-20); वह ब्रह्मा, शिव, रुद्र, बुद्ध, देवी आदि उपास्यों से अभिन्न होकर स्वयं ध्यान और ध्याता बन जाता है (26-28)। वह यज्ञ-उपवास, पूजा-अर्चना, होम, नित्य-नैमित्तिक विधि, पितृकार्य, तीर्थ-यात्रा, धर्म, अधर्म, स्नान, ध्यान सबके अतीत हो जाता है (43-46)। और अधिक कहने से क्या लाभ, वह व्यक्ति समस्त द्वन्द्वों से रहित हो जाता है :

अथ किं बहुनोक्तेन सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।

यही मच्छन्दपाद के अवतारित शास्त्र का चरम लक्ष्य है।

जालन्धरनाथ और कृष्णपाद

1. साधारण जीवन-परिचय

हमने मत्स्येन्द्रनाथ के समय का विचार करते समय देखा है कि उनके समय के निश्चित होने के साथ-ही-साथ जालन्धरनाथ, गोरक्षनाथ और कृष्णपाद या कानिपा का समय भी निश्चित हो जाता है; क्योंकि समस्त परम्पराएँ बताती हैं कि ये समसामयिक थे। उक्त समय हम पहले ही निश्चित कर चुके हैं, इसलिए उस शास्त्रार्थ में फिर से उलझने की यहाँ जरूरत नहीं है। जालन्धरनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के गुरुभाई थे। तिब्बती परम्परा में मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भी माने जाते हैं। उक्त परम्परा के अनुसार नगरभोग देश (?) में ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। पीछे ये एक अच्छे पण्डितभिक्षु बने, किन्तु घण्टापाद के शिष्य कूर्मपाद की संगति में आकर ये उनके शिष्य हो गये। मत्स्येन्द्रनाथ, कण्हपा (कृष्णपाद) और तन्तिपा इनके शिष्यों में थे। भोटिया ग्रन्थों में इन्हें आदिनाथ भी माना जाता है।[1] तनजूर में इनके लिखे हुए सात ग्रन्थों का उल्लेख है जिनमें राहुलजी के मतानुसार दो मगही भाषा में लिखे गये हैं। ये दो हैं: (1) 'विमुक्त मंजरी गीत' और (2) 'हूँकार चित्त विन्दु भावना क्रम।'[2] डाक्टर कार्डिये ने तनजूर में प्राप्य बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों की एक तालिका फ्रेंच भाषा में प्रकाशित की है, उसमें (पृ. 78 पर) सिद्धाचार्य जालन्धरिपाद लिखित एक टिप्पणी ग्रन्थ का भी नाम है। सरोरुहपाद के प्रसिद्ध तन्त्रग्रन्थ 'हे वज्र साधन' पर टिप्पणीरूप में लिखित इस ग्रन्थ का नाम है, 'शुद्धि वज्रप्रदीप।' ये सभी पुस्तकें काया योग से सम्बद्ध हैं। प्रसिद्ध है कि ये पंजाब में अधिष्ठित जालन्धरपीठ नामक तान्त्रिक स्थान में उत्पन्न हुए थे। एक दूसरी परम्परा के अनुसार ये हस्तिनापुर के पुरुवंशी राजा बृहद्रथ के यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुए थे, और इसीलिए इनका नाम ज्वालेन्द्रनाथ पड़ा था।[3] इस प्रकार तीन स्थानों को इनकी जन्मभूमि बताया गया है, नगरभोग, हस्तिनापुर और जालन्धरपीठ। इनकी जाति के बारे में भी यही विवाद है। तिब्बती परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मण थे, बंगाली परम्परा में ये हाड़ी या हलखोर माने गये हैं; 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' के अनुसार ये युधिष्ठिर की 23वीं पुश्त में उत्पन्न पुरुवंशीय राजा बृहद्रथ के पुत्र होने के कारण क्षत्रिय थे।

जालन्धर नाम से अनुमान किया जा सकता है कि ये जालन्धरपीठ में या तो उत्पन्न हुए थे या सिद्ध हुए थे। हठयोग की पुस्तकों में एक बन्ध का नाम 'जालन्धर-बन्ध' है। बताया जाता है कि जालन्धरनाथ के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही यह

1-2. 'गंगा', पुरातत्वांक, पृ. 252-3
3. यो. स. आ., पृ. 86, 87

बन्ध 'जालन्धरबन्ध' कहा जाता है। इसी प्रकार गोरक्षनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ के नाम पर भी एक-एक बन्ध पाये जाते है। योगशास्त्रीय पुस्तकों मे एक और बन्ध 'उड्डियानबन्ध' है। यह सम्भवतः उड्डियानपीठ के किसी सिद्ध द्वारा प्रवर्त्तित है। गायकवाड़ सिरीज में 'साधनमाला' नामक महत्त्वपूर्ण बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक डॉ. विनयतोषजी भट्टाचार्य का अनुमान है कि उड्डियान उड़ीसा में या असम मे कहीं है। डॉ. बागची ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन दि तन्त्राज' (37-40) मे इस मत की समीक्षा की है और योग्यतापूर्वक प्रतिपादन किया है कि उड्डियान वस्तुतः स्वात उपत्यका मे ही है और वह जालन्धरपीठ के कहीं आस-पास ही है। जितनी भी परम्पराओं का ऊपर उल्लेख है वे सभी जालन्धरनाथ का जन्म-स्थान पंजाब की ओर ही निर्देश करती हैं। यह असम्भव नहीं कि जालन्धरनाथ का सम्बन्ध उड्डियान और जालन्धर दोनों बन्धों से हो। हमारे इस प्रकार अनुमान का कारण यह है कि उड्डियान में सचमुच ही ज्वालेन्द्र नामक राजा का उल्लेख मिलता है जो आगे चलकर बड़े सिद्ध हुए थे। तारानाथ (पृ. 325) ने उड्डियान देश के दो भाग बताये है, एक का नाम सम्भल है और दूसरे का लंकापुरी। अनेक चीनी और तिब्बती ग्रन्थों मे इस लंकापुरी की चर्चा आती है।[1] सम्भलपुरी के राजा इन्द्रभूति थे और लंकापुरी के जालेन्द्र। इन्हीं जालेन्द्र के पुत्र से इन्द्रभूति की बहन की शादी हुई थी। शबरतन्त्र का सम्बन्ध सम्भलपुरी से बताया जाता है। अब इतना निश्चित है कि (1) उड्डियान और जालन्धरपीठ पास-ही-पास है। (2) उड्डियान मे ही कहीं लंकापुरी है जहाँ कोई जालेन्द्र नामक राजा थे[2], जो सुप्रसिद्ध साधक इन्द्रभूति के बहनोई थे[3] और (3) हठयोग के ग्रन्थों मे 'उड्डियानबन्ध' और 'जालन्धरबन्ध' नाम के जो बन्ध है उनका सम्बन्ध इनमे से किसी एक से या अनेक से होना असम्भव नहीं है। यह कहना बड़ा कठिन है कि जालेन्द्र राजा ही जालन्धर हैं या नहीं।

पौराणिक विश्वास के अनुसार इस जालन्धरपीठ मे सती के मृत शरीर का—जिसे लेकर शिव उन्मत्तभाव से ताण्डव करने लगे थे—स्तनभाग पतित हुआ था। यह पीठ त्रिगर्त्त प्रदेश मे है जो पंजाब के एक अंश का पुराना नाम है। विश्वास किया जाता है कि यहाँ मरने से कीट-पशु-पतंग सभी मुक्त हो जाते हैं। कहते हैं कि जालन्धर दैत्य का वध करने के कारण शिव पापग्रस्त हो गये थे और जब इस पीठ मे आकर उन्होंने तारा देवी की उपासना की, तब जाकर उनका पाप दूर हुआ। यहाँ की अधिष्ठात्री देवी त्रि-शक्ति अर्थात् त्रिपुरा, काली और तारा हैं। परन्तु

1. स्ट. तं, पृ. 39
2. राहुलजी ने इन्द्रभूति को लंकापुरी का राजा लिखा है ('गंगा', पुरा, पृ. 222) और उनकी बहन लक्ष्मीकरा को सम्भलनगर की योगिनी कहा है (पृ. 224)।
3. उड्डियान और जालन्धरपीठ के लिए देखिए - सिनो इण्डियन स्टडीज, जिल्द 1, भाग 1 मे डॉ पी. सी. बागची का 'वज्रगर्भतन्त्र राज सूत्रः ए न्यू वर्क ऑव लिंग इन्दुबोध—स्टडी ऐण्ड ट्रान्सलेशन'।

स्तनाधिष्ठात्री श्री व्रजेश्वरी ही मुख्य मानी जाती हैं। इन्हें विद्याराज्ञी भी कहते हैं। स्तनपीठ में विद्याराज्ञी के चक्र तथा आद्या त्रिपुरा की पिण्डी की स्थापना है।[1]

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि जालन्धरपीठ किसी जमाने में वज्रयानी साधना का प्रधान केन्द्र था। उसका कोई-न-कोई चिह्न वहाँ होना चाहिए। इन दिनों वह विशुद्ध हिन्दू तीर्थ है। यहाँ अम्बिका, जालपा, ज्वालामुखी, अन्नपूर्णा, चामुण्डा, तारिणी, अष्टभुजा आदि अनेक देवियाँ तथा केदारनाथ, वैद्यनाथ, सिद्धनाथ, महाकाल आदि अनेक शिवस्थान तथा व्यास, मनु, जमदग्नि, परशुराम आदि मुनियों के आश्रम हैं। कौन कह सकता है कि ये अनेक वज्रयानी साधकों के ब्राह्मणीकृत रूप नहीं हैं? यह लक्ष्य करने की बात है कि यद्यपि इस पीठ की प्रधान अधिष्ठात्री शक्ति त्रिशक्ति है तथापि मुख्य स्तनपीठ की अधिष्ठात्री देवी का नाम व्रजेश्वरी है।[2] यह व्रजेश्वरी 'वज्रेश्वरी' का ब्राह्मणीकृत रूप तो नहीं है? विषय अनुसन्धेय है। जो हो, जालन्धरपीठ के प्राचीन और महत्त्वपूर्ण होने में कोई सन्देह नहीं है। परन्तु वे परम्पराएँ इतनी विकृत हो गयी हैं कि उन पर से किसी ऐतिहासिक तथ्य को खोज निकालना दुष्कर ही है।

जालन्धरनाथ-विषयक जितनी भी परम्पराएँ उपलब्ध हैं, उनमें इन्द्रभूति की प्रसिद्ध भगिनी लक्ष्मीकरा के साथ उनके किसी प्रकार के सम्बन्ध का कोई इशारा भी नहीं है। लक्ष्मीकरा कोई साधारण स्त्री नहीं थीं, उन्हें वज्रयानी परम्परा में बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। वे चौरासी सिद्धों में एक हैं और 'आचार्यो', 'भगवती', 'लक्ष्मी', 'राजकुमारी', 'भट्टारिका', 'महाचार्यश्री' आदि अत्यन्त गौरवपूर्ण विशेषणों से विशिष्ट करके उन्हें याद किया जाता है। तिब्बती अनुवादों में उनके कई ग्रन्थ सुरक्षित हैं—'प्रतीलोद्योतन', 'विषयपद पंजिका', 'अद्वयसिद्धि साधन नाम', 'व्यक्त भाव सिद्धि', 'सहज सिद्धि पद्धति नाम', 'चित्त-कल्प परिहार', 'दृष्टिनाम' और 'वज्रयानचतुर्दशमूलापत्तिवृत्ति'। इस प्रकार की प्रसिद्ध और गौरवास्पद महिला से यदि जालन्धरनाथ का कोई भी रिश्ता होता तो दन्तकथाओं में उसका कोई-न-कोई उल्लेख अवश्य मिलता। इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने से हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि जालेन्द्र, ज्वालेन्द्र और जालन्धर नामों के उच्चारणसाम्य के कारण इनको आपस में बुरी तरह से उलझा दिया गया है। परन्तु यह बात फिर भी जोर दे करके ही कही जा सकती है कि जालन्धरनाथ का सम्बन्ध जालन्धरपीठ से भी था और उड्डियानपीठ से भी।

लक्ष्य करने की बात है कि जालन्धरनाथ के प्रसिद्ध शिष्य कानफा या कृष्णपाद ने अपने गुरु का नाम 'जालन्धरिपा' कहा है। राहुलजी ने उनका मगही हिन्दी

1. 'कल्याण', शक्ति अंक में श्री तारानन्दजी तीर्थ के एक लेख के आधार पर। दे. पृ. 675
2. यह बात प्रथम संस्करण में लिखी गयी थी। उनके प्रकाशन के बाद मुझे 'जालन्धर माहात्म्य' नामक हस्तलिखित पुस्तक उपलब्ध हुई। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि इसमें देवी का नाम वज्रेश्वरी ही है।

में लिखित जो पद उद्धृत किया है उसमें उनका नाम 'जालन्धरि' लिखा है और आज भी जालन्धरनाथ का सम्प्रदाय 'जालन्धरिपा' कहलाता है। 'जालन्धरिपा' या 'जालन्धरिपाद' शब्द सूचित करता है कि ये जालन्धर से सम्बद्ध अवश्य थे। चाहे जन्म से हों, चाहे सिद्धि प्राप्त करने से। वर्तमान अवस्था मे इससे अधिक कुछ कह सकना सम्भव नही है।

जालन्धरनाथ के शिष्य थे कृष्णपाद जिन्हें कण्हपा, कान्हूपा, कानपा, कानफा आदि नामों से लोग याद करते है। श्री राहुलजी ने तिब्बती परम्परा के आधार पर इन्हें कर्णाटदेशीय ब्राह्मण माना है, पर डॉ भट्टाचार्य ने इन्हें जुलाहा जाति में उत्पन्न और उड़ियाभाषी लिखा है।[1] शरीर का रंग काला होने से इन्हें 'कृष्णपाद' कहा गया है। महाराज देवपाल (809-849 ई) के समय मे यह एक पण्डित-भिक्षु थे और कितने ही दिनो तक सोमपुरी विहार (पहाड़पुर, जिला राजशाही, बंगाल) मे रहा करते थे। आगे चलकर सिद्ध जालन्धरपाद के शिष्य हो गये। चौरासी सिद्धों मे कवित्व और विद्या दोनो दृष्टियो से ये सबसे श्रेष्ठ थे। इनके सात शिष्य चौरासी सिद्धो मे गिने जाते है जिनमे नखला और मेखला नाम की दो योगिनियाँ भी है।[2] इनके बारे मे महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि इनकी लिखी 57 पुस्तकें प्राप्त हुई है और 12 संकीर्तन के [illegible] गये हैं। तनजूर में इन्हे पन्द्रह स्थान पर भारतवासी कहा गया है; [illegible] स्थान पर एक उडीसादेशीय ब्राह्मण कृष्णपाद का नाम है [illegible] नही बल्कि तर्जुमा करनेवाले है। असल मे कई कृष्णपाद या [illegible] है। इनका कही महाचार्य, कही महासिद्धाचार्य, कहीं [illegible] कहकर सम्मानपूर्वक नाम लिया गया है।[3] [illegible] में दर्शन पर छः और तन्त्र पर इनके चौहत्तर ग्रन्थ [illegible] है।[4] [illegible] शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार पर 'बोधिचर्या[illegible] लिखी थी। इनकी भाषा पर से श्री [illegible], हरप्रसाद शास्त्री बंगलाभाषी[6] और [illegible] है। राहुलजी ने निम्नांकित ग्रन्थों को [illegible] है: (1) '[illegible]पाद गीतिका', (2) 'महा[illegible]', (3) '[illegible]', (4) '[illegible]' (5) 'वज्र गीति' और (6) '[illegible]' [illegible] संस्कृत टीका सहित छपा है [illegible]।

1 'साधनमाला', [illegible]
2 'गंगा', पुरातत्वांक, [illegible]
3. बौ. गा. दो., [illegible]
4. 'गंगा', पृ. 254
5. 'साधन[illegible]
6 बौ. [illegible]
7. '[illegible]

आगे इन्हीं दोहों और उसकी संस्कृत टीका के आधार पर 'कान्हूपाद' या 'कृष्णपाद'[1] के सिद्धान्तों का विवेचन किया जायेगा। 'साधनमाला' में कुरुकुल्ला देवी की साधना के प्रवर्त्तकों में इन्हें भी माना गया है।[2]

जालन्धरपाद और कृष्णपाद का कापालिक मत

हमने ऊपर देखा है कि कान्हूपा या कानपा (कृष्णपाद) ने स्वयं अपने को कापालिक कहा है और अपने को जालन्धरपाद का शिष्य बताया है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में शैव कापालिकों का वर्णन मिलता है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेख योग्य वर्णन नहीं मिलता। भवभूति के 'मालती-माधव' नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध भिक्षुणी श्रीपर्वत पर कापालिक साधना सीखने गयी थी। 'मालती-माधव' से जान पड़ता है कि यह कापालिक साधना शैवमत की थी। श्रीपर्वत उन दिनों का प्रसिद्ध तान्त्रिक पीठ था। वज्रयान का उत्पत्ति-स्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों श्रीपर्वत पर शैव, बौद्ध और शक्ति साधनाएँ पास-ही-पास फल-फूल रही थीं। बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में श्रीपर्वत को शाक्त तन्त्र का साधनपीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालन्धरपाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह सभी वज्रयानियों की मध्यस्थता में प्राप्त हुआ है। यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालन्धर और कानपा, दोनों को अपनाया है। इसीलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप में यह साहित्य हमें मिलता है वही उसका मूल रूप है या नहीं। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य में जिस मत का आभास मिलता है, वह निस्सन्देह नाथमार्ग का पुरोवर्त्ती होने योग्य है। यहाँ यह बात उल्लेख योग्य है कि कानिपा सम्प्रदाय को अब भी पूर्ण रूप से गोरखनाथी सम्प्रदाय में नहीं माना जाता और उनका प्रवर्त्तित कहा जानेवाला एक उपसम्प्रदाय

1. 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में इन्हीं का नाम करणिपानाथ बताया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार ब्रह्माजी जब सरस्वती को देखकर मुग्ध हुए तो अपना स्खलित रेतस् उन्होंने गंगा में छोड़ दिया जो किसी हाथी के कान में प्रवेश कर गया। उसी से हरिद्वार के पास कर्ण या करणिपानाथ प्रादुर्भूत हुए (पृ. 93)।
2. 'साधनमाला', प्रस्तावना, पृ. 10-11

वामारग (=वाममार्ग) आज भी जीवित है।

विद्वानों का अनुमान है कि यक्षों की पूजा इस देश के उत्तरी हिस्से में बहुत पूर्व से प्रचलित थी। यक्ष, अप्सरा, गन्धर्व आदि एक ही श्रेणी के देवयोनि माने गये हैं। इन्हीं यक्षों को वज्रधर समझा जाता था। श्री रमाप्रसादचन्द ने (ज. डि. ले., जिल्द 4) दिखाया है कि बुद्ध-पूर्व युग में यक्षों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था। हमने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में दिखाया है कि वरुण, कुबेर और कामदेव वस्तुतः यक्ष देवता हैं। नाना मूर्तियों और उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर विद्वानों ने सिद्ध किया है कि धीरे-धीरे कुछ यक्ष देवता बौद्ध सम्प्रदाय के मान्य हो गये।[1] 'उपासकदशा सूत्र' में मणिभद्र चैत्य की चर्चा है और 'संयुक्त निकाय' में मणिभद्र यक्ष का उल्लेख है। आगे चलकर मणिभद्र को बुद्ध का शिष्य बताया गया है। एक और यक्ष वज्रपाणि भी बुद्ध का शिष्य होता है और आगे चलकर बोधिसत्त्व का महत्त्वपूर्ण पद पा जाता है। यही 'बोधिचर्यावतार की टीका' (बिब्लि इंडि, पृ 6) में वज्री अर्थात् वज्रपाणिबोधसत्त्व कहा गया है। श्री एन जी. मजूमदार ने दिखाया है कि यही वज्रपाणिबोधिसत्त्व आगे चलकर उत्तरी भारत के बौद्ध धर्म के महान् उपास्य हो जाते हैं। एशियाटिक सोसायटी में 'कृष्णयमारितन्त्र' (नं 99-64) की पाण्डुलिपि में वज्रपाणि को 'सर्वतथागताधिपति' कहकर स्मरण किया गया है और 'अष्ट साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता' के सत्रहवें अध्याय में (पृ. 333) इन्हें 'महायक्ष' कहा गया है। 'तथागत गुह्यक' में इन्हें 'गुह्यकाधिपति' कहा गया है।[2] इस प्रकार वज्रयानी ग्रन्थों में यद्यपि वज्रपाणि महान् देवता हो गये हैं तथापि उनके यक्ष रूप को भुलाया नहीं गया है। पुराने यक्ष सम्प्रदाय का क्या रूप था यह स्पष्ट नहीं है। पर इतना निश्चित है कि यक्ष लोग विलासी हुआ करते थे। अप्सराएँ और कामदेव इनके देवता हैं और सुरापान भी इनमें प्रचलित था। वरुण तो वारुणी या मदिरा के देवता ही हैं। इनके विलास का एक भीतिजनक रूप 'यक्ष्मा' शब्द से प्रकट होता है। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म में इस सम्प्रदाय के प्रवेश करने के बाद से वह तान्त्रिक रहस्यमयी साधना प्रचलित हुई जिसमें स्त्री-संग और मदिरा की पूरी छूट थी। 'ललितविस्तर' में यक्षकुल को स्पष्ट रूप से वज्रपाणि का उत्पत्तिस्थल कहा गया है (यक्षकुलम् यत्र वज्रपाणेरुत्पत्ति)। किस प्रकार यह साधना धीरे-धीरे शैवमत को प्रभावित करने में समर्थ हुई, यह बात साधना साहित्य के इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझा सकेगी। इतना स्पष्ट है कि वज्रयान के कई देवता शिव के समान हैं।

'चर्याचर्यविनिश्चय' की टीका में दारिकपाद का एक श्लोक उद्धृत है जिसका अर्थ और पाठ दोनों ही बहुत स्पष्ट नहीं है। इससे 'कापालिक' शब्द की मूल व्युत्पत्ति का आभास मिल जाता है। प्राणी वज्रधर है, जगत् की स्त्रियाँ कपालवनिता हैं

1. एन. जी. मजुमदार, ज. डि. ले., जिल्द 11, 1924 ई.

2. वही

(अर्थात् 'कपालिनी' है) और साधक हेरुक भगवान् की मूर्त्ति है जो उससे अभिन्न है।[1] ऐसा जान पड़ता है कि स्त्रीजन साध्य होने के कारण ही यह साधना कापालिक कही गयी है। 'साधनमाला' के 469वें पृष्ठ पर हेरुक की साधना का उल्लेख है जो बहुत-कुछ नटराज शिव से मिलता है।[2] हिन्दू शास्त्रों के अनुसार हेरुक शिव के एक गण का नाम है।

'मालती-माधव' मे इन कापालिकों का जो प्रसंग है वह इतना पर्याप्त नहीं है कि उस पर से कुछ विस्तृत रूप से इनके विषय में जाना जा सके। दातड़ीपाद या दाओड़ीपाद बौद्ध वज्रयानी साधक थे। उनके श्लोक से इतना तो स्पष्ट ही होता है कि कापालिक साधना मे स्त्री की सहायता आवश्यक थी। आधुनिक नाथमार्ग मे वज्रोली नामक जो मुद्रा पायी जाती है, उसमे भी स्त्री का होना परम आवश्यक माना गया है। 'मालती-माधव' का कापालिक अघोरघण्ट अपनी शिष्या कपालकुण्डला के साथ योगसाधन करता था। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि क्या शैव और क्या बौद्ध, दोनों कापालिक साधनाओं मे स्त्री की सहायता आवश्यक थी। नीचे हम दोनों प्रकार की साधनाओं का साधारण परिचय देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

'मालती-माधव' मे कुछ थोड़े-से श्लोक है जिन पर से इस मत का एक साधारण परिचय मिल जाता है। पंचम अंक के आरम्भ में ही कपालकुण्डला शिव की स्तुति करती पायी जाती है। इस श्लोक[3] का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है : "छ-अधिक-दस नाडी-चक्र के मध्य मे स्थित है आत्मा जिसकी, जो हृदय मे विनिहित-रूप है, जो सिद्धिद है उसे पहचाननेवालों का, अविचल चित्तवाले साधक जिसे खोजा करते हैं, उन शक्तियों से परिणद्ध शक्तिनाथ की जय हो।" इस श्लोक की ठीक-ठीक व्याख्या क्या है, वह टीकाकार जगद्धर को भी नही मालूम था। उन्होंने प्राय: प्रत्येक पद की व्याख्या मे दो-तीन सम्भावित अर्थ बताये है। 'शक्तियों से परिणद्ध' इस शब्दसमूह की व्याख्या के प्रसंग मे उन्होंने बताया है कि इसके दो अर्थ

1. हरप्रसाद शास्त्री का पाठ इस प्रकार है :

"प्राणी वज्रधरः कपाल-वनितातुल्यो जगत् स्त्रीजन
सोऽहं हेरुक मूर्तिरेव भगवान् यो न. प्रभिन्नोऽपिच।" इत्यादि।

डॉ. प्रबोधचंद्र बागची महाशय ने मुझे बताया है कि तिब्बती अनुवाद के साथ मिलाने पर उन्हें मालूम हुआ है कि 'न: प्रभिन्नोऽपि च' के स्थान पर "न प्रभिन्नोऽपि च' पाठ होना चाहिए। 'चर्याचर्यविनिश्चय' मे कई स्थान पर (पृ. 22, 23) इस आचार्य का नाम 'दातडीपाद' दिया हुआ है पर डा. बागची महाशय ने मुझे बताया है कि वस्तुत: यह 'दाओड़ीपाद' होना चाहिए।

2. साधनाओं मे त्रिनयन हेरुक का ध्यान भी दिया हुआ है। एक उल्लेख्य बात यह है कि हेरुक कानों मे कुंडल धारण किये हुए बताये गये हैं (साधन. 244) और 245वी साधना मे इस कुंडल को 'नरास्थि' अर्थात् मनुष्य की हड्डियों से बना हुआ कहा गया है (दे. पृ. 475)।

3. षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा हृदिविनिहितरूप. सिद्धिदस्तद्विदा य.।
अविचलितमनोभि: साधकैर्मृग्यमाण स जयति परिणद्ध शक्तिभि: शक्तिनाथ:॥

सम्भव हैं। ब्राह्मी-माहेश्वरी-कौमारी-वैष्णवी-वाराही-माहेन्द्री-चामुण्डा-चण्डिका, ये आठ शक्तियाँ हैं; इनसे शिव को वेष्टित कहा गया है क्योंकि वे भैरवमूर्ति हैं। या फिर इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न (क्रिया)-रूप शक्तियों से युक्त शक्तिनाथ शिव। इन दोनों अर्थों के लिए जगद्धर ने कोई प्रमाण-वचन नहीं उद्धृत किये। इससे अनुमान होता है कि सामान्य तान्त्रिक विश्वासों के आधार पर ही यह व्याख्या की गयी है, किसी कापालिक ग्रन्थ के आधार पर नहीं। परन्तु *यह लक्ष्य करने की बात है कि भवभूति ने 'शक्तिनाथ' शब्द का प्रयोग किया* है जो कापालिकों में प्रचलित नाथ शब्द से उनके परिचय का सबूत है। और यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि वे शैव कापालिकों से अच्छी तरह परिचय रखकर ही अपना नाटक लिख रहे थे। 'षडधिकदश' या 'छ -अधिक-दस' नाड़ीचक्र भी टीकाकार के लिए वैसी ही समस्या रही है। इस शब्द के उन्होंने तीन अर्थ किये हैं। प्रथम और प्रधान अर्थ यह है कि कान-नाभि हृदय-कण्ठ-तालु और भ्रू के मध्य-वर्ती छः ऐसे स्थान हैं जहाँ अनेक नाड़ियों का संघट्ट या सम्मिलन है। ये संघट-स्थान हृदय आदि में अधिष्ठित प्राण-विशेष के चलन-योग से बने हुए चक्रों की भाँति हैं और इन स्थानों पर शिव और शक्ति का मिलन होता है। सब मिलाकर 101 नाड़ियाँ ऊपर-नीचे और दायें-बायें छितरायी हुई हैं। उनमें अधिक प्रधान दस हैं : इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अरुणा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी।[1] इनके समूह में हृदय-पद्म के बीच सूक्ष्म आकाश देश में—जो प्राणादि का आधार है—शिवस्वरूप कूटस्थ आत्मा स्थित है। यद्यपि यह सिर से लेकर पैर तक समस्त स्थानों को *व्याप्त करके विराजमान है तथापि इसका मुख्य* हृदय-पंकज ही है।[2] दूसरा अर्थ यह है 'सोलह नाड़ियों के चक्र में स्थित है आत्मा जिसकी। टीकाकार ने सोलह नाड़ियों का न[3] तो कोई ग्रन्थान्तरलभ्य प्रमाण ही दिया है और न नाम ही बताये है। केवल 'सर्व शिवमयं मतम्' कहकर इस प्रसंग को समाप्त कर दिया है। तीसरा अर्थ है छ-अधिक-दस नाड़ी चक्र। परन्तु इस श्लोक से इतना स्पष्ट प्रतिपन्न होता है कि (1) भवभूति का जाना हुआ कापालिक मत परवर्ती नाथपन्थियों के समान नाड़ियों और चक्रों में विश्वास करता था, (2) शिव और जीव की अभिन्नता में आस्था रखता था, (3) योग द्वारा चित्त के चाञ्चल्य को रोकने से ही कैवल्य रूप में अवस्थित शिवरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है, ऐसा मानता था, और (4) शक्तियुक्त शिव की प्रभविष्णुता में ही विश्वास रखता था।

1. गि. गि. सं. 63-65 से तुलनीय।
2. आशिखस्वरणं देहं यद्यपि व्याप्य तिष्ठति।
   तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजमुदाहृतम्॥
3. कापालिक सिद्ध कृष्णपद (कानिपा) के पदों की टीका में नाड़ियों की संख्या बत्तीस बतायी गयी है (बौ. गा. दो., पृ. 21) और कहा गया है कि इनमें अवधूतिका प्रधान है।

इसके बादवाले श्लोक से[1] पता चलता है कि कपालकुण्डला ने जो साधना की थी, उसमे नाड़ियों के उदयक्रम से पंचामृत का आकर्षण किया था और इसके फल-स्वरूप अनायास ही आकाशमार्ग से विचरण कर सकती थी। टीकाकार ने 'पंचामृत' शब्द के भी अनेक अर्थ किये है। प्रथम अर्थ है : क्षिति-अप् आदि पाँच तत्त्व। दूसरा अर्थ है : बिन्दुस्थान से कुण्डलिनी के स्रावण से झरता हुआ रस-विशेष या फिर रसना के नीचे स्थित रन्ध्र से झरनेवाला रस-विशेष। व्यापक होने से उसे 'पंच' संख्या से सूचित किया गया है (!)। तीसरा अर्थ है : जगत् के शरीर के पाँच अमृत जो शिवशक्त्यात्मक हैं। ये है रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। लेकिन 'पंचामृत' का जो असली अर्थ है उसे टीकाकार ने दिया ही नही। ये पंच अमृत शरीरस्थित पाँच द्रवरस हैं : शुक्र, शोणित, मेद, मज्जा और मूत्र। इनको आकर्षण करके ऊपर उठाने की क्रिया से शरीर को वज्रवत् बनाया जा सकता है, अणिमादिक सिद्धियाँ पायी जा सकती है। वज्रयानी साधकों में तथा कौलमार्गी तान्त्रिकों में भी यह विधि है। नाथमार्ग में जो वज्रोली साधना है उसे इस साधना का भग्नावशेष समझना चाहिए।

ऐसा जान पड़ता है कि अन्यान्य तान्त्रिकों की भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परमशिव ज्ञेय है, उपास्य है उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके 'देवीभागवत' मे कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान (अर्थात् निष्क्रिय) हैं— 'शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः' और इसी भाव को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने 'सौन्दर्यलहरी' में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हों तब ही कुछ करने मे समर्थ है नही तो वे हिल भी नहीं सकते :

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

तान्त्रिक लोगों का मत है कि परमशिव के न रूप है न गुण, और इसीलिए उनका स्वरूप-लक्षण नही बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ है वे उससे भिन्न हैं और केवल 'नेति नेति' अर्थात् 'यह भी नही, वह भी नहीं' ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर-शिव) केवल जाने जा सकते है; उपासना के विषय नही हैं। शिव केवल ज्ञेय हैं। उपास्य तो शक्ति है। इस शक्ति की उपासना के बहाने भवभूति ने कापालिकों के मुख से शक्ति के क्रीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है।[2] शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन

1. नित्यं न्यस्तषडङ्गचक्रनिहितं हृत्पद्ममध्योदितम्।
पश्यन्ती शिवरूपिणं लयवशादात्मानमभ्यागता॥
नाडीनामुदयक्रमेण जगतः पञ्चामृताकर्षणात्।
अप्राप्तोत्पतनश्रमा विघटयन्त्यग्रे नभोऽम्भोमुचः॥

2. मावष्टम्भनिशुम्भसंभ्रमनमद्भूगोलनिष्पीडन—
न्यञ्चत्कर्परकूर्मकम्पविगलद्ब्रह्माण्डखण्डस्थिति।

करने के कारण यह अनुमान असंगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परमशिव को निष्क्रिय-निरंजन होने के कारण केवल ज्ञानमात्र का विषय (ज्ञेय) समझते है।

वस्तुतः दसवीं शताब्दी के आसपास लिखी हुई एक-दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातो को पुष्ट ही करता है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक में सोमसिद्धान्त नामक कापालिक का वर्णन है। वह मनुष्य की अस्थियों की माला धारण किये था, श्मशान मे वास करता था और नरकपाल मे भोजन किया करता था। योगाजन से शुद्ध दृष्टि से वह कापालिक जगत् को परस्पर-भिन्न देखते हुए भी ईश्वर (=शिव) से अभिन्न देखा करता था।[1] 'प्रबोधचन्द्रोदय की चन्द्रिका' नामक व्याख्या मे 'सोम-सिद्धान्त' नाम का अर्थ समझाया गया है। सोम का अर्थ है उमा-सहित (शिव)। जो व्यक्ति विश्वास करता है कि शिव जिस प्रकार नित्य उमा-सहित कैलास में विहार करते हैं उसी प्रकार कान्ता के साथ विहार करना ही परम मुक्ति है, वही सोम-सिद्धान्ती है। स्त्री के साथ विहार करने के सिवा इन लोगों के मत में अन्य कोई सुख है ही नहीं। सदाशिव जब प्रसन्न होते है तो ऐसे सुख को दुःख अभिभूत नहीं करता अतएव वह नित्यसुख कहा जाता है।[2] 'प्रबोधचन्द्रोदय' से यह भी पता चलता है कि ये लोग चर्बी, आँत आदि सहित मनुष्य के मांस की आहुति देते थे, नरकपाल के पात्र में सुरा-पान करते थे, ताजे मानव-रक्त के उपहार से महाभैरव की पूजा किया करते थे[3] और सदा कपालिनी (=कपाल-वनिता) के साथ रहा करते थे। मदिरा को ये लोग 'पशुपाश-समुच्छेद कारणं' अर्थात् जीव के भवबन्धन को काटनेवाला समझते थे।

इसी प्रकार राजशेखर कवि की लिखी हुई 'कर्पूरमंजरी' मे भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है। ये अपने को 'कुलमार्ग लग्न' या कौल सिद्ध कहते थे। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कापालिक को भी 'कुलाचार्य' कहकर सम्बोधन किया गया है। 'कर्पूर मंजरी' के कापालिक ने बताया है कि कुलमार्ग के साधक को न मन्त्र की

→ पातालप्रतिमल्लगल्लविवरप्रक्षिप्तसप्तार्णवं
वन्दे नन्दितनीलकण्ठपरिषद् व्यक्तर्द्धि वः क्रीड़ितम् ॥5। 22

1. नरास्थिमालाकृतचारुभूषण
स्मशानवासी नृकपालभूषण.।
पश्यामि योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा
जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात्। 3। 12

2. तत्र स्त्री-सम्भोगादि व्यतिरेकेण सुखान्तरं नास्ति। सदा शिवप्रसादमहिम्ना तादृशसुखस्य दुःखानभिभूतत्वान्नित्यसुखत्वम्। इति सोम-सिद्धान्तरहस्यम्।

3. मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतिर्जुह्वता
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यः कृत्तकठोरकण्ठ विगलत् कीलालधारोज्ज्वलै—
रर्च्यो नः पुरुषोपहार बलिभिर्देवो महाभैरवः।

जरूरत है, न तन्त्र की, न ज्ञान की; न ध्यान की यहाँ तक कि गुरुप्रसाद की भी जरूरत नहीं है। वे मद्यपान करते हैं। स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाटककार ने इनके मत को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणों को हमें उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिकों के सम्बन्ध में जनसाधारण की जैसी धारणा थी, उसी का चित्र इन नाटकों में मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव साधक समझे गये हैं। इसी प्रकार पुष्पदन्त विरचित 'महापुराण' में अनेक स्थलों पर कापालिकों और कौलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हें शैव-योगी माना गया है और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है।

जालन्धरपाद का कहा जानेवाला एक अपभ्रंश पद राहुलजी को नेपाल में मिला है। यद्यपि इसकी भाषा बिल्कुल बिगड़ी हुई है, तथापि इस पद से उनके मत के विषय में एक धारणा बनायी जा सकती है। यद्यपि जालन्धरपाद अक्षय-निरंजन-निरालम्ब शून्य को नमस्कार कर रहे हैं और यह लग सकता है कि वे बौद्ध लोगों की भाँति एक अनिर्वचनीय 'शून्य' को अपना उपास्य मानते हैं, तथापि इस अस्पष्ट पद से भी यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि वे सरहपाद के 'महासुख' नामक 'सत्' आनन्द को ही चरम प्राप्तव्य मानते हैं। एक ऐसा समय गया है जब सहजयानी और वज्रयानी साधक शून्य को निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक या धनात्मक रूप में समझने लगे थे। इसी भाव के बताने के लिए वे 'सुखराज' या 'महासुख' शब्द का व्यवहार करते थे। ये साधक चार प्रकार के आनन्द मानते थे; प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। अन्तिम और श्रेष्ठ आनन्द सहजानन्द है। यही सुखराज है, यही महासुख है, इसे किसी शब्द से नहीं समझाया जा सकता। यह अनुभवैकगम्य है। इसमें इन्द्रिय-बोध लुप्त हो जाता है, आत्मभाव या अस्मिता विलुप्त हो जाती है, 'केवल' रूप में अवस्थिति होती है। सरहपाद ने इसी भाव को बताने के लिए कहा है:

1. मन्तो ण तन्तो ण अकिं पि जाणे
झाणं चणो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्ज पियामो महिलं रमामो
मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा
मज्जं मस पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा
कोलो धम्मो कस्स णो भोदि रम्मो॥
मुत्ति भणन्ति हरिब्रह्ममुहादि देवा
झाणेण वेअपढणेण कदुक्किआए।
एक्केण केवलमुमादइएण दिट्ठो
मोक्खो समं सुर अकेलि सुरारसेहिं॥
—'कर्पूरमंजरी', 1।22-24

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ
णट्ठिउ अप्प सहावा।
सो हले सहजन तनु फुड़
पुच्छहि गुरु पावा।

इतना वे लोग भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्धदेव ने इस शब्द का कभी प्रयोग नहीं किया और इस भाव की प्रज्ञप्ति के लिए कुछ भी नहीं कहा। परन्तु साथ ही, वे बुद्धदेव के मौन को अपने पक्ष की पुष्टि में ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुखराज के विषय में जो मौन रह गये, वह इसलिए कि यह वाणी से परे था—'जय हो इस कारणरहित सुखराज की जो जगत् के नाशमान चंचल पदार्थों में एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध को भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था!'

जयति सुखराज एष कारणरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥
—नडपाद की 'से कोद्देश की टीका' में सरहपाद का वचन (पृ. 63)

सो, यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है, क्योंकि इसका न आदि है न अन्त है, न मध्य है, न इसमें अपने का ज्ञान रहता है न पराये का। न यह जन्म है न मोक्ष; न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराज को सरहपाद ने इस प्रकार कहा है:

आइण अन्तण मज्झ णउ,
णउ भव णउ णिब्बाण।
एहु सो परम महासुह,
णउ पर णउ अप्पाण॥—ज. डि. ले, पृ. 13

हमने पहले ही देखा है कि जालन्धरपाद ने सरहपाद के ग्रन्थ पर एक टिप्पणी लिखी थी, इसलिए उनके ऊपर सरहपाद के विचारों का प्रभाव होना बिल्कुल स्वाभाविक है। राहुलजी ने नेपाल के बौद्धों में प्रचलित 'चर्यागीति' नामक पुस्तक से जो पद संग्रह किया है, वह स्पष्ट रूप से सरहपाद के बताये हुए उक्त मत का समर्थन करता है। वे चतुरानन्द (चार प्रकार के आनन्द) की बात कहकर बताते हैं कि परमानन्द और विरमानन्द के बीच ही जो आनन्द (=सहजानन्द) आच्छन्न नहीं हो जाता, जो सब के ऊर्ध्व में और सबके अतीत है वह 'महासुख' है। जालन्धरपाद ने उस महासुख को अनुभव किया था:

आनंद परमानंद विरमा, चतुरानंद जे संभवा।
परमा विरमा माझे न छादिरे महासुख सुगत संप्रदप्रापिता॥
—'गंगा', पुरातत्त्वांक, पृ. 253

यह महासुख शैव तान्त्रिकों के सहजानन्द के बहुत नजदीक है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि जालन्धरपाद को परवर्ती साहित्य में शैव सिद्ध मान लिया गया है।

वर्त्तमान अवस्था में उनके मत के विषय में इससे कुछ अधिक कह सकना सम्भव नहीं है, परन्तु उनके शिष्य कृष्णपाद के मत के विषय में कुछ अधिक कह सकना सम्भव है। उनके कई पद और दोहे प्राप्त हुए हैं और उन पर संस्कृत टीका भी उपलब्ध हुई है। संक्षेप में, आगे उनके मत का सार संकलन किया जा रहा है। यहाँ इतना कह रखना उचित है कि म. म. पं. गोपीनाथ कविराज ने 'सिद्धान्त वाक्य' से गोपीचन्द्र और जालन्धरनाथ का जो संवाद उद्धृत किया है,[1] वह बहुत परवर्त्ती जान पड़ता है। वस्तुतः वह अपभ्रंश से या पुरानी हिन्दी से संस्कृत में रूपान्तरित जान पड़ता है। हम आगे 'गोरख बोध' के प्रसंग में उस पर विचार करेंगे।

कान्हूपाद या कृष्णपाद (कानिपा) के दोहों का एक संग्रह 'दोहा कोष' नाम से श्री हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया है। उस पर 'मेखला'[2] नामक संस्कृत टीका भी मिली है। इनको फिर से तिब्बती अनुवाद से मिलाकर डॉ. बागची ने सम्पादन किया है। इन दोहों के अतिरिक्त 'चर्याचर्यविनिश्चय' में संस्कृत टीका के साथ उनके कई पद भी छपे हैं। इन्हीं सबके आधार पर नीचे का संकलन प्रकाशित किया जा रहा है।

कृष्णपाद मानते थे कि इस शरीर में ही चरम प्राप्तव्य की प्राप्ति होती है। शरीर का जो मेरुदण्ड है वही कंकाल-दण्ड कहा जाता है, इसे ही मेरु पर्वत कहते हैं; क्योंकि 'श्रीसम्पुटतन्त्र' में कहा गया है कि पैरों के तलवे में भैरवरूप धनुपाकार वायु का स्थान है, कटिदेश में त्रिकोण उद्धरण है जिसके तीन दलों पर वर्तुलाकार वरुण का वास है और हृदय में पृथ्वी है, जो चतुरस्र भाव से सब ओर व्याप्त है। इसी प्रकार कंकालदण्ड के रूप में गिरिराज सुमेरु स्थित है।[3] इसी गिरिराज के कन्दर कुहर में नैरात्म धातु जगत् उत्पन्न होता है। इसी गिरिकुहर में स्थित पद्म में यदि बोधिचित्त पतित होता है तो कालाग्नि का प्रवेश होता है और सिद्धि में बाधा पड़ती है।[4] क्योंकि 'शुक्र सिद्धि' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट ही लिखा है कि यदि सर्वसिद्धि का निधान बोधिचित्त (=शुक्र, नाथपन्थियों का बिन्दु) नीचे की ओर पतित हो

1. स. भ. स्ट., जिल्द 6, पृ. 27
2. कृष्णपाद की एक शिष्या का नाम भी मेखला था। यह अनुमान किया जा सकता है कि टीका उन्हीं की लिखी हो। मेखला वज्रयान-सम्प्रदाय में बहुत गौरव का पात्र मानी जाती हैं, वे चौरासी सिद्धों में एक हैं। 'वर्णरत्नाकर' में मेखला नाम से जिस नाथ सिद्ध का उल्लेख है, वे यही हैं।
3. स्थितः पाद तले वायुर्भैरवोधनुराकृतिः।
   स्थितोऽस्ति कटिदेशे तु त्रिकोणोद्धरणन्तथा॥
   वर्तुलाकाररूपो हि वरुणस्त्रिदले स्थितः॥
   हृदये पृथिवी चैव चतुरस्रा समन्तत।
   कंकालदंडरूपो हि सुमेरुर्गिरिराट् तथा॥
4. वर गिरि कन्दर कुहिर जगु तहि सअल चित्तरथइ।
   विमल मलिन सोमजाइ कालागि पइट्टइ॥ 14॥—बौ. गा. दो., पृ. 127

और स्कन्धविज्ञान मूर्च्छित हो जाय तो उत्तम सिद्धि कहाँ से प्राप्त हो सकती है ?[1]

यहाँ यह समझ रखने की जरूरत है कि समस्त बौद्ध वज्रयानी और सहजयानी साधक मानते हैं कि दो प्रकार के सत्य होते हैं : लोकसंवृति-सत्य अर्थात् लौकिक सत्य और पारमार्थिक सत्य अर्थात् वास्तविक सत्य। लोक मे बोधिचित्त का अर्थ स्थूल शारीरिक शुक्र है जब कि पारमार्थिक सत्य मे वह ज्ञातृरूप चित्त है। इसी प्रकार पद्म और वज्र के सावृत्तिक अर्थ स्त्री और पुरुष के जननेन्द्रिय है, परन्तु पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक अर्थ आध्यात्मिक है जो आगे स्पष्ट होगे। कृष्णाचार्यपाद के एक पद की टीका मे टीकाकार ने बताया है कि जो लोग गुरु सम्प्रदाय के अन्दर नही है, वे लोग सावृत्तिक (व्यावहारिक) अर्थ लेकर शरीररूप कमल के मूलभूतबोधिचित्त को 'शुक्र' समझते है।[2] कृष्णाचार्यपाद ने इस वृत्ति को मार डालने का संकल्प प्रकट किया था। स्कन्धविज्ञान के मूर्च्छित होने का क्या अर्थ है, यह समझना जरूरी है। इसीलिए इसके विकास पर एक सरसरी निगाह दौड़ाकर हम आगे बढ़ेंगे।

किस प्रकार यह तान्त्रिक प्रवृत्ति बौद्ध मार्ग में प्रविष्ट हुई थी, इसका इतिहास बहुत मनोरंजक है। इस विषय मे भदन्त शान्तिभिक्षु ने 'विश्वभारती पत्रिका' में एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। अनुसन्धित्सु पाठकों को वह लेख (वि. भा. प., खण्ड 4, अंक 1) पढ़ना चाहिए। यहाँ प्रकृत विषय से सम्बद्ध कुछ तथ्यो का संकलन किया जा रहा है, इससे परवर्त्ती प्रसंग स्पष्ट होगा। जो साधक साधनामार्ग में अग्रसर होने की इच्छा रखता है उसके लिए चित्त को वश में करना परम आवश्यक है। इस चित्त में यदि कामनाओ के उपभोग न करने का कारण-क्षोभ हुआ तो साधना मिट्टी मे मिल जायेगी। यही सोचकर अनंगवज्र ने कहा था कि इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए जिससे चित्त क्षुभित न हो। यदि चित्तरत्न संक्षुब्ध हो गया तो कभी सिद्धि नही मिल सकती।[3] फिर यह विक्षोभ दमन कैसे किया जाय ? वासनाएँ दबाने से मरती नही अपितु और भी अन्तस्तल में जाकर छिप जाती है। अवसर पाते ही वे उद्बुद्ध हो जाती हैं और साधक को दबोच लेती हैं। इसीलिए उनको दबाना ठीक नही। उचित पन्थ यह है कि समस्त कामनाओं का उपभोग किया जाय तभी शीघ्र चित्त का संक्षोभ दूर होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी।[4] इस प्रकार कामोपभोग का साधना-क्षेत्र में प्रवेश हुआ। इस साधना की पृष्ठभूमि में शून्यवाद

1 पतिते बोधिचित्ते तु सर्वसिद्धि निधान के।
मूर्छिते स्कंधविज्ञाने कुतः सिद्धिरनिन्दिता ॥

2. गुरुसम्प्रदायविहीनस्य सैव डोम्बिनी अपरिशुद्धाऽवधूतिका सरोवरं कायपुष्करं तन्मूल तदेव बोधिचित्तं संवृत्या शुक्ररूपं मारयामि ॥—बौ. गा. दो., पृ. 21

3 तथा तथा प्रवर्त्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ॥

4 दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति ॥

था। शून्यता और समस्त अभावों से मुक्त निःस्वभावता ही साधक का चरम लक्ष्य है। कामनाओं के उपभोग के लिए स्त्री की आवश्यकता है, इसीलिए वज्रयान में पाँच बुद्धों और अनेक बोधिसत्त्वों की शक्ति-कल्पना की गयी है। सिद्धिप्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है, इसलिए जो बुद्ध सिद्ध हो गये हैं, उनके भी गुरु हैं। यह गुरु शून्यता ही है। जैसे गुड़ का धर्म माधुर्य है, और अग्नि का धर्म उष्णता है, उसी प्रकार समस्त धर्मों का धर्म—समस्त स्वभावों का स्वभाव शून्यता है।[1] शून्यता का मूर्त रूप ही वज्रसत्व है। वज्रसत्व, वज्रधर, वज्रपाणि, तथागत इसी शून्य के नाम है, यही वज्रधर समस्त बुद्धों के गुरु हैं।

बौद्ध दर्शन में समस्त पदार्थों को पाँच स्कन्धों में विभक्त किया गया है—रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध और विज्ञान-स्कन्ध। इस शरीर में भी ये ही पाँच तत्त्व हैं और पाँचों बुद्ध—वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघ-सिद्धि और अक्षोभ्य—इन्हीं पाँच स्कन्धों के विग्रह है। इन बुद्धों की पाँच शक्तियाँ है, और नाना भाँति के चिह्न, रंग, वर्ण, कुल आदि हैं। इस प्रकार समस्त बुद्धों की आश्रयभूमि जिस प्रकार समस्त विश्वब्रह्माण्ड है, उसी प्रकार यह शरीर भी है। इसीलिए शरीर की साधना परम आवश्यक है। काया-साधना से शून्यतारूप परम प्राप्तव्य प्राप्त किया जा सकता है। समस्त बुद्धों और उनकी शक्तियों की आवास-भूमि यह शरीर है। नीचे [अगले पृष्ठ पर] भदन्त शान्ति भिक्षु के लेख से एक कोष्ठक उद्धृत किया जा रहा है जिससे बुद्ध, उनकी शक्तियाँ, रंग, रूप, चिह्न और कुल आदि का परिचय हो जायेगा। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह साधना नाथ-साधना का या तो पूर्वरूप है, या उससे अत्यधिक सम्बद्ध है।

अब इस मानवशरीर का प्रधान आधार उसकी रीढ़ या मेरुदण्ड है। सो इस मेरुदण्ड के भीतर तीन नाड़ियों से होता हुआ प्राणवायु सचरित होता है। बायीं नासिका से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करने-वाली नाड़ियाँ चलती है (नाथपन्थियों की इड़ा-पिंगला से तुलनीय), जिनमें पहली प्रज्ञा-चन्द्र है और दूसरी उपाय-सूर्य। प्रज्ञा और उपाय नाथपन्थियों की इच्छा और क्रिया-शक्ति की समशील है। मध्यवर्त्ती नाड़ी अवधूती है जो नाथपन्थियों की सुषुम्ना की समशीला है। इस नाड़ी से जब प्राणवायु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नहीं रहता, इसीलिए अवधूती नाड़ी को ग्राह्यग्राहक-वर्जिता कहा जाता है।[2] मेरुगिरि के शिखर पर महासुख का आवास है, जहाँ एक चौंसठ दलों का कमल है। यह कमल चार मृणालों पर स्थित है, प्रत्येक मृणाल के चार क्रम है और प्रत्येक क्रम के चार-चार दल है—इस प्रकार यह $(4 \times 4 \times 4)$

1. गुडे मधुरता चाग्ने रुष्णत्वं प्रकृतिर्यथा।
शून्यता सर्व धर्मणां तथा प्रकृतिरिष्यते॥

2. 'हेवज्र' में सरोरुहपाद ने कहा है :
ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसंस्थिता।
अवधूती मध्यदेशेतु ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥

पंच स्कन्ध	पंच तथा-गत या ध्यानी बुद्ध	रंग	वर्ण	चिह्न	पांच कुल	शक्तियाँ	शक्तियों के दूसरे नाम	तत्त्व	रंग (तत्त्वों के)	चिह्न
रूप	वैरोचन	शुक्ल	कवर्ग	शुक्ल चक्र	मोह	मोहरति	लोचना	पृथ्वी	शुक्ल	चक्र
वेदना	रत्न-सम्भव	पीत	टवर्ग	रत्न	ईर्ष्या	ईर्ष्यारति	तारा	वायु	श्याम	नील कमल
संज्ञा	अमिताभ	रक्त	तवर्ग	पद्म	राग	रागरति	पाण्डुर वासिनी	तेज	रक्त	पद्म
संस्कार	अमोघ सिद्धि	श्याम	पवर्ग	वज्र	वज्र	वज्ररति	—	—	—	
विज्ञान	अक्षोभ्य	कृष्ण	यवर्ग	कृष्ण वज्र	द्वेष	द्वेषरति	मामकी	जल	कृष्ण	कृष्ण वज्र
शून्यता	वज्रसत्त्व	शुक्ल	अन्तः-स्थ	वज्र-घण्टा			प्रज्ञापार-मिता			

चौसठ दलो का कमल (पद्म) है, जहां वज्रधर (योगी) इस पद्म का आनन्द उसी प्रकार लेता है जिस प्रकार भ्रमर प्रफुल्ल कुसुम का।[1] इन चार मृणालों के दलो को शून्य, अतिशून्य, महाशून्य, और सर्वशून्य नाम दिया गया है। जो सर्वशून्य का आवास है उसी का नाम उष्णीषकमल है, यही डाकिनी जालात्मक जालन्धरगिरि नामक महामेरुगिरि का शिखर है, यही महासुख का आवास है।[2] इसी गिरिशिखर पर पहुँचने पर योगी स्वयं वज्रधर कहा जाता है, यहीं वह सहजानन्द रूप महासुख को अनुभव करता है।[3]

ऊपर जो चार प्रकार के आनन्द बताये गये है उनमे प्रथम आनन्द कायात्मक है अर्थात् शारीरिक आनन्द है, दूसरे और तीसरे आनन्द वाचात्मक और मानसात्मक हैं। अन्तिम आनन्द ज्ञानात्मक है और इसीलिए सहजानन्द कहा जाता है। इसी आनन्द में महासुख की अनुभूति होती है।

1. ललना रसना रविशशि तुड़िआ वेनवि पासे।
   चउपत्तर चउक्कम चउमृणाल ठिअ महासुहवासे ॥ 5 ॥
   एवं काल वीअलइ कुसुमिअ अरविन्दए।
   महुअरुए सुरअवीर जिघइ मअरन्दए ॥ 6 ॥ —बौ. गा. दो., पृ. 124
2. शून्यातिशून्य महाशून्यसर्वशून्यमिति चतुः शून्य स्वरूपेण पद्मचतुष्टयं चतुरादि स्वरूपेण चतुर्मृणालसंस्थिता। पुनेराह। महासुख कमलमिति महासुखवासे उष्णीषकमल इस सर्वशून्यालयो डाकिनी जालात्मकं जालधराभिधान मेरुगिरिशिखरमित्यर्थं —वही।
3. एहु सो गिरिवर कहिअ मरिएहु सो महासुह पाव।
   एत्थु रे निसग्ग सहज धणुन हइ महासुह जाव ॥ 26 ॥—गो. प., पृ. 15

यह लक्ष्य करने की बात है कि इस समय भी नाथमार्ग में विशेष-विशेष चक्रों के नाम जालन्धर और उड्डियानपीठ है। परन्तु गोरक्षनाथ के मत में जालन्धरपीठ-वाला चक्र अन्तिम चक्र नहीं है। आधुनिक नाथपन्थियों के षट्चक्रों में जो पाँचवाँ विशुद्ध चक्र है वह सोलह दलों का माना गया है। इसकी स्फटिक वर्ण की कर्णिका में वर्तुलाकार आकाशमण्डल है जिसमें निष्कलंक पूर्ण चन्द्रमा है। इसी के पार्श्व में शाकिनी-सहित सदाशिव हैं। यह जालन्धरपीठ कहलाता है। छठा आज्ञाचक्र है। इसके दो दल है और कर्णिका में हाकिनी-सहित शिव हैं। इसी को उड्डियान भी कहते है। कृष्णपाद ने डाकिनी-युगलात्मक जालन्धरपीठ की बात कही है। इन दिनों तान्त्रिकों और नाथमार्गियों के विश्वासानुसार डाकिनी से अध्युषित चक्र मूलाधार है, जो बिलकुल प्रथम चक्र है।[1] इस प्रकार परवर्ती विश्वास कृष्णाचार्य-पाद के सिद्धान्तों को और भी आगे बढ़ाकर बनाया हुआ जान पड़ता है। उन दिनों बौद्ध साधक भी शिव को उपास्य मानते थे, इसका प्रमाण भी पुराने ग्रन्थों से मिल सकता है।[2]

अवधूती नाड़ी डोम्बिनी या डोमिन है और चंचल चित्त ही ब्राह्मण है। डोमिन से छू जाने के भय से यह अभागा ब्राह्मण भागा-भागा फिरता है। विषयों का जंजाल मानो एक नगर है और अवधूतीरूपी डोमिन इस नगर से बाहर रहती है। जब कृष्णपाद ने गाया है कि 'हे डोमिन, तुम्हारी कुटिया नगर के बाहर है, छुआ-छूत से ब्राह्मण भागा फिरता है', तो उनका तात्पर्य उसी अवधूती वृत्ति से है। वे कहते है कि 'डोमिन, तुम चाहे नगर के बाहर ही रहो, पर निर्घृण कापालिक कान्ह (कानपा) तुम्हें छोड़ेगा नहीं, यह तुम्हारे साथ ही संग करेगा।' जब वे कहते हैं कि चौंसठ पखड़ियों के दल पर डोमिन नाच रही है[3], तो उनका मतलब उसी महामेरु-

1. वसेदत्र देवीच डाकिन्यभिख्या
 लसद्वाहुवेदोज्ज्वल रक्तनेत्रा।
 उमानोदितानेक सूर्यप्रकाशा
 प्रकाश वहन्ती सदाशुद्धबुद्धे. ॥ – 'षट्चक्र निरूपण'-7

2 'मालती-माधव' की बौद्धसाधिका सौदामिनी आकाशपथ से विचरण करती जब उस स्थान पर आती है, जहाँ मधुमती और सिन्धु नदी के संगम पर भगवान् भवानीपति का 'अपौरुषेय-प्रतिष्ठ' विग्रह सुवर्णविन्दु है, तो भक्तिपूर्वक शिव को प्रणाम करती है :
 "अयच मधुमती सिंधु संभेदपावनो भगवान् भवानीपतिपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्णविंदुरित्याख्यायते। (प्रणम्य)
 जय देव भुवनभावन जय भगवन्नखिलवरद-निगमनिधे।
 जय रुचिरचन्द्रशेखर जय मदनान्तक जयादिगुरो।"—मा. मा., 9 । 4

3. नगरे बाहिरें डोम्बि तोहारि कुड़िआ।
 छोइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िया॥
 आलो डोम्बि तोए सँग करिबे म साँग।
 निघिन कान्ह कापालि जोइ लाग॥
 एक सो पदमा चौषट्ठी पाखुड़ी।
 तहिं चड़ि नाचअ डोम्बि बापुड़ी॥—पद 10, चर्या. पृ. 9

गिरि के जालन्धर नामक शिखर पर स्थित उष्णीष कमल से है। इसी प्रकार जब वह कहते है कि 'मन्त्र-तन्त्र करना बेकार है, केवल अपनी घरनी को लेकर मौज करो,' तो[1] उनका मतलब इसी अवधूती के साथ विहार करने का होता है।

एक बार प्राण-वायु का निरोध करके योगी यदि इस मेरुशिखर पर वास कर सका तो निस्तरंग सरोवर की भाँति उसकी वृत्तियों के रुद्ध हो जाने से वह सहज-स्वरूप को प्राप्त होता है। सहजरूप अर्थात् पाप और पुण्य—विराग और राग—दोनों से रहित, दोनों के अतीत। श्रीमद् आदिबुद्ध ने कहा भी है कि विराग से बढ़कर पाप नहीं है, और राग से बढकर पुण्य नहीं[2], सो कृष्णपाद ने परमतत्त्व का साक्षात्कार करके यह सत्य वचन कहा है :

नितरंग सम सहजरुअ सअल करुप विरहिते।
पाप पुण्य रहिए, कुच्छ नाहि फुल कान्हु कहिए ॥10॥

यह साधना नाथ-मार्गियों की साधना से बहुत कुछ मिलती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि नाथ-सिद्ध भी इसी भावाभावविनिर्मुक्तावस्था को अपनी साधना का चरम लक्ष्य मानते हैं।

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ)

विक्रम संवत् की दसवी शताब्दी मे भारतवर्ष के महान् गुरु गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष मे दूसरा नही हुआ। भारतवर्ष के कोने-कोने मे उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नही है जिसमें गोरक्षनाथ सम्बन्धी कहानियाँ न पायी जाती हों। इन कहानियों में परस्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है, परन्तु फिर भी इनसे एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है—गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे। उन्होने जिस धातु को छुआ

1. एक्क न किज्जइ मंत न तत
णिअ घरणी लेइ केलि करन्त।
णिअ घर घरंणी जवण मज्जइ
ताव कि पन्चवण्ण विहरिज्जइ ॥ 28 ॥—बौ. गा. दो, पृ. 131
2. विरागान्नपर पापं न पुण्य सुखतः परम्।
अतोऽक्षर सुखे चित्तं निवेशय तु सदा नृप ॥

वही सोना हो गया। दुर्भाग्यवश इस महान् धर्मगुरु के विषय में ऐतिहासिक कही जाने लायक बातें बहुत कम रह गयी हैं। दन्तकथाएँ केवल उनके और उनके द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग के महत्त्व-प्रचार के अतिरिक्त कोई विशेष प्रकाश नहीं देतीं।

उनके जन्मस्थान का कोई निश्चित पता नहीं चलता। परम्पराएँ अनेक प्रकार के अनुमान को उत्तेजना देती है और इसीलिए भिन्न-भिन्न अन्वेषकों ने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों को उनका जन्मस्थान मान लिया है। 'योगिसम्प्रदाया-विष्कृति' में उन्हें गोदावरी तीर के किसी चन्द्रगिरि में उत्पन्न बताया गया है।[1] नेपाल दरबार लाइब्रेरी में एक परवर्ती काल का 'गोरक्ष सहस्रनामस्तोत्र' छोटा-सा ग्रन्थ है। उसमें एक श्लोक इस आशय का है कि दक्षिण दिशा में कोई वड़व नामक देश है वहीं महामन्त्र के प्रसाद से महाबुद्धिशाली गोरक्षनाथ प्रादुर्भूत हुए थे।[2] सम्भवतः इस श्लोक में उसी परम्परा की ओर इशारा है जो 'योगिसम्प्रदाया-विष्कृति' में पायी जाती है। श्लोक में का वड़व शायद, गोदावरी तीर के प्रदेश का वाचक हो सकता है। क्रुक्स ने[3] एक परम्परा का उल्लेख किया है, जिसे ग्रियर्सन ने भी उद्धृत किया है।[4] उसमें कहा गया है कि गोरक्षनाथ सत्ययुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में, द्वापर में द्वारका के भी आगे हुरमुज में और कलि-काल में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे। बंगाल में यह विश्वास किया जाता है कि गोरक्षनाथ उसी प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। नेपाली परम्पराओं से अनुमान होता है कि वे पंजाब से चलकर नेपाल गये थे। गोरखपुर के महन्त ने ब्रिग्स साहब को बताया था कि गुरु गोरखनाथ टिला (झेलम-पंजाब) से गोरखपुर आये थे।[5] नासिक के योगियों का विश्वास है कि वे पहले नेपाल से पंजाब आये थे और बाद में नासिक की ओर गये थे। टिला का प्राधान्य देखकर ब्रिग्स ने अनुमान किया है कि वे सम्भवतः पंजाब के निवासी रहे होंगे।[6] कच्छ में प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ गये थे। ग्रियर्सन ने इन्हें गोरखनाथ का सतीर्थ कहा है,[7] परन्तु वस्तुतः धरमनाथ बहुत परवर्ती हैं। ग्रियर्सन ने अन्दाज लगाया है कि गोरक्षनाथ सम्भवतः पश्चिमी हिमालय के रहनेवाले थे। इन्होंने नेपाल को आर्य अवलोकितेश्वर के प्रभाव से निकालकर शैव बनाया था। ब्रिग्स का अनुमान है कि गोरक्षनाथ पहले वज्रयानी साधक थे, बाद में शैव हुए थे। हमने मत्स्येन्द्रनाथ के

1 यो. स. आ., पृ 23

2. अस्ति याम्या (? पश्चिमाया) दिशि कश्चिद्देश वड़व संज्ञक।
तत्राजनि महाबुद्धिर्महामन्त्र प्रसादतः।

—कौ. ज्ञा. नि., भूमिका, पृ. 64

3 ट्रा. का., पृ. 153-4

4. इ रे. ए., पृ 328

5. यो. सं. आ. (अध्याय 48) से इसी मत का समर्थन होता है।

6. ब्रिग्स, पृ 229

7. इ. रे. ए., पृ 328

प्रसंग में इस मत की और एतत्सम्बन्धी तिब्बती परम्परा की जाँच की है। तिब्बती परम्पराएँ बहुत परवर्ती हैं और विकृत रूप में उपलब्ध है, उनको बहुत अधिक निर्भरयोग्य समझना भूल है। मेरा अनुमान है कि गोरक्षनाथ निश्चित रूप से ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण वातावरण में बड़े हुए थे। उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी शायद ही कभी बौद्ध साधक रहे हों। मेरे अनुमान का कारण गोरक्षनाथी साधना का मूल सुर है, जिसकी चर्चा हम इसी प्रसंग में आगे करने जा रहे हैं।

गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत ग्रन्थ चलते है, जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई सन्देहास्पद हैं। सब मिलाकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें नाना-भाव से परिवर्तित, परिवर्द्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमे कुछ-न-कुछ गोरक्षनाथ की वाणी रह जरूर गयी है, पर सभी-की-सभी प्रामाणिक नही हैं। इन पुस्तकों पर से कई विद्वानों ने गोरखनाथ का स्थान और कालनिर्णय करने का प्रयत्न किया था, वे सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए है। कबीरदास के साथ गोरखनाथ की बातचीत हुई थी, और उस बातचीत का विवरण बतानेवाली पुस्तक उपलब्ध है। इस पर से एक बार ग्रियर्सन तक ने अनुमान किया था कि गोरखनाथ चौदहवीं शताब्दी के व्यक्ति थे। गुरु नानक के साथ भी उनकी बातचीत का विवरण मिल जाता है। और, और तो और, सत्रहवी शताब्दी के जैन दिगम्बर सन्त बनारसीदास के साथ शास्त्रार्थ होने का प्रसंग भी मैंने सुना है। टेसिटरी ने बनारसीदास जैन की एक पुस्तक में गोरखनाथ (?) के वचन का भी उल्लेख किया है।[1] इन बातचीतों का ऐतिहासिक मूल्य बहुत कम है। ज्यादा-से-ज्यादा इनकी व्याख्या साम्प्रदायिक महत्त्व प्रतिपादन के रूप में ही की जा सकती है। या फिर आध्यात्मिक रूप में इसकी व्याख्या यों की जा सकती है कि परवर्ती सन्त ने ध्यानबल से पूर्ववर्ती सन्त के उपदिष्ट मार्ग से अपने अनुभवों की तुलना की है। परन्तु उन पर से गोरखनाथ का समय निकालना निष्फल प्रयास है। कबीरदास के साथ तो मुहम्मद साहब की बातचीत का ब्यौरा भी उपलभ्य है, तो क्या इस पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि कबीरदास और हज़रत मुहम्मद समकालीन थे? वस्तुतः गोरक्षनाथ को दसवीं शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता। मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसंग में हमने इसका निर्णय कर लिया है।

गोरक्षनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि गोरक्षनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुधाविसम्त कायायोग के साधनों को व्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की, उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना

1. इ. रे. ए., 11वीं जिल्द, पृ. 834

के पारिभाषिक शब्दो के सावृत्तिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत और सम्पूर्ण ब्राह्मणविरोधी साधनमार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़िविरोधी रूप तो ज्यों-का त्यों बना रहा परन्तु उसकी अशिक्षा-जन्य भ्रमादपूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गयी। उन्होंने लोकभाषा को भी अपने उपदेशो का माध्यम बनाया। यद्यपि उपलब्ध सामग्री से यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि उनके नाम पर चलनेवाली लोकभाषा की पुस्तको मे कौन-सी प्रामाणिक है और उनकी भाषा का विशुद्ध रूप क्या है, तथापि इसमे सन्देह नही कि उन्होंने अपने उपदेश लोकभाषा मे प्रचारित किये थे। कभी-कभी इन पुस्तको की भाषा पर से भी उनके काल का निर्णय करने का प्रयास किया गया है। स्पष्ट है कि यह प्रयास भी निष्फल है।

गोरक्षनाथ की लिखी हुई कही जानेवाली निम्नांकित संस्कृत पुस्तकें मिलती है। इनमे से कई को मैंने स्वयं नही देखा है, भिन्न-भिन्न ग्रन्थसूचियो और आलोचनात्मक अध्ययनो से संग्रह-भर कर लिया है। जिनको देखा है, उनका एक संक्षिप्त विवरण भी दे दिया है। अनदेखी पुस्तको के नाम जिस मूल से प्राप्त हुए हैं, उनका उल्लेख कोष्ठक मे पुस्तक के सामने कर दिया गया है।

1. **अमनस्क**—एक प्रति बड़ौदा लाइब्रेरी में है। गो सि. सं मे बहुत-से वचन उद्धृत है।

2. **अमरौघशासनम्**—श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीसिद्ध गोरक्षनाथ विरचितम्। यह पुस्तक कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि (ग्रन्थांक 20) मे प्रकाशित हुई है। महामहोपाध्याय प मुकुन्दराम शास्त्री ने इसका सम्पादन किया है। यद्यपि यह पुस्तक 1918 ई में ही छप गयी थी, परन्तु आश्चर्य यह है कि गोरक्षनाथी साहित्य का अध्ययन करनेवालो ने इसकी कोई चर्चा नही की है। यह पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमे गोरक्षनाथ के सिद्धान्त का सूत्ररूप मे संकलन है। यह पुस्तक हठयोग की साधना और शैवागमो मे सम्बन्ध जोड़ती है। आगे इसके प्रतिपादित सिद्धान्तो का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

3. **अवधूतगीता**—गो सि स (पृ 75) मे गोरक्षकृता कही गयी है।

4. **गोरक्षकल्प**—(फर्कुहर, ब्रिग्स)

5. **गोरक्षकौमुदी**—(फर्कुहर, ब्रिग्स)।

6. **गोरक्षगीता**—(फर्कुहर)।

7. **गोरक्षचिकित्सा**—(आफ्रेष्ट)।

8. **गोरक्षपंचय**—(ब्रिग्स)।

9. **गोरक्षपद्धति**—दो सौ संस्कृत श्लोको का संग्रह। बम्बई से महीधर शर्मा की हिन्दी टीका समेत छपी है। इसका प्रथम शतक 'गोरक्षशतक' नाम से कई बार छप चुका है। इसी का नाम 'गोरक्षज्ञान' भी है। दूसरे शतक का नाम योगशास्त्र भी बनाया गया है।

10. **गोरक्षशतक**—उपर्युक्त न 7 का प्रथम शतक। इसकी एक प्रति पूना से

छपी मिली है। व्रिग्स ने अपनी पुस्तक में इसको रोमन अक्षरों में छापा है और उसका अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है। उनके मत से यह पुस्तक गोरक्षनाथ की सच्ची रचना जान पड़ती है। डॉ. प्रवोधचन्द्र वागची ने 'कौलावलिनिर्णय' की भूमिका में नेपाल दरवार लाइब्रेरी के एक हस्तलिखित ग्रन्थ का व्यौरा दिया है। नेपालवाली पुस्तक छपी हुई पुस्तकों से भिन्न नही है।

इस पर दो टीकाएँ हुई हैं। एक शंकर पण्डित की और दूसरी मथुरानाथ शुक्ल की। दूसरी टीका का नाम टिप्पण है (व्रिग्स)। इसी पुस्तक के दो और नाम भी प्रचलित हैं: (1) 'ज्ञानप्रकाश' और (2) 'ज्ञानप्रकाश शतक' (आफ़ेक्ट)।

11. गोरक्षशास्त्र—(दे. नं. 9)

12. गोरक्षसंहिता—प्रायः सभी सूचियों में इस पुस्तक का नाम आता है। पं. प्रसन्नकुमार कविरत्न ने इस पुस्तक को सं. 1897 मे छपवाया था, परन्तु अब यह पुस्तक खोजे नही मिलती। डॉ. वागची ने 'कौलावलिनिर्णय' की भूमिका मे नेपाल दरवार लाइब्रेरी में पायी गयी प्रति मे से कुछ अंश उद्धृत किया है। पुस्तक के कितने ही श्लोक हू-ब-हू मत्स्येन्द्रनाथ के 'अकुलवीरतन्त्र' नामक ग्रन्थ से मिल जाते हैं और दोनों का प्रतिपादन भी एक ही है। इस प्रकार यह पुस्तक काफी महत्त्वपूर्ण है।

13. चतुरशीत्यासन—(आफ़ेक्ट)।

14. ज्ञानप्रकाशशतक—(दे. नं. 10)।

15. ज्ञानशतक—(दे. 10)।

16. ज्ञानामृतयोग—(आफ़ेक्ट)।

17. नाड़ीज्ञानप्रदीपिका—(आफ़ेक्ट)।

18. महार्थमंजरी—यह पुस्तक कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि (ग्रन्थांक 11) में छपी है। यह किसी महेश्वरानन्दनाथ की लिखी हुई है। कश्मीरी परम्परा के अनुसार ये गोरक्षनाथ ही हैं। पुस्तक म. म. पं. मुकुन्दराम शास्त्री ने सम्पादित की है। इस पर भी लिखा है: 'गोरक्षापर पर्याय श्रीमन्महेश्वरानन्दाचार्य विरचिता'। पुस्तक की भाषा कश्मीरी अपभ्रंश है, परन्तु ग्रन्थकार ने स्वयं परिमल नामक टीका लिखी है। विषय 36 तत्त्वों की व्याख्या है। नाना दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

19. योगचिन्तामणि—(आफ़ेक्ट)

20. योगमार्तण्ड—(„)

21. योगवीज—गो. सि. सं. में अनेक वचन उद्धृत हैं।

22. योगशास्त्र—(दे. नं. 7)

23. योगसिद्धासनपद्धति—(आफ़ेक्ट)

24. विवेकमार्तण्ड—इस पुस्तक के कुछ वचन 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में हैं। उसके श्लोक 'गोरक्षशतक' में पाये जाते है। इसलिए यद्यपि इसे रामेश्वर भट्ट का वताया गया है, तो भी आफ़ेक्ट के अनुसार इसे गोरक्षकृत ही मानना उचित जान पड़ता है।

25. श्रीनाथसूत्र—गो. सि. सं. मे कुछ वचन हैं।

26. सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति—ब्रिग्स ने नित्यानन्द-रचित कहा है, पर अन्य सबने गोरक्षनाथ-रचित बताया है। 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में भी इसे नित्यनाथ-विरचिता कहा गया है (पृ. 11)।

27. हठयोग—(आफ़ेक्ट)।

28. हठसंहिता—(„)।

इन पुस्तको मे अधिकाश के कर्त्ता स्वयं गोरखनाथ नही थे। साधारणतः उनके उपदेशो को नये-नये रूप मे वचनबद्ध किया गया है। परन्तु 1, 2, 9, 12 और 26 अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनमे भी 1 को मैंने देखा नही, केवल 'गोरक्ष-सिद्धान्त' में संगृहीत वचनो से उसका परिचय पा सका हूँ। 'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति' को सक्षिप्त करके काशी के बलभद्र पण्डित ने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी जिसका नाम है 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह'। इसमें तथा 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में 'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति' के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। इन सबके आधार पर गोरक्षनाथ के मत का प्रतिपा किया जा सकता है। इस विषय मे 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' बहुत ही उपयोगी पुस्त है।

इन पुस्तको के अतिरिक्त हिन्दी मे भी गोरक्षनाथ की कई पुस्तकें पायी जाती हैं। इनका सम्पादन बड़े परिश्रम और बड़ी योग्यता के साथ स्वर्गीय डॉ. पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने किया है। यह ग्रन्थ 'गोरखबानी' नाम से हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित हुआ है। दूसरा भाग अभी तक प्रकाशित नही हुआ और अत्यन्त दु:ख की बात है कि उसके प्रकाशित होने के पूर्व ही मेधावी ग्रन्थकार ने इहलोक त्याग दिया। डॉ. बड़थ्वाल की खोज से निम्नांकित चालीस पुस्तकों का पता चला है जिन्हें गोरखनाथ-रचित बताया जाता है :

1. सबदी
2. पद
3. सिष्या दरसन
4. प्राण संकली
5. नरवै बोध
6. आतमबोध (1)
7. अभैमात्रा जोग
8. पन्द्रहतिथि
9. सप्तवार
10. मछीन्द्र गोरख बोध
11. रोमावली
12. ग्यान तिलक
13. ग्यान चौंतीसा
14. पंचमात्रा
15. गोरख गणेश गोष्ठी
16. गोरखदत्त गोष्ठी (ग्यान दीपबोध)
17. महादेव गोरखगुष्टि
18. सिष्ट पुरान
19. दयाबोध
20. जाती भौंरावली (छन्द गोरख)
21. नवग्रह
22. नवरात्र
23. अष्ट पारछ्या
24. रहरास
25. ग्यानमाला
26. आत्माबोध (2)
27. व्रत
28. निरंजन पुराण

29. गोरखबचन	35. चौबीस सिधि
30. इन्द्री देवता	36. षडक्षरी
31. मूल गर्भावली	37. पंचअग्नि
32. खाणी वाणी	38. अष्टचक्र
33. गोरख सत	39. अवलि सिलूक
34. अष्टमुद्रा	40. काफिर बोध

डॉ. बड़थ्वाल ने अनेक प्रतियों की जाँच करके इनमे प्रथम चौदह को तो निस्सदिग्ध रूप से प्राचीन माना, क्योकि इनका उल्लेख प्र.य. सबमे मिला। 'ग्यान चौतीसा' समय पर न मिल सकने के कारण इस संग्रह मे प्रकाशित नही कराया जा सका, परन्तु बाकी तेरह गोरखनाथ की बानी समझकर पुस्तक मे सग्रहीत हुए हैं। 15 से 19 तक की प्रतियों को एक प्रति में सेवादास निरंजनी की रचना माना गया है। इसलिए सन्देहास्पद समझकर सम्पादक ने उन्हें परिशिष्ट 'क' में छापा है। बाकी में कुछ गोरखनाथ की स्तुति है। कुछ अन्य ग्रन्थकारों के नाम भी हैं। 'काफिर बोध' कबीरदास के नाम भी है, इसलिए डॉ बड़थ्वाल ने इस सग्रह मे उन्हें स्थान नही दिया। केवल परिशिष्ट 'ख' में 'रूप्तवार', 'नवग्रह', 'व्रत', 'पंचअग्नि' 'अष्टमुद्रा', 'चौबीस सिद्धि', 'बत्तीस लच्छन', 'अष्टचक्र', 'रहरसि' को स्थान दिया है। 'अवलि सिलूक' और 'काफिर बोध' रतननाथ के लिखे हुए है। डॉ. बड़थ्वाल इन प्रतियों की आलोचना करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे है कि 'सबदी' गोरख की सबसे प्रामाणिक रचना जान पड़ती है। परन्तु वह उतनी परिचित नही जितनी 'गोरख-बोध'।[1] 'गोरखबोध' की सबसे पहली छपी हुई एक खण्डित प्रति कार्माइकेल लाइब्रेरी, काशी मे है जो 1911 ई. में बांस का फाटक, बनारस मे छपी थी। बाद में इसे जयपुर पुस्तकालय से संग्रह करके डॉ. मोहनसिंह ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ अपनी पुस्तक मे प्रकाशित की है। डॉ. मोहनसिंह इस पुस्तक मे प्रतिपादित सिद्धान्तों को बहुत प्रामाणिक मानते हैं। परन्तु मत्स्येन्द्रनाथ के उपलब्ध ग्रन्थों के आलोक में डॉ. मोहनसिंह का मत बहुत ग्रहणीय नही लगता। डॉ. बड़थ्वाल ने इन पुस्तकों के रचयिता के बारे मे विशेष रूप से लिखने का वादा किया था, पर महाकाल ने उसे पूरा नही होने दिया। परन्तु अपने भावी मत का आभास उन्होने निम्नांकित शब्दों मे दे रखा है : "नाथ-परम्परा में इनके कर्त्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नही समझे जाते। मैं अधिक सम्भव समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की 11वीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमे भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान है, जिससे कहा जा सकता है कि सम्भवत. इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो।"[2]

1 'गोरखबानी', भूमिका पृ. 18-19
2 वही, पृ. 20

आगे इस उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम गोरक्षनाथ के उपदेशों का सार सकलन कर रहे है।[1]

पिण्ड और ब्रह्माण्ड

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान की आलोचना के प्रसंग मे शैव सिद्धान्त के छत्तीस तत्त्वो का एक साधारण परिचय दिया जा चुका है। प्रलयकाल में इन समस्त तत्त्वो को नि शेषभाव से आत्ममात् करके शक्ति परमशिव में तत्त्वरूपा होकर अवस्थान करती है। इसीलिए 'वामकेश्वरतन्त्र' मे भगवती शक्ति को 'कवली कृतनिःशेपतत्त्वग्रामस्वरूपिणी' कहा गया है (4/5)।

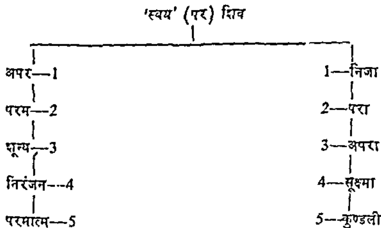
इस अवस्था मे शिव मे कार्य-कारण का कर्तृत्व नही होता, अर्थात् कार्य-कारण के चक्र के सचालन कर्म से विरत हो जाते हैं। वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते है और अव्यक्तावस्था मे विराजमान रहते है। इसीलिए इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वय' कहकर स्मरण करते है।[2]

इस परमशिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हे सगुण शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (= सिसृक्षा = सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था मे परमशिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते है —शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनो मे कोई भेद नही है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओ से गुजरती हुई स्फुरित होती है (1) परमशिव की अवस्था-मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्त्ती, और प्राय स्फुरित होने को उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था मे शिव अपने अव्यक्त रूप मे रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते

1 उपरिलिखित ग्रन्थो के अतिरिक्त शिवानन्द सरस्वती का 'योग चिन्तामणि', रामेश्वर भट्ट का 'विवेक मार्तण्ड योग', सुन्दरदेव की 'हठ सकेत चन्द्रिका,' स्वात्माराम की 'हठयोग प्रदीपिका' और उस पर रामानन्द तीर्थ की टीका और उमापति का टिप्पण, ब्रह्मानन्द की 'ज्योत्स्ना', चण्ड कापालिक की 'हठरत्नावली', शिव का 'हठयोग धीराय' और उस पर रामानन्द तीर्थ की टीका, वामदेव का 'हठयोग विवेक', सदानन्द का 'ज्ञानामृत' टिप्पणी, चण्डारभैरव का 'ज्ञान योग खण्ड', सुन्दरदेव की 'सकेत चन्द्रिका', 'घेरण्ड सहिता', 'शिव सहिता', 'निरजन पुराण' इत्यादि ग्रन्थ इस मार्ग के सिद्धान्त और साधनपद्धति के अध्ययन मे सहायक है।

2. कार्यकारणकर्तृत्व यदा नास्ति कुलाकुलम।
अव्यक्त परम तत्त्व स्वय नाम तदा भवेत॥ —सि. सि. स, 1.14

हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपर पद्म' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (2) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (3) स्पन्दित होती है, फिर (4) सूक्ष्म अहंता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (5) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती हैं।[1] इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।[2] इस प्रकार निखिलानन्दसन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्त्व परमात्मा या सगुण शिव के रूप में प्रकट होते हैं और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्त्व कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत होती हैं। यही कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्व-प्रपञ्च की उत्पत्ति, पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्मतम तत्त्व हैं। इनसे ही अत्यन्त सूक्ष्म 'पर पिण्ड' की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार निम्नोक्त सारणी से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जायेगा :



यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि वैदान्तिक लोग भी चित्स्वरूप ब्रह्म की शक्ति, जिसे वे लोग 'माया' कहते है, मानते हैं; पर यहाँ शक्ति की जो कल्पना है वह वैदान्तिक कल्पना से भिन्न है। यहाँ कुण्डली या शक्ति को 'चिच्छीला'[3] और

1. निजा परापरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥—सि. सि. स., 1। 13
2. ततोऽस्मितापूर्वमविमर्शं स्यादपरं परम्।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम् ॥
स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरंजनम्।
तस्मातत स्वसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम् ॥—वही, 1। 14-15
3. चिच्छीला कुण्डलिन्यत.—सि. सि. स., 1। 6

चिद्रूपिणी माना गया है। यह चिच्छक्ति अनन्तरूपा और अनन्तशक्तिस्वरूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत्रूप में परिणत होती है। इसी की सहायता से परमशिव सृष्टिव्यापार सँभालने मे समर्थ होते है और इसीलिए 'वामकेश्वरतन्त्र' मे स्वयं भगवान् शकर ने ही कहा है कि 'हे परमेश्वरि, इस शक्ति से रहित होने पर शिव कुछ भी करने मे असमर्थ हैं, इससे युक्त होकर ही वे कुछ करने मे समर्थ होते है।'[1]

इसके बाद कुण्डली अर्थात् समस्त विश्व में प्रव्याप्त शक्ति सृष्टिक्रम को अग्रसर करने के लिए क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। इन तीन तत्त्वों की चर्चा हम पहले ही कर चुके है जो इसके बाद क्रमशः स्फुरित होते है। ये हैं: सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या। सदाशिव अहंप्रधान है और ईश्वर इदंप्रधान, शुद्धविद्या उभयप्रधान।[2] सृष्टिव्यापार को अग्रसर करने के लिए इस प्रकार अहंता की प्राप्ति पांच अवस्थाओ के भीतर से होती है। इन अवस्थाओं को आनन्द कहते है। पांच आनन्द है, परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। इन्ही आनन्दो के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमशः 'जीव'-रूप की ओर अग्रसर होते हैं। 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' मे बताया गया है कि किस प्रकार पर-पिण्ड से आद्य-पिण्ड, उससे साकार-पिण्ड, उससे महासाकार-पिण्ड, उससे प्राकृत-पिण्ड और उसके भी अन्त मे गर्भ-पिण्ड उत्पन्न होता है।[3] ये क्रमशः स्थूल से स्थूलतर होते जाते है। अन्तिम पिण्ड से यह

1. परोहि शक्तिरहित शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
शक्तस्तु परेमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ॥4।6॥

2. (1) अहन्तेदन्तालक्षणयोर्ज्ञानक्रिययोराद्योद्रेकात् उन्मीलितचित्रन्यायेन व्यक्ताव्यक्तविश्वमातृतास्वभाव सदाशिवाख्यतत्त्वम्। एतद्वैपरीत्येण क्रिया शक्तयोज्ज्वल्ये व्यक्ताकारविश्वानुसधातृरूपम् ईश्वर तत्त्वम्।
—'महार्थ मजरी', पृ 44

(2) ज्ञातृत्वधर्मआत्मा ज्ञेयस्वभावश्च लोकव्यवहारः।
एकरसा सस्फूर्ति यत्र गतौ सा खलु विस्तुपा विद्या॥
—वही, पृ. 46

3. 'सिद्ध-सिद्धान्त सग्रह' में पच्चीस-पच्चीस तत्त्वो से इस प्रकार पिण्डोत्पत्ति का क्रम दिया हुआ है:

(1) अव्यक्त परमतत्त्व की पाँच शक्तियाँ हैं जिनमे प्रत्येक के पाँच गुण हैं:
1. निजा—निराक्रंतित्व, नित्यत्व, निरन्तरत्व, निष्पन्दत्व, निरत्थत्व।
2. परा—अस्तित्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व, अनन्तत्व, अव्यक्तत्व।
3 अपरा—स्फुरत्ता, स्फारता, स्फुरता, स्फोटता, स्फूर्ति।
4. सूक्ष्मा—नैरन्तर्य, वैरस्य नैश्चल्य, निश्चयत्व, निर्विकल्पत्व।
5. कुण्डली—पूर्णत्व, प्रतिबिम्बत्व, प्रकृतिमत्व, प्रत्यङ्मुख, औच्चल्य।

(1) परपिण्ड 25 तत्त्व

(2) क—पाँच पद और उनके गुण:
1. आर—अरनत्व, असशयत्व, अनुमतत्व, अनपारता, अमरत्व।
2 पर—निमग्न, अनीन, असध्येन, अदाय, अभिन्न।

स्थूलशरीर उत्पन्न हुआ है। 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' के प्रथमाध्याय की पुष्पिका में लिखा है कि यह छः प्रकार की पिण्डोत्पत्ति है। परन्तु वस्तुतः उसमें कई प्रकार की

→ 3 शून्य—लीनता, पूर्णता, मूर्च्छा, उन्मनी, लयता।
4. निरंजन—सत्त्व, सामरस्य, स्थिरत्व, सावधानता, सर्वगत्व।
5. परमात्मा—अक्षयत्व, अभेदत्व, अच्छेद्य, अदाह्य, अशोष्य। 25 तत्त्व

(2) आद्य पिण्ड

ख—पाँच आनन्द और उनके गुण :
1. परमानंद—उदय, उल्लास, अवभास, विकासन, प्रभा।
2. प्रबोध—निस्पंद, हर्ष, उन्माद, स्पन्द, नित्यसुख।
3. चिदुदय—सद्भाव, विचार, कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, स्वातन्त्र्य।
4. प्रकाश—निर्विकार, निष्कलत्व, सद्बोध, समता, विश्रान्ति।
5. सोऽहम्—अहंता, अखण्डैश्वर्य, स्वानुभूति, सामर्थ्य, सर्वज्ञता। 25 तत्त्व

(2) आद्य पिण्ड

(3) क—पंच महातत्त्व और उनके अंशभूत तत्त्व :
1. महाकाश—अवकाश, छिद्र, अस्पृश्यत्व, रव, नीलवर्ण।
2. महानिल—संचार, चलन, स्पर्श, शोषण, धूम्रता।
3. महातेज—दाहकत्व, पाचकत्व, उष्णत्व, रूपभासित्व, रक्तवर्ण।
4. महावारि—प्रवाह, आप्यायन, रस, द्रव, श्वेतवर्ण।
5. महापृथ्वी—स्थूलता, नानाकृतित्व, काठिन्य, गन्ध, पीतता। 25 तत्त्व

(3) साकार पिण्ड

ख—अष्टमूर्ति :
शिव-भैरव-श्रीकण्ठ-सदाशिव-ईश्वर-रुद्र-विष्णु-ब्रह्मा महासाकार पिण्ड।

(4) तत्त्वांग—
पृथ्वी के—अस्थि, त्वक्, मांस, लोम, नाड़ी।
जल के—लाला, मूत्र, असृक्, स्वेद, शुक्र।
अग्नि के—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, कान्ति।
वायु के—धावन, चलन, रोधन, प्रसारण, आकुंचन।
आकाश के—राग, द्वेष, भय, लज्जा, मोह। 25 तत्त्व

(4) प्राकृत पिण्ड

(5) क—अन्तःकरण के धर्म :
1. मन—संकल्प, विकल्प, जड़ता, मूर्च्छना, मनन।
2. बुद्धि—विवेक, वैराग्य, परा, प्रशान्ति, क्षमा।
3 अहंकार—मान, ममता, सुख, दुःख, मोह।
4. चित्त—मति, धृति, संस्मृति, उन्नति, स्वीकार।
5. चैतन्य—विमर्श, हर्ष, धैर्य, चिन्तन, निःस्पृहता। 25 तत्त्व

ख—कुल पंचक :
सत्त्व—दया, धर्म क्रिया, भक्ति, श्रद्धा।
रज—दान, भोग, शृंगार, स्वार्थ, स्पृहा। →

पिण्डोत्पत्ति दी हुई है। यह विचारणीय ही रह जाता है कि ये छः पिण्ड वस्तुतः क्या है। महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज ने 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' की भूमिका में लिखा है कि ये छः पिण्ड इस प्रकार हैं :

1. पर या आद्य-पिण्ड।
2. साकार-पिण्ड।
3. महासाकार-पिण्ड।
4. प्राकृत-पिण्ड।
5. अवलोकन-पिण्ड।
6. गर्भ-पिण्ड।

'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति' के आधार पर सं. 1851 वि. मे मारवाड़-नरेश महाराणा मानसिंह के राज्यकाल मे पच्चीस चित्र बनवाये गये थे। ये चित्र "देशी कागज की बनी करीब 4 फुट लम्बी, 1½ फुट चौडी और 2/30 इंच मोटी दफ्ती पर बने हैं", और आज से सवा सौ वर्ष पहले के राजपूत कलम के उत्तम नमूने हैं। ये जोधपुर के राजकीय सरदार म्यूजियम में सुरक्षित है। सन् 1935 ई. में पण्डित विश्वेश्वरनाथ रेउ ने इन चित्रो का विवरण एक छोटी-सी पुस्तिका के रूप मे

→ तम.—मोह, प्रमाद, निद्रा, हिंसा, क्रूरता।
काल—विवाद, कलह, शोक, बन्ध, वंचन।
जीव—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य, तुरीयातीत।

ग—व्यक्ताव्यक्त शक्ति के गुण :

1 इच्छा—उन्मेष, वासना, वीप्सा, चिन्ता, चेष्टा। 25 तत्त्व
2. कर्म—स्मृति, उद्यम, उद्वेग, कार्य, निश्चय।
3. माया—मद, मात्सर्य, कपट, कर्त्तव्य, असत्य।
4 प्रकृति—आशा, तृष्णा, काक्षा, स्पृहा, मृषा।
5. वाक्—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, दृष्टाक्षरमातृका।

घ—प्रत्यक्षकारी गुण :

1. काम - रति, प्रीति, लीला, आतुरता, अभिलाषा। 25 गुण
2. कर्म—शुभ, अशुभ, कीर्ति, अकीर्ति, इच्छागत।
3. अग्नि—उल्लोल, कल्लोल, उच्चरत्व, उन्माद, विलेपन।
4. चन्द्र—सवन्तिका, नामवनी, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्ना।
5. अर्क—तपिनी, प्रसिनी, क्रूरा, कुचनी, शोषणी, बोधिनी, घस्मरा, कर्षिणी, अर्धतुष्टिवर्धिनी, ऊर्मिरेखाकिरणिनी, प्रभावती।

(6) दशद्वार, 72 हजार नाड़ियाँ, पंच प्राण, नौ चक्र, सोलह आधार आदि का गर्भपिण्ड।
क—दशद्वार—मुख, कर्ण (दो), नासिका (दो), चक्षु (दो), पायु, उपस्थ और ब्रह्मरंध्र।
ख—प्रधान दस नाड़ियाँ—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, शखिनी, पूषा, अलम्बुषा, पयस्विनी और कुहू।
ग-द—चक्र और आधार का विचार आगे किया गया है।

प्रकाशित कराया था। हम जिस बात की चर्चा यहाँ कर रहे हैं वह इन चित्रों के द्वारा अधिक स्पष्ट होगी, इस आशा से यहाँ उक्त विवरणपुस्तिका के कुछ चित्रों के परिचयों का संकलन किया जा रहा है। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' वस्तुतः इस पुस्तक का ही संक्षिप्त रूप है। मूलग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति' ही है।

दूसरा चित्र त्रिगुणात्मक आदिपिण्ड का बताया गया है। इसका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है :

2. त्रिगुणात्मक आदिपिण्ड। आदिपिण्ड से (नीलवर्ण) महाआकाश का, महाआकाश से (धूम्रवर्ण) महावायु का, महावायु से (रक्तवर्ण) महातेज का, महातेज से (श्वेतवर्ण) महासलिल (जल) का और उससे (पीतवर्ण) महापृथ्वी का उत्पन्न होना। इन पंचमहा-तत्त्वों से महासाकार पिण्ड का और उससे (1) शिव का उत्पन्न होना। इसी प्रकार आगे शिव से, (2) भैरव का, भैरव से (3) श्रीकण्ठ का, श्रीकण्ठ से (4) सदाशिव का, सदाशिव से (5) ईश्वर का, ईश्वर से (6) रुद्र का, रुद्र से (7) विष्णु का, विष्णु से और (8) ब्रह्मा का उत्पन्न होना। फिर ब्रह्मा से नर-नारीरूप (9) प्राकृत-पिण्ड का उत्पन्न होना।

तीसरे चित्र का विवरण इस प्रकार है :

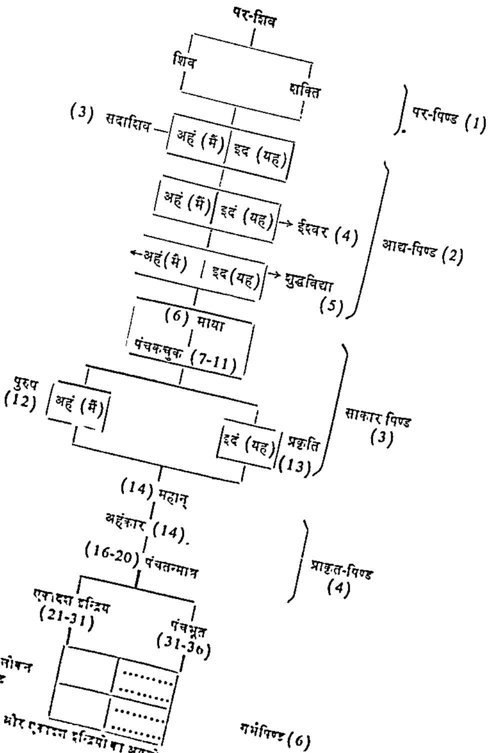
3. नर-नारी के संयोग से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति। पिण्ड का रूप।

'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' से और 'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति' के आधार पर बने हुए इन चित्रों के विवरण से ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम पिण्ड पर-पिण्ड है जो त्रिगुणातीत है और आदि या आद्य-पिण्ड वस्तुतः उसके बाद की अवस्था का नाम है। फिर साकार पिण्ड और महासाकार पिण्ड भी अलग-अलग नहीं जान पड़ते। साकार पिण्ड को ही ग्रन्थकार ने महासाकार पिण्ड कहा है। यदि यह बात ठीक है तो छः मुख्य पिण्ड इस प्रकार हो सकते हैं :

1. पर-पिण्ड।
2. आद्य-पिण्ड।
3. साकार या महासाकार-पिण्ड।
4. प्राकृत-पिण्ड।
5. अवलोकन-पिण्ड।
6. गर्भ-पिण्ड।

इन पिण्डों में पर-पिण्ड तो शिव और शक्ति के संयोग से उत्पन्न है। परवर्ती तीन तत्त्वों से आद्य-पिण्ड और माया और पंच कंचुकों से आच्छादित अहंता-प्रधान पुरुष और इदंताप्रधान[1] प्रकृति तक साकार तत्त्व हैं। महत्तत्त्व से पंचतन्मात्र तक

1. 'अहं' और 'इद' संस्कृत में क्रमशः 'मैं' और 'यह' के वाचक हैं। अहंता का अर्थ है 'मैं-पन' और इदंता का अर्थ है 'यह-पन'। पुरुष में 'अहंता' की प्रधानता होती है अर्थात् उसमें 'चेतन मैं हूँ' यह भाव प्रधान होता है। प्रकृति में 'इदंता' की प्रधानता होती है, अर्थात्



प्राकृत पिण्ड और एकादश इन्द्रियों का अवलोकन पिण्ड है। फिर गर्भोत्पन्न यह पंच

भूतात्मक स्थूल शरीर गर्भपिण्ड है। इस प्रकार 36 तत्त्वों के स्फुरण से इस पिण्डोत्पत्ति का सामंजस्य किया गया है।

अब यह स्पष्ट है कि पर-शिव ही अपनी सिसृक्षारूपा शक्ति के कारण जगत् के रूप में बदल गये हैं। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है, वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया में से गुजरता हुआ बना है जिसमें से यह समूचा ब्रह्माण्ड बना है। सबमें वही तत्त्व ज्यों-के-त्यों हैं। परन्तु सत्व, रज, तम, काल और जीव (अर्थात् प्राणशक्ति) की अधिकता और न्यूनता के कारण उनमें भेद प्रतीत हो रहा है। विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं को असत्य नहीं समझना चाहिए। वे सभी सत्य हैं। जितनी नाड़ियाँ या द्वार या आधार मनुष्य में हैं, उतनी ही समस्त ब्रह्माण्ड में और उतनी ही ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु में हैं। भेद यही है कि सत्व, रज, तम, काल और जीव के आधिक्य और न्यूनत्ववश वे कहीं अविकसित हैं, कहीं अर्धविकसित हैं, कहीं पूर्ण विकसित हैं। इसीलिए गोरक्षमत में प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है।[1] पिण्ड, मानो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है। गोरक्षनाथ का योग-मार्ग साधनापरक मार्ग है, इसलिए केवल व्यावहारिक बातों का ही विस्तार उसमें दिया हुआ है। मनुष्यशरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर इसकी व्याख्या की गयी है। बताया गया है[2] कि मनुष्य के किस-किस अंग में ब्रह्माण्ड का कौन-कौन-सा अंश है। पाताल कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है। साधनामार्ग के तीर्थस्थान कहाँ हैं, गन्धर्व, यक्ष, उरग, किन्नर, भूत, पिशाच आदि के स्थान कहाँ हैं। अनुसन्धित्सु पाठक मूल ग्रन्थों में उसका विस्तार खोज सकते हैं।

स्पष्ट ही, इस शरीर में सबसे प्रधान कार्यकारिणी शक्ति कुण्डली है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड में प्रव्याप्त महाकुण्डलिनी का ही पिण्डगत स्वरूप है। यह लक्ष्य करने की बात है कि पर-पिण्ड को ही प्रथम या आद्य-पिण्ड नहीं कहा गया है। नाथमार्ग अद्वैतवादी है, परन्तु शांकर वेदान्त से अपना भेद बताने के लिए ये लोग अपने को द्वैताद्वैत विलक्षणवादी कहते हैं![3] नाथमार्गी तत्त्व और अद्वैत दोनों से परे है।[4]

1. ब्रह्माण्डवर्ति यत् किन्चित,
   तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।—सि. सि. स., 3 । 2
2. देखिए सि. सि. स., तृतीयोपदेश।
3. यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम्? यदा माया कल्पितमिति वदेयुस्तर्हि तान् वदन्तो वयमयाच्योऽस्त्रियाश्चकर्म तत् विमिति चेदुच्यते। अद्वैत तु निष्क्रियादित्यप्यस्ति। यतः कस्यापि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्यइत्याद्यनेकविधिभिरद्वैतखण्डनं-करिष्यामः। महासिद्धैरुक्तं यदद्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेवसम्यगित्यभ्युपगमिष्यामः।
   —गो. सि. स., पृ. 16
4. अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
   समं तत्त्व न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्।
   यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
   अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥
   —गो. सि. सं. (पृ. 11) में अवधूत गीता का वचन

आद्य या प्रथम कहने से वह संख्या द्वारा सूचित किया जाता है और संख्या भी एक उपाधि है, इसलिए पर-तत्त्व को '1' संख्या द्वारा भी सूचित नहीं किया जा सकता। वह उससे भी अतीत अखण्ड ज्ञानरूपी निरंजन है[1]--शून्य है।[2] वह निष्क्रिय और क्रियाशील ब्रह्म, दोनों से अतीत अवाच्य पद है। इसीलिए उसकी आद्य-संज्ञा नहीं हो सकती। पहला पिण्ड भी इसीलिए 'पर-पिण्ड' कहा जाता है, आद्य-पिण्ड नहीं।[3] जगत् का प्रपञ्च शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है, इसलिए शक्ति ही असल में जगत्कर्त्री है, शिव नहीं। शिव केवल ज्ञेय है।

प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि का आदिकर्त्तृत्व तो शिव का है, शक्ति तो उसकी निर्वाहिका मात्र है। उसी को प्रधान कर्त्री और उपास्य क्यों माना जाय? जगत् के मुख्य कर्त्ता और नियन्ता तो शिव ही हुए, शक्ति तो उनकी सहायिका-भर ही है, फिर इस सहायिका को उपास्य क्यों माना जाय? रामेश्वर भट्ट ने 'परशुराम कल्प-सूत्र' (6 1) की टीका में इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उस उत्तर का सारमर्म यह है कि क्षिति आदि कार्यों का कोई-न-कोई कारण होना चाहिए, कारण के बिना ये उपपन्न नहीं हो सकते। इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए ही शिव और शक्ति की कल्पना है। वेदान्ती लोग भी ब्रह्म की एक शक्ति स्वीकार करते हैं। चित्स्वरूप ब्रह्म का धर्म भी चित्स्वरूप ही होना उचित है। वेदान्ती लोग ऐसा नहीं मानकर गलती करते हैं। वे चिद्रूप ब्रह्म की शक्ति माया को जडस्वभावा मानते हैं। यही माया जगत् का उपादान है, इसलिए यह समूचा जगत् जड है। शाक्त आगमों में यह बात नहीं मानी गयी। धर्मी और धर्म में अभेद होता है, इसलिए चेतन ब्रह्म की शक्ति भी चेतन होगी। ब्रह्म धर्मी है, शक्ति उसका धर्म। फिर भी व्यवहार में धर्म और धर्मी में थोडा भेद मानना ही पड़ता है। इसीलिए धर्मी शिव और धर्म शक्ति अभिन्न होने पर भी व्यावहारानुरोध से भिन्नवत् मान लिये जाते हैं। शिव (परशिव) रूपातीत-गुणातीत शून्यरूप निरालम्बस्वभाव है, इसीलिए उनका स्वरूप-निर्धारण अशक्य है। उपासना के लिए यह 'पर-शिव' उपयुक्त नहीं है। उनके स्वरूप से अभिन्न और फिर भी भिन्नरूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। इस उपासना के द्वारा परमशिव के साथ शक्ति का (और इसीलिए समस्त जगत्प्रपंच का) अभेद ज्ञान ही साधक का चरम लक्ष्य है। यह कहना ठीक नहीं कि कर्त्तृत्व और निर्वाहकत्व, दोनों ही चित् में ही अवस्थित है अतः चित्स्वरूप शिव से भिन्न शक्ति को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। क्या श्रुति-स्मृति और क्या लोक-व्यवहार, सर्वत्र शक्ति को स्वीकार किया गया है। गोपवधू से लेकर सुपण्डित ब्राह्मण तक सभी यह कहते हैं कि यह कार्य करने की 'शक्ति' मुझमें है या नहीं है। इस प्रकार

1-2 निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः
तदाविवदतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः।

3 धर्मं असम शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम्।
अचिन्त्यचितकं चैव सर्वभावस्वभावकम्। —'शिव-संहिता', 1-68

शक्ति की कल्पना केवल कल्पना नहीं है, वह तथ्य है। शिव-कुक्षि में वर्तमान यह जगत् भी वस्तुतः शक्ति द्वारा ही निर्वाह्य है।[1]

इस शक्ति की उपासना के लिए दूर भटकने की जरूरत नही है। प्रत्येक पिण्ड में, प्रत्येक अणु-परमाणु में वह शक्ति विद्यमान है। जगत् का प्रत्येक प्राणी उसे इच्छा, क्रिया और ज्ञानरूप में अनुभव करता है। ब्रह्माण्ड के रग-रग में प्रव्याप्त यह शक्ति मानवदेह में कुण्डलिनीरूप मे स्थित है। नाथमार्गी साधक इस शक्ति की उपासना का प्रधान साधन पिण्ड अर्थात् काया को ही मानता है। वैसे तो सभी प्राणी अप्राणी शक्ति के आवास हैं, किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नही है। लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्यरूप सहज-समाधि। समस्त प्राणियों मे सर्वाधिक सत्त्वगुणी मनुष्य है। मनुष्य का शरीर योग-सिद्धि का उत्तम साधन है। परन्तु इसको पाने मात्र से योग-सिद्धि नही होती। इसको समझना चाहिए। इसीलिए गोरक्षनाथ ने कहा है कि जो योग-सिद्धि का अभिलाषी यही नही जानता कि उसके शरीर में छः चक्र क्या और कहाँ हैं; षोड़श आधार कौन-कौन हैं, दो लक्ष्य क्या हैं, पाँच व्योम क्या वस्तु हैं, वह कैसे सिद्धि पा सकता है? फिर एक खम्भेवाले, नौ दरवाजोंवाले और पाँच मालिकों के द्वारा अधिकृत इस शरीररूपी घर को जो नही जानता, उससे योग की सिद्धि की क्या आशा हो सकती है?[2] इनको जाने बिना मोक्ष कहाँ मिल सकता है? आश्चर्य है दुनिया के लोगों की मूर्खता पर! कोई शुभाशुभ कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष चाहता है, कोई वेदपाठ से, कोई (बौद्ध लोग) निरालम्बन को बहुमान देते है, कोई ध्यान-कला-करण-सम्बद्ध-प्रयोग से उत्पन्न रूप-बिन्दु-नाद-चैतन्य-पिण्ड-आकाश को मोक्ष कहते है।[3] कोई पूजा-पूजन, मद्य-मांस, सुरतादि से उत्पन्न आनन्द को मोक्ष कहते है, कोई मूलकन्द से उल्लसित कुण्डलिनी के संचार को ही मोक्ष कहते हैं और कोई समदृष्टि निपात को ही मोक्ष कहते है। परन्तु ये सभी असल मे मोक्ष नहीं हैं। जब सहजसमाधि के द्वारा मन से ही मन को देखा जाता है, तब जो अवस्था होती है असल में वही मोक्ष है।[4] यह सहजसमाधि क्या है? इस बात को समझने के पहले पातंजल-विहित योगमार्ग को समझना

1. कौ. मा. र, पृ. 189-190
2. षटचक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्य व्योमपञ्चकम्।
   स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः॥
   एक स्तंभं नवद्वारं गृहं पंचाधिदैवतम्।
   स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः॥—'गोरक्षशतक', 13-14

3-4. अहो मूर्खता लोकस्य। केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदनं मोक्ष, केचिद् वदन्ति वेदपाठाश्रितो मोक्षः केचिद् वदन्ति निरालम्बनलक्षणो मोक्ष', केचिद् वदन्ति ध्यानकलाकरणसंबद्धप्रयोगसंभवेन। रूपबिन्दुनादचैतन्य पिण्डाकाशलक्षणो मोक्ष', केचिद्वदन्ति पूजा-पूजक-मद्यमांसादि सुरत-प्रसंगानंदलक्षणो मोक्ष', केचिद् वदन्ति मूलकन्दोल्लसितकुण्डलीसंचारलक्षणो मोक्षः। केचिद् वदन्ति सुसमदृष्टि निपात लक्षणो मोक्ष.। इत्येवंविध भावनाश्रित लक्षणो मोक्षो न भवति। अथ मोक्षपदं कथ्यते—यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः।
—'अमरौघशासनम्', पृ. 8-9

आवश्यक है।

नाथमार्ग के परवर्ती ग्रन्थों मे कुण्डलिनी की कोई चर्चा नही आती। 'मछिन्द्र-गोरखबोध' मे गोरखनाथ के प्रश्नों का उत्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है। इस प्रश्नोत्तरी मे कुण्डली या कुण्डलिनी के विषय में न तो कोई प्रश्न है न उत्तर। अनेक ग्रन्थों में हठयोग को कुण्डलीयोग से भिन्न बताया गया है। फिर भी संस्कृत मे प्राप्त गोरक्ष-लिखित मानी जानेवाली प्राय. सभी पुस्तकों मे कुण्डलिनी शक्ति के उद्‌बोधन की चर्चा है। 'अमरौघशासन' का जो वचन ऊपर उद्‌धृत किया गया है, उससे भी मालूम होता है कि गोरक्षनाथ कुण्डलिनी-वाद के विरोधी थे। पर 'अमरौघशासन' में प्राणायाम का परिणाम कुण्डलिनी का उद्‌बोधन बताया गया है, यह हम आगे देखेंगे (11वाँ अध्याय)। हिन्दी मे गोरखपन्थ का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसमें कुण्डली-उद्‌बोधन का कोई प्रसंग नही मिलता। सम्भवत: नाथमार्ग के परवर्ती अनुयायी इसे भूल गये थे या फिर यह भी हो सकता है कि संस्कृत की पुस्तकों में तन्त्रमत का प्रभाव रह गया हो।

पातंजल योग

अनादिकाल से इस देश मे योगविद्या का प्रचार है। 'कठ' (6. 11; 6. 18), 'श्वेताश्वतर' (2. 11; 2. 8) आदि पुरातन उपनिषदों मे इस योगविद्या का उल्लेख है और परवर्ती उपनिषदों में से कई का तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही योग है। आगे संक्षेप मे इन परवर्ती उपनिषदों की चर्चा का सुयोग हमे मिल सकेगा। प्रसिद्ध है कि आदिपुरुष हिरण्यगर्भ ने ही पहले-पहल मनुष्यजाति के उपकार के लिए इस विद्या का उपदेश किया था। 'योगदर्शन' के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि पतजलि ने हिरण्यगर्भ द्वारा उपदिष्ट शास्त्र का ही पुनः प्रतिपादन किया था। इसीलिए योगि-याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को ही इस शास्त्र का आदिउपदेष्टा कहा है ('परतत्त्व वैशारदी', 1. 1. 16)। विश्वास किया जाता है कि पतंजलि मुनि शेषनाग के अवतार थे। उनका योगदर्शन 'पातंजलिदर्शन' के नाम से प्रख्यात है। इस दर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ लिखी गयी है जिनमें व्यास का भाष्य, विज्ञानुभिक्षु का वार्तिक, वाचस्पतिमिश्र की टीका, भोजदेव की वृत्ति और रामानन्द यति की 'मणिप्रभा' विशेष रूप से प्रसिद्ध और प्रचलित है। मूल 'पातंजल दर्शन' चार पादो (=चरणो) मे विभक्त है। सारा ग्रन्थ सूत्ररूप मे लिखा हुआ है और कुल सूत्रों की संख्या 195 है। चार पादों के नाम उनमे

प्रतिपादित विषय के अनुकूल हैं। नाम इस प्रकार हैं:

1. समाधिपाद, 2. साधनपाद, 3. विभूतिपाद, 4. कैवल्यपाद।

पतंजलि मुनि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है (1. 1. 2)। भाष्यकार व्यास ने पाँच प्रकार के चित्त गिनाये हैं और बताया है कि इस प्रसंग में योग शब्द का अर्थ समाधि है। जब चित्त में रजोगुण का प्राबल्य होता है तो वह अस्थिर और बहिर्मुख हुआ रहता है और जब तमोगुण का प्राबल्य रहता है तो वह विवेकशून्य हो जाता है, कार्य और अकार्य के विचार से वह हीन हो जाता है। प्रथम को (1) क्षिप्त चित्त कहते हैं और द्वितीय को (2) मूढ़। जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तो वह दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधनों की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार के चित्त को (3) विक्षिप्त कहते हैं। प्रथम दो तो योग के योग्य एकदम नहीं है, तीसरा कदाचित स्थिर हो भी जाता है। किन्तु चित्त जब बाह्य विषयों से हटकर एकाकार वृत्ति धारण करता है तो उसे (4) एकाग्र कहते हैं। यह एकाकार वृत्ति भी जब अन्य संस्कारों के साथ-साथ लय हो जाती है तो उस चित्त को (5) निरुद्ध चित्त कहते हैं। इन पाँच प्रकार के चित्तों के चार परिणाम बताये गये हैं। क्षिप्त और मूढ में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधि-प्रारम्भ, एकाग्र में एकाग्रता और निरुद्ध में निरोध-लक्षण परिणाम उपयोगी होते है। समाधि के लिए अन्तिम दो परिणाम बताये गये है। सभी प्रकार का निरोध योग नहीं है। प्रेम की अवस्था में क्रोध की और क्रोध की अवस्था में प्रेम की वृत्ति निरुद्ध होती है, परन्तु इसे योग नहीं कह सकते। इसीलिए भाष्यकार व्यास ने बताया है कि योग शब्द से सूत्रकार का तात्पर्य उस प्रकार के निरोध से है जिसके होने से अविद्या आदि क्लेश-राशि नष्ट होती है, बुद्धि के लिए सात्त्विक निर्मल भाव की वृद्धि होती है और वह 'सहजावस्था' प्राप्त होती है जो वास्तविक चित्तवृत्ति-निरोध है। सूत्रकार ने इस प्रकार के योग (या समाधि) को दो प्रकार का बताया है, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। चित्त की एकाग्रतावस्था में सम्प्रज्ञात समाधि होती है और पूर्ण निरोधावस्था में असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नहीं होता, बल्कि ध्येय रूप में अवलम्बित विषय को आश्रय करके चित्तवृत्ति उस समय भी वर्तमान रहती है, परन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में सारी वृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं।

योगी को सम्प्रज्ञात समाधि के लिए तीन विषयों का अवलम्बन करना होता है: (1) ग्रहीता, (2) ग्रहण और (3) ग्राह्य। ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते हैं, स्थूल और सूक्ष्म; ग्रहण का अर्थ है इन्द्रिय और ग्रहीता से बुद्धि और आत्मा के उस अविविक्त भाव से तात्पर्य है जिसे 'अस्मिता' कहते है। तीरन्दाज जिस प्रकार स्थूल निशाने को साधकर क्रमश: सूक्ष्म निशाना साधने का अभ्यास करता है, उसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल विषयों को और क्रमशः सूक्ष्म विषयों को ध्यान का आलम्बन बनाता है। पहले वह (1) स्थूलग्राह्य अर्थात् पंचभूत, फिर (2) सूक्ष्म-ग्राह्य अर्थात् पंचतन्मात्र, फिर (3) ग्रहण अर्थात् इन्द्रिय और फिर सबके अन्त में (4) अस्मिता को अवलम्बन करके एकाग्रता की साधना करता है। इस प्रकार

के भिन्न जातीय अवलम्बनो के कारण सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की होती है जिसकी चर्चा आगे की जा रही है।

परन्तु इस प्रसंग मे ध्यान में रखने की बात यह है कि परम्परा से यह विश्वास किया जाता रहा है कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद एक ही है और यद्यपि योग-दर्शन के मूल सूत्रो से यह बात अब भी सिद्ध नही की जा सकी है तथापि व्याख्याकार लोग सांख्य के तत्त्ववाद को ही योग का तत्त्ववाद मानकर व्याख्या करते आये हैं। कभी-कभी दोनो मतो मे पार्थक्य भी बताया गया है। साख्य ईश्वर को नही मानता और योगदर्शन मानता है, इसलिए योग को सेश्वरसांख्य कहा जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐसे सम्प्रदाय भी है जो साख्य के तत्त्ववाद को स्थूल मानते हैं और योग को भी दूसरे दृष्टिकोण से देखते है। जो हो, ऊपर जिस स्थूल, सूक्ष्म, ग्राह्य और ग्रहण का प्रसंग है, उसकी व्याख्या सबने सांख्य के तत्त्ववाद के अनुकूल ही की है। संक्षेप मे, इसीलिए उस तत्त्ववाद की चर्चा कर लेना ही उचित है।

साख्य के मत से पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजाल में फँसाती है। पुरुष विशुद्ध चेतनस्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नही हो जाता, तभी तक वह उसके जाल में फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणो की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। सारे दृश्यमान जगत् को सांख्य शास्त्र प्रधानतः चार भागो में बाँटते है : (1) प्रकृति, (2) प्रकृति-विकृति, (3) विकृति, और (4) न प्रकृति न विकृति। चौथा पुरुष है। वह न प्रकृति ही है और न उसका विकार ही (सांख्यकारिका 3)। बाकी तीन मे प्रकृति तो अनादि ही है। पुरुष के साथ प्रकृति का जब संयोग होता है तो प्रकृति मे विक्षोभ होता है, उसकी साम्यावस्था टूट जाती है, वह प्रकृति न होकर विकृति (=विकारशील) का रूप धारण करने लगती है। प्रकृति से महान् या बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है, उससे अहकार और उससे पंचतन्मात्र (अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रस-तन्मात्र और गन्धतन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो महान् या बुद्धितत्त्व मूल प्रकृति का विकार है और दूसरी तरफ अहंकार की प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहंकार और पंचतन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः महान् और अहंकार के विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंचतन्मात्र और पंचमहाभूतो की प्रकृति भी हैं। इसी-लिए सांख्यशास्त्री इन्हे (अर्थात् महान् अहंकार और पंचतन्मात्र, इन सात तत्त्वों को) 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इनसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय (कान, त्वचा, आँख, रसना, और नाक), पाँच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पाँव, जीभ, वायु और उपस्थ)—ये दस इन्द्रिय मन और पाँच महाभूत (अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) उत्पन्न हुए हैं जो केवल विकृति हैं। इस प्रकार एक पुरुष, एक प्रकृति, सात प्रकृति-विकृतियाँ, और 16 विकृतियाँ, कुल मिलाकर इन 25 तत्त्वो के प्रस्तार-विस्तार से यह सारी सृष्टि बनी है। योग में चित्त शब्द का व्यवहार अन्तःकरण के अर्थ मे होता है। अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार। पुरुष (=आत्मा) स्वभावतः

शुद्ध और निर्विकार है, परन्तु अज्ञान के कारण अपने को चित्त से अभिन्न समझता है। किन्तु चित्त असल में प्रकृति का परिणाम होने के कारण जड़ है, चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण ही वह चेतन की भाँति जान पड़ता है।

एकाग्रता के समय चित्त की अवस्था विशुद्ध स्फटिक मणि के समान होती है। स्फटिक के सामने जो भी वस्तु हो वही उसमें प्रतिविम्बित होकर उसे अपने ही आकार का बना देती है। इसी प्रकार एकाग्रता की अवस्था मे जो ध्येय वस्तु होती है वह चित्त में प्रतिविम्वित होकर चित्त को अपने ही तरह का बना देती है अर्थात् उस हालत में ध्येय वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता चित्त में नही रहती। योगशास्त्र में इस प्रकार अवलम्बित विषय के रूप में चित्त के अनुरंजित या प्रतिविम्बित होने को 'समापत्ति' कहा जाता है। यह समापत्ति केवल सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ चित्त की स्वाभाविक अवस्था या धर्म है। इसी के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है : (1) स्थूल विषयों के अवलम्बन से सिद्ध एकाग्रता को 'सवितर्क', (2) कुछ अधिक सूक्ष्म तन्मात्र आदि को अवलम्बन करके साधित एकाग्रता को 'सविचार', (3) उससे भी अधिक सूक्ष्म इन्द्रियरूप विषय को अवलम्बन करके जो एकाग्रता सिद्ध होती है उसे 'सानन्द', और (4) वुद्धि के साथ आत्मा की अभिन्नता-रूप भ्रान्ति—जिसे अस्मिता कहते हैं—को अवलम्बन करके जो एकाग्रता प्राप्त होती है उसे 'सास्मित' कहते है (1.17)। इन चार प्रकार की अवस्थाओं मे उस वस्तु के तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है जिसे अवलम्बन किया गया है या किया जा रहा है। एक का तत्त्व-साक्षात्कार किये बिना परवर्त्ती अवस्था में उचकना निषिद्ध है।

समुद्र मे जिस प्रकार तरंगें उठा करती है, उसी प्रकार चित्त में असंख्य वृत्तियाँ उठा करती हैं। शास्त्रकार ने उन्हें पाँच मोटे विभागों में बाँटकर समझाया है : (1) प्रमाण, (2) विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), (3) विकल्प, (4) निद्रा और (5) स्मृति, ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ राग, द्वेष और मोह से अनुविद्ध होती हैं इसलिए क्लेशकर है। इसीलिए मुमूक्षु व्यक्ति को इनका निरोध करना चाहिए। अभ्यास और वैराग्य से यह बात सम्भव है। साधारण अवस्था मे पुरुष (=आत्मा) का प्रकृत स्वरूप यद्यपि निर्विकार ही रहता है, तथापि वह मोहवश अपने वास्तविक रूप से परिचित नही होता और 'वृत्तिसारूप्यता' को प्राप्त होता है। अर्थात् चित्त की जो वृत्ति जिस समय उपस्थित रहती है, पुरुष उस समय उसी को अपना स्वरूप समझ लेता है। कोई भी विषय चाहे वह बाह्य हो या आन्तर, जब तक चित्तवृत्ति का विषय नही हो जाता तब तक पुरुष उसे ग्रहण नही कर सकता, और मुग्ध होने के कारण वह उन वृत्तियों से अपनी पृथक् सत्ता को अनुभव नही कर पाता। वैराग्य और दीर्घ अभ्यास के बाद वह अपने आपके स्वरूप को पहचानता है।

सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय-विषयक वृत्तियाँ चित्त मे वर्तमान रहती हैं और बराबर ही अपने अनुरूप संस्कार-प्रवाह को उत्पन्न करती रहती हैं। असम्प्रज्ञात

समाधि मे ऐसी कोई वृत्ति नही रहती। हृदय में पुनः-पुनः वैराग्य के अनुशीलन से समस्त चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है। भगवान् ने गीता मे कहा है कि यद्यपि चंचल मन का वश करना कठिन है, तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश मे किया जा सकता है। दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष सुख और आनुश्रविक अर्थात् केवल शास्त्र से जाने जानेवाले स्वर्गादि सुख—इन दोनो प्रकार की भोगाभिलाषा की निवृत्ति को 'वैराग्य' कहते है। यह वैराग्य दो प्रकार का होता है : अपर वैराग्य और पर-वैराग्य। अपर वैराग्य की चार सीढ़ियाँ है : (1) राग और द्वेपवश, जो इन्द्रिय-चाचल्य होता है उसे रोकने की चेष्टा (यतमान सज्ञा), (2) राग और विराग के विपयो को अलग ठीक करना (व्यतिरेक सज्ञा), (3) इन्द्रिय निवृत्ति के वाद केवल मन द्वारा विपयो की चिन्ता (एकेन्द्रिय संज्ञा) और अन्त मे (4) मानसिक उत्सुकता को भी वश मे करना (वशीकार संज्ञा)। सम्प्रज्ञात समाधि तक तो इस प्रकार के वैराग्य से ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु वैराग्य की उत्कृष्ट अवस्था वह है (पर-वैराग्य) जव द्रष्टा पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि समस्त तत्त्वो से अपने को पृथक् समझ लेता है और समस्त त्रिगुणात्मक विपयों के उपभोग से वितृष्ण हो जाता है। इसी 'पर-वैराग्य' के अनुशीलन से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। यह समाधि चूँकि सम्प्रज्ञात समाधिकालीन ध्येय विपयक चिन्ता के विराम के कारण प्रत्यय (=पर-वैराग्य) के पुनः-पुनः अनुशीलन या अभ्यास से होती है, इसलिए सूत्रकार ने इसे 'विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्व' कहा है। इसमे चित्तवृत्तियाँ तो निरुद्ध हो जाती है, पर संस्कार फिर भी बच रहता है। बहुत दीर्घकाल तक बने रहने के वाद इन संस्कारो की कोई उद्बोधक सामग्री न मिलने से वे भी समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए असम्प्रज्ञात समाधि को निरोध समाधि और निर्वीज समाधि भी कहते हैं। ऐसे भी योगी हैं जो ज्ञान का सम्यक् उद्रेक न होने के कारण प्रकृति, महान् या अहंकार को ही आत्मा मानकर निरोध समाधि का अभ्यास करते है। उनकी समाधि को 'भवप्रत्यय' नाम दिया गया है। इसमे भ्रान्ति वनी रहती है, इससे इसमे कैवल्यज्ञान (अर्थात् पुरुप या आत्मा का केवल पुरुपरूप मे ही अवस्थानरूप ज्ञान) नही होता। असम्प्रज्ञात समाधि के उत्कृष्ट उपाय हैं श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृति और योगाग। इन उपायो के द्वारा जो समाधि होती है वही 'उपाय प्रत्यय' कही गयी है। इस असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णता की अवस्था में द्रष्टा अर्थात् पुरुष (आत्मा) 'केवल' स्वरूप मे अवस्थान करता है। यही कैवल्य-प्राप्ति है।

सूत्रकार ने इस अवस्था की प्राप्ति के लिए एक और भी उपाय बताया है : ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर मे मन लगाना (1-23)। साधारण जीवों मे जो पाँच प्रकार के क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) होते है, जो दो प्रकार के कर्म (धर्म और अधर्म) होते हैं, जो तीन प्रकार के विपाक (जन्म, आयु और भोग) होते हैं और जो पूर्वसंस्कार होते हैं (आशय), उनसे ईश्वर रहित है। वह सर्वज्ञ है और इसीलिए अन्यान्य पुरुषों मे विशेष है। अर्थात् साधारण पुरुष अविद्यादि क्लेशों के अधीन हैं, जन्म-मरण के चक्र मे पड़े हुए हैं, पाप-पुण्य (धर्म-

अधर्म) के वशवर्ती है और पूर्व-संचित वासनाओं के दास हैं। ईश्वर इनसे भिन्न अनन्त ज्ञान का आकर, दोषहीन, क्लेशशून्य, नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त है। इसी ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव या ओंकार है। इसके नाम के जप और नामी (ईश्वर) की चिन्ता करने से साधक का चित्त एकाग्र होता है और उसे आत्म-साक्षात्कार भी प्राप्त होता है। फिर उसके विघ्न भी दूर होते हैं। योग साधक के अनेक विघ्न होते हैं। उसे व्याधि हो सकती है जिससे शरीर रुग्ण होकर मन पर भी असर डाल सकता है, उसके चित्त में अकर्मण्यता या जडता आ सकती है (स्त्यान), योग के विषय में सन्देह उपस्थित हो सकता है (संशय), प्रमाद और आलस्य हो सकते है, विषयभोग की तृष्णा पैदा हो सकती है (अविरति), विपरीत ज्ञान (भ्रान्ति-दर्शन) हो सकता है, समाधि के अनुकूल चित्त की जो अवस्था होती है उसका अभाव हो सकता है (अलब्धभूमिकत्व), फिर ऐसा भी हो सकता है कि समाधि के अनुकूल अवस्था तो सुलभ हो गयी पर मन उस समय स्थिर नही हो सका। इन बातों से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से इन विघ्नों की सम्भावना दूर हो जाती है। शास्त्रकार ने चित्त-विशोधन के और भी कई उपाय बताये है, उनमे अभिमत वस्तु का ध्यान उल्लेख्य है (1.39)। यहाँ तक सूत्रकार ने ज्ञान पर ही जोर दिया है। इस 'पाद' या चरण में साधारण रूप से समाधि की बात ही होने के कारण उन्होने इसका नाम 'समाधिपाद' दिया है।

दूसरे पाद का नाम है साधनपाद या क्रियायोग। क्रियायोग अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इस क्रियायोग के दो उद्देश्य बताये गये हैं: समाधि-भावना और क्लेशो को क्षीण करना (क्लेशतनूकरण)। समाधि को हम पहले ही समझ आये है; क्लेश पाँच प्रकार के हैं: (1) अविद्या अर्थात् भ्रान्ति-ज्ञान—जो अनित्य है उसे नित्य समझना, जो जड़ है उसे चेतन समझना और जो अनात्मा है उसे आत्मा समझना; (2) अस्मिता अर्थात् अहंकारबुद्धि और आत्मा को एक ही मान लेना; (3) राग अर्थात् सुख और उसके साधनों की ओर खिंचाव; (4) द्वेष अर्थात् दुःख और दुःखजनक वस्तुओं के प्रति हिंसा-वृत्ति; और (5) अभिनिवेश अर्थात् नाना जन्मों के संस्कारवश मरणादि से त्रास। ये पाँचों क्लेश हैं, पर अन्तिम चार की उत्पत्ति का कारण अविद्या ही है। ये अन्तिम चार प्रकार के क्लेश प्रसुप्त, क्षीण, विच्छिन्न या उदार अवस्थाओ में से किसी एक में ही एक समय रह सकते हैं। उदाहरणार्थ, शैशवावस्था में राग सुप्त रहता है, क्रोधावस्था मे विच्छिन्न रहता है, रागविरोधी विचारों के समय क्षीण रहता है और उपयुक्त अवसर पर प्रबुद्ध या उदार होकर रह सकता है। अब, ये चारों क्लेश जिस अवस्था मे भी क्यों न हो, उनका मूल कारण अविद्या या गलत ज्ञान ही है। क्रियायोग की सहायता से योगी इन क्लेशों को क्षीण करता है और क्रमशः आगे बढ़कर प्रसंख्यान अर्थात् ध्यानरूप अग्नि से उन्हे भस्म कर देता है। यह उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर प्रथम उद्देश्य—समाधि-भावना—सहज ही सिद्ध हो जाता है; क्योंकि जितने भी कर्म, आशय और विपाक हैं वे सभी क्लेशमूलक है और क्लेशों के

उच्छेद होने से उनका उच्छेद अपने-आप हो जाता है।

योगदर्शन सम्पूर्ण शास्त्रार्थ को चार भागों में विभक्त करता है—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। दुःख और दुःखजनक पदार्थ हेय है और चूंकि अविद्या ही इस हेय वस्तु को जीव के सामने उपस्थित करती है और जीव गलती से उन्हें भोग्य और अपने को उनका भोक्ता समझकर उलझ जाता है, इसलिए यह जो भोग्य-भोक्ता-भावरूप संयोग है, वही हेय-हेतु है। स्पष्ट ही अविद्या के कारण यह संयोग सम्भव होता है, इसलिए वास्तविक हेयहेतु तो अविद्या ही है और विवेक ज्ञान ही इस हेयहेतु के *ज्ञान का उपाय है; क्योंकि उसी से आत्मा और अनात्मा का पार्थक्य* ठीक-ठीक उपलब्ध होता है और अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। *यही हेय-हान है, यही योग का चरम लक्ष्य* है, यही कैवल्य है।

जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती तब तक योगांगों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है (2.28)। ये आठ हैं: यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; प्रथम पाँच बाह्य हैं और अन्तिम तीन आन्तर। संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है:

(1) *यम, बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्ति-संकोचन) को कहते* है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (=चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना)—ये पाँच यम हैं। इन यमों (= संयमों) की विपरीत क्रियाओं—हिंसा, असत्य, स्तेय, वीर्यक्षय, परिग्रह—को वितर्क कहते हैं, इनका फल दुःख और अज्ञान है। (2) वितर्कों के दमन और संयमों की उपलब्धि के लिए शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बनाये हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। (3) योग-साधन के लिए नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताये गये हैं। आसन अर्थात् हाथ-पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश। परवर्ती योग-ग्रन्थों में आसनों की अनेक संख्याएँ बतायी गयी हैं, परन्तु 'पातंजल दर्शन' ने स्थिर और सुखकर आसन (2.46) को ही योगसाधन का प्रकृष्ट उपाय बताया है। (4) श्वास को भीतर भरना (पूरक), उसे देर तक भीतर ही आबद्ध रखना (*कुम्भक*) और फिर *बाहर निकालना* (रेचक) प्राणायाम कहा जाता है। प्राण अर्थात् वायु के संयमन से मन का संयमन सहज होता है। (5) शब्दादि बाह्य व्यापारों से कान प्रभृति इन्द्रियों को हटाकर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना होता है। उस अवस्था में *बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क* नहीं होने से चित्त का सम्पूर्ण रूप मे अनुकरण करते हैं, इन्द्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियों को वश में करना सम्भव होता है।

इन पाँच योगांगों की चर्चा करने के बाद सूत्रकार ने दूसरा पाद समाप्त कर दिया है। बाकी तीन योगांगों का वर्णन विभूतिपाद नामक तीसरे पाद में किया है। ये पाँच बहिरंग साधन हैं, क्योंकि कार्यसिद्धि से इनका बाहरी सम्बन्ध है। परन्तु

धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांग साक्षात्सम्बन्ध से कार्यसिद्धि के हेतु हैं, इसलिए अन्तरंग साधन कहे गये हैं। इन तीनों को एक ही नाम 'संयम' दिया गया है। तीनों को एक ही साथ नाम देने का अभिप्राय यह है कि ये तीनो जब एक ही विषय को आश्रय करके होते हैं, तभी योगांग होते हैं, अन्यथा नही। एक विषय की धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि को योग नही कह सकते। सो, नाना विषयो मे विक्षिप्त चित्त को बलपूर्वक किसी एक ही वस्तु (जैसे श्रीकृष्ण की मूर्त्ति) पर बांधने को 'धारणा' कहते है; धारणा से चित्त जब कुछ स्थिर हो जाता है तो उस विषय की एकाकार चिन्ता (= प्रत्ययैकतानता) को 'ध्यान' कहते हैं (3.2), और यह ध्यान जब निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूपशून्य-सा होकर ध्येय विषय के आकार मे आभासित होता है (अर्थ-मात्र-निर्भासम्), तो समाधि कहा जाता है (3.3)। प्रथम पाद में जिस सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा हुई है, वह समाधि इससे भिन्न है। वह साध्य है, यह साधन है; वह फल है, यह उपाय है। उस स्थूलग्राह्य, सूक्ष्मग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता-भेद से अवलम्बित समाधि की अवस्था में 'संयम' (ध्यान-धारणा-समाधि) का विनियोग करना होता है। जहाँ तक सम्प्रज्ञात समाधि का सम्बन्ध है वहीं तक योग के आठ अंगों में से पांच बहिरंग हैं और तीन अन्तरंग। असम्प्रज्ञात समाधि के लिए तो आठों ही बहिरंग हैं। जब मनुष्य समाधि की दशा मे नही होता, अर्थात् जब वह व्युत्थानदशा मे होता है, तो उस समय दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा जिन विषयो का अनुभव करता है वे स्वयं नष्ट होने के बाद भी अपना संस्कार छोड़ जाते है और इसीलिए वे संस्कार निरन्तर स्मृति उत्पन्न करते रहते हैं। व्युत्थान-अवस्था की भाँति समाधि-अवस्था में भी संस्कार रहते ही हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में यद्यपि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध रहती है, तथापि संस्कार रहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से भी एक प्रकार का संस्कार पैदा होता है। व्युत्थानदशावाले संस्कारों को 'व्युत्थानज' और निरोध-दशावाले संस्कारों को 'निरोधज' कहते है। इन दोनों का द्वन्द्व जारी रहता है, जो प्रबल होता है वही विजयी होता है। दीर्घ साधना के बाद साधक के निरोधज *संस्कार प्रबल होकर व्युत्थानज संस्कारो को दबा पाते हैं। इस अवस्था को ग्रन्थकार* ने 'निरोध परिणाम' कहा है (3.9)। यहाँ आकर योगी को नाना भाँति की विभूतियाँ प्राप्त होती है। स्वर्ग के देवतागण उसे नाना भाव से प्रलुब्ध करते हैं। कच्चे योगी इसमे भटक जाते हैं, पर सच्चे योगी विचलित नही होते। वे उन विभूतियों के दर्शन से विस्मित भी नही होते, चंचल भी नही होते और प्रलुब्ध भी नही होते। तीसरा पाद यहीं समाप्त होता है।

कैवल्यपाद के आरम्भ मे ही सूत्रकार ने पांच प्रकार की सिद्धियाँ बतायी है: (1) पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण कुछ लोग कुछ विशेष सिद्धियाँ जन्म से लेकर ही पैदा होते है, फिर (2) रसायनादि औषधों की सहायता से भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ मिल जाती हैं। (3) ऐसा भी होता है कि मन्त्रबल से आकाशगमन प्रभृति सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती है, फिर (4) तपस्या से भी सिद्धिलाभ सम्भव

है, पर वास्तविक और परमसिद्धि तो (5) समाधि से कैवल्य-प्राप्ति ही है। कायिक सिद्धियों से लोक-प्रतिष्ठा चाहे जितनी मिले, वे अधिकतर कैवल्य-प्राप्ति में बाधक ही होती हैं। समाधि से समस्त अनागत (अर्थात् भावी) कर्म दग्धबीज की भाँति निर्वीर्य और निष्फल हो जाते है, केवल प्रारब्ध कर्म बचे रह जाते है। कभी-कभी योगी लोग योगबल से अनेक कायाओं का निर्माण करके प्रारब्ध कर्म को शीघ्र ही भोग लेते हैं और उससे छुटकारा पा जाते है। ऐसा करने से आत्मा का जो बुद्धि से पार्थक्य है, उस विषय मे योगी और भी दृढ़विश्वासपरायण हो जाते हैं; फिर तो योगी की आत्मा स्वतः ही विवेक की ओर उन्मुख होकर कैवल्य की ओर धावित होती है। वह समस्त इच्छाओ से—यहाँ तक कि परम अभिलषित विवेकख्याति से भी—विरत हो जाता है। उस हालत मे वह धर्ममेघ नामक समाधि को प्राप्त होता है। सूत्रकार ने कहा है कि 'प्रसंख्यान' (= प्रकृति और पुरुष का विवेक-साक्षात्कार) के प्रति भी जब आदरभाव नही होता तब उसे वह 'धर्ममेघ' समाधि प्राप्त होती है जो विवेकख्याति का परमफल है (4.29)। उस समय केवल निरवच्छिन्न तत्त्व-साक्षात्काररूपी धर्ममेघ की धारासार वर्षा होती रहती है और योगी समस्त क्लेशों और कर्मों से निवृत्त हो गया रहता है। उस समय त्रिगुणात्मिका प्रकृति के जो कर्त्तव्य प्रत्येक पुरुष (आत्मा) के लिए निर्दिष्ट होते है वे—भुक्ति और मुक्ति—समाप्त हो जाते है और पुरुष विशुद्ध स्वरूप (केवल-भाव) में अवस्थित हो जाता है। पुरुष के प्रति दोनो प्रकार के करणीय कर्म सिद्ध हो जाने से प्रकृति भी कृतकृत्य हो जाती है और अनादिकाल का लिंगशरीर[1] चूँकि प्रकृति का परिणाम होता है, इसलिए वह भी विरत हो जाता है और सारा सूक्ष्म शरीर (लिंगशरीर) तत्तद् उपादानों में लीन हो जाता है। *यही योग का परम-प्रतिपाद्य है।*

1 *'सांख्यकारिका' (40) में बताया गया है कि प्रकृति के विकारस्वरूप तेईस तत्त्वों मे अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं, परन्तु बाकी अठारहों तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ-ही-साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना ही मरता रहता है तब तक ये तत्त्व उसके साथ-साथ लगे रहते हैं। इन अठारह तत्त्वों मे से प्रथम तेरह (अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन, और दसों इन्द्रियाँ) तो प्रकृति के गुण मात्र हैं, उनकी स्थिति के लिए किसी ठोस आधार की जरूरत होती है। बिना आधार वे रह नहीं सकते, वस्तुतः पंचतन्मात्रों को जो मृत्यु के समय आत्मा का अनुसरण करते बताया गया है वह इसीलिए कि ये तन्मात्र उक्त तेरह तत्त्वों को वहन करने का सामर्थ्य रखते हैं। ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य जीता होता है तब तक तो इन गुणो को उसका स्थूल शरीर आश्रय किये होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंचतन्मात्र ही इन गुणों के वाहक होते हैं ('सांख्यकारिका', 41)। इस प्रकार शास्त्रकार का सिद्धान्त है कि मृत्यु के बाद पुरुष या आत्मा के साथ-ही-साथ एक लिंग-शरीर जाता है जो समस्त कर्मफलात्मक संस्कारों को साथ ले जाता है। इस लिंग-शरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समावेश है उनमे बुद्धितत्त्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे कर्म कहते हैं, उसी को सांख्य लोग बुद्धि का व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। इसी को 'सांख्यकारिका' में 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूल में गन्ध और कपड़े में रंग लगा रहता है, उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग-शरीर में लगा रहता है (सां. का. 42)।*

गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग

1. हठयोग

गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है, वह पुरानी परम्परा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। शास्त्रग्रन्थों मे हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध-प्रधान साधना को ही कहते है। 'सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के योग को ही 'हठयोग' कहते है :

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते।
सूर्याचंद्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या नाना भाव से हो सकती है। ब्रह्मानन्द के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चन्द्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते है और चद्र पिंगला को (हठ. 3.15), इसलिए इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राणवायु के सचारित करने को भी हठयोग कहते है। इस हठयोग को 'हठसिद्धि' देनेवाला कहा गया है।[1] वस्तुतः हठयोग का मूल अर्थ यही जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिससे हठात् सिद्धि मिल जाने की आशा की जाती थी। 'हठयोग' शब्द का शायद सबसे पुराना उल्लेख 'गुह्य समाज' मे आता है, वहाँ बोधिप्राप्ति को विधि बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधिप्राप्ति न हो तो 'हठयोग' का आश्रय लेना चाहिए।[2]

'योगस्वरोदय' मे हठयोग के दो भेद बताये गये हैं। प्रथम मे आसन, प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्म का विधान है। इनसे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध नाड़ी मे पूरित वायु मन को निश्चल करता है और फिर परम आनन्द की प्राप्ति होती है। दूसरे भेद में बताया गया है कि नासिका के अग्रभाग मे दृष्टि निबद्ध करके आकाश मे कोटि सूर्य के प्रकाश को स्मरण करना चाहिए और श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगों का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से साधक चिरायु होता है और हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। इस योग को इसीलिए हठयोग कहा गया है। यह सिद्धसेवित मार्ग है।[3]

कहते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ है : एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्त्ती, जिसका उपदेश मृकण्डुपुत्र (मार्कण्डेय) आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ

1. प्राणतोषिणी, पृ 835
2. दर्शने तु कृतेऽप्येवं साधकस्य न जायते।
   यदा न सिद्ध्यते बोधिर्हठयोगेन साधयेत् ॥
3. हठाज्ज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।
   अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः ॥—प्राणतोषिणी, पृ. 835

आदि द्वारा उपदिष्ट[1]। प्रधान भेद यह बताया जाता है कि पहली उन सभी आठ अंगों को स्वीकार करती है जिन्हें पातंजल योग के प्रसंग में हम देख आये हैं और दूसरी केवल अन्तिम छः अंगों को[2], परन्तु यह भेद बहुत अधिक मान्य नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों में अष्टांग योग की भी बात आती है और षडंग योग की भी। गोरक्ष-शतक मे षडंगयोग की बात है[3] और 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' में अष्टांग योग की।[4]

हठयोग का अभ्यासी शरीर की बनावट से अपरिचित रहकर सिद्धि नही पा सकता। मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयम्भू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र मे स्थित स्वयम्भूलिंग को साढे तीन वलयों मे लपेटकर सर्पिणी की भाँति कुण्डली अवस्थित है। यह कभी-कभी आठ वलयों मे लपेटकर सोयी हुई भी बतायी गयी है (गो. प., 1-47)। यह ब्रह्माण्ड मे व्याप्त महाकुण्डलिनीरूपी शक्ति का ही व्यष्टि मे व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है जो ब्रह्मद्वार को रोध करके सोयी हुई है।[5] इसे जगाकर शिव से समरस कराना योगी का चरम लक्ष्य है। अन्यान्य विधियों से भी मोक्ष प्राप्त किया जाता है, परन्तु चाभी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है, उसी प्रकार कुण्डली के उद्बोधन से हठात् मोक्षद्वार अनायास ही खुल जाता है।[6] हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण भी इस योग को 'हठयोग' कहते हैं। इस कुण्डली-उद्बोध की कई विधियाँ हो सकती हैं।

शरीर में तीन ऐसी चीजें है जो परम शक्तिशाली हैं, पर चंचल होने के कारण वे मनुष्यों के काम नही आ रही। पहली और प्रधान वस्तु है: (1) बिन्दु अर्थात् शुक्र। इसको यदि ऊपर की ओर उठाया जा सके तो बाकी दो भी स्थिर होते है। बाकी दो हैं · (2) वायु और (3) मन। हठयोगी का सिद्धान्त है कि इनमें से किसी एक को भी यदि वश में कर लिया जाय तो दूसरे दो स्वयमेव वश मे हो जाते है। एक-एक पर संक्षेप मे विचार किया जा रहा है। यहाँ इतना और कह रखना उचित है कि कभी-कभी एक चौथी वस्तु की भी चर्चा शास्त्र में आ जाती है। वह है, वाक् या वाणी।

'अमरौघशासन' (पृ. 7) मे लिखा है कि मेरुदण्ड के मूल मे सूर्य और चन्द्र

1. द्विधा हठ स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधित:।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यै: साधितो हठसञ्ज्ञक:॥
2. स. भ. स्ट., भाग 6 मे म. म पं. गोपीनाथ कविराज का लेख देखिए।
3. गो श : 1.7
4. सि. सि. स. : 2 49
5 येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वार प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥—गो. श., 148
6. उद्घाटयेत् कपाट तु यथा कुंचिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथो योगी मोक्षद्वार प्रभेदयेत् ॥—गो. श, 1.51

के बीच योनि में स्वयम्भू लिंग है जिसे पश्चिम लिंग कहते हैं। यही पुरुषों के शुक्र और स्त्रियों के रजःस्खलन का मार्ग है। यही काम, विषहर और निरंजन का स्थान है। वीर्यस्खलन की दो अवस्थाएँ होती है। इन दोनो के पारिभाषिक नाम प्रलय-काल और विषकाल है। इन दो अवस्थाओं में जो आनन्द होता है वह घातक है। एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरी का विषहर। तीसरी अवस्था नानाभाव-विनिर्मुक्त सहजानन्द की अवस्था है, इसमे बिन्दु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है, तब वह सहज-समाधि प्राप्त होती है जिसमें मन और प्राण अचंचल हो जाते है।[1] ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस बिन्दु को स्थिर और ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि नाड़ियों को शुद्ध किया जाय। हठयोग षट् कर्म के द्वारा वही कार्य करता है। शुद्धि की इन क्रियाओं का साधन-ग्रन्थो मे विस्तृत रूप से उल्लेख है। इनमें धौति है, वस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है—इन्हीं को षट्कर्म कहते हैं। नाड़ी के शुद्ध होने से बिन्दु स्थिर होता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ हो जाता है, प्राण और मन क्रमशः अचंचल होते है और प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ समरस हो जाती है और योगी चरम प्राप्तव्य पा जाता है। इस क्रिया के लिए ही लोग उस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करते हैं जिसमें नाना विधियों से पुरुष स्त्री के रज को और स्त्री पुरुष के शुक्र को आकर्षण करके ऊर्ध्वमुख करती है।[2] यद्यपि यह साधना नाथमार्ग मे प्रक्षिप्त जान पड़ती है, पर अपने पारमार्थिक अर्थ में यह इस मार्ग में स्वीकृत थी। 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' में एक सन्दिग्ध श्लोक है जो इस साधना के प्रकाश में कुछ स्पष्ट हो जाता है।[3] इसमे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसके ज्ञानमात्र से सिद्धमार्ग प्रकाशित हो जाता है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि केवल पारमार्थिक अर्थ मे ही यह सिद्धमार्ग में गृहीत है।

1. इस प्रसग मे 'अमरौघशासन' में निम्नाकित श्लोक है जिनमे वज्रयानी साधको के पारिभाषिक शब्दो का व्यवहार जान पड़ता है। इन शब्दो के सावृत्तिक और पारमार्थिक अर्थ की बात हम कृष्णपाद (कानिपा) के प्रसग मे जान चुके है :

   शक्तित्रयविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरंजनात्।
   वज्रपूजाप्रदानद यः करोति स मन्मथः॥
   चित्ते तृप्ते मनोमुक्तिरूर्ध्वमार्गाश्रितेऽनले।
   उदानचलित रेतो मृत्युरेखाविष विदुः॥
   चित्तमध्ये भवेद्यस्तु बालाग्रशतधाश्रये।
   नानाभावविनिर्मुक्त. स च प्रोक्तो निरंजनः॥

   —अ. शा., पृ. 8

2. गो. प., पृ. 53-55

3 सकोचनेन मणिकास्य परत्र तुर्यं। दण्डध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम्।
   वज्रोदरे सगतिबंधनभेदिदर्प्या भृगस्य चेद्विदुदिरे (?) खलु विंदुबंधः॥
   एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः॥
   ज्ञानादेव भवेदस्याः सिद्धमार्गः प्रकाशितः॥ —सि. सि. सं., 2.17-18

नाडीशुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओं का शमन सहज हो जाता है। नाना-प्रकार के आसनों और प्राणायामों से सुषुम्नामार्ग खुल जाता है। नाड़ियों को प्रधानतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। दक्षिणांग में व्याप्त नाड़ियाँ सूर्य का अंग हैं और वाम भागवाली चन्द्रमा के अंग। इन दोनों के बीच सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चन्द्र और सूर्य मार्गों को बन्द कर देता है और उनमें बहनेवाली वायु शक्ति-संयमित होकर योनिकन्द के मूल में स्थित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है, तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही ऊर्ध्वमुख होती है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्बोध सुकर हो जाता है।[1]

यह कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और साधक शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नाद को सुनने लगता है, जो अखण्ड रूप से निखिल ब्रह्माण्ड में निरन्तर ध्वनित हो रहा है। अनुभवी लोगों ने बताया है (हठ, 4-83-85) कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी-झर्झर आदि का-सा शब्द सुनायी देता है, फिर मर्दल, शंख, घण्टा और काहल की-सी आवाज सुनायी देती है, और अन्त में किंकिणी, वंशी और वीणा की झंकार सुनायी देने लगती है। परन्तु ज्यों-ज्यों साधक का चित्त स्थिर होता आता है, त्यों-त्यों इन शब्दों का सुनायी देना बन्द होता जाता है, क्योंकि उस समय आत्मा अपने स्वरूप में क्रमशः स्थिर होता जाता है और फिर तो बाह्य विषयों से उसका सरोकार नहीं रह जाता।

इस प्रकार हठयोगी प्राणवायु का निरोध करके कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करता है। उद्बुद्ध कुण्डलिनी क्रमशः षट्चक्रों को भेद करती हुई सातवें अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से मिलती है। प्राणवायु ही इस उद्बोध और शक्ति-संगमन का हेतु है, इसलिए हठयोग में प्राण-निरोध का बड़ा महत्त्व है। षट्चक्रों के विषय में हम पहले संक्षेप में कह आये हैं। यहाँ भी उसका थोड़ा उल्लेख कर देना उचित है।

ऊपर जिस त्रिकोण चक्र की बात कही गयी है, उसके ऊपर चार दलों के आकार का एक चक्र है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं, उसके ऊपर नाभि के पास

1. मूलकन्दोद्योतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भवः।
शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः ॥1॥
मूलकन्दे तु या शक्तिः कुण्डलाकाररूपिणी।
उद्गमावर्त वातोऽस्य प्राण इत्युच्यते बुधैः ॥2॥
कन्ददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजंगिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्ति प्राणैरेवं व्यवस्थिता ॥3॥—अमरौघ., पृ. 11

'अमरौघशासन' में तीन श्लोक इसी प्रकार छपे हुए हैं। परन्तु जान पड़ता है किसी कारणवश तीसरी पंक्ति उलटी छप गयी है। उसे यदि चौथी पंक्ति मान लिया जाय और चौथी को तीसरी तो अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। प्रथम तीन पंक्तियाँ प्राण की व्याख्या हैं और अन्तिम तीन पंक्तियाँ कुण्डलिनी की।

स्वाधिष्ठान चक्र है जिसका आकार छः दलों के कमल का है। इस चक्र के ऊपर मणिपूरचक्र है और उसके भी ऊपर हृदय के पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्मों के आकार के है। इसके भी ऊपर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार सोलह दल के पद्म के समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल है। ये ही षट्चक्र है। इनमें सबके दलों की संयुक्त संख्या पचास है और यही समस्त स्वर और व्यंजनों की मिलित संख्या भी है। प्रत्येक दल पर एक-एक अक्षर की कल्पना की गयी है, प्रत्येक कमल की कर्णिका मे कोई-न-कोई देवता और शक्ति निवास करती है। यह सब बातें साधकों के काम की हैं। इस अध्ययन में उनका विशेष प्रयोजन नही है। फिर भी अन्यान्य साधनाओं से तुलना करने के लिए और इस मार्ग के तत्त्ववाद को समझने के लिए पाठकों को इसकी आवश्यकता हो भी सकती है। यही सोचकर एक सारणी आगे दी जा रही है जिससे सारी बातों का खुलासा हो जायगा। इन षट्चक्रो को भेद करने के बाद मस्तिष्क में वह शून्य चक्र मिलता है जहाँ उद्बुद्ध कुण्डलिनी को पहुँचा देना योगी का लक्ष्य है। यह सहस्रदलों के कमल के आकार का है, इसीलिए इसे सहस्रार भी कहते हैं। यही इस पिण्ड का कैलास है, यही पर शिव का निवास है।[1] इस महातीर्थ तक ले जानेवाली नाड़ी सुषुम्ना को इसीलिए शाम्भवी शक्ति कहा जाता है; क्योंकि वैसे तो प्राणवायु को वहन करनेवाली नाड़ियों की संख्या 72 हजार है, पर असल में यह शाम्भवी शक्ति सुषुम्ना ही सार्थक है, बाकी सब तो निरर्थक है।[2] इस प्रकार यह ठीक ही कहा गया है कि हठयोग असल मे प्राणवायु के निरोध को कहते हैं और राजयोग मन के निरोध को।

किन्तु 'योगशिखोपनिषद्' में राजयोग अन्य भाव से वर्णित है। उक्त उपनिषद् मे भी चार प्रकार के योग कहे गये है: मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इनमे हमारा प्रकृत विषय हठयोग है। मन्त्रयोग मे कहा गया है कि जीव के निश्वास-प्रश्वास में 'ह' और 'स' वर्ण उच्चरित होते है। 'ह' कार के साथ प्राणवायु बाहर आता है और 'स' कार के साथ भीतर जाता है। इस प्रकार जीव सहज ही 'हं-स.' इस मन्त्र का जप करता रहता है। गुरुवाक्य जान लेने पर सुषुम्ना मार्ग मे यही मन्त्र उल्टी दिशा में उच्चरित हो 'सोऽहं' हो जाता है और इस प्रकार योगी 'वह' (स.) के साथ 'मैं' (अहम्) का अभेद अनुभव करने लगता है। इसी मन्त्रयोग के सिद्ध होने पर हठयोग के प्रति विश्वास पैदा होता है। इस हठयोग में हकार सूर्य का वाचक है और सकार चन्द्रमा का। इन दोनों का योग ही हठयोग

1. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रार सरोरुहम
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थ बाह्ये तिष्ठति सर्वदा
कैलासोनाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।—शि., 5 151-152

2. द्वासप्ततिसहस्राणि नाड़ीद्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः॥—हठ., 5.18

पट्-चक्र

चक्र	स्थान	दल-सं.	वर्ण	तत्त्व और गुण	तत्त्व का रंग	मण्डल का आकार	बीज और वाहन	देवता और वाहन	धातु शक्ति	लिंग और योनि	अन्यान्यतत्त्व और इन्द्रिय	पीठ
1. मूलाधार	रीढ़ के अधो-भाग में पायु और मुष्कमूल के मध्य	4	व, श, ष, स,	पृथ्वी आकर्षण गन्ध	पीत	वर्गाकार	ल ऐरावत	ब्रह्मा हंस	डाकिनी	स्वयम्भू त्रैपुर, त्रिकोण	गन्धतत्त्व घ्राणेन्द्रिय पैर	कामाख्या
2. स्वाधिष्ठान	मेरुदण्ड में मेढ़ू के ऊपर	6	ब, भ, म, य, र, ल	जल, सकोचन रस	श्वेत	अर्द्ध चन्द्र	व मकर	विष्णु गरुड़	राकिनी	--	रसतत्त्व रसना, हाथ	
3. मणिपूर	मेरुदण्ड में नाभि के पास	10	ड, ढ, ण, त, थ, द, ध न, प, फ	तेज प्रसरण रूप	लाल	त्रिभुज	र मेष	रुद्र, वृषभ	लाकिनी	—	रूपतत्त्व, चक्षु, पायु	
4. अनाहत	हृदय के पास	12	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ	वायु गति स्पर्श	धूम्र	षट्कोण	य कृष्ण-मृग	ईश	काकिनी	बाण, त्रिकोण	स्पर्श, त्वचा, उपस्थ	पूर्णगिरि
5. विशुद्धाख्य	कण्ठ के पास	16	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः	आकाश अवकाश शब्द	श्वेत	वृत्त	ह श्वेत हस्ती	सदाशिव	शाकिनी		शब्द कान वाक्	जालधर
6. आज्ञा	भ्रुवों के बीच में	2	ह, क्ष	मन	×	×	ओं	शम्भु	हाकिनी	इतर, त्रिकोण	महत् सूक्ष्मप्रकृति हिरण्यगर्भ	वायुयान

है। हठयोग से जड़िमा नष्ट होती है और आत्मा-परमात्मा का अभेद सिद्ध होता है। इसके बाद वह लययोग शुरू होता है, जिसमें पवन स्थिर हो जाता है और आत्मानन्द का सुख प्राप्त होता है।[1] इस लययोग की साधना से भिन्न अन्तिम मार्ग राजयोग है। योनि के महाक्षेत्र में जपा और बन्धूक पुष्पों के समान लाल रज रहा करता है। यह देवीतत्त्व है। इस रज के साथ रेत का जो योग है वही राजयोग है।[2] इससे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निश्चय ही यहाँ पारमार्थिक अर्थ में 'रज' और 'रेतस्' (शुक्र) का उल्लेख हुआ है। परन्तु शब्दों का प्रयोग अपूर्व तथा अर्थपूर्ण है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने इसकी टीका में विशेष कुछ नहीं लिखा। सिर्फ इतना और भी जोड़ दिया है कि शिश्नमूल का 'रेतस्' शिवतत्त्व है।[3]

हमने ऊपर देखा है कि गोरक्षनाथ ने स्वयं कहा है कि जो व्यक्ति छ: चक्र, सोलह आधार और दो लक्ष्य तथा व्योमपंचक को नहीं जानता, वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। षट्चक्र की बात ऊपर बतायी गयी है। आधार सोलह है: दृष्टि को स्थिर करनेवाला (1) पादांगुष्ठ; अग्नि को दीप्त करनेवाला (2) मूलाधार; संकोच-विकास के अभ्यास द्वारा अपान वायु को वज्रगर्भनाड़ी में प्रवेश कराकर शुक्र और रज को आकर्षण करानेवाली वज्रोली के सहायक (3) गुह्याधार और (4) बिन्दुचक्र; मलमूत्र और कृमि का विनाशक (5) नाड्याधार; नादोत्पादक (6) नाभिमण्डलाधार; प्राण-वायु का रोधक (7) हृदयाधार; इड़ा पिंगला में प्रवहमान वायु को रोकनेवाला (8) कण्ठाधार; और कण्ठमूल का वह (9) क्षुद्रघण्टिकाधार जिसमें दो लिंगाकार लोरे लटक रही हैं, जहाँ जिह्वा पहुँचाने से ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमण्डल का झरता हुआ अमृतरस पीना सहज होता है; खेचरी मुद्रा का सहायक (10) तालवन्ताधार; जिह्वा के अधोभाग में स्थित (11) रसाधार; रोगशामक (12) ऊर्ध्वदन्तमूल; मन को स्थिर करनेवाला (13) नासिकाग्र; ज्योति को प्रत्यक्ष करने में सहायक (14) नासामूल; सूर्याकाश में मन को लीन करनेवाला (15) भ्रूमध्याधार; और (16) सोलहवाँ नेत्राधार जिसमें ज्योति प्रत्यक्ष अवभासित होती है। ये सब बाह्यलक्ष्य हैं। आन्तरलक्ष्य षट्चक्र हैं। दो लक्ष्य यही हैं। पाँच आकाश इस प्रकार है: (1) श्वेतवर्ण ज्योतिरूप आकाश, इसके भीतर (2) रक्तवर्ण ज्योतिरूप प्रकाश है, इसके भी भीतर (3) धूम्रवर्ण महाकाश, फिर (4) नीलवर्ण ज्योतिरूप तत्त्वाकाश है, और इसके भी भीतर विद्युत् के वर्ण का

1. योग शिखोपनिषत् (129-135)
2. योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूकसन्निभम्।
रजो वसति जन्तूना देवीतत्त्वं समावृतम्॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृत।
अणिमादि पद प्राप्य राजते राजयोगत॥—योगशिखोपनिषत्, 136-137
3. राजयोगलक्षणमाह। योनीति। शशि (शिश्न 1) स्थाने रेतो वर्तते तद्धि शिवतत्त्वम्।

ज्योतिरूप (5) सूर्याकाश है।[1]

इन विविध ध्यानों को आसन, प्राणायाम और मुद्रा के अभ्यास से सिद्ध किया जाता है। मुद्रा का उद्देश्य शक्ति को ऊपर की ओर चलाना है, इसीलिए 'अमरौघ-शासन' में मुद्रा को 'सारणा' (=चलानेवाली) कहा गया है। अब, अगर विचार किया जाय तो जीव के जन्म-मरण का कारण, इस सृष्टि-चक्र में पच-पचकर मरने का रहस्य, सिर्फ यही है कि किसी अनादिकाल में शिव और शक्ति क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होने के लिए अलग-अलग स्फुटित हुए थे। शिव और शक्ति जिस दिन समरस होकर एकमेव हो जायेंगे, उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टिचक्र अपने-आप निःशेष हो जायेगा। शक्ति कुण्डलिनीरूप में देह में स्थित है और शिव भी सहस्रार में विराजमान है। जन्म-जन्मान्तर के संचित मलों के भार से कुण्डलिनी दबी हुई है। एक बार यदि मनुष्य ध्यान-धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाड़ियों को शोधकर पवित्र करे तो वह परमपवित्र सुषुम्नामार्ग खुल जाय जिसके ब्रह्मरन्ध्र को ढँककर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोयी हुई हैं। वस्तुतः यह सृष्टि ही कुण्डलिनी है। वह दो प्रकार की हैं—स्थूल और सूक्ष्म। साधारणतः स्थूलरूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं, अज्ञान के बोझ से दबे रहने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नहीं जान पाते। सिद्धियाँ स्थूला कुण्डलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं, परन्तु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी—परा संवित्—जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है उसको पहचाने बिना परमपद नहीं मिलता। शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है—इसी को पिण्डाब्रह्माण्डैक्य भी कहते हैं—तो योगियों की परमकाम्य कैवल्य अवस्थावाली सहजसमाधि प्राप्त होती है, जिससे बढ़कर आनन्द और नहीं है। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेदपाठ से नहीं, ज्ञान से भी नहीं, वैराग्य से भी नहीं।[2] जो इस सहजसमाधि रूप परमविश्राम को पाना चाहे, वह अच्छे गुरु के चरणकमलों की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा और न शिव-शक्ति-सामरस्य ही :

अनुब्रूभूपति यो निजविश्रम
स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसंसरणात् परमं पदं
समरसीकरणं च न दूरतः॥
—सि. सि. सं., 559

1. सि. सि. सं., द्वितीय उपदेश, गो. प., पृ. 12-14
2 सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु।
ततः सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिमहेश्वरी॥—सि. सि. सं., 4 30-32

2. गोरक्ष-सिद्धान्त

गोरक्षनाथ के नाम पर जितने भी ग्रन्थ पाये जाते है, वे प्राय: सभी साधन-ग्रन्थ हैं। उनमें साधना के लिए उपयोगी व्यावहारिक तथ्यो का ही सकलन है। बहुत कम पुस्तकें ऐसी है जिनसे उनके दार्शनिक मत का, और सामाजिक जीवन मे उसके उपयोग का प्रतिपादन हो। सरस्वती भवन टेक्स्ट सिरीज मे 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' नाम की एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक अधूरी ही छपी है। इसके सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान् म. म. पं. गोपीनाथ कविराज है। पुस्तक की संस्कृत हल्की, और स्थान-स्थान पर, अशुद्ध भी है। इसमें भी सन्देह नही कि पुस्तक हाल की लिखी है। फिर भी इसका लेखक बहुश्रुत जान पड़ता है। पुस्तक में पुरानी 58 पोथियों के प्रमाण संग्रह किये गये है।[1] उद्धृत पुस्तकों मे से अनेक उपलभ्य

1. निम्नांकित पुस्तकों के प्रमाण उद्धृत किये गये हैं :

1. सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति	27. शक्ति संगम तन्त्र
2. अवधूत गीता	28. हठ प्रदीपिका
3. सूतसंहिता	29. सिद्धान्त बिन्दु
4. ब्रह्मबिन्दुउपनिषत्	30. शाबरतन्त्र
5 कैवल्योपनिषत्	31. षोडशनित्यातन्त्र
6. तेजबिन्दूपनिषत्	32. षट्शाम्भव रहस्य
7. अमनस्क	33. पद्मपुराण
8. विवेकमार्तण्ड	34. महाभारत
9. ध्यानबिन्दूपनिषत्	35. कवेषय गीता
10. मुण्डक उपनिषत्	36. सनत्सुजातीय
11. आत्मोपनिषत्	37. बह्वृचब्राह्मण
12. अमृतबिन्दु उपनिषत्	38. शिव उपनिषत्
13. मनुस्मृति	39. माण्डूक्य उपनिषत्
14. उत्तरगीता	40. भागवत
15. वायुपुराण	41. योगवी
16. मार्कण्डेय पुराण	42. कपिलगीता
17. गीता	43. गोरक्षस्तोत्र
18. तन्त्रमहार्णव	44 कल्पद्रुमत तन्त्र का गोरक्ष सहस्रनाम
19. क्षुरिका उपनिषत्	45. सारसंग्रह
20. गोरक्ष उपनिषत्	46. स्कन्दपुराण
21. बृहदारण्यक उपनिषत्	47. रुद्रयामल
22. छान्दोग्य उपनिषत्	48. तारामुक्ति
23. कालाग्निरुद्र उपनिषत्	49. कुलार्णव तन्त्र
24. ब्रह्मोपनिषत्	50. वायुपुराण
25. सर्वोपनिषत्	51. सूत संहिता
26 राजगुह्य	52. आदिनाथ संहिता

नही है।

यह तो कहना ही व्यर्थ है कि गोरक्षनाथ के पहले योग की बड़ी जबर्दस्त परम्परा जो ब्राह्मणो और बौद्धों मे समान रूप से मान्य थी, उसका एक विशाल साहित्य था। नाना उपनिषदों में नाना भाव से योग की चर्चा हुई है और बौद्ध साधकों के पास तो कायायोग का साहित्य अन्यान्य अंगों से कहीं बडा था। इन सबसे गोरक्षनाथ ने सार संग्रह किया होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं और यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नही रह गया है कि कहाँ से कितना अमृत उन्होने संग्रह किया था। अब भी योग-साधना बतानेवाली उपनिषदें कम नही है।[1] यह कह सकना वड़ा कठिन है कि इनमें से कौन-सी गोरक्षनाथ के पहले की लिखी हुई हैं और कौन-सी बाद की। डॉ. डायसन[2] ने कालक्रम से इन उपनिषदो को चार भागो में विभक्त किया है :

1. प्राचीन गद्य उपनिषत्
2. प्राचीन छन्दोवद्ध उपनिषत्
3. परवर्ती गद्य उपनिषत्
4. आथर्वण उपनिषत्

ये क्रमशः परवर्ती है। आथर्वण उपनिषदों मे संन्यास उपनिषद्, योग उपनिषद्, सामान्य वेदान्त उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद् तथा शैव और शाक्तादि उपनिषद् शामिल है। पता नही किस आधार पर डायसन ने इन सबको आथर्वण उपनिषद् कहा है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने 20 योगोपनिषदो मे एक को भी 'अथर्ववेद' से

→ 53 ब्रह्मवैवर्त	56 योगशास्त्र
54, शिवपुराण	57. श्रीनाथसूत्र
55 परमहंस उपनिषत्	58 अखण्ड खण्ड

1. मद्रास की अडयार लाइब्रेरी से अ. महादेव शास्त्री ने 1920 ई मे 'योग उपनिषद्' नामक एक योग-विषयक उपनिषदो का संग्रह प्रकाशित किया है। ये सभी उपनिषदें अष्टोत्तरशत उपनिषदो में प्रकाशित हो चुकी हैं, परन्तु शास्त्रीजी के संस्करण मे यह विशेषता है कि उसमे उपनिषद्ब्रह्मयोगी की व्याख्याएँ भी हैं। इस संग्रह की उपनिषदो के नाम ये हैं :

1. अद्वयतारकोपनिषत्	11 ब्रह्मविद्योपनिषत्
2 अमृतनादोपनिषत्	12. मण्डलब्राह्मणोपनिषत्
3. अमृतबिन्दूपनिषत्	13. महावाक्योपनिषत
4. क्षुरिकोपनिषत्	14 योगकुण्डल्युपनिषत्
5. तेजोबिन्दूपनिषत्	15 योगचूड़ामण्युपनिषत्
6. त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत्	16. योगतत्त्वोपनिषत्
7. दर्शनोपनिषत्	17. योगशिखोपनिषत्
8. ध्यानबिन्दूपनिषत्	18. वराहोपनिषत्
9. नादबिन्दूपनिषत्	19 शाण्डिल्योपनिषत्
10. पाशुपतब्रह्मोपनिषत्	20 हंसोपनिषत्

2. 'फिलासफी आफ उपनिषत्स', पृ. 22-26

सम्बद्ध नही माना। परन्तु डायसन का यह कथन ठीक जान पड़ता है कि योग उपनिषद् परवर्त्ती हैं। यदि यह मान लिया जाय कि षडंगयोग गोरक्षनाथ आदि का प्रवर्तित है, आसनों की सख्या अधिक मानना हठयोगियों का प्रभाव है और नादानु-सन्धान इन लोगों की ही विशिष्ट साधना है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें कई उपनिषद् गोरक्ष-परवर्त्ती हैं। 'अमृतनाद', 'क्षुरिका', 'ध्यानविन्दु' और 'योग-चूड़ामणि' आदि उपनिषदों मे षडंग योग की चर्चा है, 'दर्शनोपनिषद्' में नौ और 'त्रिशिखब्राह्मण' में अठारह आसन बताये गये हैं। 'ब्रह्मविन्दु' और 'ब्रह्मविद्या' आदि उपनिषदों में नादानुसन्धान का उल्लेख है; योगतत्त्व, योगशिखा और योगराज उपनिषदों में चार प्रकार के योग और प्राणापान समीकरण की विधि है। कई उपनिषदों में जालन्धर और उड्डियान बन्धों की चर्चा है। यह जोर देकर नही कहा जा सकता कि ये सारी उपनिषदें गोरक्षनाथ के बाद ही लिखी गयी हैं—कुछ में प्राचीनता के चिह्न अवश्य हैं—परन्तु इनमें से अधिकाश पर उनका प्रभाव पड़ा है, यह अस्वीकार नही किया जा सकता।

'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में प्रायः सभी मुख्य-मुख्य योगोपनिषदों के वाक्य प्रमाण रूप से उद्धृत किये गये है। कुछ ऐसी भी है जो इस संग्रह में उपलब्ध नही हैं। गोरक्ष, सर्वकालाग्नि और शिव उपनिषदें ऐसी ही है। अड्यार लाइब्रेरी ने 71 उपनिषदों का एक और उपनिषत्-संग्रह प्रकाशित किया था। उसमें 'शिवोपनिषत्' है, पर और नही हैं। इस प्रकार 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' के उद्धृत वाक्य महत्त्वपूर्ण जान पड़ते है। जो हो, परवर्त्ती साधना-साहित्य के अध्ययन के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। उस पुस्तक के सिद्धान्तों को संक्षेप में यहाँ संग्रह किया जा रहा है।

ग्रन्थ के आरम्भ में ही गुरु की महिमा बतायी गयी है। गुरु ही समस्त श्रेयों का मूल है, इसलिए बहुत सोच-समझकर गुरु बनाना चाहिए।[1] एकमात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है; अवधूत—जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराजमान है, जिनके एक हाथ मे त्याग है और दूसरे में भोग है और फिर भी जो त्याग और भोग दोनो से अलिप्त है। 'सूतसंहिता' में कहा गया है कि वह वर्णाश्रम से परे है, समस्त गुरुओ का साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बडा है न बराबर। इस प्रकार के पक्षपात-विनिर्मुक्त मुनीश्वर को ही अवधूत कहा जा सकता है, उसे ही 'नाथ पद' प्राप्त हो सकता है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति है जो द्वैत और अद्वैत के द्वन्द्व से परे है। 'अवधूतगीता' मे कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैत को चाहते हैं, कुछ द्वैत को; पर द्वैताद्वैतविलक्षण समतत्त्व को कोई नही जानता। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और

1. तुलनीय– सि. सि. सं., पंचम उपदेश।

निरन्तर हैं तो यह अद्वैताद्वैत कल्पना क्या मोह नहीं है ?[1] इसीलिए सिद्ध जालन्धरनाथ ने *द्वैत और अद्वैत दोनों से परे—द्वैताद्वैत-विलक्षण*—कहकर स्तुति की है।[2]

यह मत वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनों के मत से अपनी विशेषता प्रतिपादित करता है।[3] श्रुति इन लोगों के मत से साधिका नहीं है।[4] वेद दो प्रकार के माने गये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञयाग का विधान करते हैं। योगियों को इससे कोई वास्ता नहीं, उनका मतलब तो केवल ओंकार-मात्र से है। यह ओंकार ही सूक्ष्म वेद है।[5] पुस्तकी विद्या का इसमें बड़ा मजाक उड़ाया गया है[6] और अद्वैत मत से नाथमत का उत्कर्ष दिखाया गया है। इस सिलसिले में एक मनोरंजक कहानी दी गयी है। शंकराचार्य अपने चार शिष्यों सहित नदीतीर पर बैठे थे। वहीं भैरव उनकी परीक्षा लेने के लिए कापालिक रूप में उपस्थित हुए और बोले कि 'आप तो अद्वैतवादी हैं, शत्रु और मित्र को समान भाव से देखते है, कृपया मुझे आपका सिर काट लेने दीजिए।' शंकराचार्य चक्कर में पड़ गये। दोनों ओर आफत थी, देते है तो प्राण जाता है, नहीं देते तो अद्वैत मत स्वतः परास्त हो जाता है। उन्हे निरुपाय देखकर शिष्यों में से एक ने नृसिंह भगवान् को स्मरण किया। वे तुरन्त घटनास्थल पर पहुँच भैरव से भिड़ गये। तब भैरव ने कापालिक वेश परित्यागकर अपना रूप धारण किया और प्रसन्न होकर मेघमन्द्र स्वर में कहा, 'अहो, अद्वैतवाद आज पराजित हुआ, मैंने चालाक मल्ल की भाँति अपने शरीर की हानि करके भी प्रतिद्वन्दी को परास्त कर दिया। आओ, युद्ध करो।' शंकराचार्य इस ललकार का मुकाबला नहीं कर सके, क्योंकि उनकी अद्वैत-साधना से संचित

1 अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देव. स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना॥

—'*अवधूतगीता*', पृ. 11

2. वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा।
सत्कर्तृव्यापक त्वां पवनगतिकर व्योमवन्निर्भर वा।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्पर भस्ममिश्रं
द्वैतं वाऽद्वैतरूप द्वय उतपर योगिन शकर वा॥

3. देखिए वही, पृ. 1-2

4. *वही, पृ. 22-28, 75-76*

5. वही, पृ. 26

6 तुल.—

पढ़ा लिखा सुआ बिलाई खाया पंडित के हाथि रह गई पोथी।

—'गोरखबानी', पृ. 42

और क्रियमाण कर्म तो दग्धबीज की भाँति निष्फल हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म बने ही रहते है। एक कापालिकों का योगमार्ग ही ऐसा है जिसमे सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। सो, प्रारब्ध कर्मो के प्रताप से शंकर जड़ हो गये। तब जाकर उन्होंने समझा कि उत्तम मार्ग क्या है। इसी अवस्था मे उन्होंने 'सिद्धान्तविन्दु' की रचना की, जो असल में नाथमत का ग्रन्थ है। इसी अवस्था में उन्होंने 'वज्रसूचिकोपनिषद्' भी लिखी!

मुक्ति क्या है ? मुक्ति वस्तुतः नाथस्वरूप में अवस्थान है। इसीलिए 'गोरक्ष-उपनिषद्' में कहा गया है कि अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता है अर्थात् अद्वैतभाव ही चरम नहीं है, सदानन्दवाली अवस्था उसके ऊपर है। वह बाह्याचार के पालन से नही मिल सकती। इस मत के अनुसार शक्ति सृष्टि करती हैं, शिव पालन करते हैं, काल संहार करते हैं और नाथ मुक्ति देते है। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा है, बाकी सभी बुद्ध जीव हैं—शिव भी, विष्णु भी और ब्रह्मा भी (पृ. 70)। न तो ये लोग द्वैतवादियों के क्रिया-ब्रह्म में विश्वास रखते हैं, न अद्वैतवादियों के निष्क्रिय ब्रह्म में। द्वैतवादियों के स्थान हैं कैलास और वैकुण्ठ आदि, अद्वैतवादियों का माया-प्रबल ब्रह्मस्थान और योगियों का निर्गुण स्थान है; पर बंधन्मुक्तिरहित परम-सिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुण से परे उभयातीत स्थान को ही मानते है; क्योंकि नाथ, सगुण और निर्गुण दोनों से अतीत परात्पर हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव, वेद, यज्ञ, सूर्य, चन्द्र, विधिनिषेध, जल, स्थल, अग्नि, वायु, दिक् और काल—सबसे परे स्वयं ज्योतिःस्वरूप एकमात्र सच्चिदानन्द मूर्ति है।

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापिवायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैवकालः
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधि नैविकल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते।

—'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति'

3. प्रणव, सूक्ष्मवेद और परासंवित्

इस देश में निर्गुण ज्ञान-मार्ग की परम्परा बहुत पुरानी है। वेद की मूल संहिताओं में ही सगुण आत्मज्ञान और निर्गुण के बीज उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु संहिता-भाग में सगुण आत्मज्ञान पर अधिक बल है। वागम्भृणी के इस कथन में कि 'अहं विश्वेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः,' सर्वव्यापी ऐश्वर्यगुणसम्पन्न सगुण आत्मज्ञान है। इस प्रकार के अनेक वचन मूल संहिताओं मे खोजे जा सकते हैं जहाँ आत्मा को सर्वज्ञत्व, सर्वव्यापित्व, और सर्वकर्तृत्व आदि धर्मों या गुणों से युक्त बताया गया है। परन्तु उन्ही दिनों निर्गुण आत्मज्ञान की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। बाद में कपिल ऋषि ने इस निर्गुण आत्मज्ञान को विशुद्ध तत्त्वचिन्तनमूलक दर्शन का रूप दिया जिसे 'सांख्य' कहते हैं। सांख्य दर्शन इस देश का बहुत पुराना तत्त्व-चिन्तनपरक शास्त्र है। कुछ लोग तो इसे सबसे पुराना दर्शन कहते हैं और

महाभारत के शान्तिपर्व के निम्नांकित श्लोक को अपने विश्वास के प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं :

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु साङ्ख्येषु तथैव योगे ॥
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥

[हे राजन् ! बड़े लोगों में जो ज्ञान है, और जो पुराण, वेद, सांख्य और योग-शास्त्र में उपदिष्ट है और जो ज्ञान विविध रूपों में पुराणों में पाया जाता है, वह सभी सांख्य से ही आया है।]

सांख्य और योग का तत्त्वदर्शन एक ही है। कपिल ने निर्गुण आत्मज्ञान को युक्ति-तर्क द्वारा प्रतिष्ठित किया था। उसे प्राप्त करने का उपाय बतानेवाला शास्त्र योग है। प्राचीन शास्त्रों से जान पड़ता है कि जो लोग तत्त्वनिदिध्यासन, मनन, चिन्तन आदि द्वारा निर्गुण आत्मज्ञान का साक्षात्कार करते थे वे 'सांख्य' कहलाते थे और जो तप, स्वाध्याय और अभ्यासवैराग्य द्वारा इस 'केवल' स्वरूप का साक्षात्कार करते थे वे योगी कहलाते थे। दोनों का तत्त्वज्ञान एक था। कुछ लोग कहते हैं कि मूल सूत्रों से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद हू-ब-हू एक ही है। जो भी हो, परम्परा से यही विश्वास किया जाता है कि ये दोनों तत्त्ववाद एक ही है। 'गीता' में भगवान् ने कहा है कि केवल बालबुद्धि के लोग ही सांख्य और योग को पृथक् मानते है, पण्डितजन ऐसा नहीं समझते। इस सांख्यमत में पुरुष अनेक हैं, प्रकृति उन्हें अपने बन्धन में बाँधती है। है दोनों ही अनादि। पुरुष विशुद्ध चेतनस्वरूप है, उदासीन है और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक वह बन्धन में है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति में तीन गुण—सत्त्व, रजस्, तमस्—साम्यावस्था में रहते हैं। पुरुष के संयोग से यह साम्यावस्था विक्षुब्ध होती है और क्रमशः उस बन्धनरूप जगत् का विकास होता है। बुद्धि, मन, इन्द्रिय और भूतमात्र प्रकृति की ही विकृति हैं। गुणों की कमी-बेशी के कारण वे भिन्न रूपों में दिखायी दे रहे हैं। पुरुष कभी देह को, कभी मन को, कभी बुद्धि को अपना रूप मानता रहता है। ज्ञान होते ही वह इस गुणमयी प्रकृति से अलग होकर 'केवल' शुद्ध चेतन के रूप में आ जाता है। केवल रूप में बने रहने की इस अवस्था का ही नाम कैवल्य या मोक्ष है। योगशास्त्र में इसी 'केवल' रूप में स्थित होने की अवस्था को प्राप्त करने के उपाय बताये गये हैं।

इस अवस्था में चेतनस्वरूप पुरुष स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करता है। इसीलिए योगशास्त्र में उसे 'स्वप्रकाश' कहा जाता है। 'पातंजल' में पुरुष को द्रष्टा कहा गया है। द्रष्टा दृशिमात्र है, वह प्रत्ययानुपश्य है (2.20)। टीकाकारों ने 'दृशि' का अर्थ किया 'चित्' या स्वबोध। 'मात्र' प्रत्यय के प्रयोग से उसे सर्वविशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य कहा गया है। केवल, स्वबोधमात्र। सर्वविशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य जो बोध है वही द्रष्टा है। इसी विचार से आगे चलकर 'स्वसंवेदन' ज्ञान और ज्ञाता के विचारों का विकास हुआ है।

यह संसार द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से या गृहीता, ग्राह्य और ग्रहण रूप से त्रिपुटीकृत है। योगशास्त्र में गृहीता और द्रष्टा में अन्तर बताया जाता है। द्रष्टा अविकारी ज्ञाता है, गृहीता विकारी। द्रष्टा और गृहीता एक जैसे तो है, पर एक नही हैं। गृहीता बद्ध या अज्ञानी जीव है। बद्ध जीव में कभी तो जानने की वृत्ति जाग्रत रहती है, कभी निरुद्ध। इसीलिए वह केवल 'गृहीता' कहा जाता है। मैं द्रष्टा हूँ, इस प्रकार की बुद्धि ही गृहीता है। परन्तु द्रष्टा सदा स्वद्रष्टा है। अपने को आप ही देखनेवाला। उसका ज्ञान उससे भिन्न नहीं है। वह स्वसंवेदन है। उपनिषदों में कहा गया है कि जो ज्ञाता है, उसे कौन जान सकता है। वह स्वयं को जानता है, स्वयं ही वेदक है, स्वयं ही वेद्य, वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नही है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्', 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोवर्तते—'

(बृह. उप.)

इसी 'स्वसंवेद' शब्द से प्राकृत का 'सुसंवेद' बना है। 'सुसंवेद' ही आगे चलकर 'सुच्छंवेद' और 'सुच्छमवेद' के रूप में परिवर्तित हुआ। यह सुच्छमवेद संस्कृत मे फिर से गृहीत हुआ। परवर्ती नाथपन्थियो ने अपने संस्कृतग्रन्थों में 'सूक्ष्मवेद' शब्द का व्यवहार किया है। 'सिद्धसिद्धान्त संग्रह' में सूक्ष्मवेद और स्थूलवेद, ये दो भेद किये गये है (पृ. 22-27 और पृ. 75-76)। इस ग्रन्थ के अनुसार स्थूलवेद यज्ञ-याग का विधान करते हैं और सूक्ष्मवेद प्रणव या ओंकार है; क्योंकि ओंकार ही वेदों का सार है।

यही निर्गुण आत्मज्ञान है।

भारतवर्ष के सभी आस्तिक दर्शन और पुराण आदि शास्त्र अपने को वेद पर आधृत या श्रुतिसम्मत मानते है। वेदान्तशास्त्र वेद-सम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करता है। श्रुतियों में परात्परतत्त्व को समझाने के लिए अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ दी गयी हैं। उनमे से किसी एक को मुख्य वक्तव्य या महावाक्य मानकर उसी के आलोक में शेष अनुभूतियों की व्याख्या करने के कारण अनेक वेदान्ती मत प्रसिद्ध हुए है, परन्तु सभी वेदान्ती मानते है कि मनुष्य का सबसे बड़ा लक्ष्य—परमपुरुषार्थ—इस दुःखमय जगत् से छुटकारा पाना—मोक्ष—है। उनके मत से संसार दुःखरूप है और मोक्ष ब्रह्मस्वरूप ही है। कहा गया है कि जब मनुष्य जान जाता है कि वह क्या है, उसका स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न है, तो उसका छुटकारा भी हो जाता है। वह जो छूट नहीं रहा है, उसका कारण अज्ञान या गलत जानकारी है। इसी गलत जानकारी को 'अविद्या' कहते हैं। सही जानकारी का नाम पराविद्या है। इस सही जानकारी का एकमात्र विषय है—आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान। इसीलिए वेदान्तशास्त्र को 'अध्यात्मविद्या' या 'ब्रह्मज्ञान' भी कहते है। जो वास्तविक ज्ञान है, उसे परासंवित् कहते है।

संसार में ज्ञान के लिए तीन बातें वर्तमान रहती है। कोई जाननेवाला होता है (ज्ञाता), कुछ बातें जानी जाती हैं (ज्ञेय) और कुछ जानकारी प्राप्त होती है (ज्ञान)। इस प्रकार संसार में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान पृथक्-पृथक् होते हैं। परब्रह्म

की जानकारी इससे भिन्न प्रकार की है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अलग नहीं होते। जो ज्ञाता (आत्मा) है वही ज्ञेय (परंब्रह्म) भी है और वही ज्ञान (परा-संवित्) भी है। श्रुतियों में कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। और ब्रह्म क्या है? विशुद्ध चित्स्वरूप। सो, एक बार ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो संवित् है, जो संवेत्ता है और जो संवेदन है वह सब एक ही हैं। परासंवित् की प्राप्ति केवल व्यवहार की भाषा है। परा-संवित् स्व-संवेदन ज्ञान है। स्वयं स्वयं को देखना ही स्वसंवेद है। यही पराविद्या है, यही परासंवित् है। इसीलिए जिस परतत्त्व को वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है, और शैवागमों में शिव कहा जाता है, उसे 'स्वयं' नाम दिया जाता है—स्वयं स्वयं का प्रकाशक, स्वयं स्वयं का ज्ञाता और स्वयं स्वयं का ज्ञान :

कार्य-कारण-कर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत्॥

इस अभेदमूलक आत्मज्ञान ने आगे चलकर सांख्य योग में प्रथित निर्गुण आत्म-ज्ञान को प्रभावित किया है। आगमशास्त्रों में अनेक प्रकार से इस परासंवित् की महिमा बतायी गयी है। अनेक साधनाओं के बाद चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, तब वस्तुत: ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। वही महानन्दा-वस्था है। उसे केवल संवित्मात्र, स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध, आत्मतत्त्व साक्षात्कार होता है। फिर साधक नित्य अस्खलित भाव से उस अवस्था में स्थित हो जाता है और नानात्व का, भेद-बुद्धि का अवसान हो जाता है। 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' में इसी भाव को बताने के लिए कहा गया है :

निजावेशात् सम्यङ् निविड़तमनैरुत्थ्यविधिवत्।
महानन्दावस्थास्फुरति वितता काऽपि सततम्॥
ततः संविन्नित्यामलसुखचमत्कारजनकः।
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः॥

यह विद्या किसी शास्त्र के द्वारा नहीं समझायी जा सकती। अधिक-से-अधिक उसकी ओर इंगित किया जा सकता है। यह अनुभवैकगम्य है, स्वसंवेद्य है।

स्वसंवेदन ज्ञान ही सूक्ष्मवेद है—शब्द रूप में भी और अर्थरूप में भी। परन्तु नाथयोगी प्रणव या ओंकार को ही सूक्ष्मवेद मानते हैं। इसका क्या अर्थ है? आत्म-ज्ञान के लिए आवश्यक है कि अनात्म वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लिया जाय। अभेद का ज्ञान तभी हो सकता है जब ठीक-ठीक मालूम हो जाये कि यह प्रपंचात्मक भेद क्यों ऐसा दिखायी दे रहा है। इसके लिए शास्त्रों में इस भेदात्मक विश्व का कारण समझाया गया है। यह प्रपंच कैसे बना? बना तो क्या अव-भासित हो रहा है? इसकी भासमानता की क्या प्रक्रिया है?

कोई नहीं बता सकता कि परिदृश्यमान विश्वप्रपंच कब शुरू हुआ। इसीलिए यह अनादि कहा जाता है। श्रुति से जाना जाता है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म को

इच्छा हुई कि 'मैं एक हूँ अनेक होऊँ'—'एकोऽहं बहुस्याम्'। क्यों उसे इच्छा हुई ? उसे किस बात का अभाव था ? कोई नहीं बता सकता। यह उसकी लीला है। यही इच्छा प्रथम स्पन्द है। ज्ञान से इच्छा हुई और इच्छा ने क्रिया का रूप धारण किया। इस प्रकार ज्ञान-इच्छा-क्रिया का क्रम शुरू हो गया। वस्तुतः सारा जगत् ज्ञान-इच्छा-क्रिया रूप में त्रिपुटीकृत है। शाक्त आगमों में इस त्रिपुटीकरणवाली शक्ति को ही 'त्रिपुरा' कहा गया है। ब्रह्म की यह एक शक्ति है। शैव आगमों में परब्रह्म को ही 'परशिव' कहते हैं।

इस वेदवाक्य के आधार पर ही समस्त आस्तिक दर्शन सृष्टि-प्रपंच की व्याख्या करते हैं। ज्यों ही ब्रह्म में इच्छाशक्ति का आविर्भाव हुआ, त्योंही वह सगुण हो गया। सृष्टि का हेतु यह सगुण ब्रह्म ही है। वेदान्त इसी को अपरब्रह्म कहता है और शैवागम अपरशिव। यही प्रथमा कला का प्रादुर्भाव होता है; इसलिए शैवागम इसे 'सकल' परमात्मा कहते हैं। सकल अर्थात् कलायुक्त। सच्चिदानन्दविभव परब्रह्म या परशिव से सगुण अपरब्रह्म या सकल परमेश्वर तक आने की स्थिति तक कितने ही रूपों की कल्पना की जा सकती है। पर (सुप्रीम) तत्त्व क्रमशः सूक्ष्म (सटल्) और फिर क्रमशः स्थूल (ग्रॉस) रूप में व्यक्त हो रहा है। एक रूप से दूसरे तक पहुँचने की अन्तवर्ती अवस्थाएँ अनेक होंगी, अनन्त हो सकती हैं। साधना-मार्ग के यात्रियों ने अपने अनुभव अनेक प्रकार के बताये हैं। मूल बात यह है कि सगुण ब्रह्म या सकल परमात्मा में जो इच्छा हुई वह एक प्रकार का स्पन्द या कम्पन (वाइब्रेशन) है, उपनिषदों की भाषा में 'एजन' है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द या नाद कम्पन का ही मूर्त रूप है। इसलिए शैव और शाक्त आगमों में ब्रह्म की (या शिव की) इस इच्छा को 'नाद' कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य अपने कानों से जो शब्द सुनता है वह स्थूल है, बहुत स्थूल। केवल बौद्धिक दृष्टि से हम उस प्रथम सूक्ष्म स्पन्द की बात सोच सकते हैं। इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ क्रिया लगी है। क्रिया को ही बिन्दु कहते हैं। 'शारदा-तिलक' (1.7) में कहा गया है कि सच्चिदानन्द विभव शिव सकल (कलासहित, सगुण) परमात्मा के रूप में प्रकट हुए और उन्हीं की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई :

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमात्मनः।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तमाद्बिन्दुसमुद्भवः।

सकल परमात्मा की इस शक्ति को ज्ञानशक्ति कहते हैं। नाद इच्छाशक्ति है, बिन्दु क्रियाशक्ति है। यही ज्ञान-इच्छा और क्रिया का त्रिकोण है। नाद या इच्छा-शक्ति गति है, बिन्दु या क्रियाशक्ति स्थिति। गति और स्थिति मिलकर रूप या आकार प्रकट करते हैं।

यद्यपि यह परम सूक्ष्म तत्त्व है, स्थूल उच्चरित शब्द से उसका ठीक-ठीक तात्पर्य नहीं समझा जा सकता, पर लाचारी यह है कि उसको मानस पटल पर ले आने का साधन तो हमारे पास यही स्थूल शब्दोंवाली भाषा है। सो, जब हम उस

तत्त्व को समझाने के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं तो सारी बात उसमें अँटती नहीं। इसलिए ऐसे प्रसगों मे भाषा को साधनमात्र मानना चाहिए। उसकी सीमा मे नहीं उलझना चाहिए। यहाँ स्थूल शब्दों में इस बात को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। मान लीजिए प्रथम स्पन्द नादरूप मे प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर अ-कार है। सबसे स्थूल ओष्ठ्य वर्णों का अन्तिम म-कार है जो ओष्ठों को तो बन्द कर ही देता है, नाक तक की सहायता लेता है। अब, हमारा जाना हुआ मूलस्वर या नाद अ-कार ही है। मान लीजिए, प्रथम स्पन्द 'अ' रूप मे गतिशील हुआ। यदि सिर्फ गतिशील ही रहे तो कम्पन या स्पन्द नहीं होगा। स्थिति भी चाहिए। नाद ही गति है, बिन्दु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही जगत् है। सो गति रूप नाद सृष्टि के लिए आवश्यक है, उसके साथ बिन्दु भी। मकार अनुस्वार या चन्द्रबिन्दु रूप में ही तो बदलता है। अब 'अ' स्वर 'म्' व्यंजन से रुद्ध हुआ। कण्ठ से ओष्ठ तक उसे यात्रा करनी पड़ी और ओष्ठ बन्द हो गये। बन्द होते-होते वह 'उ' जैसा हो जायेगा। इस प्रकार अ-उ-म् प्रथम स्पन्द हुआ। पर समाप्त नहीं हुआ। यह तो कम्पन है, चलता ही रहेगा। एक बार उठकर बन्द हो गया तो फिर कम्पन कैसा? अ-उ-म् के इस अक्षरत्रय का मिलित रूप है 'ओम्'। स्थूल वर्णों से समझाया गया है, इसलिए इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जायेगा। परन्तु यह समझाने का एक तरीका-भर है। प्रथम विश्व-ब्रह्माण्डव्यापी स्पन्द (कास्मिक वाइब्रेशन) कुछ इसी प्रकार का—लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में—होगा। इसीलिए यह ओंकार विश्व का आरम्भ है। सगुणब्रह्म का यह नवरूप है। 'नव', 'नवीन' आदि शब्द बहुत अच्छे नहीं हैं; क्योंकि जो नया होना है वह पुराना भी हो जाता है। प्रथम नया स्पन्द कभी पुराना नहीं हुआ। यह प्रतिक्षण नित्य स्पन्दित हो रहा है। इसलिए केवल 'नव' कहना ठीक नहीं है—वह 'प्रणव' है—'नवंनवं जायमान' है। स्वसंवेद्य ज्ञान का यह प्रथम व्यक्त रूप है। कोई आश्चर्य नहीं कि नाथ साधकों ने इसे 'सूक्ष्मवेद' कह दिया। कबीरदास इस रहस्य को जानते थे। वे जानते थे कि जो आदि-ओंकार को ठीक-ठीक जानता है, वह सृष्टि और प्रलय के रहस्य को, उस रहस्य के उस मूल-कर्ता को जो लिखकर मिटाया करता है, जानता है। 'ज्ञान चौंतीसा' में इसीलिए उन्होंने कहा है:

ओ ओंकार आदि जो जानै। लिखि के मेटै सो सोई जानै॥

इसी आरम्भिक समष्टिव्यापिनी वाक् को 'श्रीमद्भगवद्गीता' में 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है। एक ही कम्पन या स्पन्द के रूप को स्पष्ट करने के लिए इसे 'एकाक्षर' कहा है। नाथ-साधक जब कहते हैं कि सारी सृष्टि ओंकार से हुई है तो वे शैव और वेदान्त दर्शनों की भाषा में बोलते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि जिस स्वसंवेद्य अर्थ को इसके द्वारा प्रकट करना अभीष्ट था, वह इसके द्वारा पूरा व्यक्त नहीं हुआ। स्वसंवेद्य ज्ञान में ज्ञातृ-ज्ञेय-भेद मिट गया रहता है, पर ओंकार या एकाक्षरात्मक स्पन्दन का [illegible] में यह भेद आरम्भ होता है। प्राकृत के शब्द का

संस्कृतीकृत रूप 'सूक्ष्मवेद' नाथ-साधकों के यहाँ अर्थान्तर में संक्रमित हुआ है।

आगमों में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति को ही बीज, नाद, विन्दु कहा गया है। आधिदैविक भाषा में कहें तो ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। इस त्रिधा-विभाजित शक्तित्रय के अधिष्ठातृ देवता ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। सृष्टि करने को उद्यत अपरंब्रह्म ही के ठीक पूर्व की निष्कलुष अवस्था को निरंजन कहा जाता है। निरंजन ही सकल परमात्मा या अपर-ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है।

परंब्रह्म या परंशिव से अपरंब्रह्म या सकल परमात्मा तक की परिणति का व्यवहार में कोई विशेष उपयोग नहीं है। पर मध्यकाल के आगमों और निर्गुण-मार्गी साहित्य में मध्यवर्ती अवस्थाओं की कल्पना की गयी है और उन कल्पनाओं के आधार पर अविकसित बुद्धि के अनुयायियों ने पौराणिक गप्प लिखे हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, परंब्रह्म से निरंजन तक की यात्रा की सैकड़ों अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है। कुछ की भी गयी है। उदाहरण के लिए, नाथमत को लिया जाये। जब शिव में कार्यकारण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्यकारण के चक्र के संचालनकर्म से विरत हो जाते हैं तब वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसलिए इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वय' कहकर स्मरण करते हैं।[1]

इस परंशिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें 'सगुण' शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परं-शिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं–शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है : (1) परमशिव की अवस्था-मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती, और प्रायः उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरंपदम्' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (2) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (3) स्पन्दित होती है, फिर (4) सूक्ष्म अहंता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (5) चेतन-शीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती है।[2] इन अवस्थाओं में शिव भी

1. कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत्॥—सि. सि. सं., 18
2. निजा परापरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पंचधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिंडः शिवे॥—वही, 1.13

है : कुछ पदार्थ हैं जिनके पद या नाम का संकेत किसी शब्द के द्वारा होता है; जैसे घट। घट शब्द कहने से घड़ारूप पदार्थ का बोध होता है, परन्तु यदि घट शब्द का उच्चारण न भी किया जाये तो भी घड़ारूप पदार्थ ज्यों-का-त्यों बना रहता है। अर्थात् घट पद के बिना भी घट पदार्थ के ज्ञान में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती। परन्तु कुछ दूसरे पदार्थ ऐसे हैं जिनके लिए शब्दमय चिन्तन की आवश्यकता होती है। संकेत उसमें भी है, किन्तु उस नाम का अर्थ तद्विषयक सम्पूर्ण सम्बन्धों के चिन्तन से ही अवगत हो सकता है; जैसे पिता। पिता एक सम्बन्धविशेष है। इसका अपने-आपमें कोई अर्थ नहीं है। कोई व्यक्ति विशेष किसी व्यक्तिविशेष का पिता होता है। इसलिए पिता शब्दार्थ एक प्रकार के अनुव्यवसाय की अपेक्षा रखता है। पिता शब्द का अर्थ वस्तुत. प्रदीप और प्रकाश के समान है। जिस प्रकार प्रदीप होने से प्रकाश का भान होता है, उसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में पिता शब्द का शब्दार्थ ज्ञात होता है। शब्दमय चिन्तन के अभाव में पिता शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। इसीलिए भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रणव क्या ईश्वर का उसी प्रकार से वाचक है जिस प्रकार 'घट' पद 'घड़ा' पदार्थ का, या इस शब्द का संकेत शब्दमय चिन्तन के द्वारा होता है जिस प्रकार पिता और प्रकाश शब्द का हुआ करता है? भाष्यकार का कहना है कि प्रणव अर्थात् ओउम् शब्द ईश्वर का संकेत है—अवस्थित विषय के ले आने या प्रकाशन करने के अर्थ में। इसके बाद दूसरा प्रश्न यह है कि प्रणव क्या उसी प्रकार का संकेत है जिस प्रकार अन्य पदार्थों के संकेत हुआ करते हैं? अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं माना जाता। एक ही शब्द एक भाषा में एक अर्थ में प्रयुक्त होता है, दूसरी भाषा में दूसरे अर्थ में। फिर एक काल में एक ही भाषा में किसी शब्द का प्रयोग एक अर्थ में होता है और दूसरे काल में दूसरे अर्थ में। बहुत-से पदार्थों के नये नाम भी गढ़ लिये जाते हैं। ठीक है, लेकिन सब होने पर भी शब्द और अर्थ का संकेत केवल व्यक्तिगत इच्छा का विषय नहीं है, वह एक प्रकार की सामाजिक स्वीकृति चाहता है। गुलाब के फूल को कोई यदि पद्म नाम देना चाहे तो नहीं दे सकता, क्योंकि अधिकांश मनुष्यों के चित्त में पद्म शब्द दूसरे अर्थ में संकेतित है। अब प्रश्न यह है कि यह प्रणव या ओउम् क्या ईश्वर के अर्थ में पतञ्जलि मुनि ने संकेतित कर दिया है या अन्य शब्दों की भाँति इसे भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि सम्प्रतिपत्ति की नित्यता के कारण शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है, ऐसा आगमशास्त्र के जानकार लोग कहते हैं। सम्प्रतिपत्ति का अर्थ टीकाकारों ने समान व्यवहार की परम्परा बताया है। मन एक शब्द का जब एक अर्थ में व्यवहार करता है, तब वह व्यवहार-परम्परा शुरू होती है। जहाँ तक ओंकार का प्रश्न है, वह अनादिकाल से इसी अर्थ में व्यवहृत होता आ रहा है। इसलिए विभिन्न सर्गों में इसी अर्थ में व्यवहृत होने के कारण ओंकार शब्द ईश्वर का वाचक नित्यरूप से होता आया है। श्रुति में भी कहा है : 'एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।' योगि याज्ञवल्क्य ने कहा है :

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः
तस्योंकारः स्मृतोनाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥

अर्थात् परमेश्वर का रूप किसी ने देखा नही। वे भाव के द्वारा ही ग्रहण किये जाते है और मनोमय हैं। ओंकार उनका नाम स्मरण किया जाता है, क्योंकि उसके द्वारा आह्वान किये जाने पर वे प्रसन्न होते हैं। कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि अनादि परम्परा-क्रम से घट, पट इत्यादि शब्द अपने-अपने अर्थो में सिद्धवत् प्रयुक्त होते आ रहे है। इसलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानना चाहिए। वे लोग भाष्यकार के 'सम्प्रतिपत्ति' का अर्थ उसी प्रकार की नित्यता बताते है। परन्तु अधिकांश टीकाकारों को यह मत ग्राह्य नही। वस्तुतः भाष्यकार का आशय यही जान पड़ता है कि यह नित्यता युग-युगान्तर की सामाजिक स्वीकृति के कारण है। इसी को वे सदृश-व्यवहार-परम्परा कहते है। इसीलिए योगभाष्य के टीकाकारों ने इसे कूटस्थ-नित्यता की भांति न बताकर एक नया शब्द 'प्रवाह-नित्यता' बना लिया है। इसका तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न युगो के व्यवहार के प्रवाह में सदा इसका इसी अर्थ में प्रयोग होने के कारण यह 'प्रवाह-नित्य' है।

परन्तु भाष्यकार ने इस नित्यता के लिए आगमवादियों को प्रमाणरूप मे उपस्थित किया है। आगमों मे स्पष्ट कर दिया गया है कि ओकार घट-पटादि की तरह सकेतव्यापक शब्द नही है, बल्कि वह स्वयं अर्थ ही है। प्रणव, समष्टिव्यापी स्पन्द या एजन का जो रूप रहा होगा, उसी का स्थूल नाद में ऐसा उच्चारण होता है। यह वाचक नही है, बल्कि वाच्य का स्थूल उच्चारित नादात्मक रूप है। इसका अर्थ समष्टिगत प्रथम स्पन्द है जो नित्य नवीन तरगों को उत्पन्न कर रहा है। परमात्मतत्त्व की कुण्डली-शक्ति जिस रूप मे तरगित हो रही है, उसी को स्थूल रूप मे श्रोत्रग्राह्य बनाने का प्रयत्न ओंकार है और उसी को नेत्रग्राह्य या दृग्विषय बनाने का प्रयत्न कुण्डलीदण्ड, अर्धचन्द्र और विन्दुरूप मे, उपस्थापित स्थूल विग्रह (ॐ) एक मोटा प्रयत्न है। यह उस अर्थ मे वाचक नही है जिस अर्थ मे घट-पटादि तत्तत् पदार्थो के वाचक हुआ करते है। यह वाच्य का ही प्रत्यक्ष, स्थूल विग्रह है। इस प्रकार आगमशास्त्र ओंकार या प्रणव को सृष्ट्यर्थ उपात्त परमेश्वर का रूप ही मानते है। स्थूल स्पन्द यह सम्पन्न शब्द और अर्थ दोनों ही है। इसीलिए वे ओंकार को वेद्य या वेदक न मानकर—वाच्य या वाचक न मानकर, वेद ही मानते है। इसकी नित्यता 'प्रवाह-नित्यता' नही है बल्कि 'स्वरूप-नित्यता' है। यह स्मरण रखते की बात है कि 'पातञ्जल योगसूत्र' के भाष्यकार ने प्रवाह-नित्यता शब्द का व्यवहार नहीं किया, यह टीकाकारो के मस्तिष्क की उपज है। इसी प्रकार 'सदृश-व्यवहार-नित्यता' भी टीकाकारो की ही देन है। भाष्यकार तो 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यता' शब्द का व्यवहार करते है—"सर्गान्तरेष्वपि वाच्य-वाचक शक्त्यपेक्षस्तथैव सकेतः क्रियते सम्प्रतिपत्तिनित्यता नित्यः शब्दार्थ सम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते।।" (1.27)

ऊपर जो आगमों के अनुसार प्रणव की व्याख्या की गयी है, उसके प्रकाश में

देखने से 'सम्प्रतिपत्ति' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है कि प्रणव का परमात्मतत्त्व के अर्थ में व्यवहार विशिष्ट रूप से प्रतिपन्न होने के कारण नित्य है। वह किसी के द्वारा किसी समय संकेतित नहीं हुआ, बल्कि युक्ति-तर्क के द्वारा तद्रूप-सिद्ध (प्रतिपन्न) होने के कारण विशेष रूप से स्वयं-सिद्ध है। परन्तु फिर भी सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने 'वाच्य-वाचक' शब्द का प्रयोग किया ही है। पुराणों में भी शिव को या परमात्मा को 'प्रणव-वाच्य' बताया गया है। टीकाकारों ने भी 'लिंगपुराण' का यह वचन उद्धृत किया है—'शम्भो प्रणव-वाच्यस्य भावना तज्जपादपि।' इस प्रकार प्रणव को इन लोगों ने वाचक अवश्य स्वीकार किया है।

योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर शुद्ध अर्थात् धर्माधर्म से रहित, प्रसन्न अर्थात् अविद्यादि क्लेशों से रहित, केवल अर्थात् मन, बुद्धि आदि से हीन, और इसीलिए अनुपसर्ग अर्थात् जाति, आयु तथा भोग से शून्य पुरुषविशेष है। वह आगमों के परमात्मतत्त्व से भिन्न है। इसलिए आगमों द्वारा वर्णित परमात्मतत्त्व 'पातञ्जल योग' द्वारा प्रथित ईश्वरतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न है। आगमों में ओंकार को सूक्ष्म-वेद कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

जैसाकि ऊपर बताया गया है, प्रत्येक वस्तु मोटे तौर पर तीन रूपों में प्रतिभासित हुआ करती है—पर (supreme), सूक्ष्म (subtle), और स्थूल (gross)। ज्ञान भी यद्यपि अपने मूलरूप में शुद्ध ज्ञान ही है, तथापि लोक में वह भी मोटी जानकारी, अपेक्षाकृत सूक्ष्म जानकारी और विशुद्ध जानकारी के रूप में प्रतिभासित होता है। जब हम किसी शब्द का वाच्य-वाचक-रूप में प्रयोग करते हैं तो यह भी एक जानकारी ही है। घट शब्द का अर्थ घड़ा है—यह एक मोटा ज्ञान है। कई बार ऐसा होता है कि कोई पद भी मालूम रहता है और उसका अर्थ भी मालूम रहता है। दोनों के सामने उपस्थित रहने पर भी उनका सम्बन्ध अज्ञात रहता है। उदाहरण के लिए कोविदार शब्द लीजिए। काव्य पढ़ने से और कोश में उसका अर्थ भी लिखा रहने से मुझे मालूम है कि यह किसी फूल का नाम है। मान लीजिए कि मैं किसी बगीचे में जाता हूँ। वहाँ कोविदार के पेड़ भी लगे हुए हैं और उनमें फूल भी है। वहाँ कोविदार पदार्थ मेरे सामने है। मुझे कोविदार पद भी मालूम है और कोविदार पदार्थ भी सामने है। परन्तु जब तक कोई जानकार आदमी बता नहीं देता कि इसी का नाम कोविदार है तब तक मुझे कोविदार पद और पदार्थ के सम्बन्ध का पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि पद और पदार्थ के अतिरिक्त एक और वस्तु है जो दोनों का मेल कराती है। यही प्रत्यय है। अर्थात् पद और पदार्थ को मिलानेवाला तत्त्व द्रष्टा का चेतन मन है। जहाँ कहीं वाच्य और वाचक होगा वहीं चेतन-द्रष्टा का यह ज्ञान उपस्थित होना चाहिए, नहीं तो अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इस प्रकार यदि प्रणव को परमात्मा का वाचक माना जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी चेतनतत्त्व की प्रतीति भी इसके साथ सम्बद्ध है। लेकिन आगमों के अनुसार प्रणव या ओंकार सूक्ष्मवेद है, अर्थात् ज्ञान ही है। वह ज्ञाता नहीं है, ज्ञेय भी नहीं है। वह स्वयं ज्ञान है। दूसरे शब्दों में ज्ञेय की प्रतीति का

साधन है। स्थूल ज्ञान से वह भिन्न है। वह सूक्ष्म ज्ञान है। इसलिए उसे वाचक नही कहा जा सकता। परन्तु उसमें भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिटा नही है। वहाँ भी ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान-भेद बना हुआ है। इस बात को आगमो में अनेक प्रकार से समझाया गया है। अ, उ और म— इन तीन अक्षरों को कभी बीज, नाद और विन्दु कहा गया है; कभी ज्ञान, इच्छा और क्रिया कहा गया है। ये स्थूल बीज, नाद और विन्दु से भिन्न, केवल भावरूप में वर्त्तमान होने के कारण सूक्ष्म है। यही कारण है कि आगमों में यज्ञ-याग का विधान करनेवाले ध्वन्यात्मक वेद को स्थूलवेद कहा है। और यज्ञ-याग की साधनभूत सामग्रियो को रूप देनेवाले, भावरूप मे वर्त्तमान ओंकाररूप समष्टिगत स्पन्द को सूक्ष्मवेद कहा है। यह भी साधन है; परज्ञान नही है, अपरज्ञान है। परज्ञान तो परासंवित् है, जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एकमेव हो जाते है। वहाँ ज्ञान दृश्य या दर्शन मात्र नही है। वह द्रष्टास्वरूप भी है। इसीलिए परासंवित् इससे भी अधिक सूक्ष्म है। शैवागमो में इस परासवित् की महिमा इस प्रकार बतायी गयी है—प्रत्येक पिण्ड में वही चंचला परासंवित् रूपायित हो रही है। प्रत्येक मनोभाव में उसी परासंवित् का रूप स्फुरित हो रहा है। और प्रत्येक बौद्धिक व्यापार मे उसी परासंवित् का प्रकाश उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार परासंवित् ही संसार के स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थो के रूप, प्रकाश और बोध के रूप में प्रकाशित हो रही है।

गोरक्षनाथ के समसामयिक और परवर्त्ती सिद्ध

नाथपन्थ के चौरासी सिद्धों में से कई वज्रयानी परम्परा के सिद्ध है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन उभय सामान्य सिद्धों में से कुछ तो गोरखनाथ के पूर्ववर्त्ती होगे और कुछ समसामयिक। गोरखनाथ के अप्रतिद्वन्दी व्यक्तित्व और अप्रतिहत प्रभाव को देखते हुए यह अनुमान करना अनुचित नही है कि उनके बाद का कोई भी ऐसा व्यक्ति नाथ-परम्परा का सिद्ध नही माना गया होगा जो सम्पूर्ण रूप से उनका अनुयायी न हो। जिन सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक सिद्धों की चर्चा हम पहले कर चुके है, उनके अतिरिक्त निम्नांकित सिद्धों के विषय में नाना मूलों से हम कुछ जानकारी संग्रह कर सके हैं (अधिकांश में यह बातें दन्तकथाओं पर ही आधारित है, पर कुछ बातें सम-सामयिक या परवर्त्ती ग्रन्थों से भी मिल जाती हैं।) :

1. चौरंगीनाथ	13. ढेण्टम
2. चामरीनाथ	14. चुणकर
3. तन्तिपा	15. भादे
4. दारिपा	16. कामरी
5. विरूपा	17. धर्मपापतंग
6 कमारी	18. भद्रपा
7. कनखल	19. सबर
8. मेखल	20. सान्ति
9. धोवी	21. कुमारी
10. नागार्जुन	22. सियारी
11. अचिति	23. कमलकंगारि
12. चम्पक	24. चर्पटीनाथ

नीचे हम इनका संक्षिप्त परिचय दे रहे है :

1. चौरंगीनाथ—तिब्बती परम्परा में गोरक्षनाथ के गुरुभाई माने गये हैं।[1] इनकी लिखी कही जानेवाली एक पुस्तक—'प्राणसंकली'—पिण्डी के जैन ग्रन्थ भाण्डार में सुरक्षित है। इसमे इन्होने अपने को राजा सालवाहन का बेटा, मच्छन्द्रनाथ का शिष्य और गोरखनाथ का गुरुभाई बताया है। इस छोटी-सी पुस्तक से यह भी पता चलता है कि इनकी विमाता ने इनके हाथ-पैर कटवा दिये थे। ये ही पजाब की लोककथाओ के पूरनभगत है जिनके विषय मे हम आगे कुछ विस्तारपूर्वक लिखेंगे। चौरंगीनाथ की 'प्राणसंकली' की भाषा शुरू मे पूर्वी है, पर बाद मे राजस्थानी-जैसी हो जाती है। शुरू का अंश इस प्रकार है :

> सत्य वंदत चौरंगीनाथ आदि अन्तरि सुनो ब्रितात सालवाहन घरे हमारा जनम उतपति सतिमा झुट बोलीला ॥1॥ ह अम्हारा भइला सासत पाप कल्पना नही हमारे मने हाथ पाव कटाय रलायला निरंजन बने सोप सन्ताप मने परभेव सनमुप देपीला श्री मछंद्रनाथ गुरुदेव नमसकार करीला नमाइला माथा ॥2॥ आसीरबाद पाइला अम्हे मने भइला हरपित होठ कंठ तालुकारे सुकाईला धर्मना रूप मच्छंद्रनाथ स्वामी ॥3॥ मन जानै पुन्य पाप मुप वचन न आवै नुपै बोलव्या कैसा हाथ रे दीला फल मुपे पीलीला ऐसा गुसाईं बोलीला ॥4॥ जीवन उपदेस भापिला फल आदम्हे विसाला दोप बुध्या त्रिपा बिसारला ॥5॥ नही मानै सोक धर धरम सुमिरला अम्हे भइला सचेत के तम्ह कहारे बोले पुछीला ॥6॥

स्पष्ट ही यह भाषा पूर्वी है। यदि 'प्राणसंकली' सचमुच चौरंगीनाथ की रचना है, तो मानना पड़ेगा कि चौरंगीनाथ पूर्वी प्रदेश के रहनेवाले थे। मैं इस पुस्तिका

1. गंगा, पुरातत्त्वांक, पृ. 260

का सम्पादन कर रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि इसमें पुराने अंशो के साथ नये अंश भी जोड़ दिये गये है। जितनी भी परम्पराएँ उपलब्ध है, वे सभी पूरनभगत को स्यालकोट (पंजाब) से ही सम्बद्ध बताती है। 'तनजूर' में चौरंगिपा की एक पुस्तक है जिसका नाम है 'तत्त्व भावनोपदेश'। ठीक इसी नाम की एक पुस्तक गोरक्षपाद की भी बतायी जाती है। इतना यहाँ और उल्लेख योग्य है कि 'प्राण-सकली' नामक एक छोटी-सी रचना भी गोरखनाथ की मानी जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि चौरंगीनाथ नामक किसी पूर्वदेशीय सिद्ध की कथा से पूरनभगत की कथा का साम्य देखकर दोनों को एक मान लिया गया है।

2. चामरीनाथ—सम्भवतः तिब्बती परम्परा के चौंसठवें सिद्ध चँवरिपा से अभिन्न है, जिन्हे मगधदेश का रहनेवाला, घी-विक्रेता बनिया जाति मे उत्पन्न और गोरक्षनाथ का परवर्त्ती बताया गया है।

3. तन्तिपा—तेरहवें वज्रयानी सिद्ध तन्तिपा है। इन्हें तिब्बती परम्परा मे मगध देश का ब्राह्मण और जालन्धरपाद का शिष्य कहा जाता है। राहुलजी ने 'गंगा'.के पुरातत्त्वांक मे एक स्थान पर इन्हे मगधदेशवासी ब्राह्मण (पृ. 221) लिखा है और दूसरी जगह अवन्ती देश का तांती (पृ. 256)। नाम देखने से दूसरी ही बात ज्यादा विश्वसनीय जान पडती है। कभी-कभी इन्हें ढेण्ढणपाद से अभिन्न भी माना गया है जो ठीक नही जान पड़ता।

4. दारिपा—सम्भवत. वज्रयानी सिद्ध (नं. 77) दारिकपा से अभिन्न हैं। इन्हे उड़ीसा का राजा बताया गया है। जब परमसिद्ध लुईपा (लूहिपा) उधर गये तो ये और इनके ब्राह्मण मन्त्री उनके शिष्य हो गये। गुरु ने इन्हे वेश्या दारिका (वेश्या की कन्या) की सेवा का आदेश दिया था। इस व्रत में उन्हे सफलता मिली। दारिका (लड़की) की सेवा करके सिद्धि पाने के कारण इन्हें 'दारिकपा' कहा जाने लगा। इनके निम्नांकित पद से इनके राजा होने का तथा लुईपा का शिष्य होने का अनुमान किया जा सकता है :

राआ राआ राआ रे
अबर राअ मोहेरे बाधा।
लुइ *पाअ पए दारिक*
द्वादश भुवनें लाधा ॥

अर्थात्, 'राजा तो मै अब हुआ हूँ; और राज्य तो मोह के बन्धन है। लुई पाद के चरणों का आश्रय करने से दारिक ने चौदहो भुवन प्राप्त कर लिया है।' महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने इन्हे बँगला का कवि माना है[1] और महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन ने उड़िया का[2]। इनके लोकभाषा में लिखित कई पद प्राप्त हुए है। भाषा इनकी निस्सन्देह पूर्वी प्रदेशों की है, लेकिन वह उस अवस्था में है जिमे

1. बौ गा दो., पृ. 30
2. 'गंगा', पुरातत्त्वांक, पृ. 251

आज की सभी पूर्वी भाषाओं का पूर्वरूप कहा जा सकता है। सहजयोगिनी चिन्ता इन्हीं की शिष्या थी और घण्टापा शिष्य थे। 'तनजूर' में इनकी लिखी ग्यारह पोथियाँ संगृहीत हैं।

5. विरूपा—वज्रयानी सिद्ध तीसरे से अभिन्न। गोरक्षनाथ और कानिपा के समकालीन थे। सिद्ध नागबोधि के शिष्य थे। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि वज्रयान और कालचक्रयान दोनों में इनकी पुस्तकें मान्य हैं। पुस्तकों में 'छिन्नमस्तासाधन', 'रक्तयमारि साधन' प्रसिद्ध हैं। इनकी चार पुस्तकें गान की हैं—'विरूपगीतिका', 'विरूप पदचतुरशीति', 'कर्मचण्डालिका,' 'दोहाकोष गीति' और 'विरूपवज्रगीतिका'।[1] इनके अतिरिक्त 'अमृतसिद्धिमार्ग फलान्वितापवादक' और 'सुनिष्पंच तत्त्वोपदेश' भी इनके लिखे हैं।[2] इनका सिर्फ एक पद मूल रूप में उपलब्ध हुआ है जो बौ. गा. दो. में और 'गंगा' के पुरातत्त्वांक में भी संगृहीत है।

6. कमारी—यदि वज्रयानी सिद्ध पैंतालीस से अभिन्न हों तो जाति के लुहार थे।

7. कनखल—वज्रयानी सिद्धयोगिनी कनखला (नं. 67) से अभिन्न जान पड़ती है। ये कृष्णाचार्यपाद (कानिपा) की शिष्या थीं। छपे 'वर्णरत्नाकर' में इनका नाम केवल पल (खल) है जो सम्भवतः गलती से छपा है। इसका पूर्ववर्ती भाग (कन) कान्ह के नाम के साथ जुड़ गया है।

8. मेखल—सिद्धयोगिनी मेखलापा (नं. 66) से अभिन्न जान पड़ती हैं। ये भी कानिपा की शिष्या थीं। कृष्णाचार्यपाद (कानिपा) के 'दोहा कोष पर मेखला नाम की संस्कृत टीका' सम्भवतः इन्हीं की लिखी हुई है। तिब्बत में ये छिन्न-मस्ता देवी के रूप में पूजी जाती हैं।

9. धोबी—वज्रयानी सिद्ध अट्ठाईस से अभिन्न जान पड़ते हैं। सालिपुत्र (?) देश में धोबीकुल में उत्पन्न हुए थे।

10. नागार्जुन—महायान मत के प्रसिद्ध नागार्जुन से ये भिन्न थे। अलबेरूनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उनसे लगभग सौ वर्ष पहले वर्त्तमान थे। 'साधनमाला' में ये कई साधनाओं के प्रवर्त्तक माने गये हैं। इन साधनाओं से कई बातों का पुलागा होता है। नागार्जुन, शबरपाद (सवर) और कृष्णाचार्य का काल भी मिल जाता है।

'साधनमाला' में कृष्णाचार्य की कुरुकुल्ला साधना का उल्लेख है। इस कुरुकुल्ला को ध्यानी बुद्ध की अभिव्यक्ति से उद्भूत बताया गया है। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि कुरुकुल्ला की उपासना के प्रथम प्रवर्तक शबरपाद नामक सिद्ध हैं, जिनका समय सप्तम शताब्दी सन् ईसवी का मध्यभाग है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। नागार्जुन ने भी एक विशेष देवी 'एकजटा' की उपासना का

1. बौ गा. दो., पृ. 28
2. 'गंगा', पृ. 250

प्रवर्त्तन किया था। 'साधनमाला' में बताया गया है कि इस एकजटा देवी की साधना का नागार्जुनपाद ने भोट देश (तिब्बत) से उद्धार किया था। इसी देवी का एक नाम 'महाचीन तारा' भी है। तारा की उपासना ब्राह्मण तन्त्रो में भी विहित है। 'साधनमाला' में कुरुकुल्ला के भी अनेक रूपों का वर्णन है, जिनमें एक रूप है तारोद्भवा कुरुकुल्ला। इस प्रकार कुरुकुल्ला, एकजटा और तारा की उपासनाओ मे कोई सम्बन्ध स्पष्ट ही मालूम होता है। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने 'परानन्द सूत्र की भूमिका' (पृ. 10-11) मे दिखाया है कि महाचीन तारा ने ही आगे चलकर हिन्दुओं की चतुर्भुजी तारा (जो दस महाविद्याओ में है) का रूप ग्रहण किया है। हिन्दू तन्त्रों की उग्रा, महोग्रा, वज्रकाली, सरस्वती, कामेश्वरी आदि देवियो को तारा की ही अभिव्यक्ति बताया गया है। दस महाविद्याओं की छिन्नमस्ता को बौद्ध वज्रयोगिनी का समशील बताया गया है और कहा गया है कि इसकी उपासना के भी मूल प्रवर्त्तक शबरपाद ही थे। ऐसा जान पड़ता है कि कृष्णपाद या कृष्णाचार्य इस देवी के उपासक थे। कृष्णाचार्य की शिष्या मेखलापा तिब्बत मे छिन्नमस्ता के रूप मे पूजी जाती हैं। इससे दो बातों का अनुमान होता है। प्रथम तो कृष्णाचार्य का समय निश्चित रूपसे शबरपाद के बाद सिद्ध होता है और दूसरा यह कि परवर्त्ती शाक्त मत के विकास मे इनका बहुत बड़ा हाथ है।

'प्रबन्ध चिन्तामणि' से पता चलता है कि नागार्जुन पादलिप्त सूरि के शिष्य थे और उनसे ही इन्होने आकाश-गमन की विद्या सीखी थी। समुद्र मे पुराकाल मे पार्श्वनाथ की एक रत्नमूर्त्ति द्वारका के पास डूब गयी थी जिसका किसी सौदागर ने उद्धार किया था। गुरु से यह जानकर कि पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठकर यदि कोई सर्वलक्षणसमन्विता स्त्री पारे को घोटे तो कोटिवेधीरस सिद्ध होगा। नागार्जुन ने अपने शिष्य राजा सातवाहन की रानी चन्द्रलेखा से पार्श्वनाथ की रत्नमूर्त्ति के सामने पारद-मर्दन करवाया था। रानी के पुत्रो ने रस के लोभ से नागार्जुन को मार डाला था। इस कथा मे कई ऐतिहासिक असंगतियाँ हैं, पर इससे कुछ बातें स्पष्ट हो जाती है। (1) प्रथम यह कि नागार्जुन रसेश्वर सिद्ध थे, (2) दूसरी यह कि गोरखपन्थियों की पारसनाथी शाखा के प्रवर्त्तक भी शायद वही हैं और (3) तीसरी यह कि वे पश्चिम भारत के निवासी थे। नागार्जुन को परवर्त्ती योगियो ने 'नागा अरजन्द' कहा है। इनके सम्बन्ध मे अनेक किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। नाथपन्थ के बारह आचार्यों मे इनकी गणना है।

एक परवर्त्ती सिद्ध नागनाथ के साथ भी कभी-कभी इनको मिलाकर दोनों को अभिन्न मान लिया जाता है।

11. अचिति—वज्रयानी सिद्ध अचिन्तिपा (नं. 38) से अभिन्न। धनिरूप देश में लकड़हारे का काम करते थे। प्रसिद्ध है कि एक बार लकडी काटकर इन्होने उसे एक नाग से बाँध लिया था। अपने-आपमे इतने मस्त थे कि उन्हे पता ही नही चला कि नाग है या रस्सी। उपयुक्त शिष्य देखकर इन्हे जालन्धरनाथ के शिष्य कानिपा ने दीक्षा दी थी।

12. चम्पक—चम्पारण्य देश (आधुनिक चम्पारन) के निवासी थे। 'तनजूर' में इनका एक ग्रन्थ 'आत्मपरिज्ञान दृष्टि उपदेश' नाम से उपलब्ध है।

13. ढेण्टस— सम्भवतः ढेण्ढणपाद का नाम ही विकृत होकर ढेण्टस हो गया है। बौ. गा. दो. में इनका पद संगृहीत है।

14. चुणकरनाथ—डॉ. बडथ्वाल ने इन्हें गोरखनाथ के समय का सिद्ध माना है। इनके कुछ पद हिन्दी में मिले है। इन पदों की भाषा को देखकर डॉ. बड़थ्वाल ने इन्हें चरपटनाथ का पूर्ववर्ती समझा है। ('योगप्रवाह', पृ. 72)

15. भादे—तिब्बती परम्परा में इन्हें श्रावस्ती का ब्राह्मण और कानिपा का शिष्य कहा गया है। जाति के चित्रकार थे। बौ. गा. दो. में इनका एक पद संगृहीत है।

16. कामरी—वज्रयानी सिद्ध कम्बलाम्बरपाद (कमरिपा) से शायद भिन्न नहीं हैं। ये बौद्ध दर्शन के बड़े मान्य पण्डित थे। प्रज्ञापारमिता दर्शन पर इनके चार ग्रन्थ भोट भाषा में प्राप्य है। सुप्रसिद्ध सिद्ध वज्रघण्टापाद के शिष्य और राजा इन्द्रभूति के गुरु थे। राहुलजी ('गंगा', पुरातत्त्वांक, पृ. 252) ने इन्हें उड़ीसा देशवासी कहा है। हरप्रसाद शास्त्री इन्हें बँगला कवि समझते है (पृ. 37)। वस्तुतः ये मगध में उत्पन्न ब्राह्मण थे और दीर्घकाल तक उड्डियान में रहे थे। वज्रयान के ये प्रसिद्ध आचार्य और युगनद्ध हेरुक के उपासक थे।

17. धर्मपापतंग—जान पड़ता है कि धर्मपा और पतंग दो नाम है जो गलती से एकसाथ मढ दिये गये है। इन्हीं का दूसरा नाम गुण्डरीपाद है, जाति के लुहार थे। इनके पद बौ. गा. दो. में प्राप्य है।

18. भद्रपा—तिब्बती परम्परा के अनुसार मणिभद्र देश के ब्राह्मण थे। राहुलजी का अनुमान है कि मणिधर देश, बघेलखण्ड का मैहर है।

19. सबर—इस नाम के दो सिद्ध हो गये है। एक राजा धर्मपाल (769-809 ई.) के कायस्थ लूहिपा के गुरु और दूसरे दसवीं शताब्दी के सिद्ध। दोनों को एक-दूसरे से घुला-मिला दिया गया है। सबर के लिखे अनेक ग्रन्थ भोट अनुवाद में सुरक्षित हैं ('गंगा', पुरातत्त्वाङ्क, पृ. 247)। प. हरप्रसाद शास्त्री ने इनकी पुस्तक 'वज्रयोगिनी साधन' के आधार पर अनुमान किया है कि ये उड़ीसा के राजा इन्द्रभूति और उनकी कन्या लक्ष्मीकरा के दल के आदमी थे। इन लोगों ने उड़ीसा में वज्रयान का बड़ा प्रचार किया था (बौ. गा. दो, पृ. 29)। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच ही उड्डियान उड़ीसा ही है? इस बात का विचार हम पहले ही कर आये हैं। वज्रयोगिनी के सम्बन्ध में इनकी कई पुस्तकें हैं। इनके दो गान बौ. गा. दो. में संगृहीत हैं। डॉ. भट्टाचार्य ने इन्हें नागार्जुन का शिष्य माना है। उनके मत मे महायान मत में जो कुरुकुल्ला की साधना है उसके आदिप्रवर्तक यही हैं।

20. शान्ति (शान्ति)—वज्रयानी सिद्ध बारह से अभिन्न। इस नाम के अनेक सिद्ध हुए हैं (बौ. गा. दो., पृ. 29), परन्तु दसवीं शताब्दी में एक बहुत बड़े

पण्डित विक्रमशिला विहार के द्वाररक्षक पण्डित के रूप में नियुक्त थे। उनका नाम भी शान्तिपाद था। सम्भवतः नाथ सिद्ध यही होंगे। राहुलजी ने ('गंगा', पुरातत्त्वांक, पृ. 258) लिखा है कि मगध देश में ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। ये इतने बड़े विद्वान् थे कि इन्हें लोग 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा करते थे। बौद्धदर्शन पर इनके लिखे अनेक ग्रन्थ थे जो भोट अनुवाद में ही शेष रह गये हैं। राहुलजी ने लिखा है कि वज्रयानी सिद्धों में इतना जबर्दस्त पण्डित दूसरा नहीं हुआ।[1]

21. कुमारी—सम्भवतः वज्रसिद्ध कुमारिपा से अभिन्न हैं।

22. सियारी—वज्रयानियों के एक सिद्ध का नाम शृगालीपाद है जो मगध के शूद्रकुल में उत्पन्न हुए थे और महाराज महीपाल (974-1026 ई.) के राज्यकाल में वर्त्तमान थे। सियारी और ये अभिन्न हो भी सकते हैं।

23. कमलकंगारि—जान पड़ता है ये दो सिद्ध हैं, गलती से हरप्रसाद शास्त्री महाशय ने एक में लिख दिया है। वज्रयानी सिद्धों में एक कमलपा या कपालपा हो गये हैं, जो दसवीं शताब्दी में वर्त्तमान थे और सम्भवत. बंगाल में शूद्रकुल में उत्पन्न हुए थे। छपे हुए 'वर्णरत्नाकर' में कमल और कंगारी दो सिद्ध माने गये हैं।

24. चर्पटीनाथ—डॉ. मोहनसिंह ने पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी की 374 नं. की हस्तलिखित प्रति से चर्पटीनाथ के नाम पायी जानेवाली एक कविता अपनी पुस्तक के परिशिष्ट (पृ. 20) में उद्धृत की है और इसका अंग्रेजी भाव भी दिया है। इसमें एक लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि चर्पटीनाथ ने भेष के जोगी को बहुत महत्त्व नहीं दिया है, आत्मा का जोगी कहलाने को ही बहुमान दिया[2] है। इसके अन्त में वाह्याचार धारण करनेवाले अन्य सम्प्रदायों की व्यर्थता भी बतायी गयी है। जब काल की घटा सिर पर चढ आयेगी तो श्वेत या नील पट या लम्बी जटा, या तिलक या जनेऊ कुछ भी काम नहीं आयेगा। इन वाह्याचारों के साथ कान फाड़नेवालों को भी एक ही सुर में सावधान किया गया है :

इक सेति पटा इक नीलि पटा, इक तिलक जनेऊ लंबि जटा।
इक फीए एक मोनी इक कानि फटा, जब आवैगी कालि घटा।

इससे मिलता-जुलता पद हिन्दू विश्वविद्यालय की एक प्रति से डॉ. मोहनसिंह

1. 'परानन्द सूत्र' की प्रस्तावना, पृ 10-11
2. सुघ् फटकि मनु गिआनि रता। चरपट प्रणिवै मिघ मता।
बाहिरि उनटि भवन नहिं जाउ। काहे कारनि काननि का चीरा खाउ।
बिभूति न लगाओ जिउनरि उनरिजाइ। घर जिउ घूडि लेटे मेरी बलाई।
सेली न बांधो लेवों ना भ्रिगानी। ओढउं ना खिथा जो होइ पुरानी।
पत्र न पूजो उड़ा न उठावो। कूते की निआई मांगने न जावो।
बासी करि के भुगनि न खाओ। सिघिआ देखि सिंगी न बजाओ।
दुआरि दुआरे धूआ न पाओ। भेखि का जोगी न कहावो।
आतिमा का जोगी चरपटनाउ।

ने ही सग्रह किया है। उसमें कान फाड़नेवालों की वात नहीं है, पर उन सिद्धों को सावधान किया गया है जो हठ करके तप करते है :

इह संसार कंटिओ की वाड़ी
निरख निरख पगु धरना।
चरपटु कहै सुनहु रे सिधो
हठि करि तपु नहि करना॥

श्री सन्त सम्पूर्णसिह ने तरनतारन से 'प्राणसंगली' छपायी है, उसमें चर्पटीनाथ तथा गुरु नानकदेव की वातचीत छपी है। उसमें भी यह पद है :

इक पीत पटा इक लंब जटा, इक सूत जनेऊ तिलक ठटा।
इक जंगम कहीअै भसम घटा, जउलइ नही चीनै उलटि घटा॥
तव चरपट सगले स्वांग नटा।

—अध्याय 76, पृ. 794

यहाँ प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि चर्पटीनाथ रसायनसिद्धि की खोज में थे और निराश हो चुके थे। इस पद का भाव यह है कि वेश बनाने से क्या लाभ, सभी वेश तब तक स्वागमात्र हैं जब तक उनसे मृत्यु को जीतने मे सहायता न मिले। यदि मृत्यु पर विजय ही नही मिली तो इन टण्टों से क्या लाभ ? और मृत्यु पर विजय केवल रसायन से ही हो सकती है। सारी वार्त्ता रसायन के विषय मे ही है।

इनके अतिरिक्त एक और अतिच्छिन्न हस्तलेख से भी कुछ अंश संग्रह करके डॉ. मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक में छपाया है। इन सारे वाक्यों को पढ़ने से दो बातें बहुत स्पष्ट है : (1) चर्पटीनाथ वाह्य वेश के विरोधी थे; और (2) कनफटा सम्प्रदाय में रहकर भी उसकी वाह्य-प्रक्रियाओ को नहीं मानते थे। यह प्रवृत्ति नाथमार्ग में कब आयी, यह विचारणीय है। 'वर्णरत्नाकर' मे चर्पटीनाथ का नाम आने से इतना तो स्पष्ट है कि चौदहवी शताब्दी के पहले वे अवश्य प्रादुर्भूत हो चुके थे। 'प्राणसगली' के वार्त्तालाप मे यह भी मालूम होता है कि वे रसायन-सिद्धि के अन्वेषक थे। इस पर से सिर्फ इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि वे गोरक्षनाथ के थोड़े परवर्ती थे, सम्भवतः रसायनवादी बौद्ध सिद्धों के दल से आकर गोरक्षनाथ के प्रभाव में आये थे और अन्त तक वाह्य वेश के विरोधी बने रहे।

उनसठवें वज्रयानी सिद्ध का नाम भी चर्पटी है। तिब्बती परम्परा में उन्हें मीनपा का गुरु माना गया है, परन्तु नाथ-परम्परा मे इन्हे गोरखनाथ का शिष्य माना जाता है। एक अनुश्रुति के अनुसार गोरक्षनाथ के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। 'मीन चेतन' में इन्हे चर्पटीनाथ कहा गया है। इनके 'चतुर्भवाभिवासनक्रम' का तिब्बती अनुवाद प्राप्य है। रज्जबदास के 'सरवंगीग्रन्थ' मे इन्हे चारणी के गर्भ से उत्पन्न बताया गया है। डॉ. बड़थ्वाल ने लिखा है कि चम्बा रियासत की राज-वंशावली मे इनकी चर्चा आती है। वोगैल और ओमेन ने बताया है कि चम्बा के राजप्रासाद के सामनेवाले मन्दिरों में चर्पट का मन्दिर है जो सूचित करता है कि

अनुश्रुतियों का राजा साहिल्लदेव सचमुच ही चर्पट का शिष्य था ('योगप्रवाह', पृ. 183 और आगे)। इनके कुछ हिन्दी पद 'योगप्रवाह' में संगृहीत है।

2. परवर्त्ती सिद्ध

सं. 2014 वि. में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है (स.—ह. प्र. द्विवेदी)। उसमें निम्नांकित सिद्धो की कही जानेवाली वाणियाँ है :

1. अजयपालजी	13. नागाअर्जनजी
2. काणेरी (सती, पाव)	14. पार्वतीजी
3. गरीबजी	15. पृथ्वीनाथजी
4. गोपीचन्दजी	16. बालनाथजी
5. घोड़ाचोली	17. बालगुन्दाई
6. चरपटनाथ	18. भरथरी
7. चौरंगीनाथ	19. मच्छेन्द्रनाथजी
8. चीणकनाथ (चुणकरनाथ)	20. महादेवजी
9. जलन्ध्री पाव	21. रामचन्द्रजी
10. दत्तजी (दत्तात्रेय)	22. लषमणजी
11. देवलजी	23. सतवन्तीजी
12. धूंधलीमलजी	24. सुकुलहंसजी
	25. हणवन्तजी

इनमे महादेव-पार्वती और रामचन्द्रजी के नाम से प्राप्त रचनाओ के वास्तविक रचियता कौन हैं, यह कहना कठिन है। इन पदो में किसी सिद्ध ने इन देवताओ के उपदेश देशी भाषा मे लिख लिये होगे, शेष मे से कुछ का पता विविध स्रोतों से चल जाता है। कुछ सिद्धों के बारे मे बहुत-कुछ निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि वे गोरखनाथ के समसमायिक रहे होगे। मच्छन्द्रनाथ तो उनके गुरु ही थे, शेष मे से चौरंगीनाथ, नागार्जुन, चुणकरनाथ और चरपटीनाथ के बारे में जो सूचना प्राप्त है उनके आधार पर इन्हे गोरखनाथ का समसामयिक या थोड़ा परवर्त्ती माना जा सकता है।

इनमे चौरंगीनाथ, नागार्जुन, चुणकरनाथ, भरथरि, गोपीचन्द और चरपट या चरपटीनाथ के बारे में ज्ञात सामग्री का कुछ परिचय दिया जा चुका है। शेष के बारे में कुछ विचार किया जा रहा है।

1. काणेरी—इस संग्रह में काणेरी के कई पद हैं। कुछ लोग कानफा और काणेरी को एक ही सिद्ध मानते हैं। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' में कृष्णपाद को ही कर्णरिपा या काणेरीनाथ कहा गया है। किन्तु प्रेमदास ने अपनी सिद्धवन्दना मे इन दोनों को अलग-अलग सिद्ध समझा है। जान पड़ता है काणेरी के दीर्घ ईकारान्त रूप

को देखकर परवर्ती काल में इन्हें स्त्रीसिद्ध मान लिया गया है। इनके नाम से पाये जानेवाले पद एक प्रति में सती काणेरी के नाम से मिलते हैं तो दूसरी प्रति में काणेरी पाव के नाम से। कृष्णपाद, कान्हूपा, कानफा आदि नामों को मैंने एक ही माना है और उनके विषय में अन्यत्र विस्तार से लिखा है। ये जालन्धरपाद के शिष्य थे और गोरखनाथ के समसामयिक थे। चर्यापदों में इनके गान मिलते हैं और इन्होंने स्वयं अपने को कापालिक कहा है। वर्तमान नाथपन्थ में इनके नाम का एक उप-सम्प्रदाय (वामारग, वाममार्ग) आज भी जीवित है, परन्तु उसे आधा सम्प्रदाय ही माना जाता है। इनके दोहों का एक संग्रह दोहाकोष नाम से हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया था, उस पर मेखला नामक संस्कृत टीका भी मिलती है जो सम्भवतः इनकी शिष्या मेखला की लिखी हुई है।

2. गोपीचन्द—गोपीचन्द या राजा गोविन्दचन्द्र जालन्धरनाथ के शिष्य बताये जाते है। माता के उपदेश से इन्होंने अपनी दो सुन्दरी रानियों–उदुना और पुदुना (उदयिनी और पद्मिनी)–को छोड़कर बैराग्य लिया था। रानियों ने इन्हें फिर से गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने का आग्रह किया था। परन्तु ये बैराग्य में दृढ़ रहे। गोपीयन्त्र या सारंगी के ये ही आविष्कर्त्ता माने जाते हैं।

3. भरथरी—भर्तृहरि का प्राकृत रूप है। भर्तृहरि संस्कृत साहित्य में बहुत परिचित है। इनके तीन शतक काव्यमर्मज्ञों के हृदयहार बने हुए हैं। 'वाक्यपदीय' नामक व्याकरण-ग्रन्थ के भी ये रचयिता माने जाते हैं। सम्भवतः ये सन् ईस्वी की सातवीं शती के पूर्व वर्त्तमान थे। क्योंकि इत्सिंग नामक चीनी यात्री, जो 768 ई. से 695 ई. तक बौद्ध देशों का भ्रमण करता रहा, इनके नाम और ग्रन्थों से परिचित था। ह्वेनत्सांग ने भी इनकी चर्चा की है और इन्हें बौद्ध बताया है। परन्तु इनके ग्रन्थों को देखने से ये शैव ही जान पड़ते हैं। छठी-सातवीं शताब्दी की लोकभाषा के अन्य कवियों के लिखे हुए जो नमूने प्राप्त है, उनसे मिलान करने पर प्रस्तुत संग्रह मे भरथरी के नाम से संगृहीत पदों की भाषा अर्वाचीन मालूम होती है। जान पड़ता है कि भर्तृहरि ने लोकभाषा मे कुछ पद लिखे थे, जिनकी भाषा क्रमशः बदलती गयी। नाथमार्ग मे अनेक पुराने सम्प्रदायों के अन्तर्मुक्त हो जाने के बाद भर्तृहरि के ये पद भी नाथसिद्धों के संग्रहों मे गृहीत हो गये; पर उनकी भाषा बहुत बदल गयी। हमारे संग्रह मे उनका जो रूप उपलब्ध है वह पन्द्रह शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता।

'बैराग्य शतक' के कई श्लोक अत्यन्त भ्रष्ट रूप मे संगृहीत हैं। इनके भ्रष्ट रूप को देखकर कदाचित् भाषाविशेषज्ञों को कोई नयी बात सूझ जाय, इस आशा से उन्हें ज्यों-का-त्यों संग्रह कर दिया गया है।

4. अजयपाल (अजैपाल)—डॉ. बड़थ्वाल ने इन्हें गढ़वाल का राजा माना है। इनकी रचनाओं में 'दीवान' पद मुसलिम दरबार के दीवानों की याद दिलाता है। 'तम्बा' (तम्बू कैम्प) भी इस अनुमान की पुष्टि करता है कि ये मुसलिम काल में ही पैदा हुए थे। पं. हरिकृष्ण रतूड़ी का मत है कि राजा अजयपाल ने ही राज-

राजेश्वरी और सत्यनाथ दोनों मन्दिरों की स्थापना संवत् 1512 के लगभग की, जब राजधानी चाँदपुर से हटाकर देवलगढ में स्थापित हुई ('योगप्रवाह', पृ. 202)। इस प्रकार अजयपाल का समय पन्द्रहवी शताब्दी में होना चाहिए। बड़थ्वालजी का कहना है कि ये राजा थे, इसका एक प्रमाण यह है कि नाथसिद्धो में सिर्फ तीन ऐसे है जिन्हे नाथ या पाव जैसे आदरार्थक विशेषणसहित नही स्मरण किया गया : भरथरी, गोपीचन्द और अजैपाल। प्रथम दो राजा थे, इसलिए ये भी राजा रहे होगे। परन्तु इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भरथरी और गोपीचन्द को स्पष्ट रूप से राजा कहा गया है, उस प्रकार अजैपाल को नही कहा गया, बल्कि 'बाबा अजयपाल' कहा गया है। इसलिए उनका राजा होना निश्चित नही है। मुझे बड़थ्वालजी के मत मे विशेष सार नही दिखता, किन्तु इतना निश्चित जान पडता है कि ये चौदहवी शताब्दी के बाद ही हुए होगे। 'वर्णरत्नाकर' की सूची मे इनका नाम नही है।

5. लषमणजी या लक्ष्मणनाथ—बालनाथ, बालगुन्दाई भी इन्ही के नाम जान पड़ते हैं। अजयपाल की सबदी मे एक पद इस प्रकार आता है :

"लषमण कहे हो बाबा अजयपाल तुम कुण आरंभ थीरं।"

इससे अनुमान होता है कि लषमण (लक्ष्मणनाथ) के वे गुरु थे।

परम्परा से प्रचलित है कि लषमणनाथ का ही नाम बालनाथ या बालापीर था। नाथ सम्प्रदाय में जो आईपन्थ गोरक्षनाथ की शिष्या विमलादेवी द्वारा प्रवर्त्तित माना जाता है, उसी सम्प्रदाय में थे। इनका पूरा नाम बालगोविन्द है। आईपन्थवाले नाम के साथ आई जोड़ते हैं। इसलिए इनका नाम बालगोविन्दाई पड़ा जिसका सक्षिप्त रूप बालगुन्दाई हुआ। सम्भवतः ये तेरहवी शताब्दी में वर्त्तमान थे, और करकाई और भूष्टाई के थोड़े परवर्त्ती थे। बालनाथ, लक्ष्मणनाथ और बालगुन्दाई के नाम से पाये जानेवाले कई पद समान है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये तीनो नाम एक ही सिद्ध के है।

6. हणवन्तजी—इनके बारे में कुछ निश्चित नही मालूम। लेकिन ये धज सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते है। इनके दो शिष्य मगरधज और विविकिधज (मकरध्वज और विवेकध्वज) 'वर्णरत्नाकर' की सिद्ध-सूची मे मिल जाते है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये चौदहवी शताब्दी के पहले ही हो चुके थे। रामभक्त हनुमानजी के साथ इनको अभिन्न मान लिया गया है जो नाम-साम्य के कारण उत्पन्न भ्रान्ति मात्र है। इनके नाम से प्राप्त पदो में कुछ पद थोड़ा बदलकर कबीरदास के नाम पर भी चलते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ये कबीरदास के पूर्ववर्त्ती थे।

हणवन्त की बानियों में पूर्वी भाषा के लक्षण दिखते है। ऐसा जान पड़ता है कि ये किसी पूर्वी प्रदेश के सिद्ध थे।

7. घोड़ाचोली—'हठयोग प्रदीपिका' में जिन सिद्धो को कालदण्ड का खण्डन करनेवाला बताया गया है, उनमे घोड़ाचोली का भी नाम है। आईपन्थ के प्रसिद्ध

सिद्ध चौलीनाथ ये ही जान पड़ते हैं। इस प्रकार ये चौदहवीं शताब्दी से बहुत पहले उत्पन्न हुए होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इनका समय सन् ईसवी की बारहवीं शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है। इस संग्रह में इनकी जो बानियाँ संगृहीत हैं उनमें रावल, पागल, वनखण्डी, आईपन्थ, पंखि (पंक), धूज या धज, गोपाल—इन पन्थों की चर्चा है। इससे जान पड़ता है कि इन पन्थों के आविर्भाव के बाद ही ये हुए होंगे। अपनी सबदी में इन्होंने अपने को मछीन्द्र का दास कहा है।

8. धूंधलीमल और गरीबनाथ—'मुंहणोत नैणसीरी ख्यात' में बताया गया है कि ये गरीबदास के गुरु थे। लासड़ी से 12 कोस की दूरी पर धीणोद है। वहाँ के अजयसर पर्वत पर धूंधलीमल रहते थे। इन्हीं के शिष्य गरीबनाथ थे। इनके आशीर्वाद से भीम कच्छ का राजा हुआ था। इनके शिष्य गरीबनाथ के शाप से घोघों का राज्य नष्ट हुआ था। प्रभासपाटन के एक शिलालेख से जाड़ेचा भीम का समय संवत् 1442 (1387 ई.) है, इसलिए धूंधलीमल और गरीबनाथ का समय भी ईसवी सन् की चौदहवीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिए।

9. दत्तजी—दत्तजी दत्तात्रेय का विकृत रूप है। दत्तात्रेय की संस्कृत रचनाएँ प्रसिद्ध ही हैं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी कम पढ़े-लिखे साधु ने संस्कृत श्लोकों को बुरी तरह बिगाड़कर और उनमें अपनी रचना जोड़कर चला दिया है। सम्भवतः इन पदों के लेखक पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए थे, क्योंकि 'रोजी', 'रोजा' जैसे शब्द इन रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

10. देवलनाथ—ये गरीबनाथ के पूर्ववर्ती थे। इनके विषय में विशेष कुछ नहीं मालूम है।

11. पृथ्वीनाथ—ये कबीर के परवर्त्ती थे, क्योंकि इनकी रचनाओं में कबीर का नाम आता है। इस प्रकार ये सोलहवीं शताब्दी के आस-पास हुए होंगे।

12. परबत सिद्ध—नाथ योगियों की प्राप्त वाणियों में नामों की विचित्र तोड़-मरोड़ है। कभी-कभी एक ही नाम को उच्चारण-विकृति के कारण भिन्न-भिन्न मान लिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि परवत सिद्ध (जो निश्चित रूप से चौदहवीं शताब्दी के पूर्ववर्त्ती है) बाद में उसी प्रकार 'पार्वती' या 'पारबती' बना दिये गये, जिस प्रकार काणेरी पाव 'सती काणेरी' हो गये। इसका एक कारण यह है कि 'परवत' शब्द का तृतीयान्त या सप्तम्यन्त पुरान. रूप 'परवंति' होता है। बाद में इस इकार ने इस सिद्ध को स्त्रीसिद्ध समझने की भ्रान्ति पैदा की। इस संग्रह में परवत सिद्ध का एक 'भूगोल पुराण' दिया हुआ है। यह 'पुराण' पंजाब के एक सज्जन ने भेजा था। गुरु नानक द्वारा रचित बतायी जानेवाली 'प्राणसकली' (तरन तारन से प्रकाशित) में यह हू-ब-हू इसी रूप में है। इसलिए इनके रचयिता के बारे में सन्देह होता है। परन्तु यह काफी पुरानी भाषा है, इसमें सन्देह नहीं। इससे खड़ी बोली का एक पुराना रूप प्राप्त होता है।

13.14. सुकुलहंस और सतबन्ती—इनके बारे में कुछ मालूम नहीं।

इस प्रकार इस संग्रह में जिन नाथसिद्धों की वाणियाँ संगृहीत है, उनमे से

अधिकांश चौदहवी शताब्दी (ईसवी) के पूर्ववर्त्ती हैं। कुछ चौदहवीं शताब्दी के है और बहुत थोड़े उसके बाद के। भाषा की दृष्टि से इन पदो का महत्त्व स्पष्ट है। यद्यपि इन वाणियों के रूप बहुत-कुछ विकृत हो गये है, परन्तु भाषा का कुछ-न-कुछ पुराना रूप उनमें रह गया है। खड़ीबोली का तो इन पदो मे बहुत अच्छा प्रयोग हुआ है। खड़ी बोली के धाराप्रवाहिक प्रयोग का नया स्रोत इन पदो में पाया जायेगा।

परवर्त्ती सिद्ध-सम्प्रदाय में प्राचीन मत

1. सम्प्रदाय भेद

गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्त्तित योगि-सम्प्रदाय नाना पन्थो मे विभक्त हो गया है। पन्थों के अलग होने का कोई-न-कोई भेदक कारण हुआ करता है। हमारे पास जो साहित्य है उस पर से यह समझना बडा कठिन है कि किन कारणो से और किन साधना-विषयक या तत्त्ववाद-विषयक मतभेदों के कारण ये सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय की इस समय जो व्यवस्था उपलभ्य है, उस पर से ऐसा मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय उनके अव्यवहित परवात् उत्पन्न हो गये। भर्तृहरि उनके शिष्य बताये जाते है, कानिपा उनके समकालीन ही थे, पूरनभगत या चौरंगीनाथ भी उनके गुरुभाई और समकालीन बताये जाते है, गोपीचन्द उनके समसामयिक सिद्ध कानिपा के शिष्य थे। इन सबके नाम से सम्प्रदाय चला है। जालन्धरनाथ उनके गुरु के सतीर्थ थे, उनका प्रवर्त्तित सम्प्रदाय भी गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार गोरक्षनाथ के पूर्ववर्त्ती सम-सामयिक और ईषत्परवर्त्ती जितने सिद्ध हुए, उन सबके प्रवर्त्तित सम्प्रदाय गोरक्ष-पन्थ मे शामिल है। इसका रहस्य क्या है?

हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि वर्तमान नाथपन्थ मे जितने सम्प्रदाय है वे मुख्य रूप से उन बारह पन्थों से सम्बद्ध है जिनमे आधे शिव के द्वारा प्रवर्त्तित हैं और आधे गोरक्षनाथ द्वारा। इनके अतिरिक्त और भी बारह (या अट्ठारह सम्प्रदाय) थे जिन्हे गोरक्षनाथ ने नष्ट कर दिया। उन नष्ट किये जानेवालों मे कुछ शिवजी के सम्प्रदाय थे और कुछ स्वयं गोरक्षनाथजी के। अर्थात् गोरक्षनाथ की जीवितावस्था मे ही ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय थे जो अपने को उनका अनुवर्त्ती मानते थे और उन अनधिकारी सम्प्रदायों का दावा इतना भ्रामक हो गया कि

स्वयं गोरक्षनाथ ने ही उनमें से बारह या अट्ठारह को तोड़ दिया ! क्या यह सम्भव है कि कोई महान् गुरु अपने जीवित काल में ही अपने मार्ग को भिन्न-भिन्न उप-शाखाओं में विभक्त देखे और उनके मतभेदों को तो दूर न करे बल्कि उनकी विभिन्नता को स्वीकार कर ले। इस विचित्र आचरण का रहस्य क्या है ?

गोरक्षनाथ का जिस समय आविर्भाव हुआ था वह काल भारतीय धर्म-साधना मे बड़े उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान लोग भारत मे प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध-साधना क्रमशः मन्त्र-तन्त्र और टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दसवी शताब्दी मे यद्यपि ब्राह्मणधर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नही मानता था। यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत कोशिश की है कि उनके मार्ग को श्रुतिसम्मत मान लिया जाय, परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शाक्त सम्प्रदाय उन दिनों वर्तमान थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्नकोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण-प्राधान्य एकदम नही स्वीकार करते थे।

हमारे आलोच्य काल के कुछ पूर्व शैवों का पाशुपत मत काफ़ी प्रबल था। ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा-विवरण मे इसका उल्लेख बारह बार किया है। 'वैशेषिक-दर्शन' के टीकाकार प्रशस्तपाद शायद पाशुपत ही थे। बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थो में इस मत की चर्चा की है। परन्तु यह मत वेदबाह्य ही माना जाता था। शंकराचार्य ने[1] अपने 'शारीरक भाष्य' में इसका खण्डन किया है। 'लिंगपुराण' मे पाशुपत मत को तीन प्रकार का बताया गया है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। वैदिक लोग लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे, तान्त्रिक लोग तप्त-लिंग और शूल आदि का चिह्न धारण करते थे और मिश्र पाशुपत समान भाव से पंचदेवो की उपासना किया करते थे। 'वामन पुराण' में शैव, पाशुपत, कालमुख और कपाली की चर्चा है। अनुश्रुति के अनुसार 28 शैव आगम और 170 उपागम थे। इन आगमों को निगम (अर्थात् वेद) के समान, और उनसे भिन्न स्वतन्त्र प्रमाणरूप में स्वीकार किया गया है। कश्मीर का शैव-दर्शन इन आगमों से प्रभावित है। वैसे तन्त्र-शास्त्र में निगम का अर्थ वेद माना भी नही जाता। 'आगम' शाक्त तन्त्रों मे उस शास्त्र को कहते है जिसे शिव ने देवी को सुनाया था और 'निगम' वह है जिसे शिव को स्वयं देवी ने ही सुनाया था। इस प्रकार ये सम्प्रदाय स्वयं भी वेदों को बहुत महत्त्व नही देते थे और वैदिक मार्ग के बड़े-बड़े आचार्य भी उन्हें अवैदिक समझते थे। हमने कौल-साधना के ब्राह्मणविरोधी स्वर का थोड़ा परिचय पिछले अध्यायों में पाया है।

1 सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा। माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति इत्यादि।—'शारीरक भाष्य', 2-2-37

क्रमशः ब्राह्मणमत प्रबल होता गया और इसलाम के आने के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलों के रूप में विभक्त हो गया तो किनारे पर पड़े हुए अनेक सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। अधिकांश लोग ब्राह्मण और वेद-प्रधान हिन्दू-सम्प्रदाय में शामिल होने का प्रयत्न करने लगे। कुछ सम्प्रदाय मुसलमान भी हो गये। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बाद क्रमशः वेदबाह्य सम्प्रदायों की यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय। शैवों ने भी ऐसा किया और शाक्तों ने भी। परन्तु कुछ मार्ग इतने वेद-विरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन मतों में नहीं हो सका। वे धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योगमार्ग में ऐसे अनेक मार्गों का संघटन किया होगा। हमने ऊपर देखा है कि उनके गुरु और गुरुभाई तथा गुरुसतीर्थ कहे जानेवाले लोगों का मत भी उनका सम्प्रदाय माना जाने लगा है। इस पुस्तक में हमने जालन्धरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और कृष्णपाद के प्राप्य ग्रन्थों से उद्धरण देकर उनके मतों का साधारण परिचय दिया है। स्पष्ट ही वे लोग वेदों की परवा करने-वाले न थे। इन सबके शिष्य और अनुयायी, भारतीय धर्मसाधना के उस उथल-पुथल के जमाने में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विश्वास इतने दूर विभ्रष्ट थे कि वे किसी प्रकार योगमार्ग का अंग बन ही नहीं सकते थे, उन्हें स्वीकार नहीं किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित जो सम्प्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही बहुत पुराने थे। एक सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जायगा कि आज भी उन्हीं सम्प्रदायों में मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत-से शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो वेदबाह्य होने के कारण न हिन्दू थे और न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से देश दो प्रतिद्वन्द्वी, धर्मसाधनामूलक दलों में विभक्त हो गया। जो शैव-मार्ग और शाक्त-मार्ग वेदानुयायी थे, वे वृहत्तर ब्राह्मणप्रधान हिन्दू समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। वह प्रयत्न आज भी जारी है। उत्तर भारत में ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे जो वेदबाह्य होकर भी वेदसम्मत योगसाधना या पौराणिक देव-देवियों की उपासना किया करते थे। ये अपने को शैव, शाक्त और योगी कहते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों का पाया होगा : (1) एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, (2) दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवागमों के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्षसम्मत योगमार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इनमें से जो लोग गोरक्ष-सम्मत मार्ग के नजदीक थे उन्हें उन्होंने योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, बाकी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत से सम्प्रदाय आ गये जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे, परन्तु बाद में उन्हें गोरक्षनाथी माना जाने लगा। धीरे-धीरे जब परम्पराएँ लुप्त हो गयीं तो उन पुराने सम्प्रदायों में मू

प्रवर्तकों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर यह सर्व का वाद-समूह स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गोरखनाथ के काल-निर्णय के प्रसंग में पण्डितों ने रचा है। इन तथाकथित शिष्यों के काल के अनुसार वे कभी आठवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं, कभी दसवीं, कभी ग्यारहवीं और कभी-कभी तो पहली-दूसरी शताब्दी के भी !!

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आश्रित नहीं है। कभी-कभी एकाध प्रमाण परम्पराओं के भीतर से निकल भी आते हैं। शिव और गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों की परम्परा स्वयमेव एक प्रमाण है, नहीं तो यह समझ में नहीं आता कि क्यों कोई महागुरु अपने जीवितकाल में ही अनेक सम्प्रदायों का संगठन करेगा? सम्प्रदाय मतभेद पर आधारित होते हैं और गुरु की अनुपस्थिति में ही मतभेद उत्पन्न होते हैं; गुरु के जीवितकाल में होते भी हैं तो गुरु उन्हें दूर कर देते हैं। परन्तु प्रमाण और भी हैं। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' (पृ. 419-20) में लिखा है कि धवलगिरि से लगभग 80-90 कोस की दूरी पर पूर्व दिशा में, वर्तमान त्रिशूल-गंगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाममार्गी लोगों का एक दल एकत्रित होकर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढ़े। बहुत छानबीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथजी का मत चारों ओर फैल रहा है, यदि उनसे प्रार्थना की जाय कि वे हमें अपने मार्ग का अनुयायी स्वीकार कर लें तो हम लोगों का मत लोकमान्य हो जाय। उन्होंने इसी उद्देश्य से उन्हें बुलाया। सबकुछ सुनकर श्री गोरक्षनाथजी ने कहा कि "आप यथार्थ रीति से प्रकट कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं या प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर अपने अवलम्बित मार्ग की वृद्धि करना चाहते हैं। यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य सब झगड़ों को छोड़कर केवल योगक्रियाओं से ही सम्बन्ध जोड़ लें। इसके अतिरिक्त यदि (अपने पहले से ही) गृहीत मत की पुष्टि करना चाहते हैं तो हम (यह) नहीं सह सकते कि साधुओं का कार्य जहाँ मुमुक्षुजनों को सन्मार्ग पर चढ़ा देना है वहाँ वे उन विचारों को कुत्सित पथ में प्रविष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ।" वाममार्गियों ने—जिन्हें लेखक ने यहाँ 'कपाली' लिखा है—दूसरी बात को ही स्वीकार किया और इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। यह पुराने सम्प्रदाय को अपने मार्ग में स्वीकार न करने का प्रमाण है।

पुराने मार्ग को स्वीकार करने का भी उदाहरण पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथजी जब गौरखवंसी (आधुनिक कलकत्ते के पास) आये थे तो वहाँ कालीजी से उनकी मुठभेड़ हो गयी थी। कालीजी को ही हारना पड़ा था और उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के योगमार्ग में शामिल हो गये। तभी से गोरक्ष-सम्प्रदाय में कालीपूजा प्रचलित हुई। इन दिनों सारे भारतवर्ष में नाथ-पन्थी लोगों में काली की पूजा प्रचलित है। यह कथा 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' (पृ. 194-199) में दी हुई है, परन्तु लेखक की सुधारक मनोवृत्ति ने इतना जोड दिया है कि काली ने योगियों से मांसादि की बलि नहीं लेने की प्रतिज्ञा की थी। लेखक की इस

5. शिव के पाँचवें सम्प्रदाय मारवाड़ के 'वन' से किसी शाखा का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम हो सका।

6. गोपाल या राम के :

(i) सन्तोषनाथ— ये ही सम्भवतः इसके मूलप्रवर्तक हों। 'कौलावली निर्णय' और 'श्यामा रहस्य' के मानव-गुरुओं में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि के साथ इनका भी नाम है।[1]

(ii) जोधपुर मे दासगोपालनाथियों का सम्बन्ध बताया जाता है।

7. चाँदनाथ कपिलानी :

(i) गंगानाथ

(ii) कायानाथ (परन्तु, आगे देखिये)

(iii) कपिलानी—अजयपाल द्वारा प्रवर्तित।

(iv) नीमनाथ]
(v) पारसनाथ] दोनों जैन हैं।

8. हेठनाथ :

(i) लक्ष्मणनाथ—कहते हैं, ये ही प्रसिद्ध योगी बालानाथ थे। ('योग-प्रवाह', पृ. 186) इनकी दो शाखाएँ हैं :

(क) दरियापन्थ—हरद्वार के चन्द्रनाथ योगी ने[2] इनको नाटेश्वरी (नाटेसरी) सम्प्रदाय का माना है और अलग स्वतन्त्र पन्थ होने में सन्देह उपस्थित किया है। परन्तु टिला में उद्‌भूत स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में भी इसकी ख्याति है। दरियापन्थी साधु क्वेटा और अफगानिस्तान तक मे हैं।

(ख) नाटेसरी—अम्बाला और करनाल के हेठ तथा करनाल के बाल जातिवाले इसी शाखा के हैं।[3]
कुछ लोग कहते है, राँझा इसी सम्प्रदाय मे थे। डॉ. बड़थ्वाल के मत से बालानाथ बालयती थे, इसलिए उन्हे ही लक्ष्मणनाथ कहते हैं। पंजाब में बालानाथ का टीला प्रसिद्ध है।

(ii) जाफरपीर—अपने को ये लोग राँझा और बालकेश्वरनाथ के अनुयायी (या सम्बद्ध) मानते हैं इसलिए इनका सम्बन्ध नाटेसरी सम्प्रदाय से जोड़ा भी जा सकता है। कभी-कभी इनका सम्बन्ध सन्तोषनाथ से भी जोड़ा जाता है।[4] ये लोग मुसलमान है।

9. आईपन्थ के चोलीनाथ—'हठयोग प्रदीपिका' के घोड़ाचूली सिद्ध से इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध होना सम्भव है। घोड़ाचूली परम्परा के अनुसार गोरखनाथ के गुरुभाई थे। इनकी कुछ हिन्दी रचनाएँ भी मिली है (यो.

1. 'कौलावलीतन्त्र', पृ. 76
2. यो. सं. आ., पृ. 461
3. ब्रिग्स, पृ. 64-65
4. वही, पृ. 72

प्र., पृ. 68-70)।

(i) आईपन्थ का सम्बन्ध **करकाई और भूष्टाई**[1] दोनों से बताया जाता है। पागलबाबा के मत से करकाई ने ही आईपन्थ का ही प्रवर्त्तन किया था। ये दोनों गोरक्षनाथ के शिष्य थे। हरद्वार के आईपन्थी अपने को पीर पारसनाथ का अनुयायी बताते है।[2] आईदेवी (= माता) की पूजा करने के कारण ये लोग आईपन्थी कहलाये। ये लोग गोरक्षनाथ की शिष्या विमला देवी को अपनी मूल प्रवर्त्तिका मानते हैं। पहले ये लोग अपने नाम के आगे आई जोड़ा करते थे, नाथ नही। पर नरमाई के शिष्य मस्तनाथजी के बाद ये लोग भी अपने नाम के आगे 'नाथ' जोड़ने लगे।

(ii) **मस्तनाथ**—ये लोग 'बाबा' कहे जाते है। गलती से कभी 'बाबा' अलग सम्प्रदाय मान लिया जाता है।[3]

(iii) **माईपन्थ** (?)

(iv) **बड़ी दरगाह**] दोनों ही मस्तनाथ के शिष्य है। बड़ीवाले मांस-मदिरा
(v) **छोटी दरगाह**] नही सेवन करते, छोटीवाले करते है।

10. वैरागपन्थ, रतननाथ :

(i) **वैरागपन्थ**—भरथरी या भर्त्तृहरि द्वारा प्रवर्त्तित।

(ii) **माईनाथ** (?)—एक अनुश्रुति के अनुसार माईनाथ—जो अनाथ बालक थे और मेवों द्वारा पाले-पोसे गये थे—भरथरी के अनुयायी थे।

(iii) **प्रेमनाथ** ?

(iv) **रतननाथ**—भर्त्तृहरि के शिष्य पेशावर के रतननाथ जो बाह्य मुद्रा नही धारण करते थे। कभी टोके जाने पर छाती खोलके मुद्रा दिखा दी थी—ऐसी प्रसिद्धि है। दरियानाथ से भी इनका सम्बन्ध बताया जाता है। मुसलमान योगियों में इनका बड़ा नाम है। इनके नाम से सम्बद्ध तीर्थ काबुल और जलालाबाद मे भी हैं।

(v) **कायानाथ या कायमुद्दीन**—कायानाथ के शरीर के मल से बना हुआ, बालक कायानाथ बाद में चलकर सिद्ध और सम्प्रदायप्रवर्त्तक हुआ।

11. जैपुर के पावनाथ :

(i) **जालन्धरिपा**

(ii) **पा-पथ** (?)

(iii) **कानिपा**—गोपीचन्द इसी शाखा के सिद्ध हैं। गोपीचन्द का ही नाम सिद्ध

1. आईपन्थवाले पहले अपने नाम के आगे आई जोड़ते थे, इसलिए ये लोग आई के अनुयायी ही होंगे, प्रवर्त्तक नही।
2. ब्रिग्स, पृ. 65
3. यो. स. आ., पृ. 462

संगरी है। सपेरे इनको अपना गुरु मानते है।[1]

(iv) वामारग (?)

12 धजनाथ—महावीर हनुमान के अनुयायी बताये जाते हैं। प्रसिद्धि है कि सिंहल में जब मत्स्येन्द्रनाथ भोगरत थे, उस समय उनका उद्धार करने गोरखनाथ गये थे। उनसे हनुमान की लड़ाई हुई थी।[2] बाद में हनुमान को उनका प्रभाव मानना पड़ा था। चौदहवीं शताब्दी के नाथ सिद्धों की एक सूची में 'धज' नामधारी दो सिद्धों का उल्लेख है।[3] विविकिधज और मगरधज। प्रसिद्धि है कि मकरध्वज हनुमान के पुत्र थे। सम्भवतः विविकिधज और मगरधज इस पन्थ से सम्बद्ध हों। कहते है, इनका स्थान सिंहल या सीलोन में है। परन्तु यह भूल है। आगे देखिए। डॉ. बड़थ्वाल ने लिखा है कि हनुमन्त वस्तुतः वक्रनाथ नामक योगी का ही नामान्तर है।[4]

ऊपर इन योगियों के मुख्य-मुख्य स्थानों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः सारे भारतवर्ष में इनके मठ और अखाड़े हैं। *अँगना* (उदयपुर), *आदिनाथ* (बंगाल), कादिमठ (मद्रास), गम्भीरमठ (पूना), गरीबनाथ का टिला (सारमौर स्टेट), गोरक्षक्षेत्र (गिरनार), गोरखवंशी (दमदम, बंगाल), चन्द्रनाथ, (बंगाल), चचुल-गिरिमठ (मद्रास प्रान्त), त्र्यम्बकमठ (नासिक), नीलकण्ठ महादेव (आगरा), नोहरमठ (बीकानेर), पंचमुखीमहादेव (आगरा), पाण्डुधनी (बम्बई), पीरसोहर (जम्मू), बत्तीस सराला (सतारा), भर्तृगुफा (ग्वालियर), भर्तृगुफा (गिरनार), मंगलेश्वर (आगरा), महानादमन्दिर (बर्दवान, बंगाल), महामन्दिरमठ (जोधपुर), योगिगुहा (दिनाजपुर), योगिभवन (बगुडा, बंगाल), योगिमठ (मेदिनीपुर), लादुवास (उदयपुर), हांड़ीभरंगनाथ का मन्दिर (मैसूर), हिंगुआमठ (जैपुर) आदि इनके मठ हैं जो समूचे भारतवर्ष में विस्तृत है।[5] यह नही समझना चाहिए कि जिस पन्थ का जो मुख्य स्थान है उसके अतिरिक्त और कोई स्थान उनके लिए आदरणीय नही है। वस्तुतः सभी पन्थ सब स्थानों का सम्मान करते हैं। ऊपर के विवरण से पृष्ठ 177 पर दी गयी तालिकानुसार इन पन्थों का प्रसार जाना जाता है :

ध्यान से देखा जाय तो गोरक्षनाथ के प्रवर्त्तित सम्प्रदायों में कई नाम परिचित और पुराने हैं। कपिलानी अपना सम्बन्ध कपिलमुनि से बताते हैं और इनका

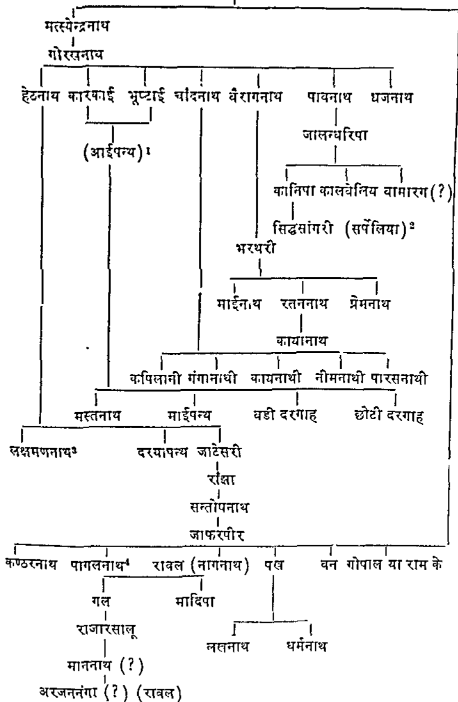
1 प्रसिद्धि है कि जब जालन्धरनाथ को कानपा कुएँ से नही निकाल सके तो गोरक्षनाथ ने उनकी सहायता की। गुरु के उद्धार-महोत्सव में लोगों को मनोवाछित भोग दिया गया। किसी नवीन भक्त ने नाथ का प्रभाव देखने की गरज से मन-ही-मन सर्प की कामना की और पत्तल में सर्प आ गया। उसी अभिशप्त शिष्य के अनुयायी सँपेरे हुए जो कानवेलिया कहे जाते हैं। किसी-किसी ने इन्हे अलग सम्प्रदाय कहा है (तुल.—यो. स. आ., पृ. 337-38)।

2 यो. स. आ. पृ. 163

3. दी गो. दी., पृ. 36

4. 'योगप्रवाह', पृ. 186

5. श्री अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, 'गम्भीरनाथ प्रसग', पृ. 51-53



1. कोई-कोई केवल कारकाई सम्प्रदाय से ही आईपन्थ की उत्पत्ति मानते है।
2. कालबेलिय किसी-किसी के मत से अलग-अलग सम्प्रदाय नहीं है। विडवाँगरी ही कानबेलिय कहलाते हैं।
3. कालान्तर में लक्ष्मणनाथ से ही दरियानाथ और जाटेसरी की उत्पत्ति है।
4. किसी परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण पागलनाथ शाखा रावलो की शाखा है।

मुख्य स्थान गंगासागर मे है, जहाँ कपिलमुनि का आश्रम था। कपिलमुनि 'सांख्य-शास्त्र' के प्रवर्तक माने जाते है। सांख्य और योग का घनिष्ठ सम्बन्ध हमने पहले ही लक्ष्य किया है। 'भागवत' मे कपिलमुनि योग और वैराग्य के उपदेष्टा के रूप मे प्रसिद्ध है। 'सांख्यशास्त्र' को निरीश्वर योग कहते हैं और 'योगदर्शन' को सेश्वर सांख्य। ऐसा जान पड़ता है कि कपिलमुनि के अनुयायी जो निरीश्वरवादी योगी थे, गोरक्षनाथ के मार्ग मे बाद में आ मिले थे। चाँदनाथ सम्भवत. यह प्रथम सिद्ध थे, जिन्होने गोरक्षमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरों के अनुयायी जान पडते है। जैनसाधना मे योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्त्ती थे। उनका यह सम्प्रदाय गोरक्षनाथी योगियों में अन्तर्मुक्त हुआ है। कहना व्यर्थ है कि जैनमत वेद और ब्राह्मण की प्रधानता नहीं मानता। भरथरी के वैरागपन्थ पर आगे विचार किया जा रहा है। पावनाथ के जालन्धरपाद सम्भवतः वज्रयानी सिद्ध थे। उनकी जितनी पोथियाँ मिली हैं वे सभी वज्रयान की हैं और उनके शिष्य कृष्णपाद की साधना का परिचय तो हमे मिल ही चुका है। कृष्णपाद ने स्वयं अपने को कापालिक कहा है, परन्तु कापालिक का अर्थ सब समय शैवकापालिक ही नही होता। जो हो, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि जालन्धरपाद का पूरा-का-पूरा सम्प्रदाय बौद्ध वज्रयान से सम्बद्ध था। धजनाथ के विषय मे आगे विचार किया जा रहा है। वे ही सभी पन्थ भिन्न-भिन्न धर्मसाधनाओं से सम्बद्ध होने पर भी योगमार्गी अवश्य थे।

आईपन्थवाले विमलादेवी के अनुयायी माने जाते हैं। आई अर्थात् माता। ये लोग अपने नाम के सामने नाथ न जोड़कर आई जोड़ा करते थे। करकाई और भूष्टाई का वस्तुतः नाथपन्थी नाम कर्कनाथ और भूष्टनाथ (शम्भुनाथ ?) होना चाहिए। माता की पूजा देखकर अनुमान होता है कि वे किसी शाक्तमत से गोरक्ष-नाथ के योगमार्ग मे अन्तर्भुक्त हुए होगे। विमलादेवी गोरक्षनाथ की शिष्या बतायी जाती है, परन्तु नित्याह्निकतिलक मे एक महाप्रभावशालिनी सिद्धा विमलादेवी का नाम है, जो मत्स्येन्द्रनाथ की मतानुवर्त्तिनी रही होगी। उन्होने गोरक्षनाथ से दीक्षा भी ली हो तो आश्चर्य नही। हस्तिनापुर मे कोई वैश्य जाति के सेठ थे, नाम था शिवगण। उनकी पुत्री का नाम विनदेवी था। गुप्तनाम श्री गुप्तदेवी था। एक बार भेरी के शब्द से इन्होने बौद्धों को वित्रासित किया। तब से इनका कीर्ति का नाम बौद्धत्रासिनी (बोधत्रासनी) माता पड़ गया। जब उनका जन्म हुआ तो स्त्री-रूप में उत्पन्न हुई थी, पर अधिकार-काल मे पुरुष-मुद्रा मे दिखी और बलपूर्वक अधिकार दखल किया। परन्तु पशु लोग (पाखण्डी) उन्हे स्त्रीरूप मे ही देखते थे। इनके दस नाम है :

विमला च शिखा चैव विदेषी (च) सुशोभना।
नागकन्या कुमारी बंधारणी पयोधारणी

रक्षाभद्रा समाख्याता देव्या नामानि वै दश।
नामान्येतानि यो वेत्ति सोऽपि कौलाहो (?) भवेत् ॥[1]

यह कह सकना कठिन है कि यही विमलादेवी आईपन्थ की पूजनीया विमला देवी है या नहीं। मैंने अनुसन्धित्सु पाठकों का ध्यान आकर्षण करने के लिए इस बात को यहाँ लिख दिया।

स्पष्ट ही, गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित कहे जानेवाले पन्थों में पुराने साख्य योगवादी, बौद्ध, जैन, शाक्त सभी है। सबकी एकमात्र सामान्यधर्मिता योग-मार्ग है। शिव के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय भी गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती होने चाहिए। इन्हे स्वीकार करके भी गोरक्षनाथ ने जब अपने नाम से इन्हे नही चलाया तो कुछ-न-कुछ कारण होना चाहिए। मेरा अनुमान है कि ये लोग मन्त्र-तन्त्र तो करते होंगे, पर हठयोग-सिद्धियों से कोई सम्बन्ध नही रखते होंगे। यह लक्ष्य करने की बात है कि शिव द्वारा प्रवर्तित कहे जानेवाले सम्प्रदायों का प्रसार अधिकतर कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, पेशावर और अफगानिस्तान में है, जहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से शैवमत प्रबल था। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इससे कुछ अधिक कहना सम्भव नहीं है।

इस प्रकाश में कुछ उलझी हुई समस्याओं का विचार किया जाय।

2. रावल-शाखा

1. रावलसम्प्रदाय योगियों की बड़ी भारी शाखा है। कभी-कभी कहा गया है कि यह रावल शब्द संस्कृत के 'राजकुल' शब्द का अपभ्रंश है। प्राचीनकाल के तीन राजवंशों ने यह विरुद धारण किया था: (1) मेवाड़ के राजकुल ने[2], (2) आबू के परमारों ने[3] और (3) जालौर के चौहानों ने[4]। और किसी राजघराने ने यह विरुद धारण किया था या नहीं, यह नहीं मालूम हो सका है। परन्तु रावल शब्द से सबसे अधिक प्रसिद्धि चित्तौड़ के बाप्पा रावल को ही मिली थी। इस पर से यह अनुमान होता है कि रावलपन्थ का किसी राजकुल से सम्बन्ध रहा होगा। यह ध्यान देने की बात है कि केवल बाप्पा के साथ यह शब्द अपने अपभ्रंश रूप में चलता है, अन्यान्य लेखों में संस्कृत 'राजकुल' शब्द का ही व्यवहार है। बाप्पा से गुरु-गोरक्षनाथ के मिलन की प्रसिद्धि कई विद्वानों ने लिखी है। इस प्रसिद्धि के आधार पर गोरक्षनाथ का समय निर्णय करने का प्रयास भी किया गया है।

महामहोपाध्याय पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने 'राजपूताने का इतिहास' में बाप्पा का समय सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी का पूर्वभाग निश्चित किया है। महाराणा कुम्भा के समय जो 'एकलिंगमाहात्म्य' नामक पुस्तक लिखी गयी,

1 'कौलज्ञान निर्णय', भूमिका, पृ. 70-71

2 ता रावलाख्या पदवी दधानो बाप्पाभिधानः सरराज राजा।—राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग 3

3 एवमियं व्यवस्था श्री चन्द्रावतीपति राजकुल श्रीसोमसिंह देवेन...
—आबू पर देलवाड़ा के मन्दिर का प्रशस्ति-लेख

4. महाराजकुल श्रीसामन्तसिंह देव कल्याण विजयराज्ये ..इत्यादि।—सांचोर का शिलालेख

उसमें लिखा है कि पुराने कवियों ने कहा है कि संवत् 810 वि. (753 ई.) में एकलिंग का वर पाया हुआ प्रथम राजा बाप्पा हुआ।[1] ओझाजी ने इस वर्ष को बाप्पा के राज्य-त्याग का संवत् सिद्ध किया है। बाप्पा इसके पूर्व ही सिंहासनासीन हो गये थे।[2] परन्तु बाप्पा सम्बन्धी प्रसिद्धियों के प्रसंग में ओझाजी ने गोरखनाथ-वाली प्रसिद्धि की कोई चर्चा नहीं की है। बाप्पा और उनके गुरु के सम्बन्ध में जितनी प्रसिद्धियाँ है, उनमें बाप्पा के गुरु का नाम हारीतऋषि या हारीतराशि बताया गया है, जो लकुलीश पाशुपात सम्प्रदाय के कोई सिद्ध पुरुष थे। फ्लीट ने 1907 ई. में एक प्रबन्ध लिखा था जिसमें एकलिंगजी के मन्दिर को लकुलीश सम्प्रदाय का सिद्ध किया था।[3] एकलिंग मन्दिर में एक लेख पाया गया है जो 971 ई. का लिखा है। इस लेख से इस मन्दिर की स्थिति बहुत पुरानी सिद्ध हो जाती है और ऐसा माना जा सकता है कि बाप्पा ने ही इस मन्दिर की प्रतिष्ठा करायी होगी। इधर बाप्पा का एक सोने का सिक्का भी अजमेर से मिला है जो घिस जाने पर तौल में 66 रत्ती के करीब है। इस सिक्के का जो विवरण प्रकाशित हुआ है[4], उससे यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि बाप्पा रावल वस्तुतः ही लकुलीश पाशुपत मत के अनुयायी थे। इसके सामने की तरफ (1) वर्तुलाकार माला के नीचे 'श्री वोप्प' लिखा हुआ है, (2) माला के पास बायीं ओर एक त्रिशूल है, (3) त्रिशूल की दाहिनी ओर दो पत्थरों की वेदी पर एक-एक शिवलिंग है जो बाप्पा के इष्टदेव एकलिंगजी का सूचक है, (4) इसकी दाहिनी ओर नदी है, और (5) लिंग तथा नदी के नीचे प्रणाम करते हुए बाप्पा का अधलेटा अंग है। पीछे की तरफ भी एक गौ खड़ी है, "जो बाप्पा के प्रसिद्ध गुरु लकुलीश सम्प्रदाय के कनफड़े साधु (नाथ) हारीतराशि की कामधेनु होगी जिसकी सेवा बाप्पा ने की थी, ऐसी कथा प्रसिद्ध है।"[5] इस सिक्के के चिह्न सूचित करते है कि बाप्पा लकुलीश[6]

1 उक्तं च पुरातनैः कविभिः

आकाशचंद्र दिग्गजसंख्ये संवत्सरे बभूवात्र ।
श्रीएकलिंगशंकरलब्धवरो बाप्पभूपालः ।।

2. 'राजपूताने का इतिहास', पृ. 412

3. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1907, पृ. 420

4 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग 1, पृ. 241-85 में म. म. पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का लेख।

5 'राजपूताने का इतिहास', पृ. 415-16

6. "इस समय उस सम्प्रदाय का माननेवाला कोई नहीं रहा, यहाँ तक कि लोग बहुधा उस सम्प्रदाय का नाम भी भूल गये हैं, परन्तु प्राचीन काल में उसके अनुयायी बहुत थे जिनमें मुख्य साधु (कनफड़े, नाथ) होते थे। उस सम्प्रदाय का विशेष वृत्तान्त शिलालेखों तथा 'विष्णुपुराण', 'लिंगपुराण' आदि में मिलता है। लकुलीश उस सम्प्रदाय का प्रवर्तक होना चाहिए। उनके मुख्य चार शिष्यों के नाम कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य मिलते हैं। एकलिंगजी के पुजारी कुशिक की परम्परा में से हारीतराशि बाप्पा का गुरु माना जाता है। इस सम्प्रदाय के साधु निहंग होते थे, गृहस्थ नहीं; और मूँडकर चेला बनाते थे। उनमें जाति-पाँति का कोई भेद न था।"—'राजपूताने का इतिहास' (पृ. 416) में ओझाजी की टिप्पणी।

पाशुपत-सम्प्रदाय के शिष्य थे। बाप्पा का सिक्का और उनके विषय में उपलब्ध प्रसिद्धियाँ, दोनों ही इस बात का पक्का प्रमाण है कि वे लकुलीश सम्प्रदाय के बड़े भक्त थे। प्रायः भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के भक्तराजगण अपने नाम के साथ सम्प्रदाय-वाचक शब्द जोड़ा करते थे। बुद्ध के उपासक अपने को परम सौगत, विष्णु के उपासक परम भागवत और शिव के उपासक परम माहेश्वर जोड़ा करते थे। क्या रावल या महारावल शब्द भी सम्प्रदायवाचक है ?

'आथर्वशिर उपनिषद्' में पाशुपतों के विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के पाये जाने से पण्डितों ने अनुमान किया है कि अवान्तर उपनिषत्काल में इस सम्प्रदाय का जन्म हो चुका था।[1] इस सम्प्रदाय के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम लकुलीश या नकुलीश था। इनका जन्म बड़ौदा राज्य के कायावरोहण (कायारोहण, कारवन, बड़ौदा राज्य) में हुआ था, ऐसा कहा जाता है।[2] 'शिवपुराण' में कारवण-माहात्म्य है जो लकुलीश के जन्म-ग्राम की महिमा बताने के लिए लिखा गया है। लकुलीश की मूर्तियाँ राजपूताना, गुजरात, मालवा आदि में पायी गयी हैं। इन मूर्तियों की बाह्य वेशभूषा भी उन्हें अन्य मूर्तियों से स्पष्ट रूप से विशिष्ट बना देती है। माथे पर बना केशकलाप, एक हाथ में बीजपूरक का फूल और दूसरे में लगुड (लाठी) इन मूर्तियों की विशेषता है। लगुली अर्थात् लकुटि धारण करने के कारण ही लकुलीश की लकुलीशता है।[3] मथुरा में उपलब्ध शैवस्तम्भ तथा उस पर उत्कीर्ण शिलालेख के अध्ययन से लकुलीश का समय विक्रम के दो सौ वर्ष बाद ठहरता है। यह वही युग है जिसमें कुषाणवंशीय नरेश हुविष्क की सुवर्णमुद्राओं पर लकुटधारी शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं।[4]

लकुलि, लगुलि (= लाठी ?) आदि शब्दों का रूप ही सूचित करता है कि वे देशी शब्दों के संस्कृत रूप हैं। लकुलीश पाशुपतमत प्रधानतया निचले स्तर के लोगों में बहुत प्रचलित था। वैदिक और भागवत लोग शुरू-शुरू में इस मत को सिर्फ अवैदिक ही नहीं मानते थे, इसके माननेवालों को पापयोनि में उत्पन्न भी मानते थे। 'भागवत' में एक स्थान पर इनको सच्छास्त्र परिपन्थी कहा गया है और पापव्रतियों को इस दीक्षा में प्रवेश करने का अभिशाप दिया गया है।[5] रावल वस्तुतः 'लाकुल' शब्द का रूपान्तर है। सातवीं शताब्दी के पहले ये लोग कुछ सम्मान पाने लगे थे, क्योंकि इनमें कुछ असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् पैदा हो गये थे।

1. पं. बलदेव उपाध्याय, 'विश्वभारती पत्रिका', खण्ड 1, पृ 245
2. म. म. प. गौ ही. ओझा, 'राजपूताने का इतिहास', पृ. 410
3. 'विश्वभारती पत्रिका', खण्ड 1, पृ 245
4. वही, पृ. 279
5. भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः
नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥—भागवत, 4 2

3. पूरनभगत और राजा रसालू

पूरनभगत (चौरंगीनाथ) और राजा रसालू—सारे पंजाब में और सुदूर अफगानिस्तान तक में पूरनभगत और राजा रसालू की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही सियालकोट के राजा सालवाहन (शालिवाहन) के पुत्र बताये जाते हैं। कहते हैं, पूरनभगत अन्त में बहुत बड़े योगी हो गये थे और चौरंगीनाथ नाम से प्रसिद्ध हुए। मियाँ कादरयार की लिखी हुई एक पंजाबी कहानी पर 'संगपूरनभगत' गुरुमुखी अक्षरों में छपी है। कहानी का सारांश इस प्रकार है :

पूरनभगत उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के वंशज थे। उनके बापदादों ने सियालकोट के थाने पर अधिकार कर लिया था। उनके पिता का नाम सलवान (शालवाहन-शालिवाहन) था। जन्म के बाद ज्योतिषी के आदेशानुसार पूरन बारह वर्ष तक एकान्त में रखे गये थे। इस बीच राजा ने लूण नामक एक चमार की युवती से शादी कर ली। एकान्तवास के बाद पूरन अपने माँ-बाप से मिले। उन्होंने सहजभाव से विमाता को 'माँ' कहकर पुकारा, इस पर गर्विणी नयी रानी का यौवनभाव आहत हुआ। उसने कई अपप्रस्ताव किये। अन्त में पूरनभगत के सरल स्वभाव से उसकी उद्दामता अत्यन्त प्रबल हो उठी। ईर्ष्या से अन्धी होकर इस रानी ने राजा से उलटी-सीधी लगाकर पूरन के हाथ-पैर कटवाकर और आँखें फुड़वाकर कुएँ में डलवा दिया। इस कुएँ से गुरु गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। गुरु के आशीर्वाद से उनको हाथ-पैर और आँखें फिर से मिलीं। जब वे नगर लौटकर गये और उनके पिता को इस छल का पता लगा तो राजा ने कठोर दण्ड देना चाहा, पर पूरन ने निषेध किया। पूरन की माँ रो-रोकर अन्धी हो गयी थी। पूरन की कृपा से उन्हें आँखें मिलीं और उन्हीं के वरदान से पुत्र भी हुआ। पिता ने आग्रहपूर्वक उन्हें राजसिंहासन देना चाहा, पर पूरन ने अस्वीकार कर दिया। अन्त में वे गुरु के पास लौट गये और बड़े भारी सिद्ध हुए। हाथ-पैर कट जाने के कारण वे चौरंगी हुए थे। इसीलिए इनका नाम चौरंगीनाथ हुआ। स्यालकोट में अब भी वह कुआँ दिखाया जाता है, जहाँ पूरनभगत को फेंका गया था।

पूरनभगत की यह कहानी यो. सं. आ. में भी दी हुई है (पृ. 372)। वहाँ स्यालकोट का नाम शालीपुर दिया हुआ है। सम्भवतः ... स्याल का शुद्ध संस्कृत रूप 'शालि' समझा है, ...

राजा रसालू पूरनभगत के ... में पुराना ...
ने अनेक अनुमान भिड़ाये हैं। स... । इनके ...
राजा रसालू का समय सन् ईसवी ... ल ... पण्डितो
का आधार यह था कि पं... की दो ... स ... । कि
इनके वंश का बताते ... ग ... अ ... न
नामक राजपूत रा...
इसने जैसलमेर की

से अपना सम्बन्ध बताते हैं। वे अपने को सालवाहन के पिता राजा गज के वंशधर मानते हैं। टाड ने लिखा है कि राजा गज से गज़नी के सुलतान की लड़ाई हुई थी। अन्त तक गज हार गया था और पूरब की ओर हटने को बाध्य हुआ था। उसी ने स्यालकोट की स्थापना की थी। बाद मे उसने गजनी को भी अपने अधिकार मे कर लिया था। यह सातवी शताब्दी के अन्त की घटना है और इस प्रकार राजा रसालू का काल आठवी शती होता है। अरबी-इतिहास लेखको ने आठवी शताब्दी के प्रतापी हिन्दू राजा की बहुत चर्चा की है। उसके नाम को नाना भाव से लिखा है। एक दूसरा प्रमाण भी इस विषय मे संग्रह किया जा सका है। रिसल नामक एक हिन्दू राजा के साथ मुहम्मद कासिम ने सिन्ध मे सन्धि की थी। सन्धि का समय आठवी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग है। इस प्रकार टेम्पुल ने अनुमान किया है कि रिसल असल मे रसालू ही होगा और उसका समय आठवी शताब्दी के आदि-भाग में होना चाहिए।[1] कुछ पण्डितो ने तो राजा शालिवाहन को शकसंवत् का प्रवर्त्तक माना है। डॉ. हचिसन ने इन्हे पँवार राजपूत माना है। ये इनके मत से यदुवशी राजपूत थे और रावलपिण्डी—जिसका पुराना नाम गजपुरी है—इनकी राजधानी थी। बाद मे सीथियनों से घोर युद्ध के बाद इन्हें पूरब की ओर हटना पड़ा। तभी स्यालकोट में इनकी राजधानी हुई। ब्रिग्स साहब ने इन सब बातो पर विचार करके यही निष्कर्ष निकाला है कि यह सब कहानियाँ केवल यही सिद्ध करती है कि राजा रसालू के समय मे सीमान्त पर हिन्दुओ और विधर्मियो का जबर्दस्त संघर्ष चल रहा था। और इसीलिए पूरनभगत और राज रसालू का समय वस्तुतः ग्यारहवी शताब्दी के पूर्व मे ही होना चाहिए।[2]

स्पष्ट ही है कि राजा रसालू या पूरनभगत को ग्यारहवी शताब्दी मे खीच ले आने का कोई स्पष्ट प्रमाण नही है। केवल अनुमान के बल पर समस्त प्रकार की परम्पराओ और ऐतिहासिक सचाइयो के विरुद्ध कोई निर्णय करना साहसमात्र है। परम्पराएँ और ऐतिहासिक प्रमाण स्पष्ट रूप से पूरनभगत और राजा रसालू को गोरक्षनाथ के पूर्व ले जाते है। इसका एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि वस्तुतः ही ये दोनों गोरक्षनाथ के पूर्ववर्त्ती है। उनके द्वारा प्रवर्तित या समर्थित शैव साधको मे कुछ योगाचार रहा होगा, जिसे गोरक्षनाथ ने नये सिरे से अपने मत मे शामिल कर लिया होगा। उनको गोरक्षनाथ का शिष्य बतानेवाली कहानियाँ परवर्त्ती है। गोरक्षनाथ अपने काल के इतने प्रसिद्ध महापुरुष हुए थे कि उनका नाम अपने पन्थ के पुरोभाग मे रखे बिना उन दिनों किसी को गौरव मिलना सम्भव नही था। जो लोग वेदविमुखता और ब्राह्मणविरोधिता के कारण समाज मे अगृहीत रह जाते, वे उनकी कृपा से ही प्रतिष्ठा पा सकते थे।

इस प्रकार पूर्ववर्त्ती सम्प्रदाय का नवोदित शक्तिशाली सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त होना अनहोनी बात नही है। परवर्त्ती इतिहास में इसके अनेक प्रमाण हैं। चैतन्यदेव

1. ब्रिग्स, पृ. 239-41   2. वही।

अपनी किसी रानी के अनुचित आचरण के कारण वे विरक्त हुए थे। 'वैराग्य शतक' के प्रथम श्लोक में इस कहानी का सामंजस्य मिला लिया जा सकता है। परन्तु इसी भर्तृहरि से गोरक्षनाथ के उस शिष्य भर्तृहरि को, जो दसवीं शताब्दी के अन्त में हुए होंगे, अभिन्न समझना ठीक नहीं है। यदि 'वैराग्य शतक' के कर्ता भर्तृहरि गोरक्षनाथ के शिष्य थे तो क्या कारण है कि सारे शतक में गोरक्षनाथ का नाम भी नहीं आया है? यही नहीं, गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित हठयोग से 'वैराग्य शतक' के कर्ता परिचित नहीं जान पड़ते। मेरा इस विषय में यह विचार है कि भर्तृहरि दो हुए हैं, एक तो 'वैराग्य शतक' वाले और दूसरे उज्जैन के राजा जो अन्त में जाकर गोरक्षनाथ के शिष्य हुए थे। भर्तृहरि का वैराग्य-मत गोरक्ष द्वारा अनुमोदित हुआ और बाद में परवर्ती भर्तृहरि के नाम से चल पड़ा। इस मत को भी गोरक्ष द्वारा 'अपना' मत माना जाना इसीलिए हुआ होगा कि कपिलायनी शाखा तथा नीमनाथी पारसनाथी शाखा की भाँति इनमें योगक्रियाओं का बहुत प्रचार होगा। द्वितीय भर्तृहरि के विषय में आगे कुछ विचार किया जा रहा है। यह विचार मुख्य रूप से दन्तकथाओं पर आश्रित है। इनके विषय में नाना प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं। मुख्य कथा यह है कि ये किसी मृगीदल-विहारी मृग को मारकर घर लौट रहे थे। तब मृगियों ने नाना प्रकार के शाप देना शुरू किया और वे नाना भाव से विलाप करने लगीं, दयार्द्र राजा निरुपाय होकर सोचने लगा कि किसी प्रकार यह मृग जी जाता तो अच्छा होता। संयोगवश गुरु गोरक्षनाथ वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने इस शर्त पर कि मृग के जी जाने पर राजा उनका चेला हो जायगा, मृग को जिला दिया। राजा चेला हो गया। कहते हैं, गोपीचन्द की माता मयनामती (मैनावती) इनकी बहन थी।

हमारे पास 'विधना' या 'कर्त्तार' का बनाया हुआ 'भरथरीचरित्र' है जो दूधनाथ प्रेस, हवड़ा से छपा है। इस पुस्तक के अनुसार भरथरी या भर्तृहरि उज्जैन के राजा इन्द्रसेन के पौत्र और चन्द्रसेन के पुत्र थे। वैराग्य ग्रहण करने के पूर्व राजा सिंहलदेश की राजकुमारी सामदेई से विवाह करके वहीं रहते थे। वहीं मृग का शिकार करते समय उनकी गुरु गोरखनाथ से भेंट हुई थी। हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि योगियों का सिंहलदेश वस्तुतः हिमालय का पाददेश है, आधुनिक सीलोन नहीं।

एक और कहानी में बताया जाता है कि भर्तृहरि अपनी पतिव्रता रानी पिंगला की मृत्यु के बाद गोरक्षनाथ के प्रभाव में आकर विरक्त हुए और राज्य अपने भाई विक्रमादित्य को दे गये। उज्जैन में एक विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) नामक राजा सन् 1076 ई. से 1126 ई. तक राज्य करता रहा।[1] इस प्रकार भर्तृहरि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग के ठहरे। एक दूसरी कहानी में रानी पिंगला को राजा भोज की रानी बताया गया है। राजा भोज का राज्यकाल

1. ब्रिग्स, पृ. 244

1018 ई. से 1060 ई. बताया गया है।[1] एक दूसरे मूल से भी भर्तृहरि का मयनामती और गोपीचन्द से सम्बन्ध स्थापित किया जा सका है। पालवंश के राजा महीपाल के राज्य मे ही, कहते है, रमणवज्र नामक वज्रयानी सिद्ध ने मत्स्येन्द्रनाथ से दीक्षा लेकर शैव मार्ग स्वीकार किया था। यही गोरक्षनाथ है। पालों और प्रतीहारों (उज्जैन के) का झगड़ा चल रहा था। कहा जाता है कि गोविन्दचन्द्र महीपाल का समसामयिक राजा था और प्रतीहारों के साथ उसका सम्बन्ध होना विचित्र नही है।[2]

2. गोपीचन्द और मयनावती—गोपीचन्द और मयनामती (मैनावती) की कहानी सारे भारतवर्ष मे पायी जाती है। गोपीचन्द बंगाल के राजा मानिकचन्द के पुत्र थे। मानिकचन्द का सम्बन्ध पालवंश से बताया जाता है जो 1095 ई. तक बंगाल में शासनारूढ़ था। इसके बाद ये लोग पूर्व की ओर हटने को बाध्य हुए थे। कुछ पण्डितों ने इस पर से अनुमान किया है कि ये ग्यारहवी शताब्दी के आरम्भ मे हुए होंगे। गोपीचन्द का ही दूसरा नाम गोविन्दचन्द्र है। हमने मत्स्येन्द्रनाथ का समय निर्धारित करने के प्रसंग मे तिरुमलय मे प्राप्त शैललिपि पर से इनका समय ग्यारहवी शताब्दी के आसपास होना पहले भी अनुमान किया है। गोपीचन्द मयनामती के पुत्र थे जो किसी हाड़ी-सिद्ध की शिष्या बतायी जाती है। ये हाड़ी-सिद्ध जालन्धरनाथ ही थे, ऐसी प्रसिद्धि बंगाल मे पायी जाती है। सिन्ध में गोपीचन्द पीर पटाव नाम से मशहूर है। पीर पटाव की मृत्यु 1209 ई. मे हुई थी। 'तुफतुल किरान' में पीर पटाव की कहानी दी हुई है। यह कहानी गोपीचन्द को बारहवी शताब्दी में पहुँचाती है। परन्तु पीर पटाव गोपीचन्द ही थे या नही, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। जो हो, इसमें सन्देह नही कि गोपीचन्द बंगाल के राजा थे। इतिहास मे यह शायद अद्वितीय घटना है जब माता ने पुत्र को स्वयं वैराग्य ग्रहण करने को उत्साहित किया हो। गोपीचन्द की कहानियाँ इस प्रकार है :

1. गोपीचन्द बंगाल के राजा थे, भर्तृहरि की बहन मैनावती इनकी माता थी। गोरखनाथ ने जिस समय भर्तृहरि को ज्ञानोपदेश दिया था, उसी समय मैनावती ने भी गोरखनाथ से दीक्षा ली थी। वह बंगाले के राजे से ब्याही गयी थी। इनके एक पुत्र गोपीचन्द और एक कन्या चन्द्रावली, ये दो सन्तानें थी। चन्द्रावली का विवाह सिंहलद्वीप के राजा उग्रसेन से हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद जब गोपीचन्द बंगाले का राजा हुआ तो उसके सुन्दर कमनीय रूप को देखकर मैनावती के मन में आया कि विषयसुख मे फँसने पर इसका यह शरीर नष्ट हो जायेगा। इसीलिए उसने पुत्र को उपदेश दिया कि 'बेटा, जो शाश्वत सुख चाहता है तो जालन्धरनाथ का शिष्य होकर योगी हो जा।' जालन्धरनाथ संयोगवश वहाँ आये हुए थे। गोपीचन्द राजपाट छोड़ योगी हो कदलीवन मे चले गये। पीछे से अपनी बहिन चन्द्रावली के अत्यन्त अनुरोध पर उसे भी योगी बनाया (सु. च., पृ. 251)।

1. ट्रा. का. सें. प्रो., जिल्द 2, पृ. 403 और ब्रिग्स पृ. 244
2. ब्रिग्स, म. म. पं. हरप्रसाद शास्त्री के आधार पर।

2. दुर्लभचन्द्र के 'गोविन्दचन्द्रेर गीत' का कथा-सार—जालन्धरिपाद या हाड़िपा शिव के शापवश पाटीका-भुवन (या मेहारकुल) में राजा गोविन्दचन्द्र और उनकी सिद्धा माता मयनामती के घर नीच कर्म किया करते थे। मयनामती ने अपने पुत्र को उपदेश दिया कि इस हाड़ी का शिष्य बनकर महाज्ञान प्राप्त करो और अमर हो जाओ। राजा ने पहले तो नीच जाति से दीक्षा लेना स्वीकार नहीं किया। राजा ने माता से पूछा कि तुमको अगर सिद्धि प्राप्त है तो पिताजी क्यों मर गये। रानी ने बताया कि किस प्रकार पति को बचाने के लिए लौह-कपाट-बद्ध गृह में बन्द करके पहरा देती रही, किस प्रकार यमदूत बार-बार आकर रानी की सिद्धि के भय से लौट गये, फिर किस प्रकार एक सप्ताह बाद राजा के अत्यन्त आग्रह से वे भोजन बनाने के लिए वहाँ से हटी और मौका देखकर यमदूत वहाँ से पति को ले गये। फिर रानी भ्रमरी बन कर यमपुर गयी। यम ने कहा कि अनजली मिट्टी ले आओ तो तुम्हारे पति को जिला दूँ। पर वह गंगा के गर्भ में है जिससे सब जीव बचे हुए हैं। रानी ने उस मिट्टी को लेना उचित नहीं समझा और पति नहीं बच सके। गोविन्दचन्द्र ने रानी को जलते जतुगृह में प्रवेश करने को कहा। वहाँ से वह साफ़ निकली। फिर तो राजा माता की सिद्धि देखकर दीक्षा लेने को राजी हो गया। हाड़िपा या जालन्धरिपाद ने शिष्य करने में आपत्ति दिखायी पर राजा ने छोड़ा नहीं। बाद में नगर में से भिक्षा माँग लेने की शर्त पर राजी हुए। राजा सारे नगर मारा फिरा, पर जालन्धरिपाद के माया-प्रभाव से उसे किसी ने भिक्षा नहीं दी—अपनी प्रियतमा रानियों उदुना और पुदुना ने भी नहीं। अन्त में माता मयनामती ने ही भिक्षा दी, पर गुरु ने उसे भी मायाबल से उड़ा दिया। हैरान राजा गोविन्दचन्द्र गुरु के पास खाली हाथ लौटे। गुरु ने कहा, 'दूसरे देश से भिक्षा ले आओ।' शिष्य गुरु के साथ ही देशान्तर जाने को राजी हुआ। झोली ले भभूत रमा करके गुरु के साथ राज-शिष्य निकल पड़ा। मस्ताने गुरु ने दक्षिण देश की किसी वारांगना के घर राजा को कुछ कौड़ियों पर बन्धक रखा। उसने राजा से प्रेम करना चाहा और प्रत्याख्यात होकर कष्ट देने लगी। इधर उदुना-पुदुना रानियों ने अपनी वियोग-कथा को तोते-मैना के पंखों में बाँधकर उड़ाया। वे सर्वत्र उड़ते हुए उस स्थान पर भी पहुँचे जहाँ राजा गोविन्दचन्द्र बन्दी थे। उनका समाचार तोते-मैनों ने रानियों को दिया, रानियों ने सास मयनामती को, मयनामती ने गुरु जालन्धरिपाद को। इधर उस हीरा नामक वीरांगना ने राजा को भेड़ा बना दिया। गुरु वहाँ पहुँचे। कौड़ियाँ लौटाकर उन्होंने बन्धक माँगा। हीरा ने कहा कि वह आदमी तो मर गया। पर गुरु ने ध्यानबल से सब समझ लिया। हुंकार छोड़ते ही भेड़े का बन्धन टूटा और राजा भी मनुष्य हुए। इस बार शिष्य को लेकर गुरु यमलोक में गये। वहाँ पर राजा ने अपने दुष्कर्मों का हिसाब देखा तो योगी होने का पक्का निश्चय कर लिया। गुरु ने अब राजा को महाज्ञान दिया। राजा महाज्ञान पाकर घर लौटे और रानियों को योगविभूति दिखाने लगे। हाड़िपा ने जब यह जाना तो महाज्ञान हर लिया। अब राजा कोई भी चमत्कार नहीं दिखा सके। रानियों ने हँसकर कहा, 'बड़े भारी गुरु है ...

जादू और टोना-भर जानता है वह आदमी।' राजा ने विश्वास किया और दूसरे ही दिन हाड़िपा को पकड़वा मँगाया। उस समय वे ध्यानस्थ थे। उसी अवस्था में राजा ने उन्हें भूमि में गड़वा दिया।

इधर हाड़िपा के शिष्य कानुपा ने गोरखनाथ के मुख से जो अपने गुरु का संवाद पाया तो बालक योगी का रूप धारण करके गोविन्दचन्द्र की राजधानी मे पहुँचे। योगी का प्रवेश वहाँ निषिद्ध था। कोतवाल ने इस शिशु योगी को पकड़कर रानी उदुना के सामने पेश किया। बालक योगी ने बताया कि 'मैं गुरुहीन होकर भटक रहा हूँ। मैं योग भला क्या जानूं!' और रानी के बन्धन से मुक्त हुए। तब कानुपा राजा के पास गये और एक हुंकार छोड़ा। सोलह सौ हाड़िपा के शिष्य उपस्थित हुए। राजा ने योगियों को भोजन कराना शुरू किया। भला योगियों का पेट कैसे भरता! अन्त मे राजा ने उन्हें सिद्ध समझा और असली परिचय पाकर भीत हुआ। राजा की हाड़िपा के क्रोध से रक्षा करने के लिए कानुपा ने तीन पुतलियाँ बनायीं। खोदकर हाड़िपा को जब निकाला गया तो उन्होंने क्रोधभरी दृष्टि से तीन बार गोविन्दचन्द्र को देखना चाहा, तीनों बार कानुपा ने पुतलियाँ दिखायीं जो जलकर भस्म हो गयीं। फिर गुरु कुछ शान्त हुए, तब राजा गोविन्दचन्द्र ने क्षमा माँगी। अबकी बार वे सच्चे योगी हुए। कान में शख का कुण्डल और शरीर में भस्म रमाकर देशान्तर के लिए चल पड़े। रानियों ने जो विलाप शुरू किया तो उन्हें प्रस्तरमूर्त्ति में रूपान्तरित कर दिया। अबकी बार वे सचमुच अमर हुए और माता मयनामती प्रसन्न हुईं।

3. 'मयनामती गान' का सारांश—एक बार गोरखनाथ राजा तिलकचन्द्र के घर गये। वहीं बालिका शिशुमती को महाज्ञान का उपदेश दिया। यही रानी मयनामती हुईं। इसका विवाह राजा मानिकचन्द से हुआ। रानी ने मानिकचन्द को महाज्ञान का उपदेश करना चाहा, पर वे स्त्री को गुरु बनाने को राजी नहीं हुए। राजा ने अन्त में मयनामती को घर से निकाल दिया। वे 'फेरुसा' नगर में चली गयीं। मानिकचन्द ने चार पटरानियों और 180 सामान्य भार्याओं के साथ विहार करने में काल बिताया। मृत्यु के समय उन्हें होश आया और रानी मयनामती को बुलवाया। जब तक रानी राजा के आदेश से हीरामाणिक्यखचित सुवर्ण-भृंगार मे गंगा का जल ले आने को गयीं, तब तक यमदूत राजा का प्राण ले भागे। रानी ने यमदूतों से बहुत लड़ाई की, पर पति को नहीं बचा सकीं। उस समय उनके गर्भ मे गोविन्दचन्द्र या गोपीचन्द थे। पैदा होकर यही लड़का राजा हुआ। पर वास्तविक शक्ति रानी के ही हाथ मे रही। गोविन्दचन्द्र ने बड़ा होकर साभार (वर्त्तमान ढाका) के राजा की अदुना नामक कन्या से विवाह किया। द्वितीय कन्या पदुना दहेज में मिली।

भट्टशाली द्वारा सम्पादित 'मयनामती के गान' में ऐसा आभास पाया जाता है कि दाक्षिणात्य राजा राजेन्द्र चोल ने अपनी एक कन्या गोविन्दचन्द्र को देकर सन्धि स्थापित की थी। रानी मयनामती ने देखा कि 18 वर्ष की उमर में यदि गोविन्द-

चन्द्र संन्यास नहीं लेता है तो उसकी उन्नीसवें वर्ष में मृत्यु निश्चित है। फलतः रानियों को रोती-विलपती छोड़ हाड़िपा गुरु जालन्धरिपाद से दीक्षा लेकर राजा 12 वर्ष के लिए प्रव्रजित हुए। रानी ने जब हाड़िपा से दीक्षा लेने की बात कही तो राजा ने बहुत प्रतिवाद किया। यहाँ तक कि हाड़ी के साथ रानी के गुप्त प्रेम और अपने पिता को विषप्रयोग से मार डालने का अभियोग भी लगाया। पर रानी ने रोकर कहा कि हाड़ी और वे दोनों ही गोरखनाथ के शिष्य हैं। अस्तु राजा संन्यासी हुआ और दक्षिण देश की हीरा नामक वेश्या ने उससे प्रेम करना चाहा। प्रत्याख्यात होने पर उसने उसे नाना प्रकार के कष्ट दिये। एक दिन पानी भरते समय राजा को ज्ञात हुआ कि 12 वर्ष बीत गये और अपनी जाँघ चीरकर रक्त से एक पत्र लिखकर कबूतर के पर में बाँधकर उड़ा दिया। कबूतर ने उस खबर को यथास्थान पहुँचा दिया। तब गुरु हाड़िपा ने आकर राजा का उद्धार किया। राजा दीर्घकाल बाद जब राजधानी लौटे तो अन्त पुर गये। वहाँ रानी अदुना उन्हें पहचान न सकी। अपरिचित को अन्त पुर में जाते देख कुत्ता ललकार दिया और हाथी से कुचलवा देने का आदेश किया। दोनों ने राजा को पहचानकर सिर झुका लिया। तब रानी ने उन्हें पहचाना और राजा सिंहासनासीन हुए। [दीनेशचन्द्र सेन के 'बंगभाषा ओ साहित्य' (पृ 55-57) में दी हुई कथा के आधार पर संकलित।]

4. डॉ. मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक में पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में संगृहीत कई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'उदास गोपीचन्द गाथा, गोरखपद' नाम से एक अंश छापा है जो गोपीचन्द और उनकी माता मयनावती (मैनावन्ती) के संवाद के रूप में है। माता ने पुत्र को योगीवेश में देखकर बहुत दुःख अनुभव किया। इस पर पुत्र ने याद दिलाया कि तुम्हारे ही उपदेश से मैंने यह वेश लिया है और जब मैं इस मार्ग में रम गया तो तुम पछताती हो। संवाद के बाह्य रूप से ही स्पष्ट रूप में मालूम होता है कि यह गोपीचन्द का अपना लिखा हुआ नहीं है। उनके मत को व्यक्त करने के लिए किसी ने बाद में लिखा है। भाषा भी नयी है। फिर भी इस संवाद से गोपीचन्द के मत को समझने में सहायता तो मिल ही सकती है। संवाद में गोरखनाथ को गोपीचन्द का गुरु बताया गया है।

म. म. प. गोपीनाथ कविराज ने[1] गोपीचन्द और जालन्धरनाथ के संवादरूप में कुछ संस्कृत वाक्य उद्धृत किये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये वाक्य किसी पुरानी हिन्दी-कविता की संस्कृत छाया है। एक पद है, 'वसतौ स्थीयते तदा कन्दर्पो व्याप्नुते। वने स्थीयते तदा क्षुत् सन्तापयति।' संस्कृत वाक्य में कोई तुक नहीं मिलता परन्तु हिन्दी में यदि इसे 'व्यापै—सन्तापै' मान लिया जाय तो तुक मिल जाता है। छन्द भी हिन्दी बन्ध में ठीक उतरता है। सारा संवाद 'गोरखमछीन्द्रबोध' के अनुकरण पर लिखा हुआ परवर्ती है। संवाद के रूप में सिद्धों की बातचीत के रूप

1. स. भ. स्ट., एटा भाग, 1927

में पायी जानेवाली रचनाएँ सन्देहमूलक है। उन पर से किसी सिद्धान्त पर पहुँचना सब समय ठीक नही है।

6. रसेश्वर मत

हमने ऊपर देखा है कि हठयोग में प्राणायाम का विशेष महत्त्व है। परन्तु हठयोग के ग्रन्थों मे तीन चाञ्चल्यधर्मी तत्त्वो का उल्लेख है, जिनमे से किसी एक को वश में लाने से अभीष्ट सिद्धि होती है। ये हैं . (1) प्राण, (2) मन और (3) विन्दु। प्रथम दो के संयमन-विधि की चर्चा हम पहले भी कर चुके है। तीसरे की एक अत्यन्त विचित्र और परम उपकारी परिणति हुई है, यहाँ उसी का उल्लेख किया जा रहा है। विन्दु का अर्थ शुक्र है। ऐसा जान पड़ता है कि इसकी अधोगति को 'कालाग्नि' कहते थे,[1] ऊर्ध्वगति को 'कालाग्निरुद्र'[2]। नाना यौगिक क्रियाओं से बिन्दु को ऊर्ध्वगामी करने का विधान है। ऊर्ध्वरेता के प्राण और मन अचंचल हो जाते है तथा कुण्डलिनी-शक्ति उद्बुद्ध होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है। यह 'कालाग्नि-रुद्रीकरण' योगमार्ग की एक महत्त्वपूर्ण साधना थी। 'कालाग्निरुद्र' नामक एक उपनिषद् भी है, परन्तु इससे उपर्युक्त 'कालाग्नि-रुद्र' का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। केवल इससे इतना ही जाना जाता है कि कालाग्नि-रुद्र कोई देवता है, इनसे सनत्कुमार ने प्रश्न किया था कि भस्मधारण का तत्त्व क्या है। ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार विन्दु के अधःपतन के देवता विषहर, नन्दिनीवृत्ति के देवता काम और स्थिरीभाव के देवता निरंजन है[3], उसी प्रकार ऊर्ध्वगमन के देवता कालाग्नि-रुद्र है। सम्भवतः वज्रयानियो के कालाग्नि ही नाथसिद्धो के विषहर है। जो हो, विन्दु के ऊर्ध्वगमन से अमरत्वप्राप्ति हठयोग की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। इसी का एक रूप है स्त्री के रज को आकर्षित करके विन्दु के साथ मिलाकर उसका ऊर्ध्वपातन। यह वज्रोलिका मुद्रा कही जाती है।

इसी साधना का भौतिक रूप में भी विकास हुआ है। पारा शिव का वीर्य है और अभ्रक पार्वती का रजः[4]। इन दोनों के मिश्रण को यन्त्रविशेष से ऊर्ध्वपातित *करने से शरीर को अमर बनानेवाला रस तैयार होता है।*[5]

किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत करके 'सर्वदर्शनसंग्रह' मे बताया गया

1 कृष्णपाद के 'दोहा कोश' के चौदहवें दोहे मे 'कालाग्नि' शब्द आता है। उसकी संस्कृत टीका (मेखला) मे कहा है कि 'कालाग्निश्च्युत्यवस्था'।—बौ. गा. दो.; पृ. 128

2. उर्ध्वं स्वभावो य पिण्डे स स्यात् कालाग्निरुद्रक.।—सि. सि. स., 3।5

3 अमरौघशासन, पृ 8

4 अभ्रकस्तवबीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मिलनं देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम्॥—स. द. सं., पृ. 224

5. पारद की तीन दशा कही गयी हैं : मूर्छित, मृत और बद्ध। ये ही प्राण की भी दशाएँ हैं। रससिद्धो ने कहा है कि ये दोनों ही मूर्छित होकर व्याधि हरते हैं, मृत होकर जिला देते हैं और बद्ध होकर अमर कर देते है—'मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्। बद्धःखामरता नेति रसो वायुश्च भैरवि।'

पारद के सर्वरोग-निवारक गुण का आविष्कार किया। इस सम्प्रदाय का गौरव एक दिन इतने ऊँचे उठा था कि एकमात्र पारद से चतुर्वर्ग फल लाभ होता है, इस प्रकार का एक दार्शनिक मत उद्भूत हुआ था जो 'रसेश्वर दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इसका उल्लेख किया है। आजकल प्रचलित आयुर्वेद मे इस मन्त्र का इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि आज के आयुर्वेदशास्त्र को ऋषियुग का आयुर्वेद नही कह सकते।···कहा जाता है कि इस रस सम्प्रदाय का मत आदिनाथ महादेव का उपदिष्ट है और आदिनाथ, चन्द्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियों ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।"[1]

अनेक नाथपन्थी सिद्धों के लिखे हुए रसग्रन्थ आज भी वैद्यों मे प्रचलित हैं। सिद्ध नागार्जुन के 'नागार्जुनतन्त्र' और 'रसरत्नाकर' (अमुद्रित), नित्यनाथ का 'रस-रत्नाकर' ('रसखण्ड' और 'रसेन्द्रखण्ड' कलकत्ते से तथा इन दोनों सहित 'रसायनखण्ड' अर्थात् सम्पूर्ण ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला, बम्बई से मुद्रित) और 'रसरत्नमाला' (अमुद्रित), शालिनाथ की 'रसमंजरी', काकचण्डीश्वर का कहा जानेवाला 'काकचण्डेश्वरी मततन्त्र' और मन्थान भैरव का 'रसरत्न' आयुर्वेदशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माने जाते है। चर्पटनाथ के रससिद्ध होने की बात पहले ही कही जा चुकी है।

गोरक्षनाथ भी रसायनविद्या के आविष्कारक माने माते है, परन्तु उनके नाम से प्रचलित कोई ग्रन्थ इस विषय का नही मिला। 'प्राणसंकली'[2] नामक जो छोटी-सी पुस्तिका 'गोरखबानी' में छपी है उसमे केवल शरीर संस्थान का वर्णन है। प्राणसंकली शब्द का अर्थ है प्राणो का वचन। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि इसमें शरीररक्षा-विषयक सिद्धियों का वर्णन होगा। श्री सन्त सम्पूरनसिंहजी ने तरनतारन से एक 'प्राणसंगली' ग्रन्थ प्रकाशित किया है।

यह गुरु नानकदेव का कहा गया है, परन्तु पंजाबी के सुप्रसिद्ध विद्वान् कविचूड़ामणि भाई सन्तोषसिंहजी ने इस बात को अस्वीकार किया है। उन्होंने 'श्री गुरुप्रताप सूरजग्रन्थ' मे लिखा है कि 'प्राणसंगली' की सबसे पुरानी प्रति 'पुरातन-जनम साखी' मे मिलती है जो षष्ठ गुरु के समय की लिखी हुई मालूम पड़ती है। इसमे 'प्राणसंगली' इस प्रकार शुरू होती है :

उनमन सुन्न सुन्न सम कहीए।
उनमन हरख सोग नही रहीए।

इसमे 22 पौड़ियाँ (छन्द-विशेष) है, परन्तु जो लिखी हुई प्रतियाँ देखने को मिली हैं उनमें 13 अध्याय हैं। यथा : (1) सुन्नमहल की कथा, (2) परमतत्त्व,

1. आयुर्वेद परिचय, विश्व विद्या संग्रह, शान्तिनिकेतन, 1350 बंगाब्द, पृ. 12-13
2. मच्छेन्द्रनाथ के शिष्य चौरंगीनाथ लिखित बतायी जानेवाली एक 'प्राणसकली' नामक पुस्तक पट्टी के जैन मन्दिर मे सुरक्षित है।

है कि चूंकि पारद (पारा) संसारसागर को पार करा देता है, इसीलिए यह 'पारद' कहा जाता है। सन्देह हो सकता है कि मुक्ति तो देहत्याग के बाद होती है, देह को अजर-अमर बना देनेवाला रसायन कैसे मुक्ति दे सकता है ? उत्तर में कहा गया है कि वस्तुत. यह शंका वही लोग करते हैं जो यह नहीं जानते कि पारद और अभ्रक कोई मामूली वस्तु नहीं हैं. वे हर और गौरी के शरीर के रस हैं, इनके शुद्ध प्रयोग से मनुष्य शरीरत्याग किये बिना ही दिव्य देह पाकर मुक्त हो जाता है और समस्त मन्त्रसमूह उसके दास बन जाते हैं।[1] अभ्रक और पारद के मिलने से जो रस उत्पन्न होता है, वह मृत्यु और दरिद्रता का नाश करता है। 'रसेश्वर सिद्धान्त' में राजा सोमेश्वर, गोविन्द भगवत्पादाचार्य, गोविन्दनायक, चर्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक पुरुषों का इस रस-सिद्धि से जीवन्मुक्त सिद्ध होना बताया गया है।[2]

इस रसेश्वर मत का हठयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परमेश्वर (शिव) ने एक बार देवी से कहा था कि कर्मयोग से पिण्ड धारण किया जा सकता है। यह कर्मयोग दो प्रकार का होता है : (1) रसमूलक, और (2) वायु का प्राणमूलक। रस और वायु, दोनों में ही यह विशेषता है कि मूर्छित होने पर वे व्याधि को दूर करते हैं, मृत होने पर जीवन देते है और बद्ध होने पर आकाश में उड़ने योग्य बना देते हैं।[3] रस पारद का नाम है, क्योंकि वह साक्षात् शिव के शरीर का रस है—'मम देहरसो यस्मात् रसस्तेनायमुच्यते।'

रसग्रन्थों में इसके स्वेदन, मूर्छन, पातन, निरोधन, मारण आदि की विधियाँ विस्तारपूर्वक बतायी गयी हैं। आज भी भारतीय चिकित्साशास्त्र में रस का प्रचुर प्रयोग होता है। अमर बना देनेवाला रसायन तो शायद किसी को नहीं मालूम, पर पारद की अमोघ शक्ति का आविष्कार करके इन सिद्धों ने भारतीय चिकित्सा-शास्त्र को अपूर्व रूप में समृद्ध किया है। रसायन-चिकित्सा भारतीय आयुर्वेद की अपनी विशेषता है और संसार की चिकित्सा-पद्धति में बेजोड़ वस्तु है। आयुर्वेद के रसायन-तन्त्र के आविष्कारक हैं रसवैद्य या सिद्ध-सम्प्रदाय। सुप्रसिद्ध विद्वान् और चिकित्सक महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन ने लिखा है, "इन लोगों ने कई सौ वर्ष पहले पारदादि धातु घटित चिकित्सा का विशेष प्रवर्त्तन किया था। आर्पकाल में लोहा और सिलाजीत प्रभृत्ति धातुओ का थोड़ा बहुत व्यवहार था जरूर, परन्तु पारदादि का अभ्यान्तर प्रयोग प्राय. नही था। रसवैद्य सम्प्रदाय ने पहले-पहल

1. ये चात्यक्तशरीरा हरगौरीसृष्टिजा तनु प्राप्ताः।
मुक्तास्ते रससिद्धा मन्त्रगणः किंकरो येपाम् ॥—'रसहृदय', 1 । 7
2. स. द स , पृ 204
3 कर्मयोगेण देवेशि प्राप्यते पिण्ड धारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधास्मृत ॥
मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरता कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि ॥—स, द. स., पृ. 204

पारद के सर्वरोग-निवारक गुण का आविष्कार किया। इस सम्प्रदाय का गौरव एक दिन इतने ऊँचे उठा था कि एकमात्र पारद से चतुर्वर्ग फल लाभ होता है, इस प्रकार का एक दार्शनिक मत उद्भूत हुआ था जो 'रसेश्वर दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इसका उल्लेख किया है। आजकल प्रचलित आयुर्वेद मे इस मन्त्र का इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि आज के आयुर्वेदशास्त्र को ऋषियुग का आयुर्वेद नही कह सकते।···कहा जाता है कि इस रस सम्प्रदाय का मत आदिनाथ महादेव का उपदिष्ट है और आदिनाथ, चन्द्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियो ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।"[1]

अनेक नाथपन्थी सिद्धों के लिखे हुए रसग्रन्थ आज भी वैद्यों में प्रचलित है। सिद्ध नागार्जुन के 'नागार्जुनतन्त्र' और 'रसरत्नाकर' (अमुद्रित), नित्यनाथ का 'रस-रत्नाकर' ('रसखण्ड' और 'रसेन्द्रखण्ड' कलकत्ते से तथा इन दोनों सहित 'रसायनखण्ड' अर्थात् सम्पूर्ण ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमाला, बम्बई से मुद्रित) और 'रसरत्नमाला' (अमुद्रित), शालिनाथ की 'रसमंजरी', काकचण्डीश्वर का कहा जानेवाला 'काकचण्डेश्वरी मततन्त्र' और मन्थान भैरव का 'रसरत्न' आयुर्वेदशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माने जाते है। चर्पटनाथ के रससिद्ध होने की बात पहले ही कही जा चुकी है।

गोरक्षनाथ भी रसायनविद्या के आविष्कारक माने माते है, परन्तु उनके नाम से प्रचलित कोई ग्रन्थ इस विषय का नही मिला। 'प्राणसंकली'[2] नामक जो छोटी-सी पुस्तिका 'गोरखबानी' मे छपी है उसमे केवल शरीर संस्थान का वर्णन है। प्राणसंकली शब्द का अर्थ है प्राणों का बचन। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि इसमे शरीररक्षा-विषयक सिद्धियों का वर्णन होगा। श्री सन्त सम्पूरनसिहजी ने तरनतारन से एक 'प्राणसंगली' ग्रन्थ प्रकाशित किया है।

यह गुरु नानकदेव का कहा गया है, परन्तु पंजाबी के सुप्रसिद्ध विद्वान् कवि-चूड़ामणि भाई सन्तोखसिहजी ने इस बात को अस्वीकार किया है। उन्होने 'श्री गुरुप्रताप सूरजग्रन्थ' मे लिखा है कि 'प्राणसंगली' की सबसे पुरानी प्रति 'पुरातन-जनम साखी' में मिलती है जो षष्ठ गुरु के समय की लिखी हुई मालूम पड़ती है। इसमे 'प्राणसंगली' इस प्रकार शुरू होती है :

उनमन सुन्न सुन्न सम कहीए।
उनमन हरख सोग नही रहीए।

इसमे 22 पौड़ियाँ (छन्द-विशेष) है, परन्तु जो लिखी हुई प्रतियाँ देखने को मिली है उनमें 13 अध्याय हैं। यथा : (1) सुन्नमहल की कथा, (2) परमतत्त्व,

1. आयुर्वेद परिचय, विश्व विद्या संग्रह, शान्तिनिकेतन, 1350 बंगाब्द, पृ. 12-13
2 मच्छेन्द्रनाथ के शिष्य चौरंगीनाथ लिखित बतायी जानेवाली एक 'प्राणसंकली' नामक पुस्तक पट्टी के जैन मन्दिर मे सुरक्षित है।

(3) प्राणपिण्ड, (4) हाटका, (5) नौ नाड़ी, (6) पंचतत्त्व, (7) योगमार्ग, (8) काल-वाच-निर्योग, (9) आसा-योग-बैराग, (10) ओनम सुन्न, (11) निर्योग भक्ति, (12) गुरुस्तुति, (13) सचखण्ड की युक्ति। श्री सन्त सम्पूर्ण सिंहजी की टीका सहित हिन्दी मे छपी हुई 'प्राणसगली' के इक्कीस अध्याय हैं। वे इस प्रकार हैं. (1) ओऽम्कार सबका मूल, (2) नौ नाड़ी, (3) पञ्चतत्त्व, (4) सुन्नमहल, (5) परमतत्त्व, (6) अ. प्रवान पिण्ड, आ. सिद्ध गोष्ट, (7) योगमार्ग, (8) रग-माला-योग-निधि, (9) हाटका, (10) निर्वाण, (11) उदास-कर्म-योग बैराग, (12) योग-बैराग-सचखण्ड की जुगत, (13) गोष्ट रामानन्द, (14) सून और उत्पत्ति, (15) सतगुरस्तुति, (16) काल-वाच-निर्योग-भक्ति, (17) कलावतीवानी, (18) निर्योग भक्ति, (19) छोटी रत्नमाला, (20) बड़ी रत्नमाला, (21) जीव की नसीहत के योग्य उपदेश।[1]

'प्राणसगली' श्री गुरु नानकजी ने शिवनाम के निमित्त दी थी, ऐसा कहा जाता है। क्या यह वही है? कहना कठिन है, क्योंकि उसे गुरुजी ने जल में विसर्जन कर दिया था। सम्भव है पीछे इसका उद्धार किया गया हो, लेकिन 'श्री गुरु ग्रन्थसाहिब' मे इसका समावेश न होना यही प्रमाणित करता है कि यह ग्रन्थ गुरुवाणी का दरजा नही रखता। बारीकी के साथ देखने से और दोनो की तर्ज का मिलान करने से यह अन्तर सुस्पष्ट हो जाता है कि 'प्राणसगली' उदासी सन्तों की रचनाओं के अधिक नजदीक पड़ती है। 'ग्रन्थसाहिब' मे उसका समावेश न होने से ही यह सिद्ध होता है कि गुरु अर्जुनदेवजी ने इसे नानकजी की वाणी नही समझा, नही तो उनके द्वारा इसकी उपेक्षा असम्भव थी। जान पड़ता है प्रचलित घटिया वानियों से गुरुबानी का प्रभेद सुस्पष्ट रखने के उद्देश्य से ही अर्जुनदेवजी 'ग्रन्थसाहिब' के संकलन-कार्य मे प्रवृत्त हुए। सम्भव है 'प्राणसगली' को देखकर ही उन्हे ऐसा करने का विचार सूझा हो। इसमे कोई सन्देह नही कि 'प्राणसगली' योग और रसायन का ग्रन्थ है। इसमें सिद्ध चरपटनाथ और गुरुनानक से बातचीत के रूप मे, विविध रसायनों का उल्लेख है। बहुत सम्भव है गुरु गोरक्षनाथ की 'प्राणसगली' कोई बड़ी पुस्तक हो, यह ग्रन्थ उसी के अनुकरण पर लिखा गया हो।

इस प्रकार गोरक्ष सम्प्रदाय मे रमेश्वर मत भी अन्तर्भुक्त हुआ है। सम्भवतः सिद्धो का यह सबसे महत्त्वपूर्ण दान है।

को इस योग का उपदेश दिया था। 'भागवत' के तृतीय स्कन्ध के छब्बीसवें अध्याय से लेकर कई अध्यायों तक इसका विस्तृत वर्णन है। छब्बीसवें अध्याय में सांख्य-शास्त्र के तत्त्ववाद का वर्णन है, फिर सत्ताईसवें अध्याय से योग का वर्णन है। संक्षेप में भागवत में उपदिष्ट मत का सारांश यह है :

"परमपुरुष परमात्मा निर्गुण हैं; सुतरां अकर्त्ता और अविकार है। सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी वास्तव में जल का धर्म जो चंचलता व हिलना है, उसमें लिप्त नहीं होता। वैसे ही यह पुरुष देह में स्थित होने पर भी प्रकृति [माया] के गुणों से उत्पन्न जो सुख-दुःख आदि हैं, उनमें लिप्त नहीं होता।

"हे मातः! *वही एक निर्गुण आत्मा प्रकृति आदि चौबीस गुणसमूह* (सतोगुणयुक्त मन आदि, रजोगुणयुक्त इन्द्रियादि, तमोगुणयुक्त पंचभूतादि) द्वारा सज्जित होकर अहंकारमय होता है। उसी अहंकार में मूढ़ होकर अपने को ही प्रकृति-कार्यों का कर्त्ता मानता है। अतएव अवारा होकर प्रासंगिक कर्म के दोष से सत् (देव), असत् (तिर्यक्), मिश्र (मनुष्य) योनियों में उत्पन्न होकर संसार पदवी को प्राप्त होता है। अर्थात् जन्म-मरण के दुःख से पीड़ित होता है (27-1-3)।

"यम आदि योग-मार्गों का अभ्यास करता हुआ श्रद्धापूर्वक मुझमें सत्य भक्ति-भाव करे, मेरी कथाओं का श्रवण करे, सब प्राणियों को एक दृष्टि से देखे, किसी से वैर न करे, असत्संग न करे, ब्रह्मचर्य और मौन (प्रयोजन-भर बोलना) रहे, धर्म करे और उसे ईश्वरार्पण कर दे।

"जो मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहे, उतना ही भोजन करे जिससे शरीर स्वस्थ रहे, मुनिव्रत का अवलम्बन करे, एकान्त में रहे, शान्त स्वभाव धारण करे, सबसे मित्रभाव रखे, दया और धैर्य धारण किये रहे। प्रकृति और पुरुष का तत्त्व दिखानेवाले ज्ञान का ग्रहण कर इस देह अथवा इसके संगी स्त्री-पुत्रादि में 'मैं हूँ—मेरा है', इस असत् आग्रह को त्याग दे। बुद्धि के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन अवस्थाओं को निवृत्त करके तुरीय अवस्था में स्थित हो। सबमें अपने को, और अपने में सबको देखे, तब वह आत्मदर्शी पुरुष आत्मा से परमात्मा को प्राप्त होता है। जैसे चक्षु-स्थित (चक्षु के अधिष्ठाता) सूर्य (वा तेज) द्वारा सूर्य का दर्शन होता है (अर्थात् जैसे चक्षु-स्थित सूर्य द्वारा आकाश-स्थित सूर्य की प्राप्ति होती है, वैसे ही पूर्वोक्त नियम के पालन से अहंकारयुक्त आत्मा द्वारा शुद्ध आत्मा अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होती है)। इस अवस्था को प्राप्त पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है। यह ब्रह्म निरुपाधि अर्थात् चिह्नरहित है तथा असत् अहंकार में सतरूप से भासित होता है। वह ब्रह्मसत् अर्थात् प्रधान का अधिष्ठान है, और असत् जो माया का कार्य है, उसके नेत्र के सदृश प्रकाशक है। कारण और कार्य दोनों में आधाररूप से अनुस्यूत है एवं अद्वय अर्थात् परिपूर्ण है। (27, 6-11)

संसारी जीव के देह में सर्वत्र ही ब्रह्म विराजमान है। उस ब्रह्म के तीन आवरण हैं। एक आवरण देह, इन्द्रिय और मन आदि है। दूसरा आवरण अहंकार है। इन्द्रियमय देह में आत्मा का तेज जितना है, उसकी अपेक्षा अहंकार वा चैतन्यमय

देह में अधिक है। तृतीय आवरण प्रकृति है। आत्मा की प्रभा देखनी हो तो वह आत्मा प्रकृति में जाज्वल्यमान रूप में देख पड़ता है। अर्थात् प्रथम (आत्मगत) आत्म-बिम्ब को देहादिगत जानना होगा, फिर आत्मसत्ता को अहंकारगत बोध करना होगा, फिर वह दर्शक स्वभावगत प्रकृति में व्याप्त आत्मा का दर्शन कर सकने पर शुद्धब्रह्म को देखने में समर्थ होगा। इसी सुषुप्ति अवस्था में सूक्ष्मपंचभूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि तन्द्रा व निद्रा द्वारा अगम्तुल्य अव्याकृत प्रकृति में लीन, अर्थात् जड़ता को प्राप्त होने पर यह आत्मा विनिद्र अर्थात् ज्ञानरहित वा जड़तारहित एवं अहंकारहीन होकर अपने स्वरूप अर्थात् सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त होता है। उस समय यह आत्मा साक्षीरूप में अवस्थित होकर अपनी उपाधि (अहंकार) के नष्ट होने पर स्वयं नष्ट न होने पर भी अपने को नष्ट जानता है। जैसे धन के नष्ट होने पर आप ही मानो नष्ट हो गये, इस प्रकार आतुर होते प्रायः लोग देख पड़ते हैं। (27, 12-15) अपने धर्म का भक्तिपूर्वक यथाशक्ति आचरण, विरुद्ध वा निषिद्ध धर्म (अधर्म) निवृत्त होना, जो प्रारब्ध वा दैववश प्राप्त हो उसमें सन्तोष, आत्मतत्त्व के जाननेवाले ज्ञानियों के चरणों की सेवा-पूजा। ग्राम्य अर्थात् धर्म, अर्थ, काम—इस त्रैवर्गिक धर्म से निवृत्त मोक्षदायक धर्म में रति, शुद्ध एवं मित (जितने में योगाभ्यास करने में कोई विशेष न हो उतना ही) भोजन करना; बाधारहित निर्जन स्थान में रहना। हिंसा (शारीरिक, वाचिक, मानसिक हिंसा, अर्थात् दूसरे को मन, वाणी और काया से पीड़ित करना) न करना, सत्य बोलना, अन्यायपूर्वक पर-धन न ग्रहण करना, जितनी वस्तु की आवश्यकता है उतनी वस्तु का संग्रह रखना। ब्रह्मचर्य रहना और तप, शौच (बाह्य व आन्तरिक), स्वाध्याय (वेदपाठ), परमपुरुष का पूजन करना। मौन (प्रयोजन से अधिक न बोलना) रहना, आसन जीतकर स्थिर भाव से स्थित होना, फिर धीरे-धीरे क्रम से प्राणवायु को जीतना, इन्द्रियों को मन द्वारा विषयों से हटाकर अन्तःकरण में लीन करना। मूलाधार आदि प्राण के स्थानों में किसी एक स्थान में मन-सहित प्राण को स्थित करना, भगवान् की लीलाओं का मन में ध्यान करना एवं मन को समाधि (एकाग्रता) में लगाना। इन सम्पूर्ण एवं इनके अतिरिक्त अन्य व्रत आदि उपायों से असत् (विषय) मार्ग में लगे हुए दुष्ट मन को क्रमशः बुद्धि द्वारा योग-साधन में लगाना चाहिए, एवं आलस्य त्यागकर प्राणवायु को जीतना चाहिए।

"(यम, नियम और आसन, इन तीन योग के अंगों को क्रमशः कहकर अब प्राणायाम आदि अंग कहते हैं) तदनन्तर किसी पवित्र-स्थल में आसनजित् व्यक्ति आसन बिछाये। उस आसन पर स्वस्तिकासन से अथवा जिस आसन से सुखपूर्वक बैठ सके, उस आसन से बैठकर शरीर को सीधा करके प्राणायाम का अभ्यास करे। पहले पूरक (बाहर के वायु को भीतर भरना), रेचक (उस वायु को बाहर निकाल देना), कुम्भक (उस वायु को भीतर रोकना), इन तीन प्रकार के प्राणायाम से अनुलोम वा प्रतिलोम क्रम से चित्त को ऐसा शुद्ध करे, जिससे वह अपने चंचलता-दोष को त्यागकर एकदम शान्त हो जाय। जैसे वायु और अग्नि के ताव से सोना

अपने मल को त्याग देता है, वैसे ही बारम्बार प्राणायाम द्वारा श्वासजय करने से योगी का भी मन शीघ्र ही निर्मल हो जाता है। इसके अनन्तर समाधि के द्वारा स्वरूप, प्राणायामादि जो चार कार्य मनुष्य को करना चाहिए, उन्हें कहते है—प्रथम प्राणायाम द्वारा कफ, पित्त आदि शरीर के दोषों को दूर करे, फिर धारणा (वायु के साथ मन को स्थिर करना) से किल्विष अर्थात् पातक को नष्ट करे, फिर प्रत्याहार (सबसे हटाकर चित्त को ईश्वर मे लगाना) से संसर्ग अर्थात् विषय-वासना को नष्ट करे, एवं ध्यान से राग-द्वेष आदि का त्याग करे। इन सातो अंगो के पश्चात् अन्तिम आठवां अंग समाधि (स्थिर मन की अपर ओर प्रवृत्त होने की निवृत्ति) है। इस प्रकार जब मन भलीभांति निर्मल और योग द्वारा एकाग्र हो तब नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर रखकर भगवान् की इस प्रकार की सुन्दर मूर्त्ति का ध्यान करे। (27, 1-12)

"मात: ! इस भांति ध्यान की आसक्ति से योगी को हरि मे प्रेम होता है, भक्ति से हृदय परिपूर्ण होकर द्रवित हो जाता है। आनन्द के मारे रोम खड़े हो जाते हैं। दर्शन की उत्कण्ठा के कारण नेत्रों में आनन्द के आंसू भर आते है। इस प्रकार मन-वाणी से न ग्रहण करने योग्य निराकार हरि के ग्रहण करने को बंशी सदृश उपायस्वरूप उस साधक का चित्त क्रमशः ध्येय पदार्थ (अर्थात् उस कल्पित हरि के रूप) से वियुक्त हो जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण विषयों से अतीत हो जाता है। (27-34)

"जननि ! इस संसार में प्राणी जैसे धन और पुत्र को अति स्नेहवश अपना मानकर भी अपने से विभिन्न जानता है, वैसे ही आत्मज्ञानीजन शरीरादि को आत्मा से अलग देखते है। जैसे काष्ठ की ज्वलन्त अवस्था मे धूम, अग्नि, शिखा—ये तीनों ही अग्नि से उत्पन्न जान पड़ते है, पर अग्नि काष्ठ से और इन अवस्थाओं से भी अलग है, उसी प्रकार साक्षी आत्मा भी अग्नि के सदृश पंचतत्त्व इन्द्रिय, अन्त:-करण और जीव से अलग है। जीवात्मा से ब्रह्मात्मा वा परमात्मा पृथक् है। इसी भांति प्रधान (मायास्वरूप तत्त्वसमूह) से उनका प्रवर्त्तक साक्षी परमात्मा अलग है।"[1] (27-38-40)

यही कपिल मुनि के उपदिष्ट योग का सारांश है। यह सांख्य-तत्त्ववाद पर आश्रित पातंजल योग का प्राणायाम-प्रधान रूप है। प्राणायाम की महिमा इस योग में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जिस प्रकार हठयोग में। केवल इसमे भक्ति का मिश्रण है। इस प्रकार के योगमार्ग का कापिलायन सम्प्रदाय गोरक्षनाथ के झण्डे के नीचे आ खड़ा हुआ। निश्चय ही यह गोरक्षनाथ से पूर्ववर्त्ती है। इस प्रकार वैष्णव योग की साधना भी इस मार्ग मे अन्तर्भुक्त हुई है।

1. पं. रूपनारायण पाण्डेय का अनुवाद 'शुकोक्ति सुधासागर' से।

8. शाक्त उपादान और अन्य सम्प्रदायों के अवशेष

योगियों में शाक्त उपासना पूरी मात्रा में है। प्रायः सभी पीठों में शक्ति की उपासना की जाती है और उसमें मन्त्र, बीज, यन्त्र, कवच, न्यास और मुद्राओं का उसी प्रकार प्रयोग होता है जिस प्रकार तान्त्रिक साधना में हिंगलाज और ज्वालामुखी की देवियाँ योगियों की परम उपास्या हैं। काशी आदि तीर्थों में भैरव के मन्दिर हैं और उनकी उपासना तान्त्रिक विधियों से होती है। यद्यपि गोरक्षनाथ ने कहीं भी मदिरा के सेवन का विधान नहीं किया, तथापि 'भैरों का प्याला' योगियों में नितान्त अपरिचित वस्तु नहीं है। परन्तु जो लोग मांस-मदिरा की उपासना करते हैं, उन्हें वृहत्तर योगिसमाज हीन ही समझता है। श्री चन्द्रनाथ योगी ने बड़े खेद के साथ योगिसमाज की इन कुप्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। उन्होंने श्रीनाथजी को सम्बोधन करते हुए लिखा है कि "खेद है कि आपकी सन्तति आधुनिक योगि-समाज में अधिकाश ऐसे मनुष्य प्रविष्ट हो गये हैं जिन्होंने अपने नेत्रों के ऊपर पट्टी बाँध ली है···और अभक्ष्यास्वादन में लोलुप हुए उसके ग्रहणार्थ हस्त प्रसृत कर आपकी आज्ञा को उपेक्षित करते हैं। बल्कि यही नहीं कि वे नीच से नीच शब्द-वाच्य पुरुष स्वयं ही ऐसा करते हों, प्रत्युत अपनी चाटूक्तियों से अवरुद्ध हुए भोले-भाले सेवकों को भी उन अभक्ष्य पदार्थों के ग्रहणार्थ विवश करते हैं और उनको भयानक वाक्य सुनाते हैं कि 'वाह ! यह तो भैरू का वा देवी का खाजा है, इसको स्वीकार न करोगे तो भैरू वा देवी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं होंगे और तुम्हारा अनुष्ठान निष्फल जायगा।' अहो अविद्ये···जिस योगी नामधारी के ऊपर तेरी छाया पड़ती है वह चाहे पृथ्वी उलट-पुलट हो जाय पर जिसके मुख पर भैरू का प्याला सुशोभित नहीं हुआ वह सच्चा योगी नहीं है—यह कहता हुआ कुछ भी आगा पीछा नहीं देखता।"[1] इन्होंने ही आगे चलकर लिखा है, "यम-नियम आदि आठ साधनों से शून्य रहते हुए योगियों के ऐसे कृत्य हैं कि बलि-तन्त्र-मन्त्र से देवी, भैरव आदि को प्रसन्न कर उच्चाटन-मारण आदि क्रियाओं को प्राप्त करना, ध्यान लगाने की सुगमता के हेतु मादक चीजों का सेवन करना, क्रिया करते-करते शरीर दुर्बल होने पर सबल बनाने के भ्रम से मांसादि अग्राह्य वस्तु का ग्रहण करना। आजकल बालसुन्दरी आदि की उपासना में समय नष्ट करते हुए योगी अपने-आपको कृत-कृत्य समझकर मनमानी चीज खाते तथा मनमानी वस्तु व्यवहार करते हैं।"[2]

परन्तु कैसे कहा जाय कि 'कुलद्रव्य' का सेवन इस मार्ग में था ही नहीं। स्वयं 'आदिनाथ संहिता' ही कहती है कि जो कौलिकों की, कुलमार्ग की, कुलद्रव्य की और कुलांगना की निन्दा करता है, उससे द्वेष रखता है, उपहास करता है, असूया करता

1. यो. सं. आ., पृ. 415
2. वही, पृ 440

है, शंका करता है, मिथ्या कहता है, वह पुत्र-पत्नीसमेत शाकिनी-मुख में पतित होता है। उसका रक्त, उसका मांस और उसकी त्वचा चामुण्डा का आहार होता है। योगिनियाँ और भैरवियाँ उसकी हड्डी चबा जाती हैं।[1] शाक्तों का 'कुलार्णव-तन्त्र' स्पष्ट रूप से उस दिशा तक को नमस्कार करने योग्य घोषित करता है जिधर श्रीनाथ का चरण-कमल गया हो, क्योंकि पादुका से बड़ा कोई मन्त्र नहीं है, श्री गुरु (नाथ) से बड़ा कोई देव नहीं है, शाक्त मार्ग से बढ़कर कोई मार्ग नहीं है और कुलपूजन से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है।[2]

सो, यह आचरण नया नहीं है, काफी पुराना है। ऐसे ही योगियों को लक्ष्य करके 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है कि वही योगी कुलीन कहलाता है जो नित्य 'गोमांस' का भक्षण करता है और ऊपर से 'अमर वारुणी' का पान करता रहता है! और योगी तो कुल-घातक है, क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालुदेश में ले जाने को ही 'गोमास भक्षण' कहते हैं। निस्सन्देह यह महा-पातक को नाश करनेवाला है। ब्रह्मरन्ध्र के पास, सहस्रारपद्म के मूल में जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिकेन्द्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है, उसी से अमृतरस चुआ करता है, योगी की ऊर्ध्वगा जिह्वा उसी अमृतरस का पान करती है, वही अमर वारुणी है।[3] इसमें जिन्हें कुराघातक कहा गया है, वे ऐसे ही योगी रहे होंगे जो देवी का 'खाजा' और 'भैरू का प्याला' सँभाले रहते होंगे।

वस्तुतः गोरक्षनाथ के नेतृत्व में ही वाममार्गी शाक्त साधकों का एक दल, जो काययोग में विश्वास करता था, योगिसमाज के अन्तर्भुक्त हुआ था। उसकी अपनी क्रिया-पद्धति का अवशेष यह आचार है। कालक्रम से परम्परा के नष्ट होने से वह अपने विशुद्ध पार्थिव रूप में जीता रह गया है।

1. कौलिकान् कुलमार्गं च कुलद्रव्यं कुलांगना।
ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते निन्दन्ति च हसन्ति च॥
ये सूयन्ते च शङ्कन्ते मिथ्येति प्रवदन्ति ये।
ते शाकिनीमुखे यान्ति सदारसुतबान्धवाः॥
पिबन्ति शोणितं तस्य चामुण्डा मांसमुत्वचं।
अस्थीनि चर्वयन्त्यस्य योगिन्यो भैरवीगणाः॥—गो. सि. सं. मे उद्धृत, पृ. 47

2. श्रीनाथचरणाम्भोजं यस्यां दिशि विराजते।
तस्यै दिशे नमस्कुर्याद् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये।
न पादुकात् परो मन्त्रो न देव श्रीगुरोः परः।
न हि शाक्तात् परो मार्गो न पुण्यं कुलपूजनात्॥—गो. सि. सं. मे उद्धृत, पृ. 46

3. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥
'गो' शब्दे नोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥
जिह्वाप्रवेशसंभूत. वह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥—हठ., 46-48

परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि गोरक्षनाथ के प्रवर्तित योग-मार्ग में शक्ति का स्थान एकदम नही था। उन दिनो शैव और शाक्त साधनाएँ परस्पर एक-दूसरे से गुँथी हुई थी। शिव और शक्ति का अभेद सिद्धान्ततः गोरक्षनाथ के मत में मान्य था। पिण्ड मे ब्रह्माण्डव्यापिनी परासंवित् ही कुण्डलिनी के रूप मे स्थित है जिसका उद्बोधन हठयोग का प्रधान लक्ष्य है। वे विश्वास करते थे कि शिव के भीतर ही शक्ति का वास है और शक्ति के भीतर शिव का निवास है, दोनो एकमेक होकर अनुस्यूत है। पिण्ड की साधना के मूल मे यही शिव और शक्ति का अभेद-रूपी सामरस्य है। हठयोग पिण्ड पर आधारित है और पिण्ड केवल परासवित्-रूपा आदिशक्ति का निवास है। चन्द्रमा और चन्द्रिका मे जिस प्रकार कोई अन्तर नही, उसी प्रकार शिव-शक्ति अभिन्न है।[1] वस्तुत. जीवमात्र में वही सृष्टि विधात्री परासंवित् स्फुटित हो रही है, तत्त्व-तत्त्व में परमरचना-चतुरा वही परासंवित् प्रकाशित हो रही है, ग्रास-ग्रास मे—प्रत्येक भोग्य पदार्थ मे—चटुल चचला लम्पटा वही परासवित् उद्भावित होकर विहार कर रही है, और प्रकाश के प्रत्येक तरंग मे वही महामहिमाशालिनी देवी उच्छलित हो रही है, जगत् वस्तुतः उसी का स्वरूप है.

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना संविदेका विभाति।
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति॥
ग्रासे ग्रासे बहलतरला लम्पटा संविदेका।
भासे भासे भजति भवता बृंहिता संविदेका॥

—सि. सि. सं., 4 । 39

हमने अनेक स्थलो पर पहले ही वज्रयान, योगिनीकौलमार्ग, तन्त्रयान, जैन मत आदि की चर्चा की है, इसलिए उनका विस्तार करना यहाँ उचित नही समझा गया।

1. उक्तं च—
शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।
[illegible]
[illegible]

लोकभाषा में सम्प्रदाय के नैतिक उपदेश

संस्कृत में योगियों के जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे साधारण तौर पर साधनमार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रन्थ हैं। उनसे योगियों के दार्शनिक और नैतिक उपदेशों का आभास बहुत कम मिलता है। हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित है उनमें भी साधनमार्ग की व्याख्या की गयी है, पर उनमें योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है। इस दृष्टि से इन हिन्दी रचनाओं का विशेष महत्त्व है।

हिन्दी की बहुत-सी रचनाएँ संवादरूप मे मिलती है। ऐसा जान पड़ता है कि दो महात्माओं के संवाद के रूप मे अपने दार्शनिक मत और धार्मिक विश्वास को प्रकट करने की यह पद्धति नाथपन्थियों का अपना आविष्कार है। इस पद्धति ने परवर्ती सन्त-साहित्य को खूब प्रभावित किया था और संवादरूप में अनेक ऐसे ग्रन्थ लिखे गये जिनका उद्देश्य सम्प्रदाय के विश्वास और मत का प्रचार है। 'मछिन्द्र गोरखबोध' जिसे संक्षेप में 'गोरखबोध' कहा जाता है, ऐसा ही संवाद-ग्रन्थ है। इसमें गोरखनाथ के अनेक प्रश्नों का उत्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है। यद्यपि यह ग्रन्थ गोरखनाथ-लिखित माना जाता है तथापि इसे हम मत्स्येन्द्रनाथ के सिद्धान्त का व्याख्याता ग्रन्थ ही कह सकते है। गोरखनाथ ने स्वयं इस प्रकार का कोई ग्रन्थ लिखा होगा, ऐसा विश्वास न करना ही उचित है। यह बहुत बाद का ग्रन्थ होगा। लेकिन इसमें आत्मा, मन, पवन, नाद, बिन्दु, सुरति और निरति आदि के स्वरूप पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है और इसे परवर्ती योगी-सम्प्रदाय का विश्वास-स्थापक ग्रन्थ आसानी से माना जा सकता है। 'गोरपदत्त गुष्टि', 'गोरप गणेश गुष्टि', 'महादेव गोरप गुष्टि', 'नरवैबोध' आदि रचनाएँ इसी श्रेणी की है। इन्हें बहुत प्राचीन और गोरखनाथ की स्वलिखित पुस्तक मानने का आग्रह नहीं होना चाहिए। परन्तु इन ग्रन्थों का महत्त्व अवश्य ही बहुत अधिक है। यह आवश्यक नहीं कि इनमे जो विचार प्रकट किये गये है वे भी नये हों। हो सकता है कि ये परम्परालब्ध पुरातन ज्ञान का ही नया रूप हों। रचना नयी होने से ज्ञान नया नहीं हो जाता।

गोरखनाथ के नाम पर जो पद मिले हैं वे कितने पुराने हैं, यह कहना कठिन है। इन पदों मे से कई दादूदयाल के नाम पर, कई कबीर के नाम पर और कई नानकदेव के नाम पर पाये गये है। कुछ पद लोकोक्ति का रूप धारण कर गये हैं, कुछ ने जोगीड़ों का रूप लिया है और कुछ लोक में अनुभवसिद्ध ज्ञान के रूप मे चल पड़े हैं। इन पदों मे यद्यपि योगियों के लिए ही उपदेश हैं, अतएव इनमें भी उसी प्रकार की साधनामूलक बातें पायी जाती हैं जो इस प्रकार की सभी रचनाओं का मुख्य प्रतिपादन है, पर बहुत-से पद ऐसे हैं जिनसे लेखक के नैतिक विश्वास का पता चलता है।

जिस ज्ञान का उपदेश इस प्रकार के साहित्य में दिया गया है, उसके लिए गुरु का होना परम आवश्यक माना गया है। इस मार्ग मे निगुरे की गति नही है :

गुरु की जै गहिला निगुरा न रहिला।
गुरु विनं ग्यांन न पाईला रे भाईला॥

—वही, पृ. 128

गुरु और शिष्य में अन्तर इतना ही है कि गुरु के पास अधिक तत्त्व होता है और चेले के पास कम। अधिक तत्त्ववाले से कम तत्त्ववाले को सदा ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। इस ज्ञान को पा लेने के बाद शिष्य के लिए यह आवश्यक नही कि गुरु के पीछे-पीछे भटकता ही फिरे। मन मे जँचे तो साथ रह सकता है, न जँचे तो अकेला ही रम सकता है :

अधिक तत्त ते गुरु बोलिये हीण तत्त तें चेला।
मन मांनै तो संगि रमी नही तो रमौ अकेला॥

—वही, पृ. 55

योगी के लिए मन की शुद्धता और दृढ़ता आवश्यक है। उसे रात-दिन चलते रहने की और नाना तीर्थों मे भटकते फिरने की एकदम जरूरत नही है; क्योकि पन्थ चलने से पवन की साधना रुक जाती है और नाद, बिन्दु और वायु की साधना शिथिल हो जाती है। फिर जिसका विश्वास है कि सम्पूर्ण तीर्थ घट के भीतर ही है वह भला कहाँ भरमता फिरेगा ?

पंथि चलै चलि पवना तूटै नाद विंद अरु वाई।
घट ही भीतरि अठसठ तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई॥

—वही, पृ. 55

मन यदि चंगा है तो कठौती मे गंगा है। बन्धन को अगर दूर कर दिया गया तो समस्त जगत् का गुरुपद अनायास मिल जाता है :

अवधू मन चगा तो कठौती ही गंगा।
बांध्या मेल्हा तो जगत्र चेला॥

—वही, पृ. 53

हँसना-खेलना कोई निषिद्ध कार्य नही है। मूल बात है चित्त की दृढ़ता। मनुष्य को इस मूल तथ्य को नही भूलना चाहिए। फिर तो हँसने-खेलने में कोई बुराई नही है। काम और क्रोध मे मन न आसक्त हो [illegible] बहकने न दे, तो हँसने-खेलने और [illegible] जानेवाले [illegible] की शिथिलता उसे [illegible] प्रसन्न ही होते हैं :

हसिबा खेलिबा [illegible]
हसिबा खेलिबा गाइ[illegible] [illegible]
हसिबा खेलिबा धरि[illegible] [illegible]
हसि[illegible] न करै मन

योगी को वाद-विवाद के बखेड़े में नही पड़ना चाहिए। जिस प्रकार अडसठ तीर्थ अन्त तक समुद्र मे ही लीन हो जाते है, उसी प्रकार योगी को गुरुमुख की वाणी मे ही जीर्ण हो जाना चाहिए।

कोई बादी कोई विवादी जोगी कौ वाद न करनां
अठसठि तीरथ समंदि समावैं यूं जोगी कों गुरमुषि जरनां।

—वही, पृ. 5

योगी जल्दबाजी करके सिद्धि नही पा सकता। उसे सोच-समझकर बोलना चाहिए, फूंक-फूंककर चलना चाहिए, धीर भाव से एक-एक पग धरना चाहिए। गर्व करना उसके लिए बहुत बुरी बात है। उसका व्यवहार सहज होना चाहिए। यह नही कि जहाँ-तहाँ फटफटाकर बोल उठे, धड़धड़ाकर चला जाय और उचकता-कूदता निकल जाय। धैर्य उसकी सबसे बड़ी साधना है।

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा
धीरैं धरिबा पावं।
गरबं न करिबा सहज रहिबा
भणत गोरष रावं॥

—वही, पृ. 11

योगी बड़ी विकट साधना करता है। उसका मन यदि थोड़ा भी प्रलोभनों से अभिभूत हुआ तो उसका पतन निश्चित है। इसीलिए वह समस्त विकारों के जीतने की साधना करता है। धीर वह है जिसका चित्त विकारों के होते हुए भी विकृत न हो। कालिदास ने कहा था कि "विकार हेतौ सतिविक्रियन्ते येपान चेतांसित एव धीरा." और गोरखनाथ ने कहा है :

नो लष पातरि आगे नाचैं पीछैं सहज अपाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी पेलैं तव अन्तरि बसैं भंडारा॥

—वही, पृ. 217

विकारों के भीतर से निर्विकार तत्त्व का साक्षात्कार पा लेना निस्सन्देह कठिन साधना है। योगी यही करता है। अंजन अर्थात् विकारों के भीतर निरंजन अर्थात् विकारहीन शिव को उसी प्रकार पा लेना जिस प्रकार तिल मे से कोई तेल निकाल लेता है, योगी का लक्ष्य है। मूर्त्त जगत के भीतर अमूर्त्त परमतत्त्व का स्पर्श पाने के पश्चात् ही योगी की वह निरन्तर-क्रीड़ा शुरु होती है जो चरम आनन्द है। गोरखनाथ ने कहा है :

अंजन माहि निरंजन भेट्या,
तिल मुष भेट्या तेलं।
मूरति मांहि अमूरति परस्या,
भया निरन्तरि पेलं॥

—वही, पृ. 217

योगी का आचरण ही वस्तुतः प्रधान वस्तु है, कथनी नहीं। बड़ी-बड़ी बातें

बघारना उचित नहीं है। गोरखनाथ के नाम पर चलनेवाले अनेक पदों में शील की महिमा बतायी गयी है। केवल योगी ही नहीं, शीलवान् गृही भी पवित्र बताया गया है :

सहज सील का धरै सरीर।
सो गिरती गंगा का नीर॥

—वही, पृ. 17

एक पद में शिष्य ने गुरु से पूछा है कि उसका आचरण कैसा हो। वह यदि वन जाता है तो क्षुधा सताती है, नगर में जाता है तो माया व्यापती है, भर-पेट खाता है तो मन मे विकार उत्पन्न होता है। यह कठिन समस्या है कि यह जल-बिन्दु-विनिर्मित काया सिद्ध कैसे हो :

स्वामी बन षंडि जाउं तो षुध्या ब्यापै
नग्री जाऊं त माया।
भरि भरि षाउंत बिंद बियापै,
क्यों सीझति जलब्यंद की काया॥

—वही, पृ. 12

गुरु ने मध्यमवर्ग का उपदेश दिया। खाने पर टूट न पड़ना, बिन खाये भी न रहना, दिनरात अन्तर की ब्रह्म-अग्नि का रहस्य चिन्तन करना, किसी बात पर आग्रह न रखना, एकदम निकम्मा भी न हो जाना—ऐसा ही गोरखनाथ कह गये हैं :

षाये न षाइबा भूषे न मरिबा,
अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं।
हठ न करिबा पड़्या न रहिबा,
यूं बोल्या गोरष देवं॥

—वही, पृ. 12

योगी लोग गृही को बहुत ही दयनीय जीव समझते हैं। उनकी कुछ ऐसी धारणा है कि काम-क्रोध का दास ही गृही होता है। एक बार जो गृहस्थाश्रम के बन्धन में बँध गया वह ज्ञान की बात करने का भी अधिकारी नहीं रहा। गृहस्थ का ज्ञान, नशेबाज का ध्यान, बूचे का कान, वेश्या का मान और बैरागी का माया बटोरना, इनके मत में समान भाव से निरर्थक है :

गिरही को ग्यान अमली को ध्यांन,
बूचा को कान, वेस्या को मान,
बैरागी अर माया स्यूं हाथ—
या पाँचां को एकै साथ॥

—वही, पृ. 77

क्योंकि गृही पाशबद्ध जीव है, उसे ज्ञान पर अधिकार नहीं :

गिरही होय करि कथै ग्यांन,
अमली होय करि धरै ध्यांन।
वैरागी होय करै आसा,
नाथ कहै तीनों पासा पासा ॥
--वही, पृ. 77

इस मत में पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन का आदर्श है। गृही में यह आदर्श नहीं है। विन्दु के संयमन से बड़ी सिद्धि मिलती है। पर दुर्भाग्यवश यह शरीर भी विन्दु-विनिर्मित है, अतएव अशुद्ध है। योगी लोग इसकी अपवित्रता के प्रति भी पर्याप्त सचेत हैं। जब तक माता-पिता का दिया हुआ यह धातुमय शरीर मिटा नहीं दिया जाता तब तक नाथ-पद तक पहुँचना असम्भव है। यह असम्भव नहीं है। मन को गुरुमुख करने से और काया को अग्निमुख करने से इस शरीर की अपवित्रता मिटायी जा सकती है और नाथ-पद तक पहुँचा जा सकता है :

मनमुषि जाता गुरुमुषि लेहु
लोही मास अगनि मुषि देहु।
मात पिता की मेटो धात,
ऐसा होइ बुलावै नाथ ॥
—वही, पृ. 61

क्योंकि साधना के द्वारा इस जड़-शिला के समान अकिंचन शरीर को सिद्धि-योग्य बनाया जा सकता है। नाद और विन्दु अपने-आपमें जड़ प्रस्तर के समान ही तो हैं, पर उनका उचित उपयोग किया जाय तो वे सिद्धों के साथ मिला देने में समर्थ हैं। नाद-विन्दु का नाम जपते रहने से यह काम नहीं होगा, यह तो उचित साधना का विषय है :

नाद नाद सब कोइ कहै, नार्दहि ले को विरला रहै।
नाद विंद है फीकी सिला, जिंहि साध्या ते सिधै मिला ॥
—वही, पृ. 61

गोरखनाथ विशुद्ध ब्रह्मचारी को ही इस मार्ग का पथिक स्वीकार करते हैं। नाद और विन्दु दोनों का संयम आवश्यक है :

यंद्री का लड़वड़ा, जिम्या का फूहड़ा।
गोरष कहै ते परतषि चूहड़ा ॥
काछ का जती मुख का सती ॥
सो सत पुरुष उतमो कथी ॥
—वही, पृ. 52

इस प्रकार नाद (वाणी) और विन्दु (वीर्य) को संयमित रखनेवाला पुरुष साक्षात् शिवरूप हो जाता है :

धन जोवन की करै न आस,
चित्त न रावै कांमिनि पास।

नादविंद जाकै घटि जरै,
ताकी सेवा पारवती करै।

परन्तु इसके लिए मद्य, भांग, धतूरा आदि नशे की चीजों का सेवन करना अनुचित है। पर-निन्दा और नशीली वस्तुओं का सेवन, इन दो बातों को नरक का हेतु माना गया है :

जोगी होइ पर निंद्या झपै। मद मांस अरु भांगि जो भपै।
इकोतर सै पुरिषा नरकहिं जाइ। सति सति भाषंत श्री गोरष राई।

—वही, पृ. 56

अवधू मांस भषन्त दया धरम का नाम।
मद पीवत तहां प्रांण निरास॥
भांगि भषंत ग्यांन ध्यांन षोवंत।
जम दरबारी ते प्रांणी रोवंत॥

—वही, पृ. 57

इस प्रकार इस मार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिन्दी में पाये जानेवाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इस स्वर ने परवर्ती सन्तों के लिए आचरण-शुद्धिप्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। सन्त साधकों को बहुत-कुछ बनी-बनायी भूमि मिली थी। इस मार्ग की सबसे बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इस कमजोरी ने इस मार्ग को नीरस, लोक-विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी इसका दृढ़ कण्ठस्वर उत्तरभारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। इस दृढ़ कण्ठस्वर ने यहाँ की धार्मिक साधना में कभी भी गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलपन नहीं आने दिया। उत्तर भारत के साहित्य में भी इनके कारण दृढ़ता और आचरण-शुद्धि भुलायी नहीं जा सकी है।

उपसंहार

गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्मनेता था। उनकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्मगुरु का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश से एकदम अनाविल और कुशाग्र तीव्र थी। उनके चरित्र

में कहीं भी भावविह्वलता नहीं है। जिन दिनों उन्होंने जन्म ग्रहण किया था, उन दिनों भारतीय धर्मसाधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन, सात्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। लोक-जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी, उसे गोरक्षनाथ ने नयी प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होंने दुर्बलता नहीं दिखायी। वे स्वयं पण्डित व्यक्ति थे, पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नहीं, साधन है। उन्होंने किसी से भी समझौता नहीं किया, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं; परन्तु फिर भी उन्होंने समस्त प्रचलित साधना-मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया। केवल एक वस्तु वे कहीं से न ले सके। वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावालुता को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित है, कल्प और विकल्प मिथ्या है, संसार मृगमरीचिका है, श्रुतियाँ परमतत्त्व के विषय में भिन्न विचार प्रकट करती हैं और एक अखण्ड सच्चिदानन्द ही सत्य है तो भावावेश का स्थान कहाँ है ? क्यों मनुष्य उस तत्त्व की उपलब्धि के लिए मचलने का अभिनय करे, क्यों उसे प्रसन्न और अनुकूल करने के लिए यजन-पूजन करे ?

अविवेक विवेक विबोध इति अविकल्प विकल्प विबोध इति।
यदि चैक निरन्तर बोध इति किमु रोदिषि मानस सर्वसमः।
बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति मते विददातरयं मृगतोय समः।
यदि चैक निरन्तर सर्वशिवः किमु रोदिषि मानस सर्वसमः।
सविभक्ति विभक्तिविहीन परं अत्युकायनिकायविहीन परम।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवः यजनंच कथं स्तवनंच कथम् !

—'अवधूत गीता'

यही गोरक्षनाथ के उपदेशों का सच्चा रूप है। यह नहीं कि यही उनके वाक्य हैं, बल्कि यह कि यही उनके द्वारा उपदिष्ट साधना का स्वर है—भावावेग विनिर्मुक्त, शुद्धबुद्धिमूलक ज्ञानमार्ग। इस ज्ञान के निष्कर्ष को उन्होंने सदा सामने रखा। वह निष्कर्ष क्या है, इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। यथासाध्य हमने विविध उपलब्ध तथ्यों के आधार पर उसको समझने का प्रयत्न किया है। परन्तु वह केवल बुद्धि-विलास नहीं है, वह साधना का विषय है। दीर्घ आयास के बाद उसे प्राप्त किया जाता है। उसमें शुद्ध गुरु की आवश्यकता होती है। इस साधनमार्ग में निगुरे को कोई स्थान नहीं है। फिर भी हमने यह जो प्रयत्न किया है, उसका कारण यह है कि हमने अपने को नितान्त असहाय निगुरा नहीं समझा। सिद्धों की कुछ वाणी अब भी हमारे बीच है, वह महामन्त्र अब भी साधनाकाश में उड़ रहा है, अब भी वह उपयुक्त उर्वरा भूमि की प्रतीक्षा कर रहा है। उसको समझने का प्रयत्न अश्लाघ्य नहीं है। वह महामन्त्र ही हमारा गुरु है। वह गुरु ही सच्चिदानन्द का पद है, वही

सबके ऊपर सदा विराजमान है; क्यों उस पद को अवाच्य समझा जाय, क्यों उस तत्त्व को अचिन्त्य माना जाय, इसलिए वह जो है सो बना रहे। हम उसे गोरक्षनाथ का साक्षात् तेज.स्वरूप मानते हैं। उस ज्योतिर्मय नाथतेज की जय हो, वही हमारा गुरु है।

अवाच्यमुच्येत कथं पदं तत्
अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तये।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै
नमोस्तु कस्मै वत नाथ तेजसे॥

—गो. सि. सं., पृ. 52

सहायक ग्रन्थों की सूची

1. अद्वयवज्रसंग्रह्—गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज, नं. 40, बड़ौदा, 1927 ई.
2. अमरौघशासनम्—सिद्ध गोरक्षनाथ-विरचित; महामहोपाध्याय पं. मुकुन्दराम शास्त्री द्वारा सम्पादित, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थांक 20, बम्बई, 1918
3. अष्टोत्तरशतोपनिषद:—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, 1932
4. इ. ए.—इण्डियन एण्टिक्वैरी
5. इ. रे. ए.—इनसाइक्लोपीडिया आव् रेलिजन ऐण्ड एथिक्स
6. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर), 1942
7. कबीर ग्रन्थावली—बाबू श्यामसुन्दरदास बी. ए. द्वारा सम्पादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रयाग, 1928
8. कल्याण—गोरखपुर (1) शिवांक, (2) योगांक, (3) शक्ति-अंक, (4) साधना-अंक
9. कैटोलागस कैटोलोगोरम—थियोडोर आफ़ेख्ट, लिपज़िग, 1896
10. कौ. ज्ञा. नि.—कौलज्ञान निर्णय, डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित, कलकत्ता संस्कृत सिरीज नं. 3, कलकत्ता, 1934
11. कौ. मा. र.—कौलमार्गरहस्य (बँगला), स्व. सतीशचन्द्र विद्याभूषण, कलकत्ता, 1335 बंगाब्द
12. कौलावली निर्णय—तान्त्रिक टेक्सट्स, जिल्द 14, आर्थर एवेलेन द्वारा सम्पादित, कलकत्ता
13. 'गंगा'—पुरातत्त्वांक, श्री राहुल सांकृत्यायन के लेख
14. गभीरनाथ प्रसंग (बँगला)—श्री अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय-लिखित, फेनी नवाखाली, बंगाब्द 1332
15. गढ़वाल का इतिहास—श्री हरिकृष्ण रतूड़ी, देहरादून, 1928

16. गीतारहस्य—स्व. लोकमान्य बालगंगाधर तिलक (स्व. माधवराव सप्रे का अनुवाद)
17. गो. प.—गोरक्षपद्धति, पं. महीधर शर्मा के भाषानुवाद सहित, बम्बई, सं. 1990 वि.
18. गोपीचन्द (उर्दू) —पण्डित कवि कालीदास साहब गुजरानवाला, लाहौर 1944
19. गोपीचन्देर गान—दो जिल्द, श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्य द्वारा संकलित और कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण
20. गोरखनाथ ऐण्ड मिडिएवल हिन्दू मिस्टिसिज्म—डॉ. मोहनसिंह लिखित, लाहौर, 1937
21. गोरखबानी—डा. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल-सम्पादित, हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित, प्रयाग, 1999 वि.
22. गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज़—दे. ब्रिग्स
23. गो. सि. सं.—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, म. म. पं. गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित, सरस्वती भवन टेक्सट्स, नं. 18, काशी, 1925
24. ग्लासरीज़ ऑव् दि ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आव् दि पंजाब ऐण्ड दि नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज़—एच. ए. रोज, जि. 3, लाहौर, 1914 ई.
25. घेरण्ड संहिता—सेक्रेड बुक आव दि हिन्दूज, प्रयाग, 1895
26. चर्याचर्य विनिश्चय—बौ. गा. दो. में संगृहीत
27. ज. डि. ले.—जर्नल ऑव् दि डिपार्टमेंट आव लेटर्स, जि. 28 (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1934) में डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित ये ग्रन्थ —(1) तिल्लोपाद का दोहाकोष, (2) सरहपाद का दोहाकोष, (3) कण्हपाद का., (4) सरहपादीय दोहा-संग्रह, (5) प्रकीर्ण दोहा-संग्रह। इसकी अन्य जिल्दों का भी यथास्थान उल्लेख है।
28. जायसी ग्रन्थावली—पं. रामचन्द्र शुक्ल-सम्पादित, काशी, 1924
29. ज्ञानसिद्धि—गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़ नं. 44, बड़ौदा, 1929
30. ज्ञानेश्वरचरित्र—पं. लक्ष्मण रामचन्द्र पंगारकर द्वारा लिखित और पं. लक्ष्मणनारायण गर्दे द्वारा अनुवादित, गोरखपुर, सं. 1990
31. ट्रा. का. सॅ. प्रो.—दि ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आव् सेण्ट्रल प्राविंसेज़ आव् इण्डिया, ई. वी. रसेल और रायबहादुर हीरालाल सम्पादित, चार जिल्दों में, लन्दन, 1916
32. ट्रा. का.—ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आव् दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़ ऐण्ड अवध, विलियम क्रुक, कलकत्ता, 1869
33. तारानाथ—गेशिष्टे देस् बुद्धिस्मुस् इन इन्दिएन आउस देम् तिबेतिशेन् युबेर गेट्स् फन् उन्तन् शिफ्नेर (जर्मन भाषा में तारानाथ नामक तिब्बती ऐतिहासिक के ग्रन्थ का अनुवाद, जिसके आवश्यक अंश का अंग्रेजी अनुवाद, लेखक

(ह. द्वि.) के लिए डॉ. ए. एरेन्सन ने कर दिया था; सेण्ट पीटर्सबर्ग, 1869
34. दि इण्डियन बुद्धिस्ट आईकोनोग्राफी मेनली वेस्ड अपॉन दि साधनमाला ऐण्ड अदर कांग्रेट तान्त्रिक टेक्स्ट्स, बी. भट्टाचार्य द्वारा लिखित, आक्सफोर्ड, 1924
35. दि पीपुल आव इण्डिया—हर्बर्ट रिजली, कलकत्ता, 1908
36. दि सर्पेण्ट पावर—आर्थर एवेलन द्वारा लिखित, लन्दन, 1919
37. दि सेन्सस आव् इण्डिया, 1921, 1931
38. नागर-सर्वस्व—पद्मश्री विरचित और तनसुखराम शर्मा द्वारा सम्पादित, बम्बई, 1921
39. पदुमावती—बिब्लोथिका इण्डिका, न्यू सिरीज नं. 1172, जी. ए. ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी-द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1907
40. परशुरामकल्पसूत्र—रामेश्वरकृत टीका सहित, गायकवाड़ ओरियेण्टल सिरीज में प्रकाशित और बी. ए. महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित
41. परसंग पूरनभगत (गुरुमुखी)—मियाँ कादरयार कृत, लाहौर, 1944
42. परानन्द सूत्र— गायकवाड़ सिरीज 56, बड़ौदा, 1931
43. पूरनभगत (उर्दू) —पण्डित कवि कालिदास साहब शायर, गुजरानवाल द्वारा लिखित, लाहौर, 1944
44. प्र. चि—प्रबन्ध चिन्तामणि—हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनुवादित और मुनि श्री जिनविजयजी द्वारा सम्पादित, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, कलकत्ता, 1940
45. प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि—गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज 44, बड़ौदा, 1929
46. प्राणसंगली—सन्त सम्पूरनसिंहजी द्वारा सम्पादित, तरनतारन, पंजाब
47. डायसन—दि सिस्टम ऑव वेदान्त, पी. डायसन, शिकागो, 1912
48. बांगला साहित्येर इतिहास (बँगला)—डा. सुकुमार सेन कलकत्ता, 1940
49. बागची—दे., कौ. ज्ञा. नि.
50. ब्रह्मसूत्रम्—शांकरभाष्यसहित, पं. वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पाणशीकर द्वारा सम्पादित, बम्बई, 1927
51. ब्रिग्स—गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज, जार्ज बेस्टन ब्रिग्स द्वारा लिखित कलकत्ता, 1938
52. बौ. गा. दो—बौद्ध गान ओ दोहा (बंगाक्षरों में मुद्रित), स्व. पं. हरप्रसाद शास्त्री-सम्पादित, कलकत्ता, 1323 बंगाब्द
53. भरथरी चरित्र—(नौ खण्ड) हावड़ा, 1942 ई.
54. भारतवर्ष में जातिभेद—श्री क्षितिमोहन सेन, कलकत्ता, 1940 ई.
55. भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय (बँगला)—श्री अक्षयकुमार दत्त, कलकत्ता, 1314 बंगाब्द (द्वितीय संस्करण)

56. भारतीय दर्शन—प. वलदेव उपाध्याय द्वारा लिखित, काशी, 1945 ई. द्वितीय संस्करण
57. भ्रमरगीत सार—पं. रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित, बनारस, 1999 सं.
58. महार्थमंजरी—(गोरक्षा पर पर्याय महेश्वर विरचित, कश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, ग्रन्थांक 20
59. मालतीमाधवम्—जगद्धरकृत टीकासहित, एम. आर. काले द्वारा सम्पादित, वम्बई, 1928
60. मिडिएवल मिस्टिसिज्म आव इण्डिया—श्री क्षितिमोहन सेन, लन्दन, 1935
61. योग उपनिषदः—महादेव शास्त्री-सम्पादित, अडयार लाइब्रेरी, अडयार, 1920
62. योगदर्शन (बंगाक्षरों में)—कपिलमठ संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित
63. योगप्रवाह—पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा लिखित, श्री सम्पूर्णानन्द द्वारा सम्पादित, काशी, सं. 2003
64. यो स आ.—'योगिसम्प्रदायाविष्कृति', चन्द्रनाथ योगी, अहमदाबाद, 1924
65. राजपूताने का इतिहास—म. म. पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखित, अजमेर
66. लॅ नेपाल (फ्रेंच भाषा में)—नेपाल का इतिहास, सिलवाँ लेवी, पेरिस, 1905
67. वामकेश्वर तन्त्रान्तर्गत नित्याषोडशिकार्णवः—श्री भास्करराययोनीत सेतुबन्ध-व्याख्यानसहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली 56, पूना, 1908 ई.
68. विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)—हजारीप्रसाद द्विवेदी सम्पादित, शान्तिनिकेतन, बंगाल
69. वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रिलिजियस सिस्टम्स—आर. जी. भाण्डारकर, स्ट्रएवर्ग, 1913
70. शक्ति ऐण्ड शाक्त (द्वितीय संस्करण)—जान वुडरफ, मद्रास, 1920
71. शारदातिलकतन्त्रम्—आर्थर एवेलन द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1933
72. शिवसंहिता—पाणिनि आफिस, इलाहाबाद, 1914
73. श्री गुरुप्रताप सूरज ग्रन्थ (गुरुमुखी)—कविचूड़ामणि भाई सन्तोषसिंहजी, द्वितीय संस्करण, श्री वीरसिंहजी द्वारा सम्पादित, 1935
74. श्रीगुह्यसमाजतन्त्र—गायकवाड़ सिरीज नं. 53, बड़ौदा, 1931
75. श्रेडर.—इन्ट्रोडक्शन टु पांचरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता, अडयार, 1912
76. स. द. स.—सर्वदर्शन संग्रह, सायणमाधवाचार्यप्रणीत, म. म. वासुदेव-शास्त्री अभ्यंकर सम्पादित, पूना, 1924
77. सहजाम्नाय पंजिका—बौ. गा. दो. में संगृहीत
78. साधनमाला—गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज नं. 26 और 41, बड़ौदा

79. सि. सि. सं.—*सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, म. म. पं. गोपीनाथ कविराज-सम्पादित,* सरस्वतीभवन टेक्सट्स 13, काशी, 1925

80. सु. च.—सुधाकरचन्द्रिका, 'पदुमावती' (ऊपर दे.) पर म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी की हिन्दी टीका

81. स्टडीज़ इन दि तन्त्र, पार्ट 1,—डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, 1939

82. हठ.—हठयोगप्रदीपिका, पाणिनि आफिस, इलाहाबाद, 1915

83. हिन्दुत्व—स्व. रामदास गौड़, ज्ञानमण्डल, काशी, सं. 1997 वि.

○○○

सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण

भूमिका

पूज्य पिताश्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह नवीन कृति आदरणीया श्रीमती शीला सन्धू के निरन्तर आग्रह का परिणाम है। पिछले कई वर्षों से श्रीमती सन्धू की यह हार्दिक इच्छा थी कि सिक्ख गुरुओं के साहित्यिक पक्ष को लेकर पिताजी कोई रचना उन्हें दें। वैसे तो यह पुस्तक गत वर्ष सितम्बर-अक्तूबर में ही पूरी हो गयी थी, पर कई कारणों से उसे प्रेस में नहीं दिया जा सका था। दिसम्बर में श्रीमती सन्धू को इसकी पाण्डुलिपि टाइप कराने के लिए भेजते हुए पिताजी ने यह पत्र श्रीमती सन्धू को लिखा था :

प्रिय शीला बहन,

'सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण' भेज रहा हूँ। इसे कृपा करके टाइप करा दें—कम से कम दो प्रति। तीन प्रति हों तो और अच्छा। कुछ लेखों की एक ही प्रति रह गई है और इतनी पुरानी हो गई है कि हाथ लगते ही फटती है। मैंने समय समय पर लिखे हुए लेखों को यथासंभव एक रूप देने की कोशिश की है। कुछ जोड़ा-घटाया भी है। पर यह किसी जानकार से दिखाने के लिये देने योग्य नहीं है। टाइप हो जाने पर किसी मित्र से दिखा लेना चाहता हूँ। मूल प्रति भी सुरक्षित रखें। उनसे पाठों को मिलाना पड़ेगा। आप स्वयं भी देखें। आपको कुछ विचित्र लगेगा कि मैं दस वर्षों के व्यवधान में ही गुरुमुखी लिपि प्रायः भूल गया था। फिर से मिहनत की है। अब ठीक हो गया है। पर डर है कि कहीं कुछ अशुद्ध न हो जाए। मुझे ज्ञान कम है। श्रद्धा ही एक-मात्र संबल है। सो, थोड़ा सावधान होना आवश्यक हो गया है। इसीलिये टाइप कराने की और फिर से अच्छी तरह दिखा लेने की इच्छा है। कष्ट के लिये क्षमा।

विघ्न बहुत आ रहे हैं। ज़रा जल्दी करा दें।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

पुनश्च—

छपने के समय दिल्ली में ही रहना चाहता हूँ पर पहले टाइप हो जाए।

हजारीप्रसाद

अप्रैल में वे दूसरी बार अस्पताल में दाखिल हुए। 13 अप्रैल को जब मैं वाराणसी पहुँचा तो वे पूरी चेतना में थे। कई बार अत्यन्त भावुक होकर रोने लगते थे। मैंने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि की बात की कि क्या इसे प्रकाशनार्थ शीलाजी को दे दूं। थोड़ी देर चुप रहने के बाद बोले—"अभी मैं टाइप की हुई पाण्डुलिपि देख नहीं सका। अशुद्धियाँ नहीं होनी चाहिएँ। गुरुग्रन्थ साहिब से पाठ का मिलान करना होगा। यह काम तुम कर लेना या विश्वनाथ (डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी) को दे देना। देखो, मैं इसे प्रकाशित देख भी पाऊँगा या नहीं।"

27 अप्रैल को दिल्ली पहुँचते ही मैंने पाण्डुलिपि श्रीमती शीला सन्धू को दी और उनसे पिताजी से हुई बातचीत का हवाला देते हुए अनुरोध किया कि कृपया शीघ्र ही इसे प्रकाशित करने का प्रबन्ध कर दें। श्रीमती सन्धू ने पाण्डुलिपि को माथे से लगाया और कहा, "मुकुन्द, पता नहीं कितने दिनों से इसे प्रकाशित करने की लालसा थी। आज पूरी हुई। इसे मैं जल्दी-से-जल्दी प्रकाशित करूँगी। पण्डितजी शतायु होंगे—बीमारी से उनके मन में निराशा आ गयी है। सब ठीक हो जायेगा।"

श्रीमती सन्धू ने पाण्डुलिपि प्रेस में देकर तत्काल पूरी पुस्तक कम्पोज करा दी, और हम लोग यह प्रतीक्षा करते रहे कि पिताजी चेतना में आयें, और कुछ स्वस्थ अनुभव करें, तो प्रूफों को वे एक बार देख लें। लेकिन कौन जानता था कि ज्योतिष के आचार्य ने शायद अपने अन्तिम समय को पहचान लिया था! मृत्यु का विकार नहीं, पर ब्रेन-ट्यूमर का असहनीय कष्ट तो था ही। चुपचाप मृत्यु को स्वीकार कर पूज्य पिताजी ब्रह्मलीन हो गये।

पुस्तक प्रकाशित हो रही है। गुरुग्रन्थ साहिब से पाठों का मिलान करने में डॉ. हरभजनसिंह और डॉ. महीपसिंह ने अपना बहुमूल्य सहयोग हमें दिया है, जिनके लिए हम उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं। फिर भी पुस्तक में यदि कहीं अशुद्धियाँ रह गयी हैं, तो उनकी सारी जिम्मेवारी मुझ पर ही है।

मुकुन्द द्विवेदी

गुरु नानकदेव : व्यक्तित्व

आज से 500 वर्ष पहले गुरु नानकदेव का आविर्भाव हुआ था। भारतवर्ष के अधिकतर महापुरुषों के समान गुरु नानक का जीवन-चरित भी चामत्कारिक कथाओं से ढँका हुआ है। उनकी 'जनम-साखियाँ' तो बहुत मिलती है, परन्तु सबमें श्रद्धातिरेक के कारण चामत्कारिक कथाओं से ऐतिहासिक तथ्य ढँक गये हैं। ई. ट्रम्प ने, जिन्होंने तत्कालीन भारत सरकार के अनुरोध पर 'गुरुग्रन्थ साहिब' का अंग्रेजी अनुवाद किया था, एक ऐसी जनम-साखी का उल्लेख किया है जो सोलहवीं शताब्दी के अन्त में या सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखी गयी थी। यह उसी लिपि में है जिसमे 'गुरुग्रन्थ साहिब' की सबसे पुरानी प्रति लिखी गयी है और इस पर पाँचवें गुरु (गुरु अर्जुनदेव) के हस्ताक्षर भी है। ट्रम्प का कहना है कि यह जनम-साखी परवर्ती जनम-साखियों की तुलना में चामत्कारिक और करामाती कथाओं से बहुत-कुछ मुक्त है। सिक्ख धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् एम. ए. मेकालिफ ने एक और पुरानी जनम-साखी की चर्चा की है जो पुष्पिका के अनुसार 1588 ई. में लिखी गयी थी, अर्थात् यह गुरु नानक की तिरोभाव-तिथि से सिर्फ 50 वर्ष बाद की है। इसमें भी चामत्कारिक घटनाएँ हैं। जनम-साखियों का इन दिनों और भी अध्ययन हो रहा है। कई भारतीय विश्वविद्यालयों के शोधार्थी इस कार्य में लगे हैं। हो सकता है कि नये ऐतिहासिक तथ्यों का प्रामाणिक या अधिक-से-अधिक प्रामाणिक विवरण उपलब्ध हो। इन पुराने विवरणों में कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य हैं। उनके आधार पर गुरु नानकदेव के जीवन के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिल जाती है। पर वस्तुतः गुरुजी के विचारों का सच्चा निदर्शक 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' नामक महान् ग्रन्थ ही है। इस महान् ग्रन्थ के पहले महले में गुरु नानकदेव की वाणियाँ संगृहीत हैं। इसमें निम्नांकित रचनाएँ हैं :

1. जपु
2. पट्टी (आसा राग में)
3. ओअंकार (रामकली राग में)

4. सिद्ध गोष्ठि (रामकली राग में)
5. बारह माह (तुखारी राग में), और
6. तीन वारा (माझ, आसा और मलार राग में)

इसमें गुरुजी के प्रामाणिक उपदेश ही नहीं हैं, उनका शान्त-शोभन, उदात्त और मोहन रूप भी उपलब्ध होता है।

कोई आश्चर्य नहीं कि इस महान् ग्रन्थ को गुरु का प्रतिरूप ही मान लिया गया है। वस्तुतः गुरु का जैसा महिमामय व्यक्तित्व और उनका चिन्मय रूप इस ग्रन्थ में अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस महान् ग्रन्थ का पहला महला आदिगुरु नानकदेव की वाणियों का संकलन है। आधुनिक ढंग से विवेचना करनेवाले विद्वान् इसमें ऐसे सन्देहात्मक पदों को ढूँढ़ लेते हैं जो किसी प्रकार गुरु की रचना नहीं हो सकते। परन्तु उन्हें ऐसी बात कहने का साहस भी सिर्फ इसलिए होता है कि इस महला से गुरुजी का शान्त-मनोरम व्यक्तित्व बहुत उजागर होकर प्रकट हुआ है। उदाहरण के लिए किसी कल या कल्य कवि की छापवाले उन तथाकथित सवैयों को लिया जा सकता है जिनमें गुरुनानक को परम भक्तिभाव से भगवान् विष्णु का अवतार कहा गया है। एक पद इस प्रकार है—

कवि कल्य सुजसु गावै गुरु नानक राजु जोगु जिनि माणिओ।
सतजुगि तैं माणिओ छलिओ बलि बावन भाइओ।
त्रेते तैं माणिओ राम रघुवंसु कहाइओ॥
दुआपर क्रिसन मुरारि कंसु किरतारथु कीओ।
उग्रसैन कउ राजु अभै भगतह जन दीओ॥
कलियुग प्रमाणु नानक गुरु अंगदु अमरु कहाइओ।
स्री गुरु राजु अविचलु अटलु आदिपुरखि फुरमाइओ॥

—महला-1

स्पष्ट ही यह गुरुजी की अपनी वाणी नहीं हो सकती। पर ऐसा क्यों कहा जाता है? इसलिए कि गुरु की वाणियों से उनका जो स्वरूप प्रकट होता है उससे यह मेल नहीं खाता। फिर भी गुरुजी के आरम्भिक जीवन के सम्बन्ध में जनम-साखियों से बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। कुछ बातें उनमें अवश्य अतिरंजित और काल्पनिक हैं। परन्तु बहुत-सी सूचनाएँ प्रामाणिक भी हैं। गुरुजी का जन्म ताल-वण्डी ग्राम के एक खत्री-परिवार में हुआ था। गाँव के मालिक एक मुसलमान रईस (राय सलार) थे। गाँव का वातावरण ही ऐसा था जिसमें गुरुजी के बालचित्त पर साम्प्रदायिक सौहार्द का प्रभाव पड़ा। उन्हें पाठशाला में पढ़ने को भी भेजा गया था और अन्य विद्यार्थियों की तुलना में उनकी गम्भीरता, शालीनता और भगवन्निष्ठा का आभास भी उन्हीं दिनों मिल चुका था। उनकी एक बड़ी बहन थी जिसका नाम नानकी बताया जाता है। नानक का विवाह भी हुआ था। उनकी पत्नी सुलक्खनी थीं। नानक का मन घर के कामों में नहीं लगता था। वे साधु-संग, एकान्तवास और अध्यात्म-चिन्तन में लगे रहते थे। माता-पिता उन्हें गृहस्थी के

बन्धन में बाँधना चाहते थे। बहनोई जयराम की सहायता से उन्हे पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ लोदी के एक कर्मचारी के मोदीखाने में नौकरी मिल गयी। परमात्मा जिसे अपना बनाना चाहता है उसके लिए सुयोग भी विचित्र प्रकार से दे देता है। कहा जाता है कि उस नौकरी के बन्धन से उन्हे एक विचित्र प्रकार से मुक्ति मिल गयी। आटा तौलते समय वे एक, दो, तीन गिनते-गिनते जब तेरह पर आये तो तेरह शब्द के पंजाबी उच्चारण 'तेरा' पर उनका ध्यान दूसरी ओर चला गया। 'मै तेरा हूँ' इस भावना ने उन्हें तन्मय कर दिया। हाथ तौलते रहे, मुँह 'तेरा' 'तेरा' की रट मे लग गया। सारा भाण्डार तौल दिया गया, 'तेरा' 'तेरा' 'तेरा'। यद्यपि यह 'तेरा' वाला अभिप्राय (अर्थात् मोटिव्) मध्यकालीन और भी अनेक सन्तों के साथ जुड़ा हुआ है, पर गुरु नानक के मुख से नि.सृत वाणियो के प्रकाश मे यदि देखा जाये तो इसका अन्तर्निहित मर्मार्थ बिल्कुल ठीक लगेगा। कदाचित् गुरु नानकवाली यह कहानी सबसे पुरानी भी है। इसे वास्तविक मान लेने में बिल्कुल हिचक नही होती।

नतीजा जो होना था, वही हुआ। नौकरी छूट गयी। नानक की अध्यात्म-भावना के विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। साधुसग, भ्रमण और धर्मोपदेश का अवकाश प्राप्त हुआ। उन्होंने कामरूप से लेकर मक्का-मदीने तक की यात्रा की। उन्हें संसार बाँध नही सका, पर ससार के बन्धन से छुटकारा देने और दिलाने का रहस्य उन्हे अवश्य प्राप्त हो गया। इन सारी यात्राओं मे गुरु के मुख से जो अनुभूत सत्य प्रकट हुआ, वह अनायास गीतरूप में उच्छ्वसित हुआ। सौभाग्य से उन्ही के गाँव के एक मुसलमान रागी 'मरदाना' बराबर उनके साथ रहते रहे और उन्होंने यथासम्भव उन वाणियों को राग के ढाँचे में बाँधकर स्मरण रखा। निरन्तर मनन से गुरु के अन्तरतर की निर्मल ज्योति जाग पड़ी और ने राम-नाम जपते-जपते राममय हो गये। वे उस ज्ञान के अधिकारी हुए जो बाह्य जगत् की जानकारी से भिन्न होता है। बाह्य जगत् की जानकारी मायामुख होती है। उसे पाकर मनुष्य और भी उलझता है, और भी कल्पना-विलास की ओर अग्रसर होता है, और अपनी ही कल्पनाओं के ताने-बाने से अपने को ही उलझानेवाली जानकारियों का जाल बुनता है। वैष्णव कवि (कवि कर्णपूर) ने कहा था कि तार्किक लोग अपनी कल्पनाओं का ही नाम 'शास्त्र' दिया करते हैं। जो जितना ही कल्पना-कुशल होता है, वह उतना ही बडा तार्किक मान लिया जाता है :

ये यत्राधिक कल्पना-कुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमाः।
स्वीय कल्पनमेव शास्त्रमिति ते मन्यन्तयहो तार्किकाः॥

इसी कल्पना-विलास को सन्तजन 'मायामुख' ज्ञान कहते हैं। गुरु नानक ने 'मनमुख' कहा है। ऐसा मनुष्य जो मन के इशारे पर ही चलता है और अन्तरतर में विराजमान अन्तर्यामी गुरु की ओर मन को नहीं ले जाता, 'मनमुख' होता है। इस अवस्था मे शब्दों पर कसरत करने का मोह उत्पन्न होता है। अन्तरतर की वास्तविक अनुभूति को वह छू-छूकर हट जाता है। गुरुजी की वाणियों में भटके हुए लोगों के

लिए 'मनमुख' शब्द का प्रयोग अधिक है। मनमुख मनुष्य खोटी राशि का होता है, परन्तु वह भी गुरु की शरण आने पर मुक्ति पाता है :

गुरु सरणाई छूटीऐ, मनमुख खोटी रास।

सन्त लोग कहते हैं कि जब वास्तविक ज्ञान का उदय होता है तो वह अन्तरतर में बैठे हुए महागुरु की ओर उन्मुख होता है। गुरु अपने भीतर ही विराजमान होता है। जब दृष्टि उसकी ओर फिरती है तो सही ज्ञान स्वयमेव उद्‌भासित हो उठता है। वह भव-बन्धन से छुटकारा देता है। वेदान्तशास्त्र में इसी को 'विद्या' कहते हैं—'सा विद्या या विमुक्तये'। बाकी सब अविद्या है : मनमुख ज्ञान है। इसके लिए बाह्य जगत् से दृष्टि फेरकर अन्तरतर में स्थित 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं' महागुरु की ओर दृष्टि फिरानी पड़ती है। एक बार उसे पा लेने पर प्रकाश स्वयं आविर्भूत होता है। निरन्तर ध्यान और मनन से वह अवस्था प्राप्त होती है जब एक क्षण के लिए लगता है कि ज्योति एकाएक जग उठी, पर तुरन्त ही वह सम्पूर्ण अस्तित्व को आत्मसात् करती है और गुरुमुखी ज्ञानी स्वयं गुरु-रूप हो जाता है। परम गुरु की असीम कृपा से नाम-रूपी रत्न प्राप्त होता है और मनुष्य मनमुख ज्ञान से निवृत्त होकर गुरुमुख ज्ञान प्राप्त करता है :

जिसनो क्रिपा करहि तिनि नाम रतनु पाइआ।
गुरुमुखि लाधा मनमुखि गवाइआ॥

अनुभवी सन्तजन बताते हैं, और सच्चे भक्तों को देखकर साधारण मनुष्य भी अनुभव करता है, कि निरन्तर भगवच्चिन्तन, एक अपूर्व रसायन है। उससे कभी न बुझनेवाली एक विचित्र प्यास निरन्तर बढ़ती ही जाती है। गुरु नानक ने स्वय कहा है—

हरिचरण मकरन्द लोभित मनो अनदिनो मोहि होइ पिआसा।
क्रिपा जल देहि नानक सारिंग को होइ जाते तेरे नाइ वासा।

भगवान् के चरण-कमल के मकरन्द-पान का लोभी मन-भ्रमर निरन्तर और भी तृष्णार्त्त होता जाता है। यह वह प्यास है जो तृप्ति नहीं जानती, निरन्तर बढ़ती ही जाती है। वे भगवान् को आर्तकण्ठ से पुकारकर कहते हैं, 'हे करुणानिधान ! अपनी कृपा का जल देते रहो, वह कृपा-जल जो निरन्तर अपनी ओर खींचते-खींचते एक दिन जलाशय में ही निवास करने के लिए हंस को उत्प्रेरित करता है।' नानक को यह अभिलषित कृपा-जल पूरी मात्रा में मिला था। उन्होंने छककर इसका पान किया था और सारे संसार को भी बाँटा था।

जनम-साखियों की सहायता से नानक के आध्यात्मिक विकास की विभिन्न सीढ़ियों का आभास-मात्र मिलता है। गुरु-ग्रन्थ साहिब के पहले महले में संगृहीत पदों में उनका विकसित रूप ही उपलब्ध होता है। फिर भी हम उन भक्तजनों के ऋणी हैं जिन्होंने उनके जीवन का कुछ रूप जनम-साखियों के रूप में सुरक्षित रखा है। यद्यपि गुरु की शुद्ध वास्तविक चिन्मय मूर्ति उनकी वाणियों में ही मिलती है, पर वह उनका आरूढ़ रूप है। आरुरुक्षु रूप का यत्किंचित् आभास जनम-साखियाँ

ही देती हैं। साधना के ऊँचे शिखर पर पहुँचे हुए भक्त को 'आरूढ' कहते है, चलती भाषा मे उसे *'पहुँचा हुआ'* *ही कहा जाता है। पर वह जब मार्ग में* चलते-चलते ऊपर उठने का प्रयास करता होता है, पहुँच जाने की आकांक्षा रखता है, उसे आरुरुक्षु कहते है। साधारण जन उसी में ज्यादा रुचि रखते है और वह जनम-साखियों से ही थोडा-बहुत देखने को मिलता है। इसीलिए इनके रचयिताओं के हम कृतज्ञ हैं।

कुछ साक्ष्यों के आधार पर गुरु नानक का जन्म अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल 3) को हुआ था, ऐसा माना गया है। पर काफी अर्से से उनकी जन्म-तिथि का उत्सव कार्तिकी पूर्णिमा को मनाया जाता है। कुछ विद्वान् इस तिथि को ही उनकी सही जन्म-तिथि मानते हैं। आजकल यह उत्सव इसी तिथि को मनाया जाता है। वैसे तो गुरुजी-जैसे महानुभाव की जो भी जन्म-तिथि हो वही पवित्र और स्मरणीय है, *पर मुझे कार्तिकी पूर्णिमा अधिक अर्थपूर्ण लगती है।* शरद् ऋतु की इस अन्तिम पूर्णिमा को सारे भारत मे न जाने कब से बहुत महत्त्व दिया जाता है। इस तिथि के साथ भारतवर्ष की धर्म-साधनाओं का विशाल और समृद्ध इतिहास जुडा हुआ है। कार्तिकी पूर्णिमा शामक ज्योत्स्ना से अधिक निर्मल और पवित्र होती है। गुरु नानक-जैसे निर्मल यशवाले महामानव के आविर्भाव के लिए इस तिथि को अगर उपयुक्त समझा गया तो उचित ही हुआ। अगर उनकी मृण्मय काया के आविर्भाव की यही तिथि हो तो यह सोने मे सुगन्ध है। वस्तुतः सिक्ख गुरुओ ने मृण्मय गुरु-रूप को कभी महत्त्व नही दिया। उनके चिन्मय रूप को—ज्ञानमय विग्रह को—ही वे अधिक महत्त्व देते आये है। इसके दो बड़े प्रमाण है। *एक तो गुरु की वाणी को ही गुरु का स्वरूप समझना* और दूसरे, *गुरु-परम्परा में* विन्दु-सृष्टि को अधिक महत्त्व न देकर नाद-सृष्टि की महिमा पर बल देना। गुरु की परम्परा दो रूपों में चलती है: (1) विन्दु-सृष्टि, जो पुत्र-पौत्र-परम्परा का, और (2) नाद-सृष्टि, जो शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा का नाम है। गुरु नानक के पुत्र थे, पर दूसरे गुरु का स्थान उन्हें न मिलकर शिष्य-प्रशिष्यों को मिला। ऐसा भी हुआ है कि बाद में पुत्र-परम्परा और शिष्य-परम्परा एक-दूसरे में मिल गयी है, पर उसका कारण योग्यता ही रही है। पुत्र यदि गुरु के जलाये प्रदीप को वहन करने मे समर्थ है तो वह भी नाद-परम्परा का ही उत्तराधिकारी है। स्वयं को सिक्ख या शिष्य कहने का अर्थ भी नाद-परम्परा को ही अधिक गौरव देने की भावना का फल है। इसलिए गुरु की जन्म-तिथि को यदि पूर्ण, शामक और निर्मल ज्ञान तथा परमानन्द का विग्रह या प्रतीक शरत्-पूर्णिमा के चन्द्रमा के साथ जोड़ दिया गया तो इसमे न तो कोई आश्चर्य है, न अनौचित्य। कार्तिकी पूर्णिमा का चन्द्रमा निर्मल और शामक ज्ञान का प्रतीक है—

जगत्तापहरं दिव्यं परमानन्दविग्रहम्।
वन्दे शरच्चन्द्रनिभं गुरुं ब्रह्मस्वरूपिणम्॥

परन्तु उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मध्यकाल के निर्गुणमार्गी सन्तों मे गुरु नानक का ही व्यक्तित्व शरच्चन्द्र के समान स्निग्ध, शामक और आह्लादजनक

है। उनके पूर्ववर्ती सन्तों में कबीर अद्भुत शक्तिशाली व्यक्तित्व लेकर पैदा हुए थे। परन्तु उनके व्यक्तित्व में तीखापन भी है। वे कसकर व्यंग्य करते हैं, तीखी और तिलमिला देनेवाली आलोचनाओं से पण्डित और मौलवी दोनों पर चोट करते हैं, परन्तु नानक का व्यक्तित्व अत्यन्त मृदु और शान्त है। उनकी भाषा में शरच्चन्द्रमा की किरणों की ही भाँति शामक गुण है। उनके व्यंग्यों में भी तीखापन या कटुता नहीं है, यद्यपि वे चोट करने में भी कम समर्थ नहीं हैं। इसीलिए मध्यकालीन निर्गुणमार्गी सन्तों में सच्चे अर्थों में वे शरच्चन्द्र हैं। उनकी आविर्भाव-तिथि इस पूर्णिमा को मानने के संगत कारण है। यह केवल भक्तों की कल्पना नहीं है, सुचिन्तित योजना है। निर्मल आकाश में शुभ्र राजहंस की तरह भ्रमण करनेवाला चन्द्रमा ही उनके व्यक्तित्व की ओर संकेत कर सकता है। उनकी मीठी वाणियों में अजीब आकर्षण है, मधुर वचन को वे भक्त का आवश्यक गुण मानते हैं :

> बाबा बोलीऐ पति होइ।
> ऊतम से दर ऊतम कहीअहि नीच करम बहि रोइ॥

सच पूछिए तो मध्यकालीन सन्तों की ज्योतिष्क-मण्डली में गुरु नानकदेव ऐसे सन्त हैं जो शरत्काल के पूर्णचन्द्र की तरह ही स्निग्ध, उसी प्रकार शान्त-निर्मल रश्मि के भाण्डार थे। कई सन्तों ने कस-कसके चोटें मारीं, व्यंग्य-बाण छोड़े, तर्क की छुरी चलायी, पर महान् गुरु नानकदेव ने सुधालेप का काम किया। यह आश्चर्य की बात है कि विचार और आचार की दुनिया में इतनी बड़ी क्रान्ति ले आनेवाला, किसी का दिल दुखाये बिना, किसी पर आघात किये बिना, कुसंस्कारों को छिन्न करने की शक्ति रखनेवाला, नयी संजीवनी धारा से प्राणिमात्र को उल्लसित करनेवाला यह सन्त मध्यकाल की ज्योतिष्क-मण्डली में अपनी निराली शोभा से शरत् पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह ही ज्योतिष्मान् है। इसलिए इस दिन उसकी याद आये बिना नहीं रह सकती। वह सब प्रकार से लोकोत्तर है। उसका उपचार प्रेम और मैत्री है। उसका शास्त्र सहानुभूति और हित-चिन्ता है। वह कुसंस्कारों के अन्धकार को अपनी स्निग्ध ज्योति से भेदता है, मुमूर्षु प्राणधारा को अमृतभाण्ड उँड़ेलकर प्रवाहशील बनाता है। वह भेदों में अभेद देखता है, नानात्व में एक का सन्धान बताता है, वह सब प्रकार से निराला है। शुभ्र ज्योत्स्ना से धवलित कार्तिकी पूर्णिमा को अनायास उसके चरणों में नत हो जाने की इच्छा होती है। गुरु नानक ने प्रेम का सन्देश दिया है, क्योंकि मनुष्य-जीवन का जो चरम प्राप्तव्य है वह स्वयं प्रेमरूप है। प्रेम ही उसका स्वभाव है। प्रेम ही उसका साधन है। वे कहते हैं—'अरे ओ मुग्ध मनुष्य ! सच्ची प्रीति से ही तेरा मान-अभिमान नष्ट होगा, तेरी छोटाई की सीमा समाप्त होगी, परम मंगलमय शिव तुझे प्राप्त होगा। उसी सच्चे प्रेम की साधना तेरे जीवन का परम लक्ष्य है। बाह्य आडम्बरों को तू धर्म समझ रहा है, बद्धमूल संस्कारों को तू आस्था मानता है ? नहीं प्यारे, यह सब धर्म नहीं है। धर्म तो स्वयं रूप होकर भगवान् के रूप में तेरे भीतर विराजमान है। उसी

अगम अगोचर प्रभु की शरण पकड़। क्या पड़ा है इन छोटे अहंकारो मे ! ये मुक्ति के नही, बन्धन के हेतु है।'

गुरु की वाणियों मे एक अद्भुत सहज भाव और पवित्र निष्ठा है। इसमें प्रभु लिए व्याकुल पुकार है, आत्म-समर्पण का तीव्र आवेश है और अपनी दुर्बलताओं से विचलित होने की सम्भावनाओं के प्रति सजगता भी है। 'हे प्रभो ! यदि मोतियों के रत्नजटित महल हों और उनमें कस्तूरी, केशर, अगरु और चन्दन की लुभावनी सुगन्ध का लेप भी मिल रहा हो तो भी ऐसा हो कि इस विशाल ऐश्वर्य से मेरा मन विचलित न हो जाये और मैं तुम्हारा नाम भूल न जाऊँ' :

मोती त मन्दर ऊसरहि रतनी त होहि जड़ाउ,
कस्तूरि कुंगू अगरि चन्दन लीपि आवै चाउ।
मतु देखि भूला वीसरै तेरा चिति न आवै नाउ॥

'हाय-हाय, हरि के बिन जीवन कैसा ! बलिहारी जाऊँ उस हरि की। मैंने अपने गुरु को देख लिया है। हरि से भिन्न और कोई ठिकाना नही है। मालिक मेरे, यदि हीरों और लालों से जडी धरती हो, उस पर लालों से जड़ा पलँग हो और उस पर मणि-रत्नों के आभरण से भूषित मन-मोहिनी बाला प्रेम-रंग की वार्ता करने का प्रसाद दे रही हो तो भी ऐसा हो कि इस मनोरम सौन्दर्य से मेरा मन विचलित न हो जाये और मैं तुम्हारा नाम भूल न जाऊँ' :

हरि बिनु जीऊ जलि बलि जाउ।
मैं आपणा गुरु पूछि देखिआ, अवरू नाही थाउ।
धरती त हीरे लाल जड़ती पलंघि लाल जड़ाउ।
मोहणी मुखि मणी सोहै करै रंगि पसाउ,
मति देखि भूला वीसरै तेरा चिति न आवै नाउ॥

इस मधुर तन्मयता ने गुरु की वाणी में अपूर्व माधुर्य भर दिया है। वे हउम या अहंकार भाव को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु समझते हैं और इसके त्याग के द्वारा ही भगवान् की प्राप्ति को सुलभ मानते है :

मन रे हउमै छोड़ि गुमानु।
हरि गुरु सरवरु सेवि तू पावहिं दरगह मानु॥

जनम-साखियो मे गुरु नानक की यात्राओ का बड़ा मनोहारी चित्र बनता है। इनमे निश्चय ही कुछ कल्पना और श्रद्धातिरेक जुडे हुए है। पर वे महान् परिव्राजक थे, इसमे कोई सन्देह नही रह जाता और इसमे भी कोई सन्देह नही रह जाता कि इन यात्राओं में उनका प्रधान सम्बल उनका सत्य-परायण सहज जीवन और निरहंकार मधुर व्यक्तित्व ही था। अपने जीवन के सत्तर वर्षों में लगभग एक-तिहाई उम्र उन्होंने यात्रा में ही बितायी थी। उन दिनों की कठिन परिस्थितियों में उनकी यात्राएँ अद्भुत साहसपूर्ण कही जायेंगी। पाँच बार उन्होने लम्बी यात्राएँ की। उद्देश्य साधु-संग और भगवद्भक्ति का प्रचार था। पहली यात्रा पूरब की थी। उस समय उनकी आयु 31 वर्ष की थी। साथ में उनके प्रिय शिष्य मरदाना थे

नही की और एक परमात्मा को छोड़कर किसी की स्तुति भी नही की। दु.ख से वे उद्विग्न नही हुए, सुख की वासना मन मे नही रखी। वे जीवन में कभी भी लोभ, मोह और अभिमान के वशीभूत नही हुए, हर्ष और शोक से विचलित नही हुए। भगवान् का परम अनुग्रह जिसे मिल जाता है वही इस प्रकार का विगतस्पृह हो सकता है। गुरुजी ऐसे लोगो को 'निराश' कहते हैं। निराश, अर्थात् जिसके मन मे प्राप्ति और संचय की कोई स्पृहा न हो। गुरु की कृपा से, प्रभु के अनुग्रह से ही यह सम्भव है। जो गोविन्द के साथ पानी की धारा मे पड़े हुए पानी की बूँद के साथ एकमेक हो गया होता है, उसे ही इस प्रकार की निस्पृहता प्राप्त होती है। गुरुजी अपनी यात्राओ मे सैकड़ों प्रकार के लोगों से मिले। विरोधियो से भी और प्रशंसकों से भी; चोरो, ठगो और लुटेरो से भी; पण्डितो, योगियो और तान्त्रिको से भी; शेखो, काजियों और मुल्लाओ से भी—सर्वत्र उनके मृदुल स्वभाव और सत्यशील आचरण ने विजय पायी। कटुता कही नही आयी। विरोध ने वैर का रूप कभी नही लिया। यह ऐसी सिद्धि है जिस पर सहज ही विश्वास करना कठिन है, पर है सत्य। ऐसे ही निर्वैर, निरहंकार, निस्पृह मनुष्य के माध्यम से परमात्मा अपना तेज संसार को देता है। एक भजन मे ऐसे भक्तजन का चित्रण इस प्रकार किया गया है :

जो नर दुखु मैं दुखु नही मानै।
सुख सनेहु अरु भैं नहिं जाके कंचन माटी जानै।
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाके लोभ मोह् अभिमाना।
हरस सोक ते रहे नियारउ नाहिं मान अपमाना।
आसा मनसा सकल त्यागै जग ते रहै निरासा।
काम क्रोध जिह् परसे नाही तेहि घटि ब्रह्म् निवासा।
गुर किरपा जिह् नर कउ कीनी तिह् इह् जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविन्द सिउ ज्यो पानी संगि पानी॥

वस्तुतः यही गुरु के आकर्षक व्यक्तित्व का रहस्य भी है और स्वरूप भी। उन्होंने तथाकथित छोटी जातियो को भी भरपूर सम्मान दिया। भेदभाव तो उनमें लेशमात्र नही था। हिन्दू और मुसलमान दोनों को वह समान भाव से स्नेह करते थे। कैसा भेदभाव? गुरु ने कभी अपने को किसी से अलग नही माना। उन्होने कहा था कि एक ही ज्योति से संसार उत्पन्न किया गया है, इसमें कौन अच्छा है कौन बुरा—

एक जोति ते जग ऊपजा कौन भले कौन मन्दे!

किसी ने ठीक ही कहा था:

नानक शाह फकीर
हिन्दू का गुरु मुसलमान का पीर।

गुरु नानकदेव के भजनों मे निरीह भक्ति-निर्भर सन्त का जीवन प्रतिफलित हुआ है। विचारो मे उनका मत कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों के मत से मिलता-

नीच से भी नीच जाति के समझे जाते है, मैं उनका साथी बनूं। बडा कहानेवाले नामधारी लोगों के साथ चलने की मेरी इच्छा नही है। क्योंकि मैं जानता हूँ कि तेरी कृपा-दृष्टि वही होती है जहाँ इन गरीबों की सम्हाल होती है':

नीचा अन्दरि नीच जाति नीची हू अति नीचु।
नानकु तिन कै संगि साथि वडिआ सिउ किया रीस।
जिथै नीच समालीअनि तिथै नदरि तेरी बखसीस॥

गुरु नानक मानते थे कि एक परमात्मा ही अखण्ड और सर्वशक्तिमान् सत्ता है। उसी की आज्ञा से यह समस्त चराचर जगत् रूपायित हो रहा है। वह हुक्मी निराकार है और उसी के हुक्म से सबकुछ आभासित होता है। वह हुक्म तत्त्व बहुत-कुछ अनुग्रह का समानधर्मा है, कुछ अधिक भी है। भक्तों में भगवान् के अनुग्रह की बड़ी महिमा गायी गयी है। वह भगवान् का अनुग्रह या हुक्मी का हुक्म है जिससे जीव उनका 'निज जन' बनता है। उसी से मनुष्य बड़प्पन पाता है :

हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई।
हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वडिआई॥

जिसने इस हुकम को जान लिया है उसमे अहंकार और ममता का भाव समाप्त हो जाता है। नानक ने इस रहस्य को समझ लिया था, इसलिए उनमें अहकार या भ्रमकार का लेश भी नही मिलता :

हुकमै अन्दरि सभ को बाहरि हुकम न कोइ।
नानक हुकमै जे बुझै त हौमै कहै न कोइ॥

ऐसे ही समर्पितचेता तन्मय महापुरुष के बारे मे कहा जाता है कि उसकी वाणी विश्वव्यापी छन्दोयोजना के साथ एकमेक हो जाती है। वह जो कुछ कहता है वह उत्तम काव्य बन जाता है, जो कुछ करता है वह धर्म बन जाता है, जो कुछ सोचता है वह दर्शन बन जाता है। विश्वव्यापी चेतना के साथ एकमेक बनी इस सरल-सहज वाणी में काव्य मूर्तिमान हो उठा है। वैसी प्रवाहमयी अर्थप्रसू वाणी में ब्रह्माण्डव्यापी सहज ज्योति मूर्तिमती हो उठी है :

'सारा आकाश विराट थाल है जिसमे सूर्य और चन्द्रमा के दीपक सजे हुए हैं। नक्षत्र-मण्डल इस थाल के मोती है, मलयानिल ही धूप है और वायु ही चँवर कर रही है। सारी वनराजि रंग-विरंग फूलों से इस आरती को साज रही है। यह कैसी अद्भुत आरती है तेरी, हे भव-खण्डन प्रभो! तुम्हारा अनहद नाद ही इस विराट आरती की भेरी की भाँति बज रहा है। सहस्र-सहस्र मूर्त्तियों में तू-ही-तू सर्वत्र विराजमान है। सहस्र-सहस्र तेरे चरण है और फिर भी तेरे कोई चरण नही है, क्योंकि तू निराकार है। समस्त संसार में व्याप्त सहस्र गन्ध की सुरभि तुझसे ही निकल रही है। तेरी ही ज्योति सबमें जगमगा रही है और उसी महान् ज्योति से सभी प्रकाशित हो रहे हैं। गुरु की साखी से ही यह ज्योति प्रकट होती है। हे मेरे अगम अगोचर, जो तुझे अच्छा लगे वही तेरी आरती है।'

गगनमै थालु रविचन्द दीपक बने तारिकामण्डल
  जनक मोती।
धूपु मलआनलो पवणु चवरो करे सगल बनराइ
  फूलन्त जोती।
कैसी आरती होइ। भवखण्डना तेरी आरती।
अनहृहा सबद बाजन्त भेरी। सहस तव नैन नन नैन हहि तोहि
कउ सहस मूरति नना एक तोही।
सहस पद विमल नन एक पद गन्ध बिन सहस तव गन्ध
  इव चलत मोही।
सभ महि जोति जोति है सोइ।
तिस दै चानणि सभ महि चानणु होइ।
गुरु साखी जोति परगटु होइ।
जो तिसु भावै सु आरती होइ।

कहते हैं कि जब गुरु जगन्नाथपुरी गये थे और वहाँ की आरती देखी थी तब यह ब्रह्माण्डव्यापिनी आरती अनायास उनके मुख से निकल पड़ी थी। यह सही अर्थो में भावनाओं का अनायास उद्रेक मुखरित करती है—जिसे 'स्पान्टेनियस् आउटवर्स्ट आफ फीलिंग्स' कहा करते है। कविता और होती क्या है!

नानक की श्रद्धा और भक्ति का आश्रय यही विराट सत्ता है। वह निराकार, अखण्ड, अद्वय सर्वशक्तिमान् है। उसी के हुक्म से यह विश्व रूपायित हो रहा है। युग-युग के भारतीय मनीषियों की यह वाणी नयी शक्ति और नया तेज लेकर गुरु के मुख से उच्चरित हुई थी। गीता में कहा गया है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्द्ध. स एव स.।' मनुष्य श्रद्धामय है, जो जिस पर श्रद्धा करता है, वह वही हो जाता है। कोई आश्चर्य नहीं कि भक्तजनों ने गुरु को भगवान् के स्वयंरूप के रूप में देखा। परन्तु वह भक्तों का दृष्टिकोण है। स्वयं नानक ने अपने-आपको सर्वात्मना भगवान् को समर्पित कर दिया था। निरीह शरणागत भक्त की भाषा में उन्होंने कहा था :

जेता देहि तेता हउ खाउ।
बिआ दरु नाही कै दरि जाउ।
नानकु एकु कहै अरदासि।
जीउ पिण्ड सभु तेरै पासि।

परम गुरु को आश्चर्य-चकित भाव से अनुभव करते हुए उन्होंने कहा है—'हे प्रभो! वह द्वार और घर कैसा है जिसमें तू बैठकर सभी जीवों की सँभाल कर रहा है! अनेक असंख्य पूजा और भजनवाले तेरे गुणों का गान कर रहे है। न जाने कितने राग और कितनी रागिनियाँ और न जाने कितने उन्हें गानेवाले है। हवा, पानी और पवन तेरे द्वार पर खड़े होकर तेरा यशोगान कर रहे हैं। चित्रगुप्त भी, जो कार्य-अकार्य का लेखा-जोखा रखते हैं वह भी तेरे ही गुणगान करते हैं।

तेरे ही सँवारे हुए शिव, ब्रह्मा और देवी तेरे गुणगान करते हुए शोभा पा रहे है। इन्द्रराज भी इन्द्रासन पर बैठे हुए तेरे ही गुणगान कर रहे है। सिद्ध और साधु लोग समाधि मे मगन होकर तेरे ही गुणो का मनन करते है। जो लोग जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सन्तोषी और वीर है वे लोग भी तेरे ही गुणो का गान करते है। बड़े-बड़े पण्डित, ऋषि, मुनि युग-युग से वेदो के द्वारा तेरी ही यशोगाथा लिख रहे है। मन मोहनेवाली रमणियाँ स्वर्ग और पाताल लोक मे तेरे ही गुणो का गान कर रही है। तेरी उत्पन्न की हुई सृष्टि और अड़सठ तीर्थ, बड़े बड़े योद्धा और महाबली शूरगण तेरे ही गुणो का गान करके बलशाली बने है। चार खाणि और चौरासी लाख योनि के जीवन तेरा यशोगान कर रहे है। अखण्ड मण्डल और ब्रह्माण्ड मे तैने जिन लोगो को धारण कर रखा है वे तेरा गुणगान कर रहे है। वे जीव, जो तुझे प्राप्य है, गुणगान करके तेरी रसमय भक्ति का आस्वादन कर रहे है। मैं कैसे तेरी रचना की विशालता का वर्णन करूँ ? यह सत्य स्वरूप तो चिर-काल सत्य है, अचल सनातन है। प्रभु ने रंगविरंग की माया की सृष्टि की है। वह प्रभु, स्वयं सृष्टि की रचना करता है और स्वय उसे देखता है। वह सर्वसमर्थ है। जो उसे अच्छा लगता है वही करता है। वह बादशाह है और बादशाहों का बादशाह है। नानक भी प्रभु की आज्ञा से ही इस लोक मे निवास कर रहे है।'

समर्पण की महिमामयी मूर्त्ति है प्रिया। भक्त अपना चरम प्रेम-निवेदन नारी के रूप में करता है। इसी भावना का परिपाक मधुर रस मे होता है। आत्म-समर्पण के चरम उल्लास मे नानक भी कह उठते है :

हम घरि साजन आए। साचै मेलि मिलाए।
सहजि मिलाए हरि मन भाए पंच मिले सुखु पाइआ।
साई वसतु परापति होई जिसु सेती मनु लाइआ।
अनदिनु मेल भइआ मनु मानिआ घर मन्दर सोहाए।
पंच सबद धुनि अनहद वाजे हम घरि साजन आए।
...सखी मिलहु रसि मंगल गावहु हम घरि साजन आए।।

'आओ बहनो, सहेलियो के गले मिलें और मिलकर अपने परम समर्थ प्रिय की प्रेम-कहानियों की चर्चा करें। वाह री सखियो, उस सजे साहब में सब गुण-ही-गुण है। तभी हममे सारे अवगुण आ गये है, क्योंकि हम सीमा से बँधे हुए है, वह असीम है। उसी के बल से समस्त जीव मे शक्ति संचरित होती है। वही तुम्हारा स्वामी है। उसी के यश का हम गान करते है। आओ, सुहागिनों से पूछें कि किस प्रकार उन्होंने उस महान् प्रभु का प्रेम प्राप्त किया। बहनो, वे बतायेंगी कि उन्होंने सहज सन्तोष का शृंगार किया था और मीठी बानी बोलकर प्रभु को प्राप्त किया था। गुरु के शब्दो को सुनने के बाद उस रसीले प्रिय से मिलन हुआ था।'

अद्भुत है गुरु की वाणी की सहज वेधक शक्ति। कहीं कोई आडम्बर नहीं, कोई बनाव नही, सहज हृदय से निकली हुई सहज प्रभावित करने की अपार शक्ति। सहज जीवन बड़ी कठिन साधना है। सहज भाषा बड़ी बलवती आस्था है। सीधी

लकीर खींचना टेढ़ा काम है। गुरु का अनाडम्बर सहज धर्म ऐसी ही सहज वाणी से प्रचारित हो सकता था। कितनी अद्भुत निर्णयमान शैली है। कहीं भी पाण्डित्य का दुर्धर बोझ नहीं और फिर भी पण्डितों को आन्दोलित करनेवाली यह वाणी धन्य है :

कोई पड़ता सहसाकिरता कोई पड़ै पुराना।
कोई नामु जपै जपमाली—लागै तिसै धिआना।
अबही कबही किछू न जाना
तेरा एको नाम पछाना।
न जाना हरे मेरी कवण गते
हम मूरख अगिआन सरनि प्रभ तेरी
कोई किरपा राखहु मेरी लाज पते।

ऐसी मीठी, निरहंकार सीधी वाणी से गुरु ने भटकती जनता को उसका लक्ष्य बताया। आज विद्वान् चकित हैं, पण्डित अचरज में हैं—कितनी बड़ी ताकत और कैसा निरीह रूप! कालिदास ने ठीक ही कहा था—'ध्रुवं वपुः कांचनपद्मधर्मि *यन्मृदुप्रकृत्या च संसारमेव च*।' जो रूप से *स्वर्णकमल के धर्मवाला होता है*, वह निश्चय ही स्वभाव से मृदु होता है किन्तु सारवान भी होता है। सारवान ही होता है। गुरु नानकदेव ऐसे ही कांचनपद्मधर्मी महामानव थे—'मृदु प्रकृत्या च संसारमेव च।'

ऐसे थे नानक, शरणागति के विश्वासी, मधुर, शान्त, प्रेमी, निरहंकार।

उनका ऐसा ही स्वरूप है। गुरु ने कहा—'अपने-आपको उलीचकर दे दो, जो कुछ है उसे महाग्रहीता को निछावर कर दो, इसलिए नहीं कि ऐसा करने से सामाजिक मंगल की साधना होती है बल्कि इसलिए कि वह प्रभु स्वयं महादाता है, परम देवणहारू है, उसका प्रेम इसी मार्ग से पाया जाता है। यह वह भक्ति है जो सबकुछ को छापकर सत्य का जयोद्घोष करती है।'

इतिहास साक्षी है कि गुरु के इन उपदेशों ने सामाजिक क्रान्ति का द्वार खोल दिया। वह प्रक्रिया जारी है। आज भी उसकी प्रभाविनी शक्ति कार्यरत है।

पाँच सौ वर्ष बीत गये। भारतवर्ष के विशाल आकाश के नीचे न जाने कितनी घटनाएँ घटीं, धरती को न जाने कितनी बार रक्तस्नान से सिक्त होना पड़ा, अन्याय और शोषण ने न जाने कितने ताण्डव किये, पर कार्त्तिकी पूर्णिमा का चाँद अपनी स्निग्ध शामक शोभा उसी प्रकार बिखेरता जा रहा है, गुरु की पवित्र वाणी उतनी ही स्निग्ध ज्योति विकीर्ण कर रही है।

उतरो महागुरो, एक बार और उतरो! हम तुम्हारी ऊँचाई तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। आज भी मनुष्य की क्षुद्र अहमिका विक्षिप्त नर्त्तन कर रही है, आज भी भय और लोभ की आशंका और तृष्णा की धमाचौकड़ी व्याप्त है। एक बार और आओ, रक्षा करो मनुष्यता की, धर्म की, सत्य की! बड़ी आशा और विश्वास से हम तुम्हारा स्मरण कर रहे हैं! जय हो तुम्हारी अमर वाणियों की, जय हो तुम्हारी शरणागति की, जय हो तुम्हारी निर्मल पवित्र स्मृति की, जय हो, जय हो!

गुरु नानकदेव : सन्देश

गुरु नानक का आविर्भाव जिन दिनों हुआ था, उन दिनों भारतवर्ष का हिन्दू समाज अनेक प्रकार की जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त था। इसके अतिरिक्त शक्तिशाली इस्लाम धर्म का प्रवेश भी हो चुका था। आपसी भेदभाव पहले से ही बहुत जटिल सामाजिक व्यवस्था को और अधिक उलझाता जा रहा था। धार्मिक साधना के क्षेत्र में रामानन्द, नामदेव और कबीर जैसे कई महिमाशाली व्यक्तित्व प्रकट हो चुके थे जो जाति-पाँति तथा साम्प्रदायिक भेदभाव मिटाने का प्रयास कर चुके थे, पर भेदभाव की मनोवृत्ति कठोरतर सिद्ध हुई थी। जिस किसी ने जातिभेद को हटाने का प्रयास किया, उसी के नाम पर एक नयी जाति और एक नये सम्प्रदाय की स्थापना हो गयी। जिस किसी ने झाड़ू देकर मन्दिर के आँगन को साफ करने का प्रयत्न किया, उसी के नाम पर कोई ईंट-पत्थर आँगन में और डाल दिया गया। भेदभाव बहुत ही शक्तिशाली सिद्ध हुआ, अभेद और एकता की बात कमजोर साबित हुई। फिर भी महात्मा लोगों ने अपना प्रयास जारी रखा। गुरु नानक ने अपनी समकालीन सामाजिक परिस्थितियों को यदा-कदा चित्रित किया है। तत्कालीन शासकों की निर्दय निरंकुशता और सामान्य प्रजाजन की असहाय स्थिति के प्रति वे सचेत थे। उनकी वाणियों में इस बात का प्रमाण मिल जाता है। परन्तु गुरु नानक बहुत कम अवसरों पर ही उसकी चर्चा करते हैं।

इस विषम परिस्थिति का सामना करने के लिए भी वे मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत करने का ही आह्वान करते है। वे निर्भय, निरहंकार और निर्वैर अकालपुरुष में अखण्ड विश्वास करते थे और उसी विश्वास को प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में जाग्रत करते थे। अत्याचारी का अत्याचार इसलिए सह लिया जाता है कि साधारण मनुष्य के मन मे भय और आशंका का भाव रहता है। भयवश और लोभवश मनुष्य क्या-कुछ नही करता ! विरूप परिस्थितियो मे गुरु नानक भय को छोडकर सत्य पर अडिग रहने की बात कहते है। कहते तो और लोग भी है, पर इतिहास साक्षी है कि गुरु के अनुयायियो ने भय का सही अर्थों में त्याग किया था। उनके ऊपर घोर अत्याचार हुए। उन दिल दहलानेवाली कहानियों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं, पर गुरु नानक के शिष्यो ने प्राणों को हथेली पर रखकर मृत्यु का तिरस्कार कर, काल के विधान को तोड़कर सत्य पर अटल रहने की साधना की है। कितनी अतुल गहराई से यह महावाक्य निकला होगा, जिसने पीढ़ियों तक भय को चुनौती दी है : 'मरणै की चिन्ता नही जीवण की नही आस।'

समाज की कुरीतियों और अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए वे बँधी-बँधायी बोलियों का नुस्खा नही बताते। वे ऐसी महान् धर्मसाधना का निर्देश करते हैं जिसे पाकर मनुष्य को कुछ पाना बाकी नही रह जाता है। वे भगवद्भक्ति और त्याग-परायण निर्भीक जीवन की बात कहते है और सम्पूर्ण रूप से सर्वात्मना समर्पित

जीवन को मुख्य सम्मान मानते है।

स्मरणीय है कि उत्तर-मध्यकाल में भक्ति का आन्दोलन विराट जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ था। सिक्ख गुरुओं ने निराकार-निरंजन-परम भक्तिमार्ग का प्रचार किया। इस बात में अन्यान्य निर्गुणमार्गी सन्तों से वे एक बात में विशिष्ट बने रहे। मध्यकाल में भाष्यों-टीकाओं और मन्त्रों से उपलक्षित भक्ति-सम्प्रदायों का बड़ा जोर था। कोई भी भक्ति-सम्प्रदाय तब तक मान्य नहीं होता था, जब तक किसी-न-किसी प्रस्थानत्रयी समर्थित सम्प्रदाय का आश्रय न ले लेता था। प्रस्थानत्रयी मे उपनिषत्, भगवद्गीता और बादरायण व्यास के वेदान्त-सूत्र माने जाते थे। गुरु नानक और उनके भक्त कवियों ने इस पराधीनता को अस्वीकार किया। नाभादासजी ने अपने भक्तमाल में उन्ही निर्गुणमार्गी सन्तों को स्थान दिया जो प्रसिद्ध भक्ति-सम्प्रदायों से सम्बद्ध माने जाते थे। कबीरदास को इसलिए स्थान मिला कि वे रामानन्द के शिष्य थे और इस प्रकार रामानुज-सम्प्रदाय से वे सम्बद्ध थे। गुरु नानक को स्थान नही मिला, क्योंकि उनका सम्बन्ध किसी से नही जोड़ा जा सका। गुरु के अनुयायियों, भक्तों और सन्त कवियों ने इस बात की परवा न की। उन्होंने उन समस्त सन्त कवियों की बानियों का आदर किया जो अनुभव-सिद्ध सत्य के गायक थे। सम्प्रदाय या आचार्य या ग्रन्थ-विशेष के समर्थन के लिए उन्होंने रुकना उचित नहीं समझा। यह विशेष दृष्टि उनकी बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। इसमें स्वाधीन चिन्तन और आत्मानुभव-हेतुक उपलब्धि पर बल दिया गया है। पंजाब में बहुत महत्त्वपूर्ण भक्ति-साहित्य लिखा गया, पर हिन्दी को सबसे बड़ी देन इन सन्तों की स्वाधीन चिन्तना ही मानी जायेगी।

प्रस्थानत्रयी क्या है?

'प्रस्थानत्रयी' वैदिक धर्म के आधारभूत तीन मुख्य ग्रन्थ है, जिनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मार्गों का नियमानुसार तथा तात्त्विक विवेचन किया गया है। इस तरह प्रस्थानत्रयी का दिनोंदिन अधिकाधिक प्रचार होने पर वैदिक धर्म के लोग उन मतों और सम्प्रदायों को गौण अथवा अग्राह्य मानने लगे, जिनका समावेश उक्त तीन ग्रन्थों में नहीं किया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के पतन के बाद वैदिक धर्म के जो-जो सम्प्रदाय (अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि) हिन्दुस्तान में प्रचलित हुए, उनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य को प्रस्थानत्रयी के तीनों भागो पर (अर्थात् भगवद्गीता पर भी) भाष्य लिखकर यह सिद्ध कर दिखाने की आवश्यकता हुई कि इन सब सम्प्रदायों के जारी होने के पहले ही जो तीन 'धर्मग्रन्थ' प्रमाण समझे जाते थे, उन्ही के आधार पर उनका सम्प्रदाय स्थापित हुआ है और अन्य सम्प्रदाय इन धर्मग्रन्थों के अनुसार नहीं हैं। ऐसा करने का कारण यही है, कि यदि कोई आचार्य यही स्वीकार कर लेते कि अन्य सम्प्रदाय भी प्रमाणभूत धर्मग्रन्थों के आधार पर स्थापित हुए है, तो उनके सम्प्रदाय का महत्त्व घट जाता—और, ऐसा करना किसी भी सम्प्रदाय को इष्ट नही था। साम्प्रदायिक

दृष्टि से प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की यह रीति जब चल पड़ी, तब भिन्न-भिन्न पण्डित अपने सम्प्रदायों के भाष्यों के आधार पर टीकाएँ लिखने लगे। यह टीका उसी सम्प्रदाय के लोगों को अधिक मान्य हुआ करती थी जिसके भाष्य के अनुसार वह लिखी जाती थी।

इस पृष्ठभूमि में गुरु नानक की स्वाधीन वृत्ति का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जिन दिनों सारा भारतवर्ष अपनी बात को आप्त वाक्यों द्वारा समर्थित सिद्ध करने का प्रयास कर रहा था, व्याकरण और मीमांसा शास्त्र की बतायी विधियों का सहारा लेकर हर प्रतिकूल बात का अर्थ बदलने में व्यस्त था, गुरु नानक और उनके अनुयायियों ने इस बन्धन को अस्वीकार कर दिया। वे सीधी बात को सीधी भाषा में कहते थे। यह आवश्यक नहीं कि वह परम्परा से एकदम विच्छिन्न हो, पर यह भी आवश्यक नहीं कि पद-पद पर वह उसके समर्थन का मुहताज हो। क्या है वह गुरु का अनुभूत सहज सत्य ?

गुरु ने परमात्मा को सत्य-रूप माना है। वह अतीत का सत्य है, वर्तमान का है और भविष्य का भी। वह त्रिकालातीत सत्य है :

आदि सचु, जुगादि सचु। है भी सचु नानक होसी सचु।

सत्य का अर्थ ही 'है' है। परम्परा-क्रम से हम जिस सच्चिदानन्द को सुनते आये हैं उसके तीन तत्त्व हैं : सत्, चित्, आनन्द। उसकी सत्ता त्रिकाल में है इसलिए वह सत् है। काल हमारी सीमित दृष्टि का आभासित तत्त्व है। इसलिए केवल यह कहना कि वह अतीत, वर्तमान और भविष्य में बना रहता है, बहुत कम करके कहना है। वह काल से परे है—अकाल-रूप है। वह अयोनि है, स्वयम्भू है : 'अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरू परसादि।' श्रीमद्भागवत में भी माता देवकी के मुख से कहलवाया गया है :

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिर्निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यम् ऋत सत्य नेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपद्ये॥

सो, गुरुजी परम प्राप्तव्य को 'सत्य रूप' मानते हैं। जो सत्य-रूप है वह सत्य से ही प्राप्त हो सकता है, मौन से, व्रत से, उपवास से, कृच्छ्र आचारों से उसे नहीं पाया जा सकता। सिद्धियों से, सांसारिक समृद्धियों से, धन से, मान से वह अलभ्य (अलह) है।

उसके पाने का मार्ग है, उसी के नाम-गुण का श्रवण, उसी का मनन और उसी का ध्यान—श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

श्रवण का बहुत माहात्म्य है :

सुणिऐ सरा गुणा के गाह। सुणिऐ सेख पीर पातिसाह॥
सुणिऐ अन्धे पावहि राहु। सुणिऐ हाथ होवै असगाहु॥
नानक भगता सदा विगासु। सुणिऐ दूख पाप का नासु॥

नाम श्रवण करने से मलिन मुख भी प्रशंसा के योग्य होते हैं। नाम श्रवण करने से योग तथा उसके भेदों का ज्ञान होता है। नाम श्रवण करने से शास्त्रों व

स्मृतियों का तात्पर्य समझ में आ जाता है। इससे भक्तों के हृदय में सदैव आनन्द बना रहता है। प्रभु का नाम सुनने से दुःखों और पापों का नाश हो जाता है। फिर मनन भी आवश्यक है :

मंनै पावहि मोख दुआरु। मंनै परवारै साधारु।
मंनै तरै तारे गुरु सिख। मंनै नानक भवहि न भिख॥
ऐसा नामु निरंजन होइ। जे को मंनि जाणै मनि कोइ॥

मनन करने से मनुष्य मोक्ष का द्वार (ज्ञान) प्राप्त कर लेता है। मनन करने वाला मनुष्य परावरपुर और अतर का आधार पा जाता है। ईश्वर के नाम का मनन करने से गुरु का शिष्य (सिक्ख) आप भी संसार-समुद्र से तर जाता है और उपदेश देकर अन्य लोगों को भी तार लेता है। गुरु नानकजी कहते हैं कि ईश्वर के नाम का मनन करनेवाला कोई व्यक्ति भिक्षुक बनकर भिक्षा माँगता नहीं घूमता। उस निरंजन (निष्कलुष परमात्मा) का पवित्र नाम ऐसा फलदायक है। अवश्य ही यदि कोई व्यक्ति हृदय से उसे मनन करना जानता हो, तो।

निदिध्यासन के लिए 'पंच' शब्द का प्रयोग हुआ है। पंच या पंज शब्द का प्रयोग गुरुजी ने अन्यत्र भी किया है। जान पड़ता है यह संस्कृत के 'प्रज्ञा' का पंजाबी रूप है। शुभ बुद्धि ही प्रज्ञा या पंजा है :

पंच परवाण पंच परधानु।
पंचे पावहि दरगहि मानु॥
पंचे सोहहि दरि राजानु।
पंचा का गुरु एकु धिआनु॥

प्रज्ञा ही प्रमाण है, प्रज्ञा ही प्रधान है। प्रज्ञा से ही दरगाह में मान मिलता है। प्रज्ञा का ध्यान एकमात्र गुरु ही होना चाहिए। जिस मनुष्य की प्रज्ञा एकमात्र गुरु-परक होती है, वही स्थितप्रज्ञ होता है। उपनिषदों मे तो प्रज्ञान को ब्रह्म ही कहा गया है—'प्रज्ञानं ब्रह्म!'

गुरु नानक का परमात्मा पर अखण्ड विश्वास था। वे मानते थे कि हमारे प्रत्येक श्वास-प्रश्वास का हिसाब उसके पास है। ऐसा भक्त ही सच्चे अर्थों में निर्भय हो सकता है। जब उसकी मर्जी के बिना कुछ भी नही हो सकता, तो मृत्यु का भय और जीवन का लोभ दोनो ही मिथ्या सिद्ध होते हैं। भक्त न तो मरण की चिन्ता से उद्विग्न होता है, न जीवन के प्रलोभनो से विचलित :

मरणै की चिन्ता नही, जीवन की नहीं आस।
तू सरब जीआ प्रतिपालही लेखै सास गिरास॥

भय का अस्तित्व ऐसे भक्त के लिए है ही नही। केवल एक बात का ध्यान उसे बना रहता है : कहीं ऐसा न हो कि मन सत्य मार्ग से विचलित हो जाये। परन्तु जिसे सत्य का साक्षात्कार हो गया है—सत्य, जो स्वयं परमात्मा का स्वरूप है—उसका यह भय मिट जाता है। सत्य का भय उसे परमात्मा के और निकट ले आ देता है। वह और भी मगन होकर भगवद्रस का पान करने लगता है। ...

ज्ञानलभ्य इस महारस का पान कर लिया है, उसकी सांसारिक भोगवृत्ति निवृत्त हो जाती है:

मन वैरागी घरि वसै सच भै राता होइ।
गिआन महारसु भोगवै बाहुड़ि भूख न होइ॥

(नं. 1, श्री रू. गु.)

यह ज्ञान महारस केवल गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है। शास्त्रों के अध्ययन से, बाह्य अनुष्ठानों से और अर्थहीन आचारों से यह अलभ्य है। शास्त्र विवेक दे सकते हैं, ज्ञान को जीवन का अविच्छेद्य अंग नहीं बना पाते। गुरु नानक कहते हैं:

पड़ि पुस्तक संधिआवादं। शिल पूजसि बगुल समाधिं।
मुखि झूठ विभूखण सारं। त्रैपाल तिहाल बिचारं।
गलि माला तिलकु लिलाटं। दुई धोती बसत्र कपाटं।
जो जाणसि ब्रह्मं करमं। सभ फोकट निसचउ करमं।
कहु नानक निहचउ धिआवै। विणु सतिगुर वाट न पावै।

'अरे ओ पण्डित, तू पुस्तक पढ़ता है, सन्ध्यावन्दन करता है, शिला की पूजा करता है और बगुले की तरह अर्थहीन समाधि लगाता है? भाई मेरे, तेरा मुख सत्य से नहीं मिथ्या से विभूषित है, तेरे विचार निस्सार है। तू गले मे माला और ललाट पर तिलक देता है, पर तेरा हृदय धौत वस्त्र और उत्तरीय के दो कपाटों से बन्द है। तू केवल ऊपरी दिखावा कर रहा है। भाई मेरे, जो तू ब्रह्म का विचार जानता तो इन सारे कर्मों की व्यर्थता भी जान जाता। नानक कहते है कि निश्चित रूप से समझ ले, सत्यात्मक गुरु के ध्यान के बिना मार्ग नहीं मिलता।

सत्य ही परमात्मा का रूप है। परन्तु सत्य क्या है? बहुत प्राचीन काल से इस देश के मनीषियों ने इस पर बहुत ऊहापोह किया है। महाभारत मे ऐसे बीसियों प्रसंगों का उल्लेख करके पुराण-मुनि व्यास ने इसके शुद्ध बुद्धि द्वारा ग्राह्य होने की ओर इशारा किया है। केवल एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। सनत्कुमार के प्रसंग मे सत्यवादिता जैसे अत्यन्त निर्विवाद धर्म के बारे मे कहा गया है कि सर्वत्र सत्य बोलना भी अच्छा नहीं। जहाँ सत्य बोलने से लोक-कल्याण में बाधा पड़ती हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि सत्य बोलना प्रशस्त है, यह ठीक तो है, परन्तु सत्य से भी बड़ी वस्तु है प्राणिमात्र की हितचिन्ता। इसीलिए सत्य वही है, जिससे सर्वभूत का आत्यन्तिक हित या कल्याण होता हो, वह नहीं जो मुँह से बोला जाता है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तम्, एतत्सत्यं मतं मम॥

(शान्ति. 329-17)

शास्त्रों मे ऐसे और भी प्रसंग हैं, जहाँ सर्व प्राणिमात्र की कल्याण-भावना को धर्म के मूल तत्त्वों अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह(मनुस्मृति 10-63) आदि से श्रेष्ठ बताया गया है। ऐसे कथनो का तात्पर्य यह हुआ कि सर्वभूत-

मात्र की कल्याण-बुद्धि से किया हुआ कार्य ही धर्म-कार्य है। उसके अनुसार सामाजिक कल्याण के अनुकूल सत्यादि धर्म-ग्राह्य है और प्रतिकूल होने पर अग्राह्य। सत्य या अहिंसा इसलिए धर्म नहीं है कि वे सत्य और अहिंसा हैं, बल्कि इसलिए कि उनसे प्राणिमात्र का कल्याण होता है। जहाँ प्राणिमात्र के कल्याण के साथ सत्य या अहिंसा समझी जानेवाली वस्तु का विरोध हो, वहाँ समझना चाहिए कि वह तथाकथित सत्य और अहिंसा वस्तुतः सत्य और अहिंसा नहीं है। इसलिए तुलाधार ने जाजलि को उपदेश देते हुए कहा था कि जो व्यक्ति प्राणिमात्र के हित में नित्य रत है, वही धर्म को जानता है। (शान्ति. 261-9)

स्वयं गुरु नानक ने प्रज्ञा या शुद्ध बुद्धि पर जोर दिया है, ऐसी प्रज्ञा जो गुरु-केन्द्रित हो, गुरु ही जिसका एकमात्र ध्यातव्य हो। यहाँ गुरु स्पष्ट ही अन्तरतर की महाज्योति का नाम है जिसके प्रकाश में सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है। अपनी-अपनी संकीर्ण सीमाओं के भीतर हम जो कुछ देखते हैं वह वास्तविक सत्य नहीं है। वास्तविक सत्य अपनी छोटी अहमिका या 'हउमै' को मिटाकर विश्वात्मा के साथ एकमेक होकर प्राप्त किया जा सकता है। तभी सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है।

मनुष्य अपने दृष्टिकोण से सुख-दुख को देखता है। मगर सुख-दुख का कोई एक ही मानदण्ड समस्त प्राणियों के लिए नहीं है। शास्त्र का यह कथन कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति' अर्थात् अपने ही समान जो प्राणिमात्र के दुख-सुख को देखता है वही वास्तव में देखता है, यह भी विचार-सापेक्ष है। मुझे पानी में डूबे रहने से कष्ट होता है, इसलिए मछली को भी कष्ट होगा, यह कहना नितान्त उपहासास्पद है। वस्तुतः इस वाक्य का ऐसा अर्थ करना ही ठीक नहीं है। इसका तात्पर्य है कि अपनी अन्तरात्मा को जिस प्रकार स्वयं को प्रतिकूल परिस्थितियों में कष्ट की और अनुकूल परिस्थितियों में सुख की अनुभूति होती है, वैसा ही सबके लिए सोचना चाहिए। व्यक्ति-विशेष की अनुकूल परिस्थितियाँ अलग-अलग होंगी। इस प्रकार के वाक्यों का सारी दुनिया के साहित्य में उल्लेख है। पर यह उपरले स्तर की सच्चाई है। जिस व्यक्ति का हम उपकार करना चाहते हैं, उसका सचमुच उपकार कर रहे हैं या नहीं, इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। ऊपर के उदाहरण से इतना तो स्पष्ट है कि उपचिकीर्षु (उपकार करने का इच्छुक) का अनुभव प्रमाण नहीं। रही यह बात कि उपकार्य (जिसका उपकार किया जा रहा है) का अनुभव प्रमाण हो सकता है, तो यह भी नहीं जँचती, क्योंकि हैजे के रोगी से पूछो तो वह ठण्डा पानी पीने से ही अपना उपकार मानेगा। परन्तु वह उसके लिए हानिकर है। सही बात तो यह है कि उपकार करना, सुधार करना आदि बातें बहुत गहराई तक नहीं जातीं, क्योंकि ये भी सीमित अहंकार की देन हैं।

गुरु नानक उस काल के नाथ-साधकों की भाँति स्वीकार करते हैं कि यह मनुष्य का शरीर समस्त ब्रह्माण्ड का ही एक छोटा प्रतिरूप है। जो कुछ इस पिण्ड

में है वही ब्रह्माण्ड मे है : 'जोइ जोइ प्यण्डे सोइ ब्रह्माण्डे'। इसका अर्थ यह है कि अगर अपने अन्तरतर की ज्योति को पहचान लिया गया तो ब्रह्माण्डव्यापिनी महा-ज्योति को पहचान लिया जा सकता है। वस्तुतः मनुष्य उतना ही जानता है जितना उसके अन्तरतर के चैतन्य से एकमेक हुआ रहता है। हम जब कुछ नयी बात जानते हैं तो होता सिर्फ यह है कि हमारे चैतन्य पर पड़ा हुआ एक पर्दा हट जाता है। परन्तु जानना ही बहुत बड़ी चीज नही है। बड़ी चीज है ज्ञान को जीवन का अविच्छेद्य अंग बनाना। सत्य जब आचरण मे रूप ग्रहण करता है तो धर्म बनता है। जो चीज केवल जानकारी के रूप मे कही जाती है वह 'कथनी' मात्र है। 'करनी' के साथ जब तक वह एकमेक नही हो जाती तब तक वह भारमात्र सिद्ध होती है। वही पुरुष महात्मा होता है जिसकी कथनी और करनी मे भेद नही होता। परन्तु इतना होने के बाद भी 'सत्य' 'हित' नही बनता। कोई महात्मा बहुत सच्चा है, पवित्र है, भगवद्भजन मे निरन्तर लीन है, जीवन्मुक्त है, तो हमारी श्रद्धा का पात्र है। वह प्रणम्य है। पर साधारण मनुष्य के लिए वह दूर की चम-कीली वस्तु ही है। उसे देखकर हमे प्रसन्नता होती है। परन्तु ततः किम्? मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा था—'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्?' अर्थात् मैं जिस बात से स्वयं अमृत नही बन जाती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? कोई बहुत बड़ा सिद्ध हो गया, अच्छी बात है, पर साधारण सांसारिक जीवों को क्या मिला? जब सत्य जीवन मे इस प्रकार घुल-मिल जाता है कि वह अन्तरतर को परिपूर्ण करके बाहर भी ज्योति विकीर्ण करने लगता है तो उसके प्रकाश में साधारण जन को भी अनायास प्रकाश मिलता है। अन्धकार में भटके हुए प्राणियों को रास्ता दिखायी देने लगता है। ऐसा ही महात्मा 'गुरु' रूप में प्रकट होता है। भगवान् की ज्योति के साथ वह जितना ही अधिक एकमेक होता है, उतना ही वह समाज का सही मार्गदर्शन करता है। यह सोचकर नही कि मैं मार्गदर्शन कर रहा हूँ। सूर्य कभी नही सोचता कि वह मार्गदर्शन कर रहा है। उसकी ज्योति ही ऐसी होती है कि दुनिया अपना मार्ग ढूँढने में समर्थ हो जाती है। उसकी ज्योति भटके हुओं को रास्ता दिखाती है। महागुरु ऐसा ही होता है। उसके निर्मल चरित्र में अपनी दीप्ति होती है। वह सत्य और प्रेम की साधना द्वारा स्वयं सत्य और प्रेम का रूप बन जाता है। गुरु नानक ऐसे ही महागुरु थे। उनकी अत्यन्त सीधी भक्ति-भावित वाणियों में कही भी इस बात का आग्रह नही है कि वे दुनिया को सुधारने की प्रतिज्ञा कर रहे है। ऐसा करना स्वयं 'हउम' या क्षुद्र अहमिका का रूप बन जाता है। वे तो सच्चे हृदय से महाग्रहीता के चरणों में समर्पित कर देते हैं : 'हे महागुरो, मैं तेरी शरण आया हूँ। तू ही पाक परवरदिगार है। तेरी ज्योति से ही समूचा जगत् ज्योतिष्मान् है।' महाग्रहीता को दिया हुआ यह अर्घ्य ही धन्य है। तुलसीदास ने कहा था—'जानत तुमहिं तुमहि होइ जाई (जो तुम्हें जानता है वह तुम-रूप ही हो जाता है)। सत्य इसी अवस्था में आकर प्राणिमात्र को मार्ग दिखानेवाला प्रकाश बन जाता है। ऐसा सत्य केवल 'व्यक्ति सत्य' न रहकर 'सर्वभूत हित' बन

जाता है। अहंकार से आच्छन्न बुद्धि द्वारा निर्णीत सत्य सीमा का सत्य होता है, वह सीमित सुख देता है। अपने-आपको सर्वात्मना उत्सर्गीकृत भक्त का सत्य असीम का सुख होता है। वह प्राणिमात्र का असीम सुख होता है। उपनिषत् में कहा गया है : 'भूमैव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति।' गुरु नानक ने अपने-आपको उसी महाग्रहीता के चरणों में समर्पित कर दिया था। उनका सत्य सर्वजन के सुख का हेतु बना है। नानक महागुरु थे। उनकी ज्योति मानवता को प्रकाश देनेवाली ज्योति हुई।

विचित्र है यह रसमय पुरुष। वह रस भी है, रसिक भी, रसास्वादी भी है। वह प्रिया भी है, प्रिय भी है। यह अलबेला प्रियतम प्रभु निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके रह रहा है। परम प्रेयान् के इस रूप की बलिहारी है :

आपे रसीआ आपि रसु आपे रावणहार।
आपे होवै चोलड़ा आपे सेज भतार॥
रंगि रता मेरा साहिबु रवि रहिआ भरपूरि।
आपे बहुबिधि रंगुला सखीए मेरा लालु॥
नित रवै सोहागणी देखु हमारा हालु॥

अखण्ड प्रेम-स्वरूप को जिसने अपना लिया है उसके आचरण में भेदभाव का स्थान कहाँ है ? उसकी प्रत्येक गतिविधि भेदभाव को मिटाने में समर्थ होती है। गुरु नानक की प्रेम-साधना समाज में फैली हुई विषमता, छूतछात, साम्प्रदायिकता को दूर करने की अमोघ शक्ति के रूप में अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई।

भारतवर्ष में जातिभेद और छूतछात का मनोभाव दीर्घकाल से चला आ रहा है। आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व यह मनोभाव और भी तीव्र था। हमारे इस देश में अनेक मनीषी हुए हैं, जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थों के ऊपरी भेदों को, नानात्व को, मिथ्या बताया है और एक ही अद्वैत-तत्त्व को सत्य घोषित किया है। परन्तु इस विस्मयकारी चिन्तन के बावजूद सामाजिक भेदभाव और समाज के अनेक वर्गों को अस्पृश्य मानते रहने का क्रम भी ज्यों-का-त्यों चलता रहा है। विचार के सत्य को परमार्थ-सत्य और आचार के भेदभाव को व्यवहार-सत्य मानकर संगति बैठा ली गयी है। विचार और आचार के बीच दरार पैदा करनेवाली ऐसी विसंगति की भी संगति लगा लेने का प्रयत्न एक बड़ा करिश्मा ही है, पर इस देश में वह जमके बैठ गया है।

गुरु नानक ने इस व्यवधान को दूर करने का सफल प्रयत्न किया था। दीर्घकाल से चले आये हुए एकत्व—नेह नानास्ति किंचन—की आवाज को उन्होंने नयी शक्ति दी। मार्ग उनका प्रेम और मैत्री का था। उनका आदर्श निराकार, निरहंकार और निर्वैर सत्पुरुष था, उनका बल कथनी और करनी के व्यवधान को पाटने पर था, उनका उपाय एकान्त भगवन्निष्ठा और अकुण्ठ शरणागति था, उनकी एक विशेष निष्ठा 'गुरु' की शिक्षा पर थी।

कई विद्वानों ने कहा है कि 'गुरु' की मध्यस्थता उन्होंने सामी धर्म से ली। उस

धर्म में ईश्वर और जीव के बीच एक पैगम्बर मध्यस्थ का कार्य करता है। यह बात कुछ अनावश्यक आडम्बर के साथ कही जाती है।

निस्सन्देह गुरु नानक के सामने महान् इस्लाम धर्म था। मुस्लिम सन्तों का सत्संग भी उन्होंने प्राप्त किया था और उनके संवेदनशील चित्त पर उसका प्रभाव भी पड़ा था। परन्तु उन्होने समन्वय का मार्ग अपनाया था। भेदभाव जिसके मन में कभी आया ही नही उससे यह आशा करना कि सत्य के निर्णय मे वह हिन्दू और मुसलमान का भेद करेगा, एकदम बेबुनियाद बात है। उन्होंने शक्तिशाली इस्लाम के उत्तम सिद्धान्तों को सहज भाव से अपनाया है। सहज भाव से मौलिक तत्त्वो को अपनाना ही सच्चा समन्वय है।

कुछ लोग धर्म के नाम पर चलनेवाले ऊपरी आचारों को एक साथ जोड़ देने को समन्वय कहने लगे है। रोजा भी अच्छा और एकादशी भी अच्छी। त्रिपुण्ड धारण भी ठीक और क्रास का पहनना भी ठीक। सलाम भी सही और नमस्ते भी सही। इस प्रकार समन्वय आरम्भ किया गया है। समन्वय की यह नीति ठीक नही जँचती। समन्वय मे तत्तद् धर्मो के उन मूल तत्त्वों का ध्यान रखना आवश्यक है जिनको केन्द्र मे रखकर इन बाह्य आचारों को अपनाया जाता है। समन्वय का अर्थ यह है कि हम मनुष्य की मूल एकता को स्वीकार करें, और उस विशाल मानवतावादी दृष्टि को अपनायें जो समग्र मनुष्य-जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार की कुशिक्षा, कुसंस्कार और अभावों के बन्धन से मुक्त करके उसे जीवन की उच्चतर चरितार्थता की ओर ले जाने का प्रयास कर रही है। गुरु नानक ने इसी मूल तत्त्व को पकडा था।

कार्य और अकार्य, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की क्या कसौटी होनी चाहिए, इस विषय पर अनेक शास्त्र लिखे गये है। क्या ठीक है और क्या ठीक नही है, यह दीर्घकाल से सामाजिक नैतिकता के मनीषियों का विचारणीय विषय रहा है। गुरु नानक व्यक्तिगत शुचिता और सार्वभाव से आत्मार्पण की महिमा घोषित करते है। वे मनुष्य के चित्त से अहंकार, भय और लोभ का उन्मूलन करने पर बल देते है। जो चित्त अहंभाव, भय और लोभ से मुक्त होता है वह अनायास सामाजिक मंगल की ओर प्रवृत्त होता है। अहंकार वस्तुत: अपने-आपको सबसे अलग समझने के कारण ही होता है : अहंकार अर्थात् पृथक्त्व बुद्धि। गुरु नानक ने कहा है— 'मन मेरे, तू क्षुद्र अहमिका का अभिमान छोड़ दे और हरि-रूप गुरु के शीतल सरोवर का सेवन कर। तभी तू उसके दरबार में आदर पा सकेगा' :

मन रे हउमै छोड़ि गुमानु।
हरि गुरु सरवरु सेवि तू पावहि दरगहि मानु।

—सिरी रागु, महला-1

अपने-आपको जगत्-प्रवाह मे विच्छिन्न समझनेवाले के मन मे ही मैं और मेरा, अहंकार और ममता के भाव आते हैं। जिसने अपने-आपको महागुरु के चरणों मे समर्पित कर दिया है, उसे अहंकार और मिथ्या गर्व हो ही नहीं सकते। हे प्रभु,

तू इतना बड़ा दाता है, देवनहार है कि तेरी भक्ति के भाण्डार में कभी कोई त्रुटि नही आती। कहाँ का गर्व और कैसा अहंकार ? गर्व करने से कुछ हाथ नहीं लगता। किस बात का गर्व किया जाय ? यह जीव भी तेरा, यह शरीर भी तेरा। मेरा है ही कहाँ कि ममता का आकर्षण हो !

तू एवडु दाता देवणहारू।
तोटि नाही तुधु भगति भंडारि ॥
कीआ गरबु न आवै रासि।
जीउ पिंडु सभु तेरै पासि ॥

भक्ति-भावना की विशाल पटभूमि पर लोभ, मोह, भय-भ्रान्ति, अहंकार, ममता की समस्याओं को सुलझाने का यह प्रयत्न बहुत ही प्रशंसनीय है। इसमे परमार्थ और व्यवहार का द्वन्द्व नही है, कथनी और करनी का व्यवधान नहीं है और व्यक्ति-सत्य और समष्टि-सत्य की निरर्थक ऊहापोह भी नहीं है। जो भी अहंकार, भय, लोभ और तृष्णा द्वारा चालित है वह मनमुख है, इसलिए त्याज्य है। जो भी अन्तरतर की ज्योति के सम्मुखीन है वह ग्राह्य है, गुरुमुख होने से वह स्वीकार्य है। जो मनमुख होता है उसे ममता सताती रहती है, वह पुत्र-कलत्र को धन-सम्पत्ति को अपना समझकर 'मेरा-मेरा' के चक्कर में पड़ा रहता है। इसी का नाम भव-जाल है। वह उलझता है, छटपटाता है, कामवासना से विचलित होता है, सम्पत्ति नष्ट होने के भय से कातर हो जाता है। वही असामाजिक हो जाता है :

मनमुखु जाणै आपणै धीआ पूत संजोगु।
नारी देखि विगासीअहि नाले हरखु सु सोगु।

परन्तु जो गुरुमुख होता है, जिसकी चित्तवृत्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तरतर के महागुरु की ओर प्रवृत्त रहती है, वह दिन-रात हरि-रस का पान करता रहता है

गुरु मुखि सबदि रंगावले अहनिसि हरिरसु भोगु।

हरिरस—चरम प्राप्तव्य, समष्टि-सत्य, अगजग-व्यापिनी मंगलेच्छा। यही व्यक्ति-सत्य है, यही समष्टि-सत्य—'जोइ जोइ प्यण्डे सोइ ब्रह्माण्डे !'

अन्यायी से भय न पानेवाला ही सच्चे अर्थों में निर्भय है। पर निर्भयता के साथ-ही-साथ निर्वैरता भी होनी चाहिए। नानक ने कहा था : डरो मत और डराओ मत। निर्भय भी बनो और निरहंकार भी बनो और निर्वैर होना भी मत भूलो। इसलिए नहीं कि यही सफल जीवन-यात्रा की नीति है बल्कि इसलिए कि सत्यात्मा गुरु स्वयमेव ऐसा है और उसके प्रेम पाने का यही मार्ग है। दूसरे मार्ग थोथा हैं।

गुरु नानकदेव : महिमा

गुरु नानक केवल वीतराग महात्मा ही नहीं थे, उन्होने ससार को नया मार्ग दिखाया और कोटि-कोटि मनुष्यों के लिए महात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त किया। जिन दिनों उनका आविर्भाव हुआ था, वह समय भारत के लिए और विशेषत. इसके आध्यात्मिक जीवन के लिए बहुत ही अन्धकार का था। अनेक प्रकार के कुसंस्कारों और अन्धविश्वासों से देश ग्रस्त था। विदेश से एक ऐसी शक्तिशाली धार्मिक संस्कृति का आक्रमण हुआ था जो उसे हर क्षेत्र मे चुनौती दे रही थी। लोगों का मनोबल समाप्त होने को आया था। स्वय गुरु नानकदेव ने अपनी 'वानियों' में बताया है कि 'उस समय राजा लोग सिंह के समान हिंसक और चौधरी लोग कुत्ते के समान लालची हो गये थे। उनके नौकर-चाकर अपने तीखे नाखूनों से घाव करते और लोगों का खून चूसते थे।' ('मल्हार की वार', सलोक 13)। उन्होंने कलयुग को काती और राजाओं को कसाई बताया था और कहा था कि 'धर्म पंख फैलाकर कहीं उड़ गया। झूठ-रूपी अमावस्या की रात थी और सत्य का चन्द्रमा अस्त हो गया था।' सारंग की वार के 22 वे श्लोक मे उन्होने कहा है कि 'स्त्रियाँ मूर्ख हो गयी हैं। पुरुष जालिम शिकारी बन गये हैं और लोग शील, संयम तथा पवित्रता को तोड़कर खाद्याखाद्य खाने लगे हैं। शर्म और प्रतिष्ठा उठकर न जाने कहाँ चले गये है!'

गुरु नानकदेव ने जनता को भयंकर रूढ़ियो का शिकार देखा। वे ऐसे मूर्ख और गँवार हो गये थे कि पत्थरों को देवता मान बैठे थे और पानी में डुबकी लगाने को ही पुण्य कार्य। बाहरी आडम्बरों और अर्थहीन आचारों के बोझ से लोग दबे हुए थे। धर्म के नाम पर ऐसी बातों के चक्कर मे पड़े हुए थे जो अपना उद्देश्य खो चुकी थी। यह एक सास्कृतिक और धार्मिक सकट का काल था। उनके कुछ पूर्व ही नामदेव, कबीर आदि महान् सन्तो ने इन कुसस्कारो, रूढ़ियो और अन्धविश्वासो का थोथापन प्रकट किया था। गुरु नानकदेव ने ऐसे महात्माओं की वाणियों को भी बड़े आदर से सुना और समझा था और स्वयं इस अन्धकार को दूर करने के लिए मार्गप्रदर्शन किया था। मध्ययुग के सन्तों ने इस कठिन समय में सहज भक्ति का मार्ग बताया था। अनेक छोटे-छोटे देवताओ के स्थान पर एक महादेव के भजन और पूजन का मार्ग बताया था। परन्तु उन्हें वह सफलता प्राप्त नहीं हुई जो गुरु नानक को प्राप्त हुई थी। जे. डी. कनिंघम ने बहुत ठीक लिखा है कि 'यह सुधार गुरु नानक के लिए अवशिष्ट था। उन्होंने सुधार के सच्चे सिद्धान्तों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ साक्षात्कार किया और ऐसे व्यापक आधार पर धर्म की नीव डाली जिसके द्वारा गुरु गोविन्दसिंहजी ने अपने देशवासियो के मन को नवीन राष्ट्रीयता की उमंग से अनुप्राणित किया और उत्तम सिद्धान्तों को ऐसा व्यावहारिक रूप दिया कि उनके धर्म में छोटी और बड़ी जातियों को समान मर्यादा प्राप्त हुई।

इसी प्रकार राजनैतिक अधिकारों में भी सबको बराबरी का अधिकार प्राप्त हुआ।'

मध्ययुग के अन्य सन्तों का सन्देश धार्मिक और सामाजिक जीवन तक ही सीमित था। गुरु नानकदेव ने उसे वृहत्तर पटभूमि पर रखा। उनके द्वारा संस्थापित भक्ति-मार्ग सम्पूर्ण मानव-जीवन को आत्मसात करता है। यह एक बहुत बड़ी विशेषता है जो गुरु नानकदेव के पहले भारतवर्ष में सैकड़ों वर्ष तक किसी दूसरे महात्मा को नहीं प्राप्त हुई। भारतवर्ष ने दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत योगदान किया है। परन्तु गुरु नानकदेव के सैकड़ों वर्ष पहले से विभिन्न क्षेत्रों के उदात्त विचार अलग-अलग डिब्बों में बन्द-से दिखायी देते हैं। बौद्धिक रूप में अद्वैतवाद में विश्वास रखनेवाले व्यावहारिक क्षेत्र में ऊँच-नीच, छूतछात आदि संस्कारों को शिरसा स्वीकार कर लेते थे। आध्यात्मिक रूप से एक सच्चिदानन्द में विश्वास करनेवाले व्यावहारिक रूप में सैकड़ों देवी-देवताओं के पुजारी बन जाया करते थे। सिद्धान्त-रूप में शब्द-ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाले व्यवहार के क्षेत्र में मन्त्र, तन्त्र, जादू, टोना आदि सबको अंगीकार कर लेते थे। जो लोग सिद्धान्ततः एक परम शक्तिमान ईश्वर को अगजग-पालक मानते थे, वे ही व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में भय, लोभ और मोह से ग्रस्त होकर राजनैतिक गुलाम बने रहते थे। चिन्तन और व्यवहार की यह खाई निरन्तर चौड़ी होती जा रही थी। इस पृष्ठभूमि में गुरु नानकदेव के उपदेशों से चालित सिक्ख वीरों का इतिहास अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रकट होता है। उन्होंने एक अखण्ड सच्चिदानन्द परमात्मा को विचार और व्यवहार के क्षेत्र में समान रूप से स्वीकार किया, यही कारण है कि वे बड़ी-से-बड़ी राजनैतिक शक्ति के सम्मुख झुके नहीं। भयंकर सामाजिक रूढ़ियों के पर्वतों से टकराकर भी रुके नहीं और सहज सत्य को सहज ही मानने में दुविधा में नहीं पड़े। गुरु नानकदेव ने सत्य को ही एकमात्र लक्ष्य माना और जीवन के हर क्षेत्र में उस एक ध्रुवतारा की ओर ही उन्मुख रहे। उनके सन्देश में कहीं भी संकीर्णता, संकोच और दुविधा नहीं है। उन्होंने विचार और व्यवहार के क्षेत्र को एक कर दिया और उनके शिष्यों ने श्रद्धा-सम्मान के साथ उसे अपने जीवन का ध्रुवतारा मान लिया। न उन्होंने भयवश समझौता किया और न लोभवश उसे खण्डित होने दिया। गुरु नानकदेव का मन्त्र तब तक काम करता रहेगा, जब तक उसे उसी विशाल पटभूमि पर रखकर देखा जाता रहेगा। आज हमारा यह परम पावन कर्तव्य है कि हम अपने देश के इस महान् गुरु का दिया हुआ मन्त्र उसी रूप में स्वीकार करें जिस रूप में इन्होंने उसे दिया था। हम उसे किसी भी मूल्य पर संकीर्ण और अनुदार नहीं बना सकते। गुरु नानक के रूप में परमात्मा ने हमें दिव्य रूप में दर्शन दिया था। उस रूप को विस्मृत कर देना हमारे देश के लिए परम दुर्भाग्य का विषय होगा।

जग सचे की है कोठडी, सचे का विचि वासु।'

तीसरे गुरु अमरदास (1479-1574 ई.) पहले वैष्णव थे और बाद में गुरु अंगद की कन्या से, जो उनके भतीजे से व्याही हुई थी, गुरु नानकदेव का एक पद सुनकर उनकी ओर आकृष्ट हुए और गुरु अंगद की सेवा मे उपस्थित हो गये। गुरु अंगद के समान ही यह भी अत्यन्त विनीत और मधुर-स्वभाव के भक्त थे। इनकी रचनाएँ भी गुरुग्रन्थ साहिब मे संगृहीत है। वे सन् 1552 ई. मे गुरु-गद्दी पर आसीन हुए और 1554 ई. तक विराजमान थे। गोहन्दवारण गाँव को इन्होने अपना स्थान बनाया था और वहाँ एक बावड़ी का निर्माण कराया था। पूरे देश मे धर्म-प्रचार के लिए इन्होंने 22 केन्द्र खोले थे, जिन्हें 'मजी' (=मंच, पीठ) कहा जाता है। लंगर की प्रथा को पुष्ट किया और भेदभाव को मिटाने के लिए आदेश दिया कि लंगर से भोजन किये बिना कोई गुरु के दर्शन का अधिकारी नही हो सकता।

चौथे गुरु रामदास (1514-81 ई) की रचनाएँ भी आदिग्रन्थ के चौथे महला मे संगृहीत है। इनकी रचनाओ की संख्या 907 है। इनकी रचनाओ मे कुछ कान्ताभाव के भी भजन है, जो समकालीन कृष्णभक्त कवियो की इसी श्रेणी की रचनाओं के साथ तुलनीय हो सकते है। तन्मयता और आत्म-समर्पण के भाव इनकी रचनाओ में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं :

मेरा सुन्दरु कहहु मिलै कितु गली,
हरि के सन्त बतावहु मारगु हम पीछै लागि चली।
प्रिअ के बचन सुखाने हीअरे, इह चाल बनी है भली।
लटुरी मधुरी ठाकुर भाई ओह, सुन्दरि हरि ढुलि मिली।
एको प्रिउ सखीआ सभु प्रिअ की जो भावै पिर सा भली।
नानक गरीबु किआ करै विचारा हरि भावै तिहु राहु चली।।

चौथे गुरु रामदासजी ने वह प्रसिद्ध जलाशय खुदवाया था जो 'अमृतसर' के नाम से प्रसिद्ध है। पहले उन्होंने रामदासपुर नामक एक गाँव बसाया था, पर बाद मे पवित्र जलाशय के नाम पर नगर भी अमृतसर के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ।

पाँचवें गुरु अर्जुनदेव (1563-1606 ई.) की रचनाएँ आदिग्रन्थ के पाँचवें महला में संगृहीत है। लेकिन इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आदिग्रन्थ का सम्पादन और संकलन है। उसमें सगृहीत पदो को एकत्र करने के लिए इन्होने स्वयं घूम-घूमकर पद संग्रह किये और प्रसिद्ध भक्तो को बुलाकर अच्छे सन्तों की वाणियाँ चुनवायी। आदिग्रन्थ को इन्होंने गुरु अंगद द्वारा प्रचारित और प्रतिसंस्कृत गुरु-मुखी में भाई गुरुदास से लिखवाकर संवत् 1661 अर्थात् सन् 1604 ई. में प्रस्तुत कराया। अन्य सभी गुरुओं की अपेक्षा इस ग्रन्थ में गुरु अर्जुनदेव की रचनाएँ अधिक हैं। वक्तव्य-विषय वही परम्परा-प्रचलित और भक्त-जगत् में सम्मानित गुरु महात्म्य, भगवत्भक्ति और सांसारिक सुखों की नश्वरता आदि है। इनकी सम्पादन-दक्षता के बारे मे आगे लिखा जायेगा।

को भी भक्ति-भाव के भजन लिखने की प्रेरणा दी। इन गुरुओं और उनके अनुयायियों की रचनाएँ आत्मबल और चारित्र्य-शुद्धि की प्रेरणा देनेवाले साहित्य में बहुत ही ऊँचा स्थान रखती हैं। इस सम्प्रदाय के अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह थे। उन्होंने गुरुपरम्परा समाप्त करके उनके स्थान पर गुरुग्रन्थ साहिब को प्रतिष्ठित किया। हम आगे देखेंगे कि इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन बड़े परिश्रम के साथ किया गया था। इसमें गुरुओं की वाणियाँ तो संगृहीत हैं ही, गुरु नानक के पूर्ववर्ती अन्य सन्तों की भी वाणियाँ संग्रह की गयी हैं। सैकड़ों वर्ष तक इन वाणियों के शुद्ध पाठ को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया। जब से इनका सम्पादन हुआ, उसके बाद एक अक्षर या मात्रा को भी इधर-उधर नहीं किया गया। इस प्रकार इस महान् ग्रन्थ ने जहाँ एक ओर परम तेजस्वी गुरुओं की प्रेरणाप्रद वाणियाँ हमें दी हैं, वहीं दूसरी ओर समान विचार-वाले पूर्ववर्ती सन्तों की वाणियाँ भी काफी सुरक्षित रूप में हमें प्रदान कीं। साहित्य का विद्यार्थी आज निश्चिन्त होकर कह सकता है कि आज से लगभग चार सौ वर्ष पहले नानक-पूर्व सन्तों की वाणियाँ किस रूप में प्रचलित थीं। गुरुग्रन्थ साहिब केवल धर्म-साधकों के लिए ही परमनिधि नहीं है, वह मध्यकालीन साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी अपूर्व रत्न भण्डार है। आदिग्रन्थ के अन्तर्गत 'महला' नाम के विभागों में गुरुओं की वाणियाँ संगृहीत हैं। प्रथम 'महला' में आदिगुरु की वाणियाँ हैं; जिनमें शब्द, अर्थ और गेय, तथा सलोक (श्लोक) अर्थात् दोहाबद्ध साखियाँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त इसमें गुरु नानकदेव की अन्य रचनाएँ भी संगृहीत हैं।

सिक्ख गुरुओं में गुरु अंगद (जन्म सन् 1504 ई.) अच्छे कवि हुए हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार पहले ये शक्ति के उपासक थे, बाद में किसी से 'आसा दी वार' की कुछ सुन्दर पंक्तियाँ सुनकर गुरु नानक के प्रति अनुरक्त हो गये और फिर बाद में उनके शिष्य बने। इन्होंने ही गुरु नानक की रचनाओं को एकत्र कराया, गुरुमुखी अक्षरों का संस्कार किया और लंगर द्वारा अतिथि-सत्कार की प्रथा चलायी। आदिग्रन्थ में इनके कुछ श्लोक और दोहे संगृहीत हैं। इनकी रचनाओं में भी सदाचार, भगवत्प्रेम और गुरुभक्ति के भाव हैं।

गुरु अंगद को स्वयं गुरु नानक ने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। उनके पुत्र श्रीचन्द्र भी योग्य थे, पर उनमें संसार के प्रति औदासीन्य और उपराम का भाव था। कदाचित् इतना वैराग्य-भाव गुरु के अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल नहीं पड़ता था। उनके मन में कर्मयोग और सेवावृत्ति की प्रवृत्ति होना आवश्यक था। इसलिए उन्होंने अपने प्रिय शिष्य भाई लहिणा को उत्तराधिकारी चुना और उनका नाम अंगद रखा। अनुमान किया जाता है कि उन्होंने यह नाम इसलिए चुना था कि वे बताना चाहते थे कि ये उनके अंग या स्वरूप की ही देन हैं। गुरु अंगद अपने महान् गुरु की आशाओं के अनुरूप ही सिद्ध हुए। इनमें भगवान् के अनुग्रह पर पूर्ण विश्वास था। भगवदनुग्रह से ही सच्चे गुरु की कृपा भी मिलती है। भगवान् स्वयं सत्य-स्वरूप है। यह संसार सत्यात्मा का ही आवास है—'एहु

जग सचे की है कोठड़ी, सचे का विचि वासु।'

तीसरे गुरु अमरदास (1479-1574 ई.) पहले वैष्णव थे और बाद में गुरु अंगद की कन्या से, जो उनके भतीजे से व्याही हुई थी, गुरु नानकदेव का एक पद सुनकर उनकी ओर आकृष्ट हुए और गुरु अगद की सेवा में उपस्थित हो गये। गुरु अंगद के समान ही यह भी अत्यन्त विनीत और मधुर-स्वभाव के भक्त थे। इनकी रचनाएँ भी गुरुग्रन्थ साहिब में संगृहीत है। वे सन् 1552 ई. मे गुरु-गद्दी पर आसीन हुए और 1554 ई. तक विराजमान थे। गोइन्दवारण गाँव को इन्होने अपना स्थान बनाया या और वहाँ एक बावड़ी का निर्माण कराया था। पूरे देश मे धर्म-प्रचार के लिए इन्होंने 22 केन्द्र खोले थे, जिन्हें 'मजी' (=मच, पीठ) कहा जाता है। लंगर की प्रथा को पुष्ट किया और भेदभाव को मिटाने के लिए आदेश दिया कि लंगर से भोजन किये विना कोई गुरु के दर्शन का अधिकारी नहीं हो सकता।

चौथे गुरु रामदास (1514-81 ई) की रचनाएँ भी आदिग्रन्थ के चौथे महला में संगृहीत हैं। इनकी रचनाओ की संख्या 907 है। इनकी रचनाओ मे कुछ कान्ताभाव के भी भजन है, जो समकालीन कृष्णभक्त कवियो की इसी श्रेणी की रचनाओं के साथ तुलनीय हो सकते है। तन्मयता और आत्म-समर्पण के भाव इनकी रचनाओ मे विशेष रूप से प्राप्त होते हैं :

मेरा सुन्दरु कहहु मिलै कितु गली,
हरि के सन्त बतावहु मारगु हम पीछै लागि चली।
प्रिअ के बचन सुखाने हीअरे, इह चाल बनी है भली।
लटुरी मधुरी ठाकुर भाई ओह, सुन्दरि हरि ढुलि मिली।
एको प्रिउ सखीआ सभु प्रिअ की जो भावै पिर सा भली।
नानक गरीबु किआ करै बिचारा हरि भावै तिहु राह चली॥

चौथे गुरु रामदासजी ने वह प्रसिद्ध जलाशय खुदवाया था जो 'अमृतसर' के नाम से प्रसिद्ध है। पहले उन्होंने रामदासपुर नामक एक गाँव बसाया था, पर बाद मे पवित्र जलाशय के नाम पर नगर भी अमृतसर के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ।

पाँचवें गुरु अर्जुनदेव (1563-1606 ई.) की रचनाएँ आदिग्रन्थ के पाँचवें महला मे संगृहीत हैं। लेकिन इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आदिग्रन्थ का सम्पादन और संकलन है। उसमें सगृहीत पदों को एकत्र करने के लिए इन्होने स्वयं घूम-घूमकर पद संग्रह किये और प्रसिद्ध भक्तों को बुलाकर अच्छे सन्तो की वाणियाँ चुनवायीं। आदिग्रन्थ को इन्होंने गुरु अंगद द्वारा प्रचारित और प्रतिसंस्कृत गुरुमुखी मे भाई गुरुदास से लिखवाकर संवत् 1661 अर्थात् सन् 1604 ई. में प्रस्तुत कराया। अन्य सभी गुरुओं की अपेक्षा इस ग्रन्थ मे गुरु अर्जुनदेव की रचनाएँ अधिक हैं। वक्तव्य-विषय वही परम्परा-प्रचलित और भक्त-जगत् मे सम्मानित गुरु महात्म्य, भगवत्‌भक्ति और सांसारिक सुखों की नश्वरता आदि है। इनकी सम्पादन-दक्षता के बारे मे आगे लिखा जायेगा।

परवर्त्ती गुरुओं मे गुरु तेगवहादुर (1622-75 ई.) विशेप रूप से उल्लेखनीय है। ये नौवें गुरु है। विपय तो इनके भी वही है जो अन्य गुरुओं द्वारा नाना भाव से कहे गये है, पर इनकी भाषा मे पंजावी का कम प्रभाव है और वह ब्रजभापा के अधिक निकट है। गुरुमुखी मे लिखे जाने के कारण वे ब्रजभापा से कुछ भिन्न अवश्य है परन्तु वास्तव मे उतने भिन्न है नही।

अन्तिम गुरु सुप्रसिद्ध गुरु गोविन्दसिंह (1666-1718 ई.) थे जो अपनी वीरता, सहृदयता और ईमानदारी के कारण विरोधियो मे भी आदर के पात्र बन गये थे। ये स्वयं सुकवि तो थे ही, अनेक अच्छे कवियों के आश्रयदाता भी थे। इनकी रचनाएँ दशम ग्रन्थ मे सगृहीत है। इस पुस्तक मे हमने अन्यत्र दशम ग्रन्थ पर विस्तार मे विचार किया है। इनकी रचनाओ मे बहुत विकसित काव्य-रूपों के दर्शन नही होते है। इनकी भापा अन्य गुरुओ की अपेक्षा अधिक परिनिष्ठित ब्रजभापा है, जिसमे प्रवाह भी है और कवित्व के अन्यान्य गुण भी विद्यमान है। इनके विपय मे आगे विस्तार से लिखा गया है। भगवत्प्रेम को इन्होने भी श्रेष्ठ बताया था।

गुरु अर्जुनदेव अपने पिता गुरु रामदास के कनिष्ठ पुत्र थे। इनके दो बड़े भाइयों ने ज्येष्ठता के आधार पर गुरु-गद्दी पर अपने हक का दावा किया था, पर गुरु ने अपने छोटे बेटे मे ही गुरुपद सँभालने की योग्यता देखी। ये गद्दी पर बैठे। निस्सन्देह गुरु रामदास ने होनहार बालक को ठीक पहचाना था। गुरु नानकदेव के बाद गुरु-गद्दी पर उनके शिष्य-प्रशिष्य बैठे, पुत्र-पौत्र नही। गुरु रामदास ने यद्यपि अपने पुत्र को गद्दी दी, पर उन्होने भी अपने पुत्र की विवेकपूर्वक जाँच की। पुत्र होने मे ही कोई गद्दी का हकदार हो जायेगा, यह बात स्वीकार नही की। योग्यता और सगठन-शक्ति की उन्हे अधिक चिन्ता थी, पुत्रो को गद्दी देने की नही। यहाँ तक नाद-क्रम (शिप्य-परम्परा) किसी-न-किसी रूप मे चलता रहा, पर बाद मे बिन्दुक्रम (पुत्र-परम्परा) ने उसका स्थान ले लिया। चौथे गुरु तक धर्म-कार्य मे राजशक्ति का हस्तक्षेप नही हुआ था। अकबर का उदार शासन चल रहा था। पर जहाँगीर के शासन-काल मे यह बात नही रही। जहाँगीर को सिक्ख गुरुओ के बढते हुए प्रभाव से चिढ हो गयी। सिक्खो की शक्ति इतनी नही थी कि मुगल शासन से लोहा ले सकें। गुरु अर्जुन ने भावी सघर्ष को भाँप लिया और मुगलो के साथ सघर्ष के लिए प्रस्तुत होने लगे। यहाँ से गुरु-गद्दी मे राजसत्ता का प्रवेश हुआ। गुरु अर्जुन को अन्तिम काल मे मुगल शासन ने बन्दी बनाया और वही उन्हें अत्याचार और असहिष्णुता की बलिवेदी पर अपने-आपकी बलि देनी पड़ी। उनके इस अपूर्व बलिदान ने सिक्खों और बृहत्तर हिन्दू समाज मे संजीवनी-शक्ति भरी। सिक्ख लोग अत्याचार से जूझने के लिए कटिबद्ध हो गये। मुगल शक्ति की एक नयी प्रतिद्वन्द्वी शक्ति का उदय हुआ। गुरु अब संकीर्ण अर्थ मे धार्मिक नेता नहीं रह गये। धर्म की रक्षा के लिए वह प्राण देने का अपार साहस देनेवाले 'बादशाह' भी बने। कदाचित् इन्हीं परिस्थितियों मे गुरु-गद्दी पर गुरु के

पुत्र-पौत्र आदि को बैठाना आवश्यक समझा गया। इससे पन्थ मे स्थिरता और धारावाहिकता के बने रहने की अधिक सम्भावना जान पड़ी। लेकिन गुरु अर्जुन के बाद तीन गुरुओं ने साहित्यिक माध्यम का सहारा शायद नही लिया। उन्होने पन्थ के संघटन और बाहरी शक्तियों द्वारा उत्पन्न की गयी परिस्थितियो से संघर्ष की तैयारी मे पूरी शक्ति लगायी। चौथी पीढ़ी में गुरु तेगबहादुर हुए जो कवि भी थे और आत्मबलिदानी भी। उन पर भी मुगल शासकों ने अत्याचार किये। इस बलिदान ने मुगल शक्ति के पतन का ही मार्ग प्रशस्त किया। उन्ही के पुत्र हुए अप्रतिम वीर, अनुपमेय योद्धा और अत्यन्त सहृदय कवि गुरु गोविन्दसिंह। इनकी सहृदयता, उच्च विचार और अद्‌भुत संगठन-शक्ति ने इतिहास की दिशा बदल दी।

गुरु नानक के बाद साहित्यिक प्रतिभा और संगठनात्मक शक्ति की दृष्टि से और भावी सिक्ख संघटन को दुर्जेय बनाने की दृष्टि से भी सर्वाधिक श्रद्धेय गुरु दो हुए। एक तो पाँचवें गुरु श्री गुरु अर्जुनदेव और दूसरे दसवें गुरु श्री गुरु गोविन्दसिंह। दोनों बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हम इन दोनों महान् गुरुओ का स्मरण कुछ अधिक विस्तार से करने जा रहे हैं।

गुरु अर्जुनदेव द्वारा ग्रन्थ साहिब का सम्पादन

ग्रन्थ-सम्पादन कार्य का अर्थ आधुनिक युग मे वैज्ञानिक अध्ययन का रूप ले चुका है। छापे की मशीन के प्रचार और यातायात की आधुनिक व्यवस्था ने इस कार्य को इस रूप मे सम्पन्न करने मे सहायता दी है। आज के ग्रन्थ-सम्पादक का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि वह अधिक-से-अधिक शुद्ध रूप में मूल लेखक के पाठ को उपस्थित कर सके। इसके लिए वह यथासाध्य सारी उपलब्ध हस्तलिखित सामग्री का संकलन करता है। उनको काल-क्रम से सजाता है, उनकी वंश-परम्परा निश्चित करता है अर्थात् यह जानने की कोशिश करता है कि कौन-सी प्रति किस प्रति से नकल की गयी है और वह आदर्श प्रति किस प्रति से नकल की गयी होगी। वह ऐतिहासिक तथ्यों पर ध्यान रखता है। प्रतियो मे पायी जानेवाली गलतियाँ भी उसे कुछ-न-कुछ सहायता पहुँचाती हैं, छूटे हुए अंश भी उसे कुछ इशारा करते है, हाशिये पर लिखी बातें भी उसके काम की सिद्ध होती है। पूरी सावधानी और विवेक के साथ वह मूल पाठ के उद्धार की बात सोचता है और फिर पाठक को

बताना चलता है कि अन्य उपलब्ध प्रतियों में क्या पाठ मिलता है। आधुनिक युग के पूर्व आज के साधन मौजूद नहीं थे। फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि विद्वानों ने मूल पाठ को सुरक्षित रखने और शुद्ध पाठ के प्राप्त करने का कोई यत्न ही नहीं किया। हमारा देश तो इस विषय में बहुत सावधान रहा है। आज से कई हजार वर्ष पहले वेदों में केवल शुद्ध पाठों को सुरक्षित रखने का ही प्रयास नहीं किया गया, उसके एक-एक अक्षर को शुद्ध रूप में कैसे उच्चरित किया जाय इसकी भी व्यवस्था की गयी। महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के एक-एक अक्षर गिन-गिन लिखे गये थे। यदि किसी वर्ग-विशेष में किसी अक्षर के उच्चारण का ढंग भिन्न प्रकार का था तो उसे भी सावधानी से याद रखा गया था। बौद्ध-साहित्य के संकलन के लिए कई-कई बार विद्वान् और प्रबुद्ध भिक्षुओं की संगीतियाँ बुलायी गयी थीं और बुद्ध वचन का यथासाध्य शुद्ध रूप में संग्रह करने का प्रयास किया गया था। कुछ बाद में जैन वाङ्मय के संकलन और संरक्षण के लिए भी इस प्रकार के प्रयत्न हुए थे। और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि शुद्ध और अवितथ पाठ प्राप्त करने की चेष्टा इस देश में दीर्घ काल से होती आयी है।

कठिनाई लोकप्रिय भजनों, गानों, कविताओं आदि के संग्रह में होती है। जो बात विद्वानों तक ही सीमित रहती है उसकी देखभाल भी ठीक से हो सकती है, परन्तु जो बात हर आदमी की जबान पर घूमने लगती है उसके मूल रूप को सुरक्षित रखना कठिन हो जाता है। साधारण जनता को काम से काम होता है। कोई पंक्ति छूट भी गयी, बढ़ भी गयी, बदल भी गयी तो उससे विशेष कठिनाई का आभास नहीं होता। मध्ययुग के महान् सन्तों की वाणी जनता के लिए ही कही गयी थी और जनता ने उसे पूर्ण रूप से स्वीकार भी किया। उसने बिल्कुल परवा नहीं की कि मूल पाठ हू-ब-हू कैसा था। आजकल जो लोग सन्तों की वाणी के सही पाठ जानने का प्रयत्न करते हैं वे जानते हैं कि यह कितना कठिन काम है। इस पृष्ठभूमि में यदि गुरु अर्जुनदेव के प्रयत्नों को रखकर देखें तो आश्चर्य होगा कि किस प्रकार उन्होंने आज से कोई पौने चार सौ वर्ष पूर्व एक महान् और सफल ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य किया था। संस्कृत, पालि और प्राकृत में किये गये प्रयत्नों के बाद देशभाषा में किया गया यह प्रयत्न केवल प्रमुख ही नहीं, बल्कि अपूर्व भी है। इसके लिए न तो पूर्ववर्ती आचार्यों की कोई परम्परा थी और न किसी विशाल संगीति का ही आयोजन किया गया था। डॉक्टर जयराम मिश्र ने हिन्दी में नानक-वाणी का सम्पादन और अनुवाद किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा है :

"श्री गुरुग्रन्थ साहिब 1430 पृष्ठों का बृहत्काय ग्रन्थ है। इसका संकलन सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन् 1604 ईस्वी में किया था। गुरु अर्जुनदेव ने प्रथम पाँच गुरुओं की वाणी के अतिरिक्त बहुत-से प्रभावशाली भक्तों की वाणियाँ भी संगृहीत की हैं। हाँ, उनके संग्रह में एक बात अवश्य है कि ये वाणियाँ सिक्ख गुरुओं की विचारधारा के अनुरूप हैं। जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, परमानन्द,

सदना, वेनी रामानन्द, धन्ना, पीपी, सेन, कबीर, रवदास (रविदास या रैदास), मीराबाई, फरीद, भीखन, सूरदास (मदनमोहन) की भी वाणियाँ है। भक्तों के अतिरिक्त कुछ भट्टो की भी रचनाएँ है। भट्टो के नामो की संख्या मे विद्वानो मे मतभेद है। ट्रम्प ने 15 भट्टों के नाम की सूची दी है। गोकुलचन्द नारंग ने ट्रम्प के नामों की पुनरावृत्ति की है। मोहनसिंह ने केवल बारह नाम गिनाये है। साहबसिंह के मत से इनकी संख्या 11 है और शेरसिंह ने 17 नाम गिनाये है। इनके अतिरिक्त सुन्दर का 'रामकली सद', मरदाना की वाणी और सत्ताबलवण्ड की वाणी श्री गुरुग्रन्थ साहिब में संगृहीत हैं। गुरु तेगबहादुर महला 9 (नवें गुरु के पद) बाद में पाँच गुरुओं के बाद रखे गये है। इस विवरण से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि गुरु अर्जुनदेव ने कितना बड़ा कार्य हाथ मे लिया था। इसके सम्पादन मे बड़ी सावधानी बरती गयी है। इस विशाल ग्रन्थ के सम्पादन मे कितने धैर्य, *अध्यवसाय और सूझबूझ की आवश्यकता हुई होगी, यह आसानी से समझा जा* सकता है। पिनकाट के अनुसार इस महान् ग्रन्थ मे 3384 शब्द और 15575 वन्द है। इनमें 6204 वन्द स्वयं पाँचवें गुरु श्री अर्जुनदेवजी के है। सारे ग्रन्थ मे कुल 31 रागो के पद है जिनमे आदिगुरु ने 19 रागो का प्रयोग किया है।"[1]

1. विद्वान् डॉ तारनसिंहजी ने गुरुग्रन्थ रत्नावली में बताया है कि "श्री गुरुग्रन्थ साहिब का प्रथम सकलन, श्री अमृतसर मे रामसर के रमणीय तट पर श्री गुरु अर्जुनदेवजी द्वारा, सन् 1601 मे प्रारम्भ करके 1604 में, निरन्तर तीन वर्ष के परिश्रम से पूर्ण किया गया। इस पुण्य संकलन-कार्य मे पुस्तक-लेखन का भार भाई गुरुदासजी ने वहन किया।

"श्री गुरु अर्जुनदेव सिक्ख सम्प्रदाय के पचम गुरु थे। उनकी अपनी रचनाओं के *आन्तरिक साक्ष्य तथा अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य के बल से यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता* है कि गुरु अर्जुनदेव को अपने पूर्वगामी चार गुरुओ की वाणी पूर्ण शुद्ध, निर्दोष रूप मे प्राप्त थी। उनकी अपनी कृति भी, जो समस्त ग्रन्थ साहिब के अर्ध भाग से कुछ अधिक है, शुद्ध रूप में उनके समीप विद्यमान थी। उनसे पूर्व सहसररामजी ने श्री गुरु अमरदासजी की देख-रेख मे प्रथम तीन गुरु महाराजो की वाणियो को दो खण्डो मे संचित किया था। वे खण्ड बाबा मोहनजी की पोथियों के नाम से प्रसिद्ध थे। श्री गुरु अर्जुनदेवजी ने उन दोनो पोथियो का अवलोकन किया। यह सूचना मिलने पर कि सिंहलद्वीप मे 'प्राण संगली' नामक एक पुस्तक विद्यमान है, उन्होंने उसको भी देखा। इसके अतिरिक्त उस काल तक गुरु-वाणी के सकलन की दिशा मे जो अन्य प्रयत्न हो चुके थे, उन्होने उन सबके फलों का लाभ प्राप्त किया। इस प्रकार गुरु-वाणी के सम्पादन के लिए अपेक्षित सामग्री के सम्बन्ध मे पूर्णतया निश्चिन्त एवं निस्सन्देह होकर उन्होने अपने पूर्ववर्त्ती गुरुओं तथा अपनी वाणी का सकलन किया।

'श्री गुरुग्रन्थ साहिब मे संकलित भारतीय पन्द्रह महान् सन्तो की वाणी का संग्रह भी अन्य पुरुषो के प्रयासो से सम्पन्न हुआ था। सन्त-वाणी के इस सग्रह का प्रारम्भ श्री गुरु नानकदेवजी से ही हुआ। वे अपने यात्रा-प्रसग में इस कार्य को भी करते रहते थे। श्री गुरुग्रन्थ साहिब के सम्पादन मे सलग्न श्री गुरु अर्जुनदेवजी ने भी सन्त-वाणी का कुछ भाग संचित किया। एक अनुश्रुति के अनुसार श्री गुरु अर्जुनदेवजी ने सन्देश भेजकर अपने काल के महापुरुषो को अपनी रचनाएँ उनके पास भेजने या भिजवाने की प्रेरणा दी थी।→

कितने दिनों मे यह कार्य सम्पन्न हुआ होगा ? डॉ. वर्णपाल मैनी ने 'श्री गुरु-ग्रन्थ साहिब : एक परिचय' नामक पुस्तक में एक कहानी दी है जो इस सम्बन्ध मे कुछ जानकारी देती है। वे लिखते हैं कि दशम गुरु के दिवानभाई गुरुबख्शसिंह छिब्बर की वंश-परम्परा में भाई केशरसिंह छिब्बर ने सं. 1826 में वंशावली नामा (दसाँ पादशाहियाँ दा) लिखा जो अब तक खालसा कालेज, अमृतसर के शोध-विभाग मे अप्रकाशित रूप मे उपलब्ध है। उससे ये तथ्य ज्ञात होते हैं :

सं. 1646 के आषाढ़ से लेकर सं. 1658 तक ग्यारह वर्ष तक गुरु अर्जुनदेव ने (भाई गुरुदास की निगरानी में) भाई सत्तदास, हरिया, सुक्खा और मनसाराम की वाणी लिखवायी और उसे क्रमबद्ध किया, यह सारा कार्य भाई गुरुदास की निगरानी में हुआ, क्योंकि गुरु अर्जुनदेव इन ग्यारह वर्षों में कार्यवश बाहर भी जाते रहे थे। इसके बाद सारी वाणी को गुरु ने स्वतः भाई गुरुदास से लिखवाया। इसमे तीन वर्ष लग गये। इस प्रकार ग्रन्थ के निर्माण मे 14 वर्षों का समय लगा। यह बात विश्वसनीय लगती है।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. तारनसिंहजी ने गुरुग्रन्थ रत्नावली में बताया है कि "सम्पादित रूप मे श्री गुरुग्रन्थ साहिब की वाणी तेंतीस खण्डों मे विभक्त हैं। प्रथम खण्ड में आदिगुरु श्री नानकदेवजी की वाणी संकलित है। प्रथम खण्ड भी पुनः दो भागों में विभक्त है। एक भाग में आदिगुरु की प्रसिद्ध कृति 'जपु' है तथा अन्य भाग में समस्त श्री गुरु ग्रन्थसाहिब मे विकीर्ण उनकी रचनाओं को पुनः उद्धृत करने से निष्पन्न हुआ संग्रह है। अन्तिम खण्ड अर्थात् तेंतीसवाँ खण्ड प्रकीर्णक है। इसमे 'श्लोक' तथा भाटों के सवैये इत्यादि संगृहीत है। अवशिष्ट इकतीस खण्डों का नाम-करण रागो के नामो के अनुसार किया गया है। वे ये है—सिरी, राग माझ, गउड़ी, आसा, गूजरी, देव गन्धारी, बिहागड़ा, वडहंसु, सोरठि, धनासरी, जैतसिरी, टोडी बैराडी, तिलंग, सूही, बिलावलु, गौड, रामकली, नठ-नराइन, भाली गउड़ा, मारू, तुखारी, केदारा, भैरव, बसन्त, सारंग, मलार, कानड़ा, कलिआन, प्रभाती और जैजावन्ती। इनमें से अधिकांश राग शास्त्रीय है और कतिपय देशीय।" (पृ. 21)

वर्षों के अथक परिश्रम और विवेकपूर्ण अध्यवसाय से यह महान् ग्रन्थ इस रूप में आया। गुरु अर्जुनदेव स्वयं बहुत उत्तम कोटि के कवि थे, उनकी दृष्टि उदार और सारग्राही थी। उन्होंने केवल गुरुओं की वाणी का ही संकलन-सम्पादन नहीं किया, अन्य सन्तों और भक्तों की वाणियो को भी स्थान दिया। उनके इस उदार और विवेकयुक्त कार्य का परिणाम यह हुआ कि हमें आज अनेक भक्तजनो की वाणी उपलब्ध है। पाठ के प्रति ऐसी सावधानी बरती गयी है कि विश्वास के साथ

→ "गुरु-गृह के निकटवर्ती व्यक्तियों तथा श्रद्धालु भक्तों की कृतियाँ अपने मूल एवं शुद्ध रूप में श्री अर्जुनदेवजी के पास विद्यमान थीं हों। इस प्रकार श्री गुरुग्रन्थ साहिब की यह विशिष्टता है कि इसमे जो रचना संगृहीत है वह उसके स्रष्टा के मुख से उच्चरित मूल, अतः शुद्ध रूप में सुरक्षित है।"

कहा जा सकता है कि मध्ययुग का कम-से-कम एक ग्रन्थ ऐसा है जिसके पाठ में सन् 1604 ई. के बाद कोई रत्ती-भर भी इधर-उधर नहीं हुआ। हम विश्वास के साथ अनेक महान् भक्तों की वाणी का वह रूप ज्यों-का-त्यों पाते हैं जो कम-से-कम पौने चार सौ वर्ष पहले ठीक वैसा ही उपलब्ध था। दसवें गुरु के समय में इसमें कुछ और भी जोड़ा गया। उस समय तक श्री गुरुग्रन्थ साहिब की अनेक प्रतिलिपियाँ हो चुकी थीं। गुरु गोविन्दसिंहजी ने अपने पिता श्री गुरु तेगबहादुरजी की रचनाएँ, ईस्वी सन् 1705 में, श्री दमदमा साहिब में रहकर स्वयं श्री गुरुग्रन्थ साहिब में सम्मिलित कीं और ग्रन्थ का पूर्ण संकलन प्रस्तुत किया। श्री गुरुग्रन्थ साहिब का यह संकलन अन्तिम एवं परिपूर्ण संकलन था। अनुश्रुति है कि बाबा दीपसिंहजी ने इस परिपूर्ण संकलन की प्रतिलिपियाँ की तथा करवायीं और उनको सिक्ख सम्प्रदाय के विभिन्न पीठों में भेजा। इस प्रकार गुरु अर्जुनदेव के सम्पादन को गुरु गोविन्दसिंह ने अन्तिम रूप दिया। अपने तिरोधान के समय श्री गुरु गोविन्दसिंह ने श्री गुरुग्रन्थ साहिब के इस सम्पूर्ण रूप को ही गुरु-गद्दी पर प्रतिष्ठित किया और वैयक्तिक गुरुता के क्रम को समाप्त कर दिया। ('गुरुग्रन्थ रत्नावली', पृ 217)

आज का ग्रन्थ-सम्पादन औत्सुक्य और सम्पादन पर आधारित है। आज के विद्वान् का प्रधान लक्ष्य यह है कि ग्रन्थ का मूल रूप, अनुस्वार-विसर्ग समेत, कैसा था वह ढूँढ़ निकाले; गुरु अर्जुनदेव का उद्देश्य इससे बड़ा था। वह आध्यात्मिक था। गुरु की वाणी ही उनका चिन्मय रूप है। वह मृण्मय रूप से अधिक यथार्थ, अधिक श्रद्धेय है। मृण्मय रूप मिट्टी के बने नश्वर शरीर को कहते हैं, जबकि चिन्मय रूप उनके ज्ञानमय चैतन्य को कहते हैं जो कभी नष्ट नहीं होता। इस वाणी को यथायथ रूप में सुरक्षित रखने का अर्थ है गुरु के ज्ञानमय रूप को अविनश्वर भाव से सुरक्षित रखना। गुरु महान् द्रष्टा होता है। उसकी वाणी के अर्थ देश-काल की सीमा में बँधे नहीं रहते। वे योग-शुद्ध चित्त द्वारा दृष्ट और अनुभूत वाणियाँ अवस्था-विशेष में नया आलोक देती हैं, नया अर्थ देती हैं; उसका जो अंश हमारी समझ में नहीं आ रहा है उसे निरर्थक कहकर टाल देना अहंकारी चित्त का वहम-मात्र है। उसे सावधानी से बचा रखने से भावी पीढ़ियों को नये सन्दर्भ में नया अर्थ मिल सकता है। आजकल का ग्रन्थ-सम्पादक अपनी बुद्धि पर अधिक भरोसा रखता है। वह अनायास व्याकरण-दोष, सम-सामयिक परिस्थिति-विशेष की देन आदि कहकर मूल वाणी की आलोचना कर सकता है। पर जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक है, जिसकी दृष्टि भक्ति-परिप्लुत है, वह ऐसा नहीं करता, वह प्राप्त वाणी को प्राप्त रूप में सुरक्षित रखता है और भावी पीढ़ियों के लिए जीवन्त वाणी की ज्योति छोड़ जाता है।

गुरु अर्जुनदेव के साधु प्रयत्न ने ऐसी ही जीवन्त वाणी का भण्डार सुलभ बनाया है।

गुरुवाणी का यह रूप चिरस्मरणीय है। हर मनुष्य इसके अध्ययन का सुख प्राप्त कर सकता है। गुरु अर्जुनदेव की अगाध निष्ठा, अथक परिश्रम और अद्भुत

विवेकबुद्धि का परिचायक यह महान् ग्रन्थ परवर्ती भक्तों की सावधानी के कारण आज हमें ज्यो-का-त्यों उपलब्ध हुआ है। उनके इस प्रयत्न ने जहाँ भारतवर्ष की महान् साधना का निदर्शन हमारे सामने रखा है वहाँ भक्तों के लिए उज्ज्वल ज्ञान-दीप भी सुलभ कर दिया है, जिसके आलोक मे हम भगवत्साक्षात्कार कर सकते है।

डा तारनसिंह ने बताया है कि 'श्री गुरुग्रन्थ साहिब' की परिसमाप्ति पर मुन्दावणी शीर्षक के नीचे श्री गुरु अर्जुनदेवजी का एक छन्द अथवा सम्पादकीय वचन है :

थालु विचि तिनि वसतु पइओ सतु सन्तोखु वीचारो।
अम्रित नामु ठाकुर का पइओ जिसका सभसु अधारो।
जे को खावै जे को भुचै तिस का होइ उधारो।
एहु वसतु तजी नही जाई नित नित रखु उरि धारो।
तम ससारु चरन लगि तरीऐ सभु नानक ब्रहम पसारो ॥ 1 ॥

सलोक महला 5

तेरा कीता जातो नाही मैनो जोगु कीतोई।
मैं निरगुणिआरे को गुणु नाही आपे तरस पइओई।
तरसु पइआ मिहरामति होई सतगुरु सजणु मिलिआ।
नानक नामु मिलै ता जीवां तनु मनु थीवै हरिआ ॥ 1 ॥

इस सम्पादकीय वचन मे 'थालु' शब्द श्री गुरुग्रन्थ साहिब का व्यंजक है, जो मानवता के लिए आत्मिक, मानसिक, धार्मिक एवं सदाचारिक भोजन से परिपूर्ण है। श्री गुरु अर्जुनदेवजी के विचार के अनुसार इस थाल मे चार पदार्थ हैं : 1. सत्य, 2. सन्तोष, 3 विचार, और 4 नाम। श्री गुरु अर्जुनदेवजी का विश्वास है कि यह ग्रन्थ किसी एक देश, एक जाति अथवा एक सम्प्रदाय के लिए नही, प्रत्युत समस्त मानवता के लिए एक दिव्य सन्देश है। निस्सन्देह यह विश्वास सही है। श्री गुरुग्रन्थ साहिब मानवता के उच्चतम आदर्शों का प्रतिष्ठापक महान् ग्रन्थ है।

गुरु गोविन्दसिंह (भक्तवीर)

गुरु गोविन्दसिंह का नाम लेते ही, आज का भारतीय एक अपूर्व गौरव और उल्लास का अनुभव करने लगता है। 'वीर' शब्द के अन्दर जितनी भी गरिमा, परम्परा-क्रम से, हमारे चित्त में संचित है वह सब साकार हो उठती है। पवित्र चरित्र,

अडिग उत्साह, अकुण्ठ साहस, अकृत्रिम औदार्य, अकुतोभय मनोबल, दीन-दुखियों का निश्चित सहाय, अत्याचार का असन्दिग्ध प्रतिरोध, विद्या और तपस्या का नियत संरक्षण और मनोबल का अक्षय भण्डार ही 'वीर' है। गुरु गोविन्दसिंह इन सब गुणों के मूर्तिमान रूप थे। कोई आश्चर्य नही कि उनके स्मरण-मात्र से आज हम अपने को कृतार्थ मानते है। अपने युग के सर्वाधिक शक्तिशाली शासन के अनाचारो के विरुद्ध उन्होंने लोहा लिया था। किस बात पर ? उनके पास कोई संघटित सैन्यशक्ति नही थी, शिक्षित सेनानायक नही थे। युद्ध करना उनके जीवन का लक्ष्य भी नही था। परन्तु एक ऐसी अद्‌भुत सम्पत्ति उनके पास थी, जो किसी शक्तिशाली सम्राट् के पास नही होती। परमात्मा पर अखण्ड विश्वास, पूर्ण रूप से भगवदर्पित जीवन। यह शरीर अनित्य है। इसके लिए चिन्ता करते रहना मूर्खता है। जिसे ज्ञान का दीपक मिल गया है वह, हाथ पर रखे आँवले के फल के समान, इसकी निस्सारता को समझ जाता है। और वह डरता रहता है जो असार को सार समझता है। गुरु गोविन्दसिंह उस ज्ञानी को ही वीर मानते है जो परमात्मा पर अखण्ड विश्वास रखता है, जो नित्य-तत्त्व को अनित्य-तत्त्व से पृथक् करने का विवेक रखता है। ऐसा ही वीर कभी धीरज नही खोता, भय का शिकार नही बनता, और सभी प्रकार की कातरता को इस प्रकार झाडकर फेंक देता है, जैसे झाड़ू से कूड़ा-कतवार बुहारकर फेंक दिया जाता है :

धन्य जीउ तेहि को जग में मुख तैं हरि चित्त मे जुद्ध विचारैं।
देह अनित्त न नित्त रहै, जस नाव चढै भवसागर तारैं।
धीरज धाम बनाए इहै तन बुद्धि सूँ दीपक ज्यूँ उजियारैं।
ज्ञानहि की बढ़नी मनहु हाथ लै कातरता कुतवार बुहारैं।

गुरु गोविन्दसिंह आध्यात्मिक जगत् के सन्त थे। बहुत लोगों के गले के नीचे आध्यात्मिकता और वीरता का सम्बन्ध नही उतर पाता। वे समझते हैं कि वीरता तो मार-काट और लड़ाई-झगड़े मे प्रकट होती है। जो अध्यात्म-तत्त्व का अन्वेषी है, उससे इसका क्या सम्बन्ध है ? अपने देश की उज्ज्वल परम्परा से अपरिचित होने के कारण ही ऐसा प्रश्न मन मे उठता है। भारतीय परम्परा मे आध्यात्मिक नेता ही सच्चा वीर होता है। हर सन्त ने साधना में वीरभाव की आवश्यकता अनुभव की है। हम जिन्हें अवतार मानकर पूजते है, वे वीर साधक थे। श्री रामचन्द्र ने युद्ध करके अत्याचारी असुर का विध्वंस किया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए उत्साहित किया था, और सही अर्थों में महाभारत-युद्ध के वे ही नेता थे। जैन तीर्थंकर को 'महावीर' कहा गया है। 'जिन' शब्द का अर्थ ही है जीतनेवाला। बौद्ध लोग भी भगवान् बुद्ध को 'जिन' (विजेता) कहते थे। वस्तुतः वीरता लड़ाई-झगड़े मे नही, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अविचल उत्साह से जूझने के प्रयत्न में प्रकट होती है। तन्त्र-साधना के उत्तम साधक को वीर कहा जाता है। हर मार-काट करनेवाला वीर नही होता। लड़ाई-झगड़ा तो अत्याचारी भी करता ही है, गुण्डे और शोहदे भी लाठी भाँजते ही हैं, पर वे वीर नही होते।

सच्चा वीर सदा आध्यात्मिक तेज से दीप्त होता है। वह शस्त्र चलाने के लिए शस्त्र नहीं चलाता। उसका प्रधान लक्ष्य दीन-दुखियों की रक्षा, अन्याय का प्रतिरोध और अनीति का दमन होता है। शस्त्र उसका साधन-मात्र होता है। गुरु गोविन्दसिंह ऐसे ही महान् वीर साधक थे। वे उस तलवार की जय-जयकार करते हैं जो दुष्ट का दमन करे, अन्याय का उच्छेद करे और सृष्टि की रक्षा करे :

खग खण्ड विहण्डं खल दल खण्डं
अति रण मण्डं बरबण्डं
भुज दण्ड अखण्डं तेज प्रचण्डं
ज्योति अमण्डं भान प्रभं
सुख संता करणं दुरमति दरणं
किलविख हरणं असि सरणं
जय जय जग कारण, सृष्टि उबारण
मम प्रति पारण जय तेगं ॥

सो, जो शस्त्र सन्त को सुख देनेवाला, दुर्मति का दलन करनेवाला, किल्विष या असत् आचरण का नाश करनेवाला, जगत् की स्थिति का रक्षक और संसार का उद्धार करनेवाला है, वही शस्त्र वाछनीय है।

गुरुजी सच्चे कर्मयोगी थे। महान् गुरु वह होता है, जिसके सम्पर्क में आनेवाला महान् बनता है। उसके भीतर का सुप्त देवता जागता है। गुरु गोविन्दसिंह के सम्पर्क में आनेवाले साधारण अशिक्षित मनुष्यों में अद्भुत शक्ति आ गयी। किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि इन दीन-हीन लोगों में ऐसा अतुल पराक्रम आ जायेगा। यह कहना आंशिक रूप से ही सत्य है कि उनके शिष्य शत्रु-संहारक योद्धा बन गये। वस्तुतः उनका कायाकल्प हुआ। उनमें अपार आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत हुई। उन्होंने भयंकर मृत्यु-यातना को भी तुच्छ समझा। अन्याय के घिनौने और विकराल रूप देखकर वे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। गरीबों और बेबसों पर उन्होंने भूलकर भी हाथ नहीं उठाया। अत्याचारी की विकट भृकुटि से वे ज़रा भी नहीं डरे। कहाँ से आयी यह अपार शक्ति? निस्सन्देह यह महान् गुरु के आध्यात्मिक स्पर्श का परिणाम था; महान् गुरु, जो पारस के समान होता है, जिसका स्पर्श पाते ही हर लोहा सोना हो जाता है। गुरुजी ने पतितों और दलितों को ऊपर उठाया, अनाथों को सहारा दिया और उनमें प्राण-शक्ति संचारित की। यह इतिहास एक जादू के करिश्मे-जैसा लगता है। जिस महान् गुरु ने अपमानित, दलित और अत्याचारितों को भी धूल से उठाकर देवता बना दिया, उसके नाम से यह देश उल्लास और कृतज्ञता के साथ झूम उठता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है!

उनके व्यक्तिगत जीवन की ओर देखकर चकित होना पड़ता है। अपने अत्यन्त निकट प्रियजनों को बलिवेदी पर चढ़ते देख किस मनुष्य की छाती नहीं फट जायेगी! परन्तु गुरु गोविन्दसिंह थे कि वे वज्र से भी कठोर सिद्ध हुए। जो मनुष्य किसी के रंचमात्र दुःख को देखकर भी पिघल जाता था, उसी ने ऐसी निदारुण

वेदना को अम्लान भाव से कैसे सह लिया ? कितना विशाल हृदय वह रहा होगा, कितना शक्तिशाली ! भवभूति ने रामचन्द्र जी के बारे में जो कहा था, वह गुरुजी के बारे में सोलह आने सही उतरता है—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।' तुलसीदासजी ने इसी बात को इस प्रकार कहा था :

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि ।
चित खगेस सुन राम कर, बरनि सकै को ताहि ॥

गुरु गोविन्दसिंहजी के पावन वीरत्वमय जीवन को देखकर यही बात कहनी पड़ती है । निस्सन्देह वे अवतारी पुरुष थे ।

धन्य है वह देश, जहाँ गुरु गोविन्दसिंहजी उत्पन्न हुए थे । वे महान् सन्त और महान् वीर थे । उन्होंने इस देश की जनता की अपार शक्ति का उद्‌घाटन किया था । उनका स्मरण करके हम आज भी नयी प्रेरणा और शक्ति पा सकते है, पा रहे है ।

गुरुजी महान् सन्त थे । परिस्थितियो ने उन्हे शस्त्र ग्रहण करने की चुनौती दी । उन्होंने उसे स्वीकार किया । इतिहास के पण्डितो ने आश्चर्य के साथ देखा है कि गुरु गोविन्दसिंह ने अद्‌भुत चमत्कार कर दिखाया । जनता निराश थी, उसमे किसी प्रकार का आत्मसम्मान नही रह गया था । अत्याचार और अनाचार को उसने भाग्य का दोष कहकर स्वीकार कर लिया था । ऐसे ही लोगो मे उन्होंने महान् शूरवीर पैदा कर दिये । मृत्यु के भय को मानो मन्त्र के बल से उड़ा दिया । सिर हथेली पर रखकर इन वीरो ने अन्याय को ललकारा, और देखते-देखते इतिहास पलट दिया । इतिहास में ऐसी अघटित घटना कम ही देखी गयी है । काल के रथ-चक्र को इस प्रकार मोड़ देना, गुरुजी की ही करामात थी । इतिहास का पण्डित इसका कारण नहीं खोज पाता । वह अनुमान और अटकल का सहारा लेता है । परन्तु कारण स्पष्ट है । वे कालातीत अर्थात् अकाल-तत्त्व के संस्थापक थे । वे उस दुनिया मे विचरते थे, जहाँ काल स्तब्ध है । वह अकाल-पुरुष का लोक है । उसके इंगित से ही सीमाबद्ध काल रूप ग्रहण करता है । इसी निराकार, रूपहीन नित्य-शक्ति की महिमा में उनका विश्वास था । ऐसे महापुरुष ही काल की गति को अपने इशारे से मोड़ दिया करते है । गुरुजी ने काल को खड्गपाणि के रूप मे स्मरण किया और वह खड्गपाणि बन गया । उन्होंने इतिहास को अपने इंगित पर मोड़ दिया । यह उनकी विराट आध्यात्मिक शक्ति का ही निदर्शक है । गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी बात की ओर यह कहकर इशारा किया था :

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः ।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्हम् ॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृतां ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भावमि युगे-युगे ॥

'हे अर्जुन ! जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म सिर उठाता है, तब-तब साधुओं की रक्षा और दुष्टों का दमन और धर्म की स्थापना के लिए मैं अपने-

सच्चा वीर सदा आध्यात्मिक तेज से दीप्त होता है। वह शस्त्र चलाने के लिए शस्त्र नहीं चलाता। उसका प्रधान लक्ष्य दीन-दुखियों की रक्षा, अन्याय का प्रतिरोध और अनीति का दमन होता है। शस्त्र उसका साधन-मात्र होता है। गुरु गोविन्दसिंहजी ऐसे ही महान् वीर साधक थे। वे उस तलवार की जय-जयकार करते हैं जो दुष्टों का दमन करे, अन्याय का उच्छेद करे और सृष्टि की रक्षा करे :

खग खण्ड विहण्डं खल दल खण्डं
अति रण मण्डं बरवण्डं
भुज दण्ड अखण्डं तेज प्रचण्डं
ज्योति अमण्डं भान प्रभं
सुख संता करणं दुरमति दरणं
किलविख हरणं असि सरणं
जय जय जग कारण, सृष्टि उबारण
मम प्रति पारण जय तेगं ॥

सो, जो शस्त्र सन्त को सुख देनेवाला, दुर्मति का दलन करनेवाला, किल्विष या असत् आचरण का नाश करनेवाला, जगत् की स्थिति का रक्षक और संसार का उद्धार करनेवाला है, वही शस्त्र वांछनीय है।

गुरुजी सच्चे कर्मयोगी थे। महान् गुरु वह होता है, जिसके सम्पर्क में आनेवाला महान् बनता है। उसके भीतर का सुप्त देवता जागता है। गुरु गोविन्दसिंह के सम्पर्क में आनेवाले साधारण अशिक्षित मनुष्यों में अद्भुत शक्ति आ गयी। किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि इन दीन-हीन लोगों में ऐसा अतुल पराक्रम आ जायेगा। यह कहना आंशिक रूप से ही सत्य है कि उनके शिष्य शत्रु-संहारक योद्धा बन गये। वस्तुतः उनका कायाकल्प हुआ। उनमें अपार आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत हुई। उन्होंने भयंकर मृत्यु-यातना को भी तुच्छ समझा। अन्याय के घिनौने और विकराल रूप देखकर वे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। गरीबों और बेबसों पर उन्होंने भूलकर भी हाथ नहीं उठाया। अत्याचारी की विकट भृकुटि से वे ज़रा भी नहीं डरे। कहाँ से आयी यह अपार शक्ति? निस्सन्देह यह महान् गुरु के आध्यात्मिक स्पर्श का परिणाम था; महान् गुरु, जो पारस के समान होता है, जिसका स्पर्श पाते ही हर लोहा सोना हो जाता है। गुरुजी ने पतितों और दलितों को ऊपर उठाया, अनाथों को सहारा दिया और उनमें प्राण-शक्ति संचारित की। यह इतिहास एक जादू के करिश्मे-जैसा लगता है। जिस महान् गुरु ने अपमानित, दलित और अत्याचारितों को भी धूल से उठाकर देवता बना दिया, उसके नाम से यह देश उल्लास और कृतज्ञता के साथ झूम उठता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है!

उनके व्यक्तिगत जीवन की ओर देखकर चकित होना पड़ता है। अपने अत्यन्त निकट प्रियजनों को बलिवेदी पर चढ़ते देख किस मनुष्य की छाती नहीं फट जायेगी! परन्तु गुरु गोविन्दसिंह ये कि वे वज्र से भी कठोर सिद्ध हुए। जो मनुष्य किसी के रंचमात्र दुःख को देखकर भी पिघल जाता था, उसी ने ऐसी निदारुण

वेदना को अम्लान भाव से कैसे सह लिया ? कितना विशाल हृदय वह रहा होगा, कितना शक्तिशाली ! भवभूति ने रामचन्द्र जी के बारे मे जो कहा था, वह गुरुजी के बारे में सोलह आने सही उतरता है—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।' तुलसीदासजी ने इसी बात को इस प्रकार कहा था :

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित खगेस सुन राम कर, वरनि सकै को ताहि॥

गुरु गोविन्दसिहजी के पावन वीरत्वमय जीवन को देखकर यही बात कहनी पड़ती है। निस्सन्देह वे अवतारी पुरुष थे।

धन्य है वह देश, जहाँ गुरु गोविन्दसिहजी उत्पन्न हुए थे। वे महान् सन्त और महान् वीर थे। उन्होंने इस देश की जनता की अपार शक्ति का उद्घाटन किया था। उनका स्मरण करके हम आज भी नयी प्रेरणा और शक्ति पा सकते है, पा रहे है।

गुरुजी महान् सन्त थे। परिस्थितियों ने उन्हे शस्त्र ग्रहण करने की चुनौती दी। उन्होने उसे स्वीकार किया। इतिहास के पण्डितों ने आश्चर्य के साथ देखा है कि गुरु गोविन्दसिह ने अद्भुत चमत्कार कर दिखाया। जनता निराश थी, उसमें किसी प्रकार का आत्मसम्मान नही रह गया था। अत्याचार और अनाचार को उसने भाग्य का दोष कहकर स्वीकार कर लिया था। ऐसे ही लोगों मे उन्होने महान् शूरवीर पैदा कर दिये। मृत्यु के भय को मानो मन्त्र के बल से उड़ा दिया। सिर हथेली पर रखकर इन वीरों ने अन्याय को ललकारा, और देखते-देखते इतिहास पलट दिया। इतिहास मे ऐसी अघटित घटना कम ही देखी गयी है। काल के रथ-चक्र को इस प्रकार मोड़ देना, गुरुजी की ही करामात थी। इतिहास का पण्डित इसका कारण नही खोज पाता। वह अनुमान और अटकल का सहारा लेता है। परन्तु कारण स्पष्ट है। वे कालातीत अर्थात् अकाल-तत्त्व के संस्थापक थे। वे उस दुनिया में विचरते थे, जहाँ काल स्तब्ध है। वह अकाल-पुरुष का लोक है। उसके इंगित से ही सीमाबद्ध काल रूप ग्रहण करता है। इसी निराकार, रूपहीन नित्य-शक्ति की महिमा मे उनका विश्वास था। ऐसे महापुरुष ही काल की गति को अपने इशारे से मोड़ दिया करते हैं। गुरुजी ने काल को खड्गपाणि के रूप में स्मरण किया और वह खड्गपाणि बन गया। उन्होने इतिहास को अपने इंगित पर मोड़ दिया। यह उनकी विराट आध्यात्मिक शक्ति का ही निदर्शक है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी बात की ओर यह कहकर इशारा किया था :

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्हम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भावमि युगे-युगे॥

'हे अर्जुन ! जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म सिर उठाता है, तब-तब साधुओं की रक्षा और दुष्टों का दमन और धर्म की स्थापना के लिए मैं अपने-

आपको मनुष्य-रूप में प्रकट करता हूँ।'

गुरुजी का प्रादुर्भाव इसी प्रयोजन के लिए हुआ था। उनके माध्यम से महान् चराचर शक्ति ही काम कर रही थी। इसीलिए वे इतिहास को मोड़ने में समर्थ हुए।

निरेकम नित्यं निरुयं प्रवाणं
कल कारणेय नमो खड्गपाणम्।

गुरु गोविन्दसिंह का जीवन-दर्शन

गुरु गोविन्दसिंह के जीवन और उनकी उपलब्धियों को देखकर बहुत लोग उन्हें योद्धा सन्त कहते हैं। निस्सन्देह उन्होंने युद्ध किये और अपने अनुयायियों में युद्ध का उत्साह भरा। परन्तु युद्ध किसलिए, क्या हिंसा के लिए, अपनी अहंकारी आकांक्षा की तृप्ति के लिए, विश्वविजयी बनने की महत्त्वाकांक्षा के लिए? विशाल साम्राज्य का अधीश्वर बनने की दुर्दम लालसा के लिए? बिल्कुल नहीं।

गुरुजी स्वयं कवि थे--अपने संवेगों और आवेगों को मूर्तरूप देने में समर्थ, अपने चिन्तन और मनन को सम्प्रेष्य बनाने में कुशल। कहीं भी या कभी भी उन्होंने धन-धरती पाने के लिए या भौतिक सम्पदाओं को हस्तगत करने के उद्देश्य से युद्ध का आह्वान नहीं किया। युद्ध तभी उचित कहा जा सकता है, जब वह मनुष्य के उन समस्त सद्‌गुणों के उद्‌बोधन के लिए हो और मनुष्यता की उस अपार महिमा के संरक्षण के लिए हो जो पीढ़ियों की तपस्या, त्याग और बलिदान द्वारा गौरवान्वित है।

गुरुजी ने मनुष्य की समानता पर बल दिया है, त्यागमय जीवन का आदर्श और प्रेममय कर्म की प्रेरणा दी है---'साँच कहौं सुनि लेहु सबै जिन प्रेम कियो तिन ही प्रभु पायो।'

जो कर्म निषेधात्मक उपलब्धियों के लिए किया जाता है वह गुरुजी का काम्य नहीं है। उनका 'प्रेम' विधेयात्मक उपलब्धि है। वह प्रभु को सर्वात्मना आत्मसमर्पण का ही नामान्तर है। गुरुजी के काव्य से स्पष्ट होता है कि निरन्तर संघर्ष का उद्देश्य वासनाओं का दमन या जड़त्व का अन्वेषण नहीं है। वह वासनाओं का कुछ ऐसा उन्नयन है जो सारे संसार के दुःख को अपना दुःख और आह्लाद को अपना आह्लाद समझने की दृष्टि देता है। क्रोध हो, अमर्ष हो, विजिगीषा हो, जब समस्त विश्व के हृत्स्पन्दन के साथ एकतान हो जाता है तो वह धर्मबल बन जाता है। यह

तलवार भाँजने से सिद्ध नहीं होना, आँख मूँदकर भजन करने के बहाने से भी नहीं, तर्क और वाग्विलास से भी नहीं। यह काम हृदय के अन्तर्हित प्रेम से सिद्ध होता है। प्रेम, जो ज्ञान से चालित हो और श्रद्धा से अनुगमित हो। गुरुजी का प्रेम इसी आदर्श से चालित है।

जिसे यह प्रेम सिद्ध हो गया है, वह न किसी से डरता है न किसी को डराता है। गुरुजी का सम्पूर्ण जीवन और सम्पूर्ण काव्य इसी महान् आदर्श से चालित है, वह हताश मनुष्य को तनकर खड़ा कर देने का मन्त्र है। वह कथनी और करनी को एक कर देने की प्रेरणा है, वह क्षुद्रता का बन्धन काटने का खड्ग है। वह साम्प्रदायिक संकीर्णता, जातीय भेदभाव और मदोद्धत शान-शौकत का विरोध करता है। वह जड़-सम्पत्ति के मोह पर कसके किया गया कशाघात है और मनुष्य की सर्वोत्तम उपलब्धियों की रक्षा का सन्देश है।

गुरु गोविन्दसिंह ने किसी छोटे उद्देश्य से तलवार नहीं उठायी थी, उन्होंने देह की, भौतिक सम्पदा की अनित्यता और कालातीत महाअकाल की नित्यता पर बार-बार बल दिया है। पर वे ऐसे ज्ञान की महिमा में विश्वास करते हैं, जो कातरता के कूड़े को साफ करता है, बुद्धि को ऐसे दीपक की ज्योति देता है जो नश्वर पदार्थों से अविनश्वर आत्मा को स्पष्ट रूप में पृथक् दिखा सकता है और मनुष्य को कभी भी, किसी भी अवस्था में उतावला और डरपोक नहीं बनने देता, जो मन को काबू में रखता है और भुजाओं को अन्याय के प्रतिकार के लिए सचेष्ट रखता है।

धन्य जीउ तेहि को जग मे मुख तैं हरि चित्त मे जुद्ध बिचारै।
देह अनित्त न नित्त रहै, जस नाव चढ़ै भवसागर तारै॥
धीरज धाम बनाए इहै तन बुद्धि सूँ दीपक ज्यूँ उजियारै।
ज्ञानहि की बढनी मनहु हाथ लै कातरता कुतवार बुहारै॥

वे मानते थे कि समस्त परिदृश्यमान जगत्प्रपंच काल का परिणाम है—ब्रह्मा भी, विष्णु भी, शिव भी, योगी भी और सिद्ध, गन्धर्व, नाग, यक्ष तथा असुर भी। इस समित कालपरिणामी जगत्-प्रपंच में काल के परे केवल एक नित्य विराजमान शाश्वत तत्त्व अकाल है—'और सुकाल सबै बस काल के एक ही काल अकाल सदा है!'

'अकाल-उसतुत' गुरुजी का लिखा हुआ बहुत शक्तिशाली स्तोत्र है। उपनिषदों से लेकर परवर्ती स्तोत्र-ग्रन्थों में सर्वज्ञ परमात्म तत्त्व को दो प्रकार से समझने की प्रथा रही है : तद्-व्यावृत्ति रूप में अर्थात् समस्त ज्ञात और अनुभूत पदार्थों से उसे भिन्न कहना—वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है, ऐसा भी नहीं है, वैसा भी नहीं है—नेति-नेति-नेति। फिर अतद्-व्यावृत्ति रूप में अर्थात् समस्त ज्ञात और अनुभूत पदार्थ अभिन्न है—वह यह भी है, वह भी है, ऐसा भी है, वैसा भी है। अकाल-उसतुत में दोनों पद्धतियाँ मिल जायेंगी, परन्तु उसमें कुछ विशेष भी है। जो बात दूसरे समसामयिक पूर्ववर्ती महात्माओं की स्तुतियों में नहीं मिलती या उतने बल के साथ नहीं पायी जाती, उसे 'अपूर्वता' कहते हैं। अपूर्वता से ही स्तोत्रकार क

विशेष दृष्टि का पता चलता है। अकाल-महिमा के इस स्तोत्र में गुरु गोविन्दसिंह ने बार-बार परमात्म-शक्ति के 'दुर्जन दल दण्डन, असुर विहण्डन, दुष्ट निकन्दन,' तथा 'दानव प्रहारन, नरक निवारण, अधम उधारन' रूप का स्मरण किया है। केवल स्मरण ही नहीं किया है, बल देकर कहा है। उपसंहार भी उसी रूप के स्मरण से किया .

डामरू डवकै, ववर ववंकै, भुजा फरंकै तेजवरं।
लंकुड़िया फाधै, आयुध बांधै, सैन विमर्दन काल असुरं॥

वह सबमे रमा है, सर्वस्वरूप और सर्वनमस्य है :

वन तन महीप जलथल महान
जहँ तहँ प्ररोह करना निधान।
जगमगत तेज पूरन प्रताप
अम्बर जमीन जिहि जपत जाप॥

सब मिलाकर यह महान् स्तोत्र सर्वव्यापी सर्वरूप परमात्मा में अखण्ड विश्वास और उसकी खलदल-भजन-शक्ति के प्रति अपूर्व निष्ठा का परिचायक है। इस स्तोत्र से गुरु गोविन्दसिंह का जीवन-दर्शन बहुत स्पष्ट हो जाता है। भगवान् पर अखण्ड विश्वास ही सम्बल है। खलदल-भंजन-शक्ति ही ध्यान का विषय है। निर्भय कर्मनिष्ठा ही सिद्धि है। निर्भीक भाव से अन्यायी से जूझना, दुर्बल की रक्षा मे प्राण दे देना, सबसे बडा तप है। गुरु गोविन्दसिंह इसके सामने धन-दौलत की तो बात ही क्या, ऋद्धि-सिद्धि को भी तुच्छ समझते है :

जो किछु इच्छ करौ धन की तो चलौ धन देसन देस ते आवै।
औ सव रिद्धिन सिद्धिन पै हमरौ नहिं नेकु हिया ललचावै।
और सुनौ कछु जोग बिखै कहि कौन इतौ तप के तन तावै।
जूझ मरौ रन मे तजि भै तुम तै प्रभु श्याम इहै वर पावै।

सो, धन नही, ऋद्धि नही, सिद्धि नही, भोग नही, तप नही। केवल दुर्बलो की रक्षा मे निर्भय होकर प्राण देने की ललक, अन्याय और दुर्नीति के विरुद्ध तनकर खड़ा होने की लालसा, कभी भी शुभ-कर्मों से विचलित न होने का संकल्प और प्रभु को कभी न भूलने की आकांक्षा। यही महान् गुरु गोविन्दसिंह की अपूर्वता है। यह उन्हें सन्त-महात्मा और धर्मगुरुओ से अलग तेजोद्दीप्त पुरुष-सिंह के रूप मे अनन्य-साधारण बना देती है।

गुरुजी अपने-आपकी मुक्ति के लिए व्याकुल नही दिखते। जिसका मन निरन्तर अकालपुरुष में रमा है, उसकी और मुक्ति हो भी क्या सकती है? उनका कोमल हृदय दुखियो, अनाथो, दुर्बलो के दु.ख से कातर है। उनका दु.ख दूर करने के लिए वे दया का भाव नही दिखाते, उनमे अपूर्व आत्मविश्वास का भाव पैदा करते है, निर्भीक होकर अनाचार से जूझने का संकल्प जाग्रत करते है। परमात्मा के 'असुर विहण्डन, खलदल-भंजन' रूप के स्मरण करने का उद्देश्य है, स्मरणकर्ता के मन मे उसी प्रतिमूर्ति को उत्पन्न करके तद्रूप बना देना। उन्होने दुर्बल को

बल दिया, हताश को आशा दी, भयग्रस्तों को अभय-मन्त्र दिया। अपूर्व थी वह दृष्टि, अद्‌भुत था वह संकल्प।

-

दशम ग्रन्थ

संवत् 1723 की पौष शुक्ला सप्तमी (अर्थात् 26 दिसम्बर 1666 ई.) को पटना मे सिक्खों के दसवें गुरु श्री गुरु गोविन्दसिंह का जन्म हुआ था। वे जब नौ साल के थे तभी उनके पिता गुरु तेगबहादुर का दिल्ली मे शिरच्छेद किया गया था। वह बर्बर कृत्य अमानुषिक था और तत्कालीन मुगल सम्राट् की धर्मान्धता और संकीर्णता का प्रत्यक्ष निदर्शन था। मनुष्य की महिमा का विजयोद्‌घोष करनेवाले महान् इस्लाम को भी इस कृत्य द्वारा अपमानित किया गया था। परन्तु उन दिनो का मुगल शासन मदोद्धत था। उसने सोचा होगा कि नवें गुरु को इस प्रकार धोखा देकर दण्डित करने से सिक्खों के उगते हुए प्रताप को ध्वस्त कर दिया जायेगा। पर यह उसकी अदूरदर्शिता ही थी। न उसने महान् इस्लाम को ही गौरवान्वित किया, न वह नवोदित सिक्ख-शक्ति को ही उखाड़ सका। बालक गोविन्दराय के कोमल हृदय पर इस घटना की बड़ी गहरी छाप पड़ी। वे उसी अल्प वय मे गुरु-गद्दी पर विराजे। तूफानों के बीच वे बड़े हुए, तूफानों के बीच ही उन्होने जीवन-यापन किया, तूफानो से जूझते वे बयालिस वर्ष की कच्ची उमर में अकाल-पुरुष के दरबार मे चले गये। हर चोट ने उन्हें नयी शक्ति दी, हर झटके ने उन्हें दृढ़तर सकल्प की ओर अग्रसर किया, हर संघर्ष ने उन्हे सुन्दरतर विजय-माल्य पहनाया। स्वभाव से वे सन्त थे, परिस्थितियो ने उन्हें योद्धा बनाया। हृदय से वे कवि थे, परिस्थितियो ने उन्हें बादशाह बनाया। उन्होने शस्त्र धारण किया, साम्राज्य-स्थापन के लिए नही, अन्याय और अत्याचार के विध्वंस के लिए। उन्होने कविताएँ लिखी, *वाग्विलास के लिए नही, उपेक्षितों और अवमानितो मे आत्मविश्वास जगाने* के लिए। वे सन्त थे, वे कवि थे, वे लोकनायक गुरु थे। जीवन के उच्चतम आदर्शो को व्यक्तिगत जीवन तक सीमित न रखकर पूरे देश को उन महान् आदर्शो से चालित करने की क्षमता बहुत थोड़े लोगो मे होती है। गुरुजी का जीवन व्यक्तिगत साधना तक सीमित नही था। उन्होंने देश की दलित मूक-मूढ़ जनता को महान् आदर्शों को अपनाने की प्रेरणा दी और देखते-देखते ऐसे महाप्राण शिष्यो की सेना खड़ी कर ली जो अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध वज्र की भाँति दारुण हो गये, प्राणो की आहुति देने में उन्होने रंचमात्र भी हिचक नही दिखायी। अनाचार और

अत्याचार के विरुद्ध इस प्रकार का बलिदान संसार के इतिहास में विरल है। जिन लोगों को किसी प्रकार का सहारा नहीं था, जो हर प्रकार से सताये और मारे गये थे, जिनकी शिक्षा-दीक्षा नगण्य थी, ऐसे लोगों में जीवन के उच्चतम आदर्शों की प्रतिष्ठा और उनकी रक्षा के लिए बड़ा-से-बड़ा त्याग करने में ही वे अग्रसर हुए। कहाँ से मिली यह शक्ति ? निस्सन्देह उनके सामने ध्रुवतारा की भाँति जो अटल ज्योति सदा विद्यमान रही वह गुरु गोविन्दसिंह थे। उनका व्यक्तिगत जीवन त्यागमय था, उनका हृदय प्रेमपूर्ण था, उनकी भुजाएँ शक्ति-पुंज थीं, उनकी दृष्टि निर्मल थी और उनकी बुद्धि दृढ़निश्चयी थी। उनके ऊपर जो भी विपत्ति आयी उसे उन्होंने हँसते-हँसते झेला। उनके अत्यन्त प्रिय पुत्र को अमानुषिक ढंग से मारा गया था। बड़ा-से-बड़ा वीर उससे विचलित हो सकता था। पर गुरु गोविन्दसिंह थे कि उन्होंने अकुतोभय होकर उसे झेल लिया। सम्पत्ति ने उन्हें लक्ष्यच्युत् नहीं बनाया। विपत्ति ने उन्हें म्लान नहीं किया। श्रीरामचन्द्र के बारे में जो कुछ कहा जाता है वह उन्होंने अक्षरशः सत्य कर दिखाया। वे महावीर सिद्ध हुए। उनके समान निर्मल-चरित्र और अकुतोभय वीर महात्मा को पाकर कोई भी देश धन्य हो सकता है। भारतमाता को अपने ऐसे पुत्रों पर गर्व होना हर प्रकार से उचित है। वे सन्त थे, साधक थे, वीर थे, और सच्चे गुरु थे। वे उस स्पर्शमणि के समान थे जिसके स्पर्श से हर लोहा सोना हो जाता है।

दशम ग्रन्थ : काव्य भी और धर्मग्रन्थ भी

गुरु गोविन्दसिंह के बारे में जो ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि वे महान् वीर, अनन्य भक्त और अत्यन्त सुकुमार रुचि के कवि थे। इन विरले गुणों के समन्वय के कारण उनका व्यक्तित्व अनन्य-साधा[illegible] है। भारतवर्ष में विरले लोकनायकों में इन गुणों का समावेश मि[illegible] जहाँ देश में [illegible]
हिम्मती और निराशा के वातावरण को दूर कर[illegible] और [illegible]
की परम्परा चलायी, वहीं उन्होंने अपनी कविता[illegible] के चि[illegible]
संवेदनशील और [illegible]। उनक[illegible] ग्रन्थ है[illegible]
जितना काव्य है उतना ही [illegible] है।

और भक्ति का ही अधिक महत्त्व है। इसमें तो कोई मतभेद नही हो सकता कि दशम ग्रन्थ एक अच्छा काव्य है। परन्तु काव्य को धार्मिक साहित्य मानना क्या ठीक है ? जिन लोगों के मन मे ऐसा प्रश्न आता है वे लोग काव्य और धार्मिक ग्रन्थ में आवश्यकता से अधिक भेद करने लगते है। कम-से-कम भारतीय परम्परा मे ऐसा भेद करना या इस पर बहुत अधिक बल देना उचित नही जान पडता। हमारे देश मे धर्मग्रन्थ और काव्य के बीच दुर्लभ दीवार कभी नही खड़ी की गयी। सच पूछिए तो भारतीय संस्कृति काव्य की संस्कृति है। ऋग्वेद उत्तम काव्य है। फिर भी क्या यह सत्य नहीं है कि भारतीय धर्म, दर्शन, विज्ञान, सब-कुछ की प्रेरणा ऋग्वेद से प्राप्त हुई ? इस देश मे परमात्मा को भी कवि कहा गया है। यह सारा दृश्यमान् जगत् उसी महान् देवता का काव्य बताया गया है : 'पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति'। देवता का यह अद्भुत काव्य देखो, जो न मरता है न पुराना होता है। रामायण भक्ति-काव्य है। महाभारत वह काव्य है जिसे पाँचवाँ वेद कहा गया है। भगवद्गीता भगवान् की गायी हुई है। तुलसीदासजी का रामचरितमानस उत्तम काव्य है। काव्य धर्मसाहित्य से बहिष्कृत तो है ही नही, धर्मसाहित्य का उत्तम रूप है। यह ठीक है कि काव्य में--विशेषकर लौकिकतापरक काव्य मे— ऐसी भी बातें आती हैं जो धार्मिक साधना की ऊँचाई तक नही जाती पर इसीलिए धार्मिक साहित्य केवल रूखा उपदेश-मात्र होता है, ऐसा नही समझना चाहिए। धर्म मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को उन्नत करता है। वह नीरस उपदेश-मात्र नहीं है। अर्थ और काम भी धर्म के अविरुद्ध होकर चरितार्थ होते हैं। गीता मे धर्म के अविरोधी काम को भी परमात्मा कहा गया है (धर्माविरुद्धोभूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ्)। कहने का मतलब यह है कि काव्य होने से कोई ग्रन्थ धार्मिक साहित्य से बहिष्कृत नही हो जाता। अगर उसमे मनुष्य को उसकी समग्रता में उन्नत करके आध्यात्मिक धरातल तक ले जाने की शक्ति है तो कोई भी काव्य धार्मिक साहित्य मे निस्सन्देह परिगणित हो सकता है। यह सब इसलिए कहना पड़ता है कि कुछ विद्वान् दशम ग्रन्थ को काव्य कहकर उसके महत्त्व को कम आँकने लगे है। दशम ग्रन्थ काव्य है, पर ऐसा काव्य जो मनुष्य को इसकी समग्रता मे उन्नीत करता है।

आज से तीन सौ वर्ष पूर्व जब समूचा देश पस्तहिम्मती और कायरता का शिकार था, जब जनता कुसंस्कार, परमुखापेक्षा और निराशा से तेजोहीन हो गयी थी, जब थोथे कुलाभिमान और झूठी शान से अभिजात वर्ग अन्धा हो रहा था, और आर्थिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक गुलामी से साधारण जनता ग्रस्त थी, तब दशम ग्रन्थ की रचना हुई थी। जिन लोगों को उपेक्षित और अवमानित रखा गया था, जिन्हें शिक्षा के नाम पर कुछ पौराणिक कथाएँ और कुछ उल्टे-सीधे संस्कार-मात्र उपलब्ध थे, जो सदियों से स्वतन्त्र चिन्तन से अछूते और संस्कार-चालित आचारों से जकड़े हुए थे, उन्हें ही आदर्श जीवन और सत्ता के लिए मर मिटने का संकल्प देना गुरु गोविन्दसिंह का उद्देश्य था। व्यक्तिगत आत्मशुद्धि के स्तर पर

सन्तों ने साधारण जनता को जाग्रत करने का प्रयत्न किया था, पर सामूहिक रूप से अन्याय से जूझने का प्रयत्न गुरुजी को करना था। इसीलिए दशम ग्रन्थ में उन पौराणिक कथाओं को चुन-चुनकर रखा गया जो जनता में परिचित भी थी और अवसरोचित उदात्त भावों को जगाने में समर्थ भी थी।

दशम ग्रन्थ अन्याय के प्रतिकार के लिए, सत्य के लिए, आत्मबलिदान के हेतु और अन्तरतर को परिष्कृत और सरस बनाने के लिए नियोजित काव्य है और काल और देश की सीमाओं के माध्यम से सीमातीत को हृदयंगम कराने का आध्यात्मिक प्रतीक है। वह महान् भारतीय संस्कृति का कवच है और अध्यात्म तत्त्व का सक्रिय प्रहरी है। वह बलिदान का मन्त्र है और शुष्क वैयक्तिक साधना के स्थान पर सरस धार्मिक जीवन का सन्देशवाहक है। वह कायरता, भीरुता और नैष्कर्म पर कसके कशाघात है। वह थमी हुई जाति का प्राणप्रद संजीवन-रस है और मोहग्रस्त समाज का मूर्च्छामोचन रसायन है।

दशम ग्रन्थ : तात्पर्य या उद्देश्य

यद्यपि दशम ग्रन्थ का दसवें गुरु की वाणी के रूप में बराबर सम्मान होता आया है पर परम्पराक्रम से यह भी माना जाता रहा है कि उसका संकलन या सम्पादन गुरुजी के तिरोधान के बाद हुआ है। गुरुजी अपनी शिष्य-मण्डली को अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध कसकर प्रहार करने के योग्य बनाना चाहते थे। किसी साम्राज्य की स्थापना उनका उद्देश्य नहीं था। अपने शिष्यों को वे 'धर्मयुद्ध' के लिए प्रस्तुत करना चाहते थे। दशम ग्रन्थ के कृष्णावतार में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि भागवत के दशम स्कन्ध की भाषा उन्होंने किसी और वासना से नहीं की। उनका उद्देश्य कर्मयुद्ध का चाव पैदा करना था।[1] कहा जाता है कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने लगभग चार वर्ष यमुना के किनारे परवटा में काव्य-रचना की। स्वयं काव्य-रचना करने के सिवा उन्होंने अन्य अनेक कवियों और विद्वानों से भी काव्य-रचना और अनुवाद कराये थे। कहा जाता है कि यह महान् साहित्यिक कार्य, जिसे 'विद्याधर' या 'विद्यासागर' कहा गया है और जो कदाचित् आधुनिक 'इनसाइक्लोपीडिया' का मध्यकालीन रूप था, बहुत ही विशाल था। वजन में वह नौ मन था। लेकिन निरन्तर चलनेवाले युद्धों के कारण यह विश्वकोष नष्ट हो गया। बाद में भाई मनीसिंह ने, जो गुरु गोविन्दसिंहजी के अति निकटवर्ती थे, बड़े परिश्रम से और बड़ी लगन के साथ गुरुजी की बची-खुची रचनाओं को इस ग्रन्थ के रूप में सम्पादित किया। दशम ग्रन्थ की जो प्रति आजकल प्रचलित है वह भाई मनीसिंह द्वारा संकलित और सम्पादित है। इसकी प्रामाणिकता भाई मनीसिंह का नाम ही है। परन्तु उनकी सावधानी और सतर्कता के होते हुए भी यह सम्भावना

1. दशम कथा भागौत की भाषा करी बनाइ।
अवर बासना नाहि प्रभु, धर्मजुद्ध के चाइ॥

तो है ही कि किसी या किन्ही और कवियों की रचनाएँ भी इसमे शामिल हो गयी हों। स्वय दसवें गुरु ने इसका संकलन या सम्पादन किया होता तो इसका क्या रूप होता, रचनाओ को किस क्रम से रखा जाता और अपूर्ण-सी दिखनेवाली रचनाओं की स्थिति क्या होती, यह सब बताना सम्भव नही है। ग्रन्थ जैसा है वैसा ही अब विवेच्य है। ग्रन्थ-तात्पर्य-निर्णय के विषय मे पुराने मीमांसको की पटुता सर्वविदित है। इस दार्शनिक सम्प्रदाय का जन्म ही वेदार्थ के निर्णय के लिए हुआ था। इस विषय में जैसा सूक्ष्म विचार इन आचार्यो ने किया है, वैसा ससार के अर्थमीमासा-शास्त्र में कदाचित् नही हुआ। किसी ग्रन्थ का तात्पर्य-निर्णय करने के लिए उन्होंने छ: साधन बताये हैं। वे कहते है कि किसी वाणी या ग्रन्थ का तात्पर्य-निर्णय करने के लिए निम्नांकित छ: बातों पर विचार करना चाहिए—(1) उपक्रम और उपसंहार, (2) अभ्यास, (3) अपूर्वता, (4) फल, (5) अर्थवाद, और (6) उपपत्ति। ये छ: बातें इस देश में ग्रन्थ का आशय निर्णय करने के लिए सर्व-मान्य बन गयी है और कहा जाता है कि प्राय: इसी रूप मे ये आधुनिक ढंग की अदालती कार्यवाही में भी स्वीकृत हो चुकी है। दशम ग्रन्थ की इस दृष्टि से विवेचना अनुपयुक्त नही होगी।

1. उपक्रम और उपसंहार : उपक्रम ग्रन्थ का आरम्भ है और उपसंहार उसका अन्त। जब कोई कहना चाहता है तो आरम्भ मे कुछ ऐसी बातें कहता है कि किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह लिखने बैठा है और ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार करते हुए बताता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति हुई। दो कारणो से दशम ग्रन्थ में इस उपाय के अवलम्बन मे कठिनाई है। एक तो जैसा कि ऊपर बताया गया है, पूरा ग्रन्थ स्वयं गुरु गोविन्दसिंह द्वारा सम्पादित नही है। इसलिए यह कहना कठिन है कि इसका क्रम और रूप जैसा उपलब्ध है, ग्रन्थकार का सम्मत है या नहीं। दूसरे, दशम ग्रन्थ कई रचनाओं का संकलन है, आद्योपान्त अपने-आपमे परिसमाप्त एक अखण्ड ग्रन्थ नही है। यदि उपक्रम और उपसंहार की दृष्टि से विचार करना हो तो प्रत्येक रचना पर अलग-अलग विचार होना चाहिए। दोनों ही कठिनाइयाँ वास्तविक और अपरिहार्य हैं।

कुछ लोगों का अनुमान है कि ग्रन्थ के अन्त मे कुछ रचनाएँ कदाचित् सुरक्षित रखने की दृष्टि से ही जोड़ दी गयी हैं। इस अनुमान की पुष्टि 'अस्फोटक' कवित्त, सवैये अर्थात् स्फुट कवित्त और सवैये जैसे शीर्षक से होती है जो नाम से ही मुक्तक जान पडते हैं। जफरनामा भी परिशिष्ट-जैसा ही लगता है और उसके साथ ही हकायतें उसी प्रकार के परिशिष्ट-जैसी जान पड़ती हैं। जान पड़ता है कि इन रचनाओ को परिशिष्ट-रूप मे सुरक्षित रख लिया गया है। वस्तुत: मूल ग्रन्थ 33 सवैये और खालसा महिमा तक ही सीमित समझा जाना चाहिए। परन्तु यह भी अनुमान ही है और अपने ही अनुमान को प्रामाणिक मानकर विवेचना करने का अधिकार किसी को नही मिलना चाहिए।

आरम्भ के 'जापु' और 'अकाल-उसतुत' को बहुत-कुछ दृढ़ता के साथ उपक्रम

माना जा सकता है। इसका उद्देश्य स्पष्ट है। यह रूप-वर्ण-नाम आदि सीमा से परे पर देवता का स्मरण है। यह जाप है। जप नहीं, जाप। जप नामोच्चारण मात्र है। अजपा जाप मानस जप है। प्रत्येक जप किसी निमित्त से होता है। उस निमित्त के अनुरूप ही मन्त्र के देवता का ध्यान किया जाता है। देवता एक ही होता है। साधक जप के समय उसकी उस विशेष शक्ति का ध्यान करता है जो उसके तात्कालिक उद्देश्य के अनुरूप होती है। एक ही देवता मोटे तौर पर पाँच पदार्थों की सिद्धि के अनुरूप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पाँच महाभूतों के आश्रय-रूप मे कल्पित होता है। तन्त्रशास्त्र मे इसे उत्पादित देवता कहते हैं। साधक का काम समाप्त होने पर उत्पादित देवता लुप्त हो जाता है। जप-शास्त्रों में इस बात को बड़े विस्तार से समझाया गया है। मन्त्र का बीज होता है, वह किसी विशेष देवता के उद्देश्य से, विशेष तत्त्व को केन्द्र करके रचित होता है। किसी विशेष सिद्धि के लिए विनियोजित होता है। सन्तो ने इस जटिल साधना-पद्धति का इसलिए विरोध किया था कि इसमे मूल तत्त्व को भुलाकर मनसा उत्पादित क्षणिक रूप को चरम मान लेने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। कबीरदास ने चेतावनी दी थी कि 'हरि सागर जनि वीसरे, छीलर देखि अनन्त' अर्थात् अनन्त छोटे-छोटे जलाशयों को देखकर हरि-रूपी समुद्र को मत भूल जायें। इसीलिए तन्त्रशास्त्र में बहु-प्रचलित अजपा जाप को उन्होने मुख्यता दी थी। अजपा जाप मानस जप है। उसका मन्त्र-देवता-उद्देश्य सब एक है। सन्तों ने जिसे सुमिरन कहा है वह वस्तुतः ध्यान का ही परिष्कृत रूप है। दशम ग्रन्थ एक कदम और आगे बढ़कर मन्त्र, जाप और सुमिरन को एक रूप देता है। जो मन्त्र है वही जाप है, वही सुमिरन है। वह आराध्य को सर्वनाम और सर्वरूप घोषित करता है। समस्त निर्गुण सन्तो ने जहाँ उसके दयामय, करुणामय गुणो को स्मरण किया है वहाँ गुरु गोविन्दसिंह ने उनके 'अरिवर अगज, हरिनर प्रभज, खल खण्डखियाल' अरिघायल और खल खण्डन रूप को विशेष रूप से ध्यातव्य माना है। निर्गुण-मार्गी इसलिए निर्गुण नहीं हैं कि वे भगवान् के दयालुता और रक्षकता आदि गुणो मे नही विश्वास करते, बल्कि इसलिए कि वे उनके गुणमय शरीर या प्रतिमा मे विश्वास नही करते। गुरु गोविन्दसिंह ने जापु और अकाल उसतुत में भगवान् के इन 'पक्के' गुणों की चर्चा की है, पर दूसरों से कुछ अलग हटकर उसके दुष्टदलन रूप पर अधिक बल दिया है। 'अकाल उसतुत' बड़ा ही शक्तिशाली स्तोत्र है। उसमे बार-बार प्रभु के अनाम, अरूप स्वरूप के साथ-साथ सर्वनाम और सर्वरूप स्वरूप की ओर आराधक का ध्यान आकृष्ट किया गया है। भाषा का अविरल प्रवाह साधक के चित्त को एकाग्र करने में विचित्र रूप से सहायक हुआ है। बदलते हुए छन्द उसे सुस्ता-सुस्ताकर आगे बढ़ने की प्रक्रिया मे प्रवृत्त करते रहते है।

अकाल-उसतुति मे तथा जापु मे भी उपनिषदों की दोनो शैलियाँ—तद्व्यावृत्ति और अतद्व्यावृत्ति का बहुत सशक्त प्रयोग है। तद्व्यावृत्ति में परात्पर तत्त्व को सारे जाने हुए पदार्थों से भिन्न बताया जाता है और अतद्व्यावृत्ति में समस्त

ज्ञात पदार्थों को उसी का रूप बताया जाता है। परन्तु कवि परमात्म शक्ति के 'दुर्जन दल दण्डन, असुर विहण्डन, दुष्ट निकन्दन' तथा 'दानव प्रहारन नरक निवारण अधम उधारन' रूप को नहीं भूलता। नहीं भूलता कहना कम करके कहना हुआ। असल मे उसी रूप पर वह स्तोत्र का उपसहार करता है .

डामरू ड्वंकै, बबर बवंकै, भुजा फरंकै तेजवर।
लंकुडिया फाधै, आयुध बाँधै, सैंन बिमर्दन काल असुर।

और,

वन तन महीप, जलथल महान,
जहँ तहँ प्रसोह करुणा निधान।
जगमगत तेज पूरन प्रताप,
अम्वर जमीन जिहि जपत जाप ।।

सब मिलाकर यह स्तोत्र सर्वव्यापी सर्वरूप परमात्मा मे अखण्ड विश्वास और उनकी खल-दल-भंजन शक्ति की निष्ठा का अद्भुत उपक्रम है। यह पूरे ग्रन्थ का उद्देश्य बहुत अच्छी तरह स्पष्ट कर देता है। भगवान् पर अखण्ड विश्वास साधन है, खल-दल-भंजन साध्य है, निर्भय कर्मनिष्ठा सिद्धि है। उपक्रम के बारे मे हम जितनी दृढ़ता से अनुमान कर सकते है उतना उपसंहार के बारे मे नही। आखिरी तीन रचनाओ को परिशिष्ट मान लें और 33 सवैया और खालसा महिमा को उपसंहार तो फिर बाह्य आचारों और भेद का निरसन और बाहरी टीमटाम की व्यर्थता के साथ परमात्मा मे अखण्ड विश्वास, नाना भाव की साधनाओं का एक ही चरम लक्ष्य और वृथा लोभ-मोह और भय की तुच्छता ही बार-बार कही गयी है।

जो हो, उपक्रम और उपसहार का विचार हम अनुमान के आधार पर ही कर सकते है।

2-4. अभ्यास, अपूर्वता और फल : किसी बात को बार-बार ग्रन्थकार कहे तो उसे अभ्यास कहा जाता है। जिस उद्देश्य से चालित होकर ग्रन्थकार कोई ग्रन्थ लिखता है वह बार-बार किसी-न-किसी बहाने ग्रन्थ मे आता रहता है। दो बातें इस ग्रन्थ मे बार-बार आती है। एक तो कालातीत (अकाल) तत्त्व की खल-दल-गंजिनी, असुर-विखण्डिनी शक्ति का पुन.-पुनः स्मरण और दूसरा युद्ध का प्रसंग। चौबीस अवतारो के प्रसंग मे ये दोनों बातें प्रचुर मात्रा मे आयी है, 'चण्डी चरित' और 'भगवती दी वार' मे भी। दशम ग्रन्थ के उपाख्यान निमित्त मात्र हैं। ये विविध पुराणो मे वर्णित कथानकों से नही मिलते हैं। उन्हे अधिक-से-अधिक मानवीय स्तर पर ले आने का प्रयास किया गया है और रह-रहकर—कभी-कभी अप्रत्याशित रूप से —असुर-निकन्दन, खल-दल-गंजन, शत्रुविहण्डन युद्ध शुरू हो जाते है। रामावतार में एक स्थल पर जानकी की कमनीय शोभा का बहुत मोहक वर्णन चल रहा है। राम और सीता एक-दूसरे को तल्लीन होकर देख रहे हैं—

छकै प्रेम दोनों लगे नैंन ऐसे। मनो फांद फाँदे मृगीराज जैसे।
विषं वाक वैनी कठं देख छीनं। रँगे रग रामं सु नैंन प्रवीनं।

अचानक कवि का ध्यान दूसरी ओर खिंच जाता है। मानो कवि को स्मरण हो आया कि सुन्दरता और मोहकता कवि का मुख्य उद्देश्य नहीं है। अचानक राजा लोग राम पर चढ़ दौड़ते हैं और फिर तो,

> भट हुंके धुंके बंकारे
> रण बज्जे गज्जे नाकारे।
> रण हुल्ल कलोल हुल्लालं
> ढह हल्ल ढलंत उच्छालं॥

स्पष्ट ही कवि का उद्देश्य वीरों की भुजाएँ फड़का देना है। मानो कवि सावधान करना चाहता है कि सौन्दर्य के उपभोग का अधिकारी वही है, जिसकी भुजाओं में अजेय शक्ति हो।

ग्रन्थकार जब कोई ऐसी बात कहता है जो पूर्ववर्ती लोगों ने नहीं कही तो उसका उद्देश्य और भी स्पष्ट हो जाता है। गुरु गोविन्दसिंह से पहले सन्त कवियों की बड़ी समृद्ध परम्परा है। जहाँ तक परात्पर तत्त्व पर अखण्ड विश्वास, बाह्याचरण की धर्मता और शुद्ध पवित्र जीवन के अपनाने का प्रश्न है, गुरुजी ने उन्हीं बातों को कहा है। परन्तु अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध, शस्त्र धारण की महिमा पर बल देने और निष्काम भाव से धर्मयुद्ध के लिए प्रेरणा देने के क्षेत्र में गुरुजी अकेले दिखते हैं। यह नहीं कि और सन्तों की रचनाओं में ऐसी बातें खोजी ही नहीं जा सकतीं। खोजने पर कुछ वाणियाँ औरों में भी मिल सकती हैं, पर इतना बल देकर कहना अन्यत्र दुर्लभ है।

सभी सन्त परमात्मा के तीन मुख्य रूपों को किसी-न-किसी प्रकार बताते हैं। ये तीन हैं—अनुग्रह, सौन्दर्य और शक्ति। पर बल तीनों पर समान भाव से नहीं पड़ता। तात्कालिक परिस्थिति और अनुयायियों के अधिकार-भेद से बलाघात बदलता रहा है। गुरु गोविन्दसिंहजी ने अनुग्रह और सौन्दर्य का बहुत मनोहर वर्णन किया, पर जब शक्ति का प्रसंग आता है तो उनकी वाणी अधिक उल्लसित हो उठती है। यही उसकी अपूर्वता है। किसी ग्रन्थ की अपूर्वता का सही निर्णय फल से होता है। इस ग्रन्थ के लिखने का परिणाम क्या हुआ? परिणाम इतिहास-विदित है। गुरुजी ने सब प्रकार से उपेक्षित, असहाय, भीरु जनता में ऐसी उत्साह-वृत्ति और उमंग पैदा की, ऐसा साहस और निर्भीक भाव उत्पन्न किया, आत्म-सम्मान और नवजीवन की ऐसी तरंगें उल्लसित कीं कि इतिहास में उदाहरण खोजना कठिन हो गया है। दशम ग्रन्थ मनुष्य को परमुखापेक्षी, भीरुता, कायरता, पस्तहिम्मती और निराशा से उबारकर पूर्ण गौरवमय आसन पर प्रतिष्ठित करने में पूर्ण सफल हुआ है। इससे बढ़कर उसकी अपूर्वता का क्या सबूत हो सकता है? उनके लक्ष्यीभूत श्रोता इस प्रतिज्ञा पर खरे उतरे हैं—

> जो किछु इच्छ करौं धन की तो चलौ धन देसन देस ते आवै।
> औ सब रिद्धिन सिद्धिन पै हमरो नहिं नेकु हिया ललचावै॥

और गुनी कछु जोग किनै कहि कौन इतो तप के तन तावै ।
जूझ मरौ रन मे तजि भै तुम तें प्रभु स्याम इहै वर पावै ॥

5. अर्थवाद और उपपत्ति : किसी मुख्य बात को पाठक या श्रोता के चित्त मे अच्छी तरह स्थापित कर देने के उद्देश्य से ग्रन्थकार बहुत-सी कथाएँ, स्तुतियाँ, विवरण आदि दिया करते हैं। ये सब ग्रन्थकार के उद्दिष्ट सम्प्रेष्य नही होते। जैसे, सती-धर्म की शिक्षा देने के लिए अनेक कथाओं का कहना, जो या तो सती-धर्म के विरुद्ध जानेवाली प्रवृत्तियों की कुत्सा के रूप मे या सती-धर्म की मनोवृत्ति की प्रशंसा के लिए कही गयी हो। ग्रन्थकार का उद्देश्य होगा केवल सती-धर्म के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना। बाकी सब गप्प है, अर्थवाद है। दशम ग्रन्थ के उपाख्यान इसके उदाहरण-रूप मे रखे जा सकते है। इसी प्रकार ग्रन्थकार बार-बार जिस बात की 'इसलिए, अतएव' कहकर स्थापना करता है, उसे उपपत्ति कहते है। दशम ग्रन्थ के अर्थवादों को लेकर बहुत शंकाएँ प्रकट की गयी हैं, उपपत्ति पर ध्यान ही नही दिया गया। उपपत्ति के आलोक मे अर्थवाद को देखना सही देखना होगा। संक्षेप मे दशम ग्रन्थ का तात्पर्य इस एक सवैये मे आ गया है—

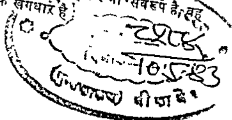
धन्य जीउ तेहि को जग मे मुख तैं हरि चित्त मे जुद्ध विचारै।
देह अनित्त न नित्त रहै जस नाव चढै भवसागर तारै ॥
धीरज धाम बनाए इहै तन बुद्धि सु दीपक ज्यूँ उजियारै।
ज्ञानहि की बढनी मनहु हाथ लै कातरता कुतवार बुहारै ॥

दशम ग्रन्थ के कई प्रसंगों मे प्रेम का तत्काल प्रचलित रूप मे चित्रण मिलता है। सभी वीर-काव्यों में शृंगार वीररस का सहायक चित्रित किया गया है। परन्तु इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में मनुष्य के सुकुमार भावो की रक्षा के लिए साहस, शौर्य और निर्भीकता को आवश्यक दिखाया गया है। मनुष्य-जीवन को सन्तुलित रूप से चित्रित किया गया है। यद्यपि काल की सीमा से परे का अकाल-पुरुष सदा एकरस, एक-रूप निर्विकार है, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि यह विभिन्न परिदृश्यमान रूप, या सत्त्व, रजस और तमस गुणो के प्रसार-विस्तार से स्थापित होनेवाला आभासिक जगत् उसका रूप नही है। वह एकरूप होकर भी सर्वरूप है, वह निर्विकार होकर भी विकृतियो का विध्वंसक खंगधारं है :

नमो देव देवं नमो खंगधारं
सदा एक रूपं सदा निर्विकारं ।
नमो राजसं सातकं तामसेनं
नमो निर्विकारं नमो निर्गुरेणं ।

और फिर वही निर्विकार—

कहूँ रूप धारे महाराज सोहं,
कहूँ देव के पात के मान मोहं ।
कहूँ वीर (बीर) ह्वै कै धरै वाणपाणं,
कहूँ भूप ह्वै कै बनाए निशानं ।



सो, रूप-रूप मे विराजमान अरूप तत्त्व चरम लक्ष्य है। पर उसकी प्राप्ति जगत् मे व्याप्त अत्याचार और अन्याय की उपेक्षा करके नही हो सकती। उसका खंगधारं, वाणवाण रूप सदा ध्यातव्य है। यही दशम ग्रन्थ का विशेष सम्प्रेषितव्य सन्देश है। यही उसकी समसामयिक धर्मोपदेशो से अपूर्वता भी है। वह धर्म-साधना को व्यक्तिगत जप-तप तक सीमित नही रखना चाहता, उसके लिए सामाजिक कर्त्तव्य अवश्य करणीय है। सामाजिक कर्त्तव्यो के यथा देश, यथा काल रूप बदल सकते है, पर मूल लक्ष्य अकाल-तत्त्व की आराधना और प्राप्ति ही है। उसका नाम सब कार्यो को सिद्ध करता है —'जपौ तास नामं, सरैं सर्व कामं।'

जैसाकि ऊपर बताया गया है, गुरु गोविन्दसिंह समग्र मानवता के कवि थे। उनकी कविता मे ज्ञान, भक्ति, सेवाभाव, वीरधर्म, शृंगार, प्रेम, प्रकृति और मानव-सौन्दर्य—सबको स्थान है। वे भक्त भी थे, बादशाह भी थे, वे सन्त भी थे, योद्धा भी थे, वे कवि भी थे, वे मस्तमौला भी थे, परदु सकातर भी थे। उनका जो व्यक्तित्व इन रचनाओ मे प्रतिफलित हुआ है वह शौर्य, औदार्य, शील और सहृदयता का मिलित रूप है। जिस प्रकार लोग उनके सन्त और योद्धा रूप के बीच सामंजस्य नही ढूँढ़ पाते, उसी प्रकार लोग उनके भक्त और प्रेमी रूप मे भी सामजस्य नही खोज पाते। वे कविता को पूरी मनुष्यता के उद्बोधन का साधन बनाना चाहते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि प्रेम द्वारा ही प्रभु को प्राप्त किया जा सकता है। यह प्रेम विविध रूपो मे प्रकट हो रहा है। दुखियो की रक्षा के लिए खिची तलवार की धार में वही चमकता रहता है, और विरह-कातरा रमणी के आँसुओ की धार मे भी वही दमकता रहता है। सच्चा प्रेम उदात्त मानवीय गुण है। गुरुजी के दरबार मे रहनेवाले कवि हसराज ने ठीक ही कहा था :

चारौ चक्र सेवैं गोविन्द तिहारो पाय
मेरे जान आज तु ही दूजो करतार है।
प्रबल प्रचण्ड खण्ड खण्ड महिमण्डल माँहि
साँचो पातसाह जाको साँचो सिरभारं है।
कामना के दान वानिजा की हंसराज कहै,
परम धरम देखैं विविध विचार है।
परम उदार पर पीर के हरन हार
कौन जानै कौन भाँति लीनो अवतार है।

गुरुजी की काव्य-साधना भी उनकी प्रभु-भक्ति के समान पवित्र और गम्भीर थी। उन्होंने काव्य-साधना को बड़ी गम्भीरता मे अपनाया था। छन्दों के तो वे बादशाह ही हैं। कम कवियों ने इतने विविध और विचित्र छन्दों का प्रयोग किया होगा। वे जिस रूप मे आज उपलब्ध हैं उनमे कदाचित् प्रतिलिपि की त्रुटियाँ रह गयी हैं और इसीलिए कहीं-कहीं वे त्रुटित-से लगते है। पर इसमे कोई सन्देह नही कि छन्दों पर उनका अधिकार था। दशम ग्रन्थ के परम्परालब्ध काव्य-रूपों और ...व्यार्थों का पूरी तरह उपयोग किया गया है। वीर-काव्य की ध्वनितरंगोत्पादिनी

काव्य-धारा का रूप इसमे मिल जायेगा, भक्ति के पदो की परम्परा उसमे पूरी तरह कायम है। भाव और उक्ति-विलास की रीति-परम्परा उसमे जीवन्त रूप मे मिलेगी और हिन्दी मे प्रायः लुप्त हो गये और तुलसीदास द्वारा तिरस्कृत कहानी, उपाख्यान के रूप भी उसमे मिलेंगे। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे यह विरल महत्त्व का ग्रन्थ है।

मेकालिफ ने 'सूरज प्रकाश' के माध्य पर बताया है कि गुरुजी किस प्रकार कविता लिखा करते थे। "वे प्रात काल बहुत सवेरे उठते, स्नान करते और दूर तक टहलने निकल जाते थे, और निर्बाध एकान्त मे बैठकर तीन घण्टे तक काव्य-रचना किया करते थे। पहले उन्होने भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद कृष्णावतार काव्य लिखा। यह काव्य मुख्यत उपमा-रूपक अलंकार से अलंकृत करके लिखा गया है। गुरुजी श्रीकृष्ण की लीला, गोपियो के साथ की गयी रासलीला और राधारानी के साथ विशेष प्रेम को चित्रित करने मे विशेष रूप से आनन्दित होते थे।···बीच-बीच मे नदी की बल खाती हुई धारा की शोभा देखते रहते थे और चमकती हुई फेनराशि और नील धाराओ की सुन्दरता से मुग्ध हो जाया करते थे।" (गुरु गोविन्दसिंह', पृ. 14)। इस विवरण से गुरुजी के कवि-रूप का बडा सुन्दर परिचय मिलता है। कृष्णावतार की रचना नि सन्देह बड़े मनोयोग से हुई है। रीतिकालीन साहित्य के उत्तम काव्यों के साथ इसकी अनायास तुलना की जा सकती है, पर जहाँ मनोहर भाव है वहाँ कवि की कला बहुत निखरकर प्रकट हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि दशम ग्रन्थ का कवि सरस सूक्तियो मे अधिक रुचि लेता है। कथा कहते समय वह उतना नही रमता जितना किसी मार्मिक चित्र के चित्रण मे। राधाजी कृष्णजी को देखकर लजाकर झुक जाती है। इस मनोहर शोभा को कवि इस प्रकार चित्रित करता है :

> हँसि बात कही सँग गोपिन के कवि स्याम कहै सिखपान जई।
> मनौ आप ही तो बरम्हा सुरची, रुचि सो यह रूप अनूपमई।
> हरि को पिखि कै निहुराई गई उपमा तिहि की कही भाख दई।
> मनौ जीवन भार सह्यौ न गयौ तिहि तै ब्रजभामिनी नीचै भई।

चण्डी चरित्र हो, चरित्रोपाख्यान हो, कवि सूक्तियो मे रमता है। चरित्रोपाख्यान के एक स्थल पर दो प्रेमियो के मिलने का वर्णन है। दीर्घकाल के विरह के बाद रासालिंगन के कारण रीतिकालीन कवियो के बहुपरिचित व्यापार अनायास घटते हैं। तनी तडक जाती है, अँगिया दरक जाती है और रत्नहार बिखर जाते है। ये सब चिराचरित बातें हैं, किन्तु इस अवसर पर कवि ने निखरते हुए ज्वलन्त मणि रत्नों की विरहाग्नि के छिटकते अंगारो से उपमा देकर एक विस्मयजनक आह्लादक चित्र उरेह दिया है :

> दोउ जो हँसि बातन सग ढरै ते हुलास विलास बढै सिगरै।
> हँसि कण्ठ लगाई लई ललना गहि गाढ़ै अलंग ते अक भरै।

तरकी है तनी दरकी अँगियाँ गरमाल ते टूट कै लाल परैं।
पिय के मिलए तिय के हिय ते अँगरा विरहागिन के निकरैं।

दशम ग्रन्थ समग्र मानवता का उद्बोधन संगीत है। वह सांस्कृतिक पुनरुत्थान का सन्देशवाहक है। आज से तीन सौ वर्ष पहले की सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य मे उसका मूल्यांकन करना चाहिए। इस देश में ऊँच-नीच का ऐसा जटिल विधान शताब्दियों से स्वीकृत है जिसे बड़े-बड़े महात्माओं के उपदेश हिलाने में असमर्थ रहे हैं। गुरुजी ने इस पर कसके प्रहार किया और शताब्दियों से पद-दलित, उपेक्षित जातियों को बन्धन-मुक्त ही नहीं किया बल्कि उन्हें नयी उमंग, नये उल्लास और नये साहस के साथ अन्याय का प्रतिरोध करने योग्य बना दिया। इतिहास मे ऐसा समानान्तर उदाहरण खोजना कठिन है। उस समय के संसार के सबसे प्रबल साम्राज्य के साथ उन्होंने इन्हीं उपेक्षितों के बल पर लोहा लिया। ऊँची जाति के लोग उनका विरोध करते रहे, पर उन्होने वज्र के समान कठोर होकर उसकी उपेक्षा की। उनकी कविता ने इस सम्बन्ध में अद्भुत योग दिया। उन्होंने भारतवर्ष के इतिहास-पुराण और निजन्धरी कथा-साहित्य से चुन-चुनकर वीर पुरुषों का चरित्र संकलन किया। स्त्रियों को उन दिनों बहुत भयंकर अत्याचार का शिकार होना पड़ता था। गुरुजी ने 'चण्डी चरित्र' को उनमें साहस संचार कराने का साधन समझा। इन चरित्रों के प्रेम और शौर्य को उजागर करके रखा। काव्य-ध्वनित तरंग उत्पन्न करनेवाली युयुत्सा-प्रबोधिनी काव्य-शैली—जो चारणों को काव्य-प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी—का प्रयोग किया। इस शैली में अर्थ की सूक्ष्म विवेचना का अवकाश नही रहता। समान वर्णों की ध्वनि-योजना निरन्तर प्रवाह उत्पन्न करती रहती है और रक्त हिल्लोलित करती है। नगाड़े पर पड़ी चोट के वह समानान्तर चलती है। तलवार की झनकार के साथ उसका अनुप्रास मिलता है। वह गति-प्रधान होती है। अलकार-शास्त्रियों के इस प्रकार की कविता को 'अवर' घोषित करने के बावजूद संकटकाल में इसी झंकार-मुखर शैली ने देश के आत्म-सम्मान की रक्षा की थी। गुरुजी इस तथ्य को अच्छी तरह जान चुके थे। उन्होंने जमकर इसका उपयोग किया :

ढमक्क ढोल ढालयं नरोल हाल चालयं,
झटाक झट्ट वाहियं सुवीर सैन गाहियं,
नवं निशाण बाजियं सुवीर धीर गाजियं
कृपाण बाण बाहही अजात अंग लाहही

और,

छकै लोह छाकं मुगं भार बकं।
मुगं मुच्छ वंकं भिरै छाड़ संकं।
हकं हाक बाजी पिरी गैण गाजी।
निरै नार दूकं मुगं भार कूकं।

सर्कं सूर संगै मनौ सिद्ध गंगं।
ढहै ढाल ढक्कं कृपाण सडक्क।
हकं हाक वाजी न चे तुद ताजी।
रसं रुद्र पागे भिरै रोप जागै। ('वचित्र नाटक')

और,

तुप्पक तड़ाक कँवर कड़ाक
सैहथि सड़ाक छौही छड़ाक।
हुक्कँ वकाण धुक्कँ निसाण।
वाहै तड़ाक झल्लै झडाक।
जुज्झै निहंग निहै मलंग
खुल्लै किसार जनु जटाधार।

गुरु गोविन्दसिंह ने किसी सीमित लक्ष्य के लिए संघर्ष नहीं किया। वे अकाल के उपासक थे। अकाल अर्थात् कालातीत। सारा परिदृश्यमान जगत्प्रपच काल का परिणाम है—ब्रह्मा भी, विष्णु भी, शिव भी, योगी भी, सिद्ध भी, गन्धर्व भी, नाग भी, यक्ष भी, असुर भी। इस काल के परे केवल एक नित्य विराजमान तत्त्व अकाल है :

कालहि पाय भयौ भगवान सु, जागत भा जग जाकी कला है।
कालहि पाय भयौ बरम्हा सिव, कालही पाय भयौ जुगिया है।
कालहि पाय सुरासुर गन्ध्रव, जच्छ भुजग दिसा विदिसा है।
और सुकाल सबै बस काल के, एक ही काल अकाल सदा है।

परन्तु किसी एक के द्वारा इस तत्त्व की उपलब्धि काफी नहीं है। पूरे समाज को इसे उपलब्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। गुरुजी इस तत्त्व की उपलब्धियों के मार्ग वास्तविक जीवन को निरन्तर कर्ममय रखकर इसकी उपलब्धि में विश्वास करते थे। उन्होंने जो रास्ता अपनाया वह सामूहिक प्रयत्न का मार्ग था। उनके संघर्षों ने सिद्ध कर दिया कि सामूहिक रूप से अकाल तत्त्व का आदर्श काल-प्रवाह को मोड़ सकता है। उन्होंने भारतीय इतिहास की धारा ही पलट दी। बड़े सौभाग्य से राष्ट्र को ऐसा लोकनायक मिलता है और बड़े दुर्भाग्य से उसके आदर्शों और प्रेरणाओं को भुला दिया जाता है। भारतवर्ष को दोनों प्राप्त हैं। सौभाग्य से हमें ऐसा नेता मिला था। दुर्भाग्य से हमने उसके आदर्शों को भुला दिया। आज हमें अपने सौभाग्य पर गर्व करने और दुर्भाग्य को मिटा देने का अवसर मिला है।

दशम ग्रन्थ की कुछ मनोहर सूक्तियों के नमूने दिये बिना इसके काव्य-सौन्दर्य की चर्चा अधूरी रहेगी।

श्वेतवसना राधारानी की आदर्श शोभा इस प्रकार बतायी गयी है :

सन्त धरैं सारी ब्रिसभान की कुमारी जस ही की
मनौ बारी ऐसी रची है न की दई।

रम्भा उरवसी और सची सुमन्दोदरी पै
ऐसी प्रभा का की जगबीच न कयू भई।
मोतिन के हार गरे हार रुच सो सुचार
कान्ह जू पै चली कविश्याम रस के लई।
सेते साज साज चली सांवरे के प्रीत काज
चांदनी मे राधा मानो चांदनी सी ह्वै गई।

6. उपमा और उत्प्रेक्षा : विशेषकर उत्प्रेक्षा कवि के प्रिय अलंकार हैं। उत्प्रेक्षण कवि की नयी सूझ का कौशल है। सूक्तियों में इन्हीं का चमत्कार है। *'चण्डी चरित्र' मे चमत्कारी उपमा-उत्प्रेक्षाएँ भरी पड़ी है :*

दौरि दई अरि के मुख में कट ओठ
दिए जिमु लौह की छैनी।
दांत गंगा जमुना तन श्याम सु
लोहु बहा मिहि माँह त्रिवेनी।

धाय गदा गहि फोरि कै फौज को
घाव सिवा सिर दैत के मार्यो।
शृंग धराधर ऊपर की जनु
कोप परन्दर बज्र पहार्यो।

देखि चनू महिसासुर की कर चण्ड कुबण्ड प्रचण्ड धर्यो है,
दक्षिण वान चलाय घने सर कोलि भयानक जुद्ध कर्यो है।
भैजन भे अरि के तन ते छुटि श्रोण समूह धारन पर्यो है,
आठवों सिंधु पचायो हुतो मनो या रन मे विधि ने उगर्यो है।
चण्डी कुबण्ड ते वाण छुटै इक ते दस-सौ से सहसर बाढै,
लक्षक ह्वै करि जाई सगे तन दैत्यन माझ रहे गढ गाढै।
को कवि ताहि सराहि कहै अतिसै उपमा जु भई विन काढै
फागुन पौन के गौन वग जनु पात विहीन रहे तरु डाढै।
श्रोन भरी यहरै कर दैत्य के को उपमा कवि और विचारै,
पान गुमान सो खाय अघाय मनो जम आपन जीभ निहारै।
वाहु कटी अधबीच मे सुण्ड सी सो उपमा कवि ने बरनी है,
आपस में नति कै सुमनौ गिरि सै गिरी सांध की दो धरनी है।

भारतीय धार्मिक साहित्य में दशम ग्रन्थ का स्थान

भक्त और श्रद्धालु जन दशम ग्रन्थ का दसवें गुरु श्री गुरु गोविन्दसिंहजी की कृति के रूप में सम्मान करते है। इस ग्रन्थ को समझने के लिए गुरु गोविन्दसिंह को समझना आवश्यक है। गुरुजी पूर्ण पुरुष थे। पूर्ण पुरुष अर्थात् ज्ञान-कर्म-प्रेम-भक्ति का सन्तुलित व्यक्तित्व। उनमे लाखो-करोडो को प्रभावित कर सकनेवाली आध्यात्मिक शक्ति तो थी ही, उसके साथ ही हृदय का वह महान् ग्रहणशील धर्म भी था जो हर व्यक्ति के दुःख-सुख, राग-विराग और आशा-आकाक्षा की धडकन सुन सकता हो और उसे दूसरो के लिए प्रत्यक्ष संवेदन बना सकता हो। वे कवि थे। वे छन्दों के बादशाह थे। वे मानव-संवेदना के महान् चुम्बक थे। उनके कवि-रूप से लोग बहुत कम परिचित है। वस्तुत उनकी अपूर्व सफलता का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहस्य उनका कवि-हृदय था। वे मनुष्य को उसके बाहरी आवरण को भेदकर देख सकते थे। कई बार प्रतिपक्षियों के प्रति भी उन्होंने उसी सहृदयता और दयार्द्रता का व्यवहार किया था जो अपने निकटतम स्वजनो के प्रति किया करते थे। दल, सम्प्रदाय, जाति और उपजाति के द्वारा परिचय देना और प्राप्त करना साधारण लोगो का ढग है। इन ऊपरी आवरणो के तत्त्व मे मनुष्य का एक ही प्रकार का हृदय विद्यमान है। एक ही प्रकार की आशा-आकांक्षाएँ तरगित हो रही है। यह समझनेवाला कोई कवि-हृदय ही हो सकता है। गुरुजी को ऐसा ही कवि-हृदय प्राप्त था। उनके व्यक्तिगत जीवन मे इस प्रकार की पारदर्शिता के अनेक उदाहरण मिलते है। वे देश और काल की सीमाओं का अतिक्रम कर सकते थे। लेकिन कल्पना के जीवों की रचना करनेवाले कवियों में उनकी गणना नही हो सकती। उन्होंने जीवन के अतल गाम्भीर्य मे स्थित सौन्दर्य को भी देखा था और उसके ऊपरी सतह पर दिखायी देनेवाली घिनौनी कुरूपता को भी। एक का प्रत्याख्यान उनकी कलम ने कराया और दूसरे का प्रत्याख्यान उनकी तलवार ने। वे 'इद ब्राह्मामिदं क्षात्रं शायादपि शरादपि' के मूर्त्तिमान रूप थे। वे काल-प्रवाह की उपेक्षा नही कर सकते थे, क्योंकि जिस उपादान से वे नव-निर्माण करना चाहते थे वह काल-प्रवाह मे बहकर आया था। उसका सारा अस्तित्व उन सस्कारो के ताने-बाने से बना था जो काल-देवता की देन थे। परन्तु साथ ही वे कालातीत सत्य को, अकाल-तत्त्व को सदा अपने सामने रखकर चलनेवाले थे। इसीलिए उनका व्यक्तित्व बहुत सन्तुलित था। उनमे कवि की सवेदना, सहृदय की ग्रहणशीलता, वीर का उत्साह और सन्त की अनाविल दृष्टि का अद्भुत मेल है। उनके साहित्य का अभी सही मूल्यांकन नही हुआ। अधिकतर श्रद्धातिरेक तथा अपनी-अपनी मान्यताओं के आरोप का आग्रह और बाह्य रूपगत विश्लेषण ही उसके अध्ययन

के नियामक बने रहे है। हिन्दी क्षेत्र मे तो इतना भी नही हुआ। कम ही लोग उनके सन्तुलित व्यक्तित्व की व्याख्या कर सके हैं।

दशम ग्रन्थ के उपाख्यान निमित्त मात्र है। वे विभिन्न पुराणो मे दर्शित कथानकों से नही मिलते। कथासूत्र के कुछ क्षीण तन्तु लिये गये हैं, उन्हे अधिक-से-अधिक मानवीय स्तर पर ले आने का प्रयास किया गया है और रह-रहकर—कभी-कभी अप्रत्याशित रूप से—'असुर निकन्दन, खलदल-भंजन शत्रु विहण्डन' युद्ध शुरू हो जाते है। रामावतार में एक स्थान पर जानकी की कमनीय शोभा का बहुत मोहक वर्णन चल रहा है। राम और सीता एक-दूसरे को तल्लीन होकर देख रहे है :

छकै प्रेम दोनो लगै नैंने ऐसे। मनो फांद फांदै मृगीराज जैसे।
विधं वाक बैनी कट देस छीन। रँगे रंग रामं नैनं प्रवीकं॥

सामाजिक कर्त्तव्यो के यथा देश, यथा काल रूप बदल सकते है, पर मूल लक्ष्य अकाल-तत्त्व की आराधना और प्राप्ति ही है। उसका नाम सब कार्यो को सिद्ध करता है—जपौ तास नामं सरै सर्व कामं।

और अन्त में

आज पण्डितजी की पुस्तक 'सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण' प्रकाशित करते मुझे हर्ष और विषाद की अनुभूति एक साथ हो रही है। हर्ष इसलिए कि सिक्ख गुरुओ पर यह पुस्तक लिखने और प्रकाशित कराने की साध पण्डितजी के मन मे कई सालों से थी, जो आज इसके प्रकाशन के साथ पूरी हुई है, और विषाद इसलिए कि अपनी साध को पूरी होते देखने के लिए पण्डितजी हमारे बीच नही है। पण्डितजी की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें राजकमल मे प्रकाशित हुई हैं, लेकिन उन्हे लिख लेने के बाद उनके प्रकाशन को लेकर कोई त्वरा मैंने कभी पण्डितजी मे नही देखी। अक्सर ही कोई पुस्तक समाप्त करके एक वैराग्य उनके मन मे आ जाता था, कुछ ऐसा भाव कि उन्होने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया, जो लिखा गया है वह अब उनकी नहीं, दूसरों की सम्पत्ति है और उस सम्पत्ति के संरक्षण का कर्त्तव्य वे निबाहें। 'पुनर्नवा' की पाण्डुलिपि प्रकाशन के लिए हमारे पास आयी, तो उसमे टाइपिंग की अशुद्धियाँ बहुत ज्यादा थी। उनसे एक बार देख लेने का अनुरोध किया गया तो उन्होने हँसकर टाल दिया और बोले कि 'मुकुन्द से ठीक करा लेना। उनके पास समय न हो तो आप ही कार्यालय में किसी व्यक्ति से उसे दिखवा लेना।' लेकिन 'सिक्ख गुरुओ का पुण्य स्मरण' के मामले मे वे पूरी तरह सतर्क थे, उसकी पाण्डुलिपि 'टाइप हो जाने पर किसी मित्र से दिखा लेना' चाहते थे, उसके 'मूल पाठों को मिला' लेना चाहते थे। बराबर डर रहे थे 'कि कही कुछ अशुद्ध न हो जाये।' यहाँ तक कि 'छपने के समय दिल्ली मे ही रहना' चाहते थे, ताकि अन्तिम प्रूफ एक बार स्वयं देख सकें। इस बात के प्रति भी सजग थे कि 'विघ्न बहुत आ रहे हैं', इसलिए 'जल्दी' सब काम हो जाना चाहिए। लगता है जैसे उन्हें भावी घटना का पूर्वाभास हो गया था, और क्योकि इस पुस्तक को वे अपने जीवन-काल मे प्रकाशित देखना चाहते थे, इसीलिए जल्दी करने का आग्रह कर रहे थे। जल्दी की भी गयी, और अन्तिम प्रूफ तैयार होने के समय वे रहे भी दिल्ली मे ही, लेकिन वह रहना भी क्या रहना था! लगता था जैसे अपनी बात पूरी करने के लिए ही वे अन्तिम

समय में दिल्ली आन पहुँचे हैं। हम कामना और प्रतीक्षा करते रहे कि वे संज्ञा में आयें, स्वस्थ हों। लेकिन हमारी प्रतीक्षा अनन्त प्रतीक्षा बनकर रह गयी! आखिर, ज्योतिष के उस आचार्य ने जिन विघ्नों की बात कही थी, उन्हें टालना क्या साधारण मनुष्य के वश की बात हो सकती थी!

इस पुस्तक के प्रकाशन को लेकर जो त्वरा और अतिरिक्त सतर्कता पण्डितजी के मन मे थी, उससे मैं यही समझ पायी हूँ कि यह पुस्तक उनके लिए पुस्तक से ज्यादा मानवता के इन महान् सन्देशवाहक गुरुओं के प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करने का एक साधन थी, और वे आतुर इसलिए थे कि श्रद्धा-निवेदन का यह अवसर कहीं उनके हाथ से निकल न जाये!

पण्डितजी में कितनी विनम्रता और शालीनता थी, विद्या के साथ श्रद्धा को कैसे उन्होंने एकमेक कर दिया था, यह उनकी प्रस्तुत पुस्तक से प्रकट होता है, और साथ ही उनके उस अन्तिम पत्र से भी जो उन्होंने पाण्डुलिपि हमारे पास भेजते समय मुझे लिखा था। यह पत्र पुस्तक के प्रारम्भ में दी गयी मुकुन्दजी की भूमिका में उद्धृत है, और आकार मे लघु होते हुए भी पण्डितजी के आन्तरिक व्यक्तित्व को उजागर करता है। इस पत्र को पढकर मैं सोचती रही कि मध्यकालीन साहित्य का इतना बड़ा विद्वान् अपनी पाण्डुलिपि 'किसी जानकार से···दिखा लेना चाहता' है, ऐसी आत्यन्तिक विनम्रता आज के युग मे कहाँ मिलेगी! मामूली ज्ञान के स्वामी लेखक भी जहाँ अपनी रचना के बारे मे 'भूतो न भविष्यति' का भाव रखते हों, वहाँ द्विवेदीजी सरीखे उद्भट विद्वान् अपनी पाण्डुलिपि को लेकर आशंकित हैं कि 'कहीं कुछ अशुद्ध न हो जाये। मुझे ज्ञान कम है। श्रद्धा ही एकमात्र सम्बल है।'

पण्डितजी की यह श्रद्धा-संवलित रचना आज उनकी स्मृति को श्रद्धांजलि-स्वरूप प्रस्तुत है।

6.8.1979 शील। सन्धू

अपभ्रंश साहित्य और सन्त-साहित्य

[फुटकर रचनाएँ]

अपभ्रंश का रसात्मक साहित्य

'अपभ्रंश' भाषा का नाम तो बहुत पहले से सुना जाता रहा है, पर बहुत काल तक इसके साहित्य की जानकारी कम ही थी। सन् ईसवी की बीसवीं शताब्दी में ही इस भाषा के विस्तृत साहित्य का विशेष रूप मे उद्धार हुआ है। 1877 ई. में सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री जर्मन पण्डित पिशेल ने 'प्राकृत-भाषा का व्याकरण' (ग्रामेटिक डेर प्राकृत स्प्राखेन) लिखा था जिसमे हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत-व्याकरण का बहुत अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया था। अब भी यह पुस्तक प्राकृत-भाषा के अध्ययन के लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण बनी हुई है जितनी उस समय थी। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के अन्त मे अपभ्रंश भाषा का व्याकरण दिया है और उदाहरण बताने के लिए ऐसे दोहे उद्धृत किये हैं जिनमे अभीष्ट नियमो के निर्देशक पद आये हैं। पिशेल ने अन्य प्राकृतो के साथ अपभ्रंश का भी विवेचन किया था। बहुत बाद में, 1902 ई. मे उन्होने केवल अपभ्रंश व्याकरण और साहित्य के लिए ही एक अलग पुस्तक लिखी। भामह और दण्डी (7वी शताब्दी) के समय में अपभ्रंश का साहित्य वर्त्तमान था, यह सभी जानते है। बाद के रुद्रट, राजशेखर, भोज आदि अलंकार-शास्त्रियों ने अपभ्रंश भाषा की चर्चा की है। इसलिए पिशेल यह तो समझ ही गये थे कि इस देश मे किसी समय अपभ्रंश का विशाल साहित्य विद्यमान था, इसीलिए उन्होंने तत्कालीन उपलब्ध साहित्य मे से अपभ्रंश की रचनाओ को ढूंढने का बहुत अच्छा प्रयास किया। हेमचन्द्र के व्याकरण में उदाहरणार्थ जो दोहे उद्धृत किये गये है उनके अतिरिक्त 'विक्रमोर्वशीय,' 'सरस्वतीकण्ठाभरण,' 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका,' 'वैतालपंचविंशति,' 'प्रबन्धचिन्तामणि' आदि ग्रन्थो मे उपलब्ध बिखरी रचनाओ का भी उन्होने सकलन किया। सन् 1902 ई. मे 'माटे-रियलिय न सुर कैन्टनिस डेस अपभ्रंश' नामक जिस ग्रन्थ मे इन अपभ्रंश साम-ग्रियो का विवेचन किया गया था, उसे उन्होंने अपने मूल प्राकृत व्याकरण का परिशिष्ट कहा था। इसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया। पिशेल अपभ्रंश के पाणिनि कहे जा सकते हैं। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयजी ने इस

पण्डित की अपूर्व क्षमता को देखकर आश्चर्य के साथ कहा है कि यह विद्वान् कहीं "पाणिनिस्मृत आपिशल नामक वैयाकरण का पुनरवतार तो नहीं था !" मुनिजी ने कई अपभ्रंश और प्राकृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन किया है। 'पउमसिरि-चरिउ' नामक अपभ्रंश काव्य की भूमिका में उन्होंने अपभ्रंश के नवोपलब्ध साहित्य के प्रकाश में आने की मनोरंजक घटना का विवरण दिया है। निस्सन्देह अपभ्रंश साहित्य के नये सिरे से विपुल मात्रा में प्राप्त होने की सूचना हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण और उल्लासवर्द्धक घटना है। बहुत दिनों तक लोगों का यह विश्वास बना रहा कि पिशेल ने अपभ्रंश-साहित्य का जो परिचय दिया है, उससे अधिक अब प्राप्त नहीं है। सन् 1913-14 ई. में हरमन याकोबी नामक जैनशास्त्रमर्मज्ञ जर्मन पण्डित इस देश में आये। जब वे अहमदाबाद के जैन-ग्रन्थ भाण्डार का निरीक्षण कर रहे थे, उसी समय एक जैन साधु के पास उन्हें 'भविसयत्त कहा' नामक काव्य देखने को मिला। इसे प्राकृत में ही लिखा समझा गया था। पर जब याकोबी ने उसे देखा तो उल्लास से फड़क उठे। यह वस्तुतः अपभ्रंश का काव्य था। इन्हें ही राजकोट में एक अन्य जैनमुनि से 'नेमिनाहचरिउ' भी प्राप्त हुआ। 'भविसयत्त कहा' की प्रतिलिपि और फोटो प्राप्त करने में याकोबी को बड़ी कठिनाई हुई थी। वे दृढ़व्रती थे। इन ग्रन्थों की प्रतिलिपि लेकर वे अपने देश को चले गये। तब तक यूरोपीय प्रथम महायुद्ध का बिगुल बज गया। इन ग्रन्थों के प्रकाशन का काम बन्द हो गया। युद्ध-समाप्ति के बाद ही 1918 ई. में याकोबी द्वारा सम्पादित 'भविसयत्त कहा' का प्रकाशन हो सका। तीन वर्ष बाद 'नेमिनाहचरिउ' की एक अन्तःकथा 'सणंकुमारचरिउ' का याकोबी द्वारा सम्पादित रूप प्रकाशित हुआ। उधर युद्ध के धुएँ से याकोबी का परिश्रम आच्छादित हो रहा था, इधर बड़ौदा के महाराज सर सयाजीराव गायकवाड़ की आज्ञा से 1914 ई. में श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण के सुप्रसिद्ध जैन भाण्डार की जाँच की और कई पुस्तकें ऐसी प्राप्त की जो अपभ्रंश भाषा में लिखी गयी थीं। 'सन्देशरासक,' 'वज्रस्वामि-चरित,' 'अन्तरंग-सन्धि,' 'चौरंगसन्धि,' 'सुलसाख्यान,' 'चच्चरी,' 'भावनासार', 'परमात्मप्रकाश आराधना,' 'मयणरेहा-सन्धि', 'नमयासुन्दरी-सन्धि,' 'भविसयत्त कहा,' 'पउमसिरिचरिउ' आदि ग्रन्थ इसी समय मिले। इनमें से कई एक अब प्रकाशित हो गये हैं। श्री दलाल ने 'भविसयत्त कहा' का सम्पादन भी आरम्भ किया, लेकिन अचानक 1918 ई. में उनका स्वर्ग-वास हो गया। बाद में स्व. पाण्डुरंग गुणे ने इसे पूरा किया। यह संस्करण भी बड़ौदा से प्रकाशित हो गया है। बहुतेरे ग्रन्थ-भाण्डारों में अपभ्रंश की रचनाओं को प्राकृत मान लिया गया था। सन् 1918 ई. में जब भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट की स्थापना हुई और डेकन कॉलेज में सुरक्षित हस्तलेख उसमें स्था-नान्तरित किये गये तो सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजयजी को जैन हस्तलेखों के परीक्षण का अवसर मिला। उस समय अनेक महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रन्थों का पता लगा। पुष्पदन्त कवि का 'तिसट्ठि लक्खण महापुराण,' स्वयम्भू का 'पउमचरिउ,'

'हरिवंश महापुराण' आदि बहुमूल्य ग्रन्थ प्राप्त हुए। स्व. पं. नाथूरामजी प्रेमी ने बाद में 'जसहरचरिउ' और 'कुमारचरिउ' नामक दो अपभ्रंश ग्रन्थों का सन्धान बताया। प्रो डॉ. हीरालाल जैन ने कारजा के भाण्डार से 'करकण्डुचरिउ', 'सावय धम्म दोहा', 'पाहुड दोहा' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को खोज निकाला। फिर तो विभिन्न शोध-प्रेमियों ने परिश्रम से अपभ्रंश साहित्य के विपुल भण्डार के अनेक ग्रन्थरत्नों का अनुसन्धान, सम्पादन और व्याख्या की जिनमे श्री मुनि जिनविजयजी, आदिनाथ उपाध्ये, हीरालाल जैन, परशुराम लक्ष्मण वैद्य, राहुल सांकृत्यायन, हरिवल्लभ भायाणी आदि उल्लेख्य है।

अभी तक जिस साहित्य की चर्चा की गयी है वह जैन स्रोतो से प्राप्त हुआ साहित्य है। स्वभावतः इनमे अधिकाश जैन कवियो की रचनाएँ हैं। एकमात्र अपवाद 'सन्देश-रासक' है जो किसी 'अद्दहमाण' नामक जुलाहे कवि का लिखा हुआ 'रासक' सज्ञक खण्डकाव्य है। उसका प्रतिपाद्य विषय ऐहिक रस या लौकिक शृंगाररस है; शृंगाररस मे भी विप्रलम्भ। बाकी जैन कवियो की रचनाएँ है। ऐसा तो नही है कि उनमे ऐहिक रस हो ही नही, पर मुख्य लक्ष्य जैन धर्मसम्मत किसी जीवनोद्देश्य का प्रचार है। निस्सन्देह उसको बहाना बनाकर उत्तम रसपरक साहित्य इसमें मिल जाता है। जैन रचनाओ मे सगृहीत कविताएँ ऐसी भी हैं जो विशुद्ध लौकिक शृंगार या नीति-विषयक है। वे आभास देती हैं कि बहुत बड़ा साहित्य इस श्रेणी का भी रहा होगा। 'प्रबन्ध चिन्तामणि,' 'प्रबन्धकोश,' 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' आदि मे शृंगाररस के बहुत सुन्दर मुक्तक प्राप्त होते हैं और स्वय हेमचन्द्र के व्याकरण मे उच्च कोटि के शृंगारी दोहे उदाहृत हुए है।

जैनेतर सम्प्रदायो के अपभ्रंश-काव्य नाना कारणो से सुरक्षित नही रह सके परन्तु 'सरस्वतीकण्ठाभरण,' 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका,' 'वैतालपचविंशति,' 'भरटक-द्वात्रिंशतिका' और सबसे अधिक, 'प्राकृतपैंगलम्' के उदाहरणो मे इस प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध होती है जिससे यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि अपभ्रंश की बहुत-सी रचनाएँ जैन-सम्प्रदाय के बाहर भी थीं जो अब ग्रन्थरूप में उपलब्ध नही है। 'प्राकृतपैंगलम्' छन्दोविधान का ग्रन्थ है। सन् 1902 ई. मे इसका सम्पादन श्री चन्द्रमोहन घोष ने किया था, जो 'बिबिलियोथिका इंडिका' ग्रन्थमाला मे प्रकाशित हुआ था। इसमे छन्दों का उदाहरण देने के लिए अनेक अपभ्रंश कविताओ का संग्रह किया गया है। इन उदाहरणों से पता चलता है कि अपभ्रंश-कविता कितने विचित्र और विविध रूपों मे किसी समय मिलती थी। इधर स्वयम्भू नामक जैन कवि का लिखा हुआ 'स्वयम्भूच्छन्दस' नामक पिंगल-शास्त्रीय ग्रन्थ भी आंशिक रूप में उपलब्ध हुआ है, जो इस भाषा की काव्य-सम्पत्ति के वैचित्र्य और वैविध्य का साक्षी है।

परन्तु इतना ही सब-कुछ नही है। सन् 1916 ई. में महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से कुछ अपभ्रंश की रचनाएँ प्रकाशित करायी जिन्हे उन्होंने पुरानी बंगला में लिखित बताया। इसमें अनेक

सिद्धो के गान और दोहे मिलते है। दोहो की भाषा तो परिनिष्ठित अपभ्रंश से मिलती-जुलती है, पर गानो की भाषा में पूर्वी प्रदेशों की पुरानी बोलियो का मेल मिलता है जिसके कभी बँगला, कभी मगही, कभी उड़िया और कभी भोजपुरी के पूर्वरूप होने का दावा उपस्थित किया गया है। सचाई यह है कि ये रचनाएँ मगध मे प्रचलित किसी ऐसी भाषा के रूप हैं जो आधुनिक पूर्वी भाषाओ की जननी है। महामहोपाध्याय पं हरप्रसाद शास्त्री के बाद अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के साहित्य का अध्ययन किया। उन्होने नयी-नयी रचनाओ का उद्धार किया। इनमें उल्लेख योग्य हैं—डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची, डॉ. शहीदुल्ला और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने सरहपा के शताधिक नये दोहो को खोज निकाला है जो शास्त्रीजी के संग्रह में अनुपलब्ध थे।

महामहोपाध्याय पं हरप्रसाद शास्त्री ने पहले-पहल विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' का प्रकाशन बंगाक्षरों में कराया था। 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका'—ये दोनो रचनाएँ विद्यापति की है। इनकी भाषा भी एक तरह की देश्यमिश्रित अपभ्रंश ही है। कम-से-कम दोहो मे तो परिनिष्ठित अपभ्रंश के रूप स्पष्ट ही मिलते हैं। स्वयं कवि ने इस भाषा को अवहट्ट कहा है। इसमें तत्काल प्रचलित मैथिल अपभ्रंश के रूप भी मिल जाते है। 'सन्देशरासक' के टीकाकार ने उसकी भाषा को भी 'अवहट्ट' ही कहा है। ऐसा जान पड़ता है कि जैनाचार्यों के बनाये व्याकरण-नियमों से जो भाषा पूर्णतः बँधी नही थी, कुछ अधिक विकसित और रूढ़ि-मुक्त थी, उसे अवहट्ट कहा जाने लगा था। साधारणतः भाषाशास्त्री इस प्रकार की भाषा को अग्रेसरित या 'एडवांस्ड' अपभ्रंश कहते हैं। अब इस श्रेणी की भाषा को 'अवहट्ट' कहने की प्रवृत्ति बढ रही है और धीरे-धीरे इस श्रेणी की भाषा के साहित्य को अपभ्रंश-साहित्य से अलग रखा जाने लगा है। परन्तु इस श्रेणी का साहित्य है अपभ्रंश का ही बढाव। पुरानी राजस्थानी और जूनी गुजराती या कभी-कभी पुरानी हिन्दी कहकर भी इस श्रेणी की रचनाओं की भाषा का उल्लेख किया जाता है। इसमे इन आधुनिक भाषाओ के विकास के अध्ययन की सामग्री मिल जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् ईसवी की इस बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे पिशेल ने बहुत थोडी अपभ्रंश रचनाओं से सन्तोष कर लिया था, पर उसके बाद अपभ्रंश का काफी समृद्ध साहित्य उपलब्ध हुआ। यदि अग्रेसरित अपभ्रंश या अवहट्ट की उपलब्ध रचनाओं को भी जोड़ लिया जाये तो अब तक प्राप्त छोटे-मोटे सभी ग्रन्थों की संख्या दो सौ के आसपास पहुँचती है। 8वी शताब्दी से इस साहित्य का सृजन होने लगा था और यद्यपि मुख्य और उत्तम रचनाएँ 12वी शताब्दी तक ही पायी जाती हैं, पर 15वी, 16वी शताब्दी तक अपभ्रंशकाव्य की परम्परा निर्बाध भाव से चलती रही। जान पड़ता है कि हेमचन्द्राचार्य के समय (12वी शताब्दी) मे ही अपभ्रंश भाषा संस्कृत और प्राकृत की भाँति स्थिरीकृत शास्त्रीय रूप ग्रहण कर चुकी थी। बोलचाल में उसका उपयोग नही हो रहा था; क्योंकि

लिखा हुआ काव्य चरित कहलाता है और सब की चर्चा करनेवाला काव्य महापुराण कहलाता है। पुष्पदन्त की एक रचना का नाम 'महापुराण' भी है और 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार' भी। 'पउमचरित' राम की कथा है और 'हरिवंश पुराण' कृष्ण की। श्री हरिवल्लभ भायाणी ने 'पउमसिरिचरिउ' की भूमिका में लिखा है कि स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश के पौराणिक काव्यों और चरित-काव्यों में बहुत अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्यों में विषय का विस्तार बहुत अधिक होने से सन्धियों की संख्या पचास से सवा सौ तक होती है, जबकि चरितकाव्यों में विषय-विस्तार बहुत मर्यादित होता है जिससे सन्धि-संख्या बहुत अधिक नहीं होती। शेष बातों में—जैसे सन्धि, कडवक, तुक, पंक्तियुगल, आदि का दोनों में कोई भेद नहीं होता। ऐसा भी नहीं है कि सभी चरित-काव्य कडवक-बद्ध ही हों। हरिभद्रकृत 'णेमिणाहचरिउ' आद्योपान्त रड्डा छन्द में है। सो, पुराण, चरित और काव्य सभी प्रसिद्ध पौराणिक चरितों को आश्रित करके लिखे चरित-काव्य ही हैं। कथा अवश्य इनसे थोड़ा बाहर पड़ती है, पर सदा नहीं। जैन अपभ्रंश काव्यों में कुछ ऐसी कथाएँ हैं जो किसी वणिककुमार या कुमारी के जीवन पर लिखी प्रेमगाथा की कोटि में आती हैं, परन्तु उद्देश्य उनका भी पाठकों को जैन धर्म की ओर आकृष्ट करना होता है। इन सबको हम प्रबन्ध-काव्य जैसा सामान्य नाम दे सकते हैं। इनमें मानवीय गुणों की, उसकी आशा-आकांक्षाओं की, राग-विरागों की सबल अभिव्यक्ति तो हुई है, पर सब-कुछ अन्त में वैराग्य-प्रवण धर्म की ओर उन्मुख होने का साधन बन जाते हैं। इस प्रकार के जैन-प्रबन्ध काव्य तीन दर्जन से ऊपर प्राप्त हो चुके हैं, और अब भी बहुत-से भाण्डारों में अज्ञात पड़े हुए हैं। इनके रचयिताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं—स्वयम्भू और पुष्पदन्त, तत्रापि स्वयम्भू।

धर्म के गूढ़ तत्त्वों को सामान्य जनता तक पहुँचाने के उद्देश्य से मध्यकाल में ब्राह्मणों और जैनों द्वारा पुराण-साहित्य की रचना हुई थी। जैन पुराण संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं में लिखे गये हैं। पुराण-साहित्य में उत्तम कवित्व बिखरा हुआ है। पर वहाँ मनुष्य के दुःख-सुख, राग-विराग, सफलता-असफलता को उद्देश्य-विशेष के अधीन होना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि समूचा कवि-कर्म पौराणिक मूल उद्देश्य का साधन बन जाता है और सुकवि-नियोजित मानवीय व्यापार अन्त तक हतप्रभ और शिथिल हो जाता है। आरम्भ में उसमें जितना तेज रहता है वह क्रमशः पौराणिक रूढ़ियों और घिसे-पिटे दार्शनिक तत्त्ववादों के सामने क्षीणबल होकर समाप्त हो जाता है। महाभारत और रामायण की ज्वलन्त मानवीय भावनाएँ परवर्ती पुराणों में एकदम ठण्डी पड़ जाती हैं। ऐसा लगता है जैसे जलती हुई अग्निशिखा को छोड़ दिया गया है और बुझे हुए कोयलों का संग्रह किया जा रहा है जिनमें तेज के सिवा बाकी सब-कुछ रहता है। अपभ्रंश के पुराण-साहित्य में भी आरम्भ में जो उदात्त मानव-चरित्र आये हैं वे क्रमशः प्रभाहीन, वैचित्र्यहीन होकर काव्यरूढ़ियों के शिकार हो गये हैं। यद्यपि सौभाग्यवश अपभ्रंश के जैन-प्रबन्धकाव्य काफी मात्रा में उपलब्ध हो गये हैं तथापि

आरम्भ के दो महाकवि ही उसमे सर्वाधिक जाज्वल्यमान है—स्वयम्भू और पुष्पदन्त। जैन अपभ्रंश-प्रबन्ध-काव्य के सर्वाधिक लोकप्रिय चरित्र है ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर जैसे तीर्थंकर और यशोधर, नागकुमार और करकण्डु जैसे चक्रवर्ती नरेश। प्रसगक्रम से राम और कृष्ण के जीवन भी काफी विस्तार से लिखे गये है। पुष्पदन्त का 'महापुराण' अथवा 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार' पुराण और काव्य दोनो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमे जैन साहित्य के 63 शलाका-पुरुषो की कथाएँ है जिनमें 24 तीर्थकर, 12 चक्रवर्त्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव (नारायण) और 9 प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) कुल 63 पुरुषो की चर्चा है। यह महापुराण दो खण्डो मे है—आदि-पुराण और उत्तर-पुराण। आदि-पुराण में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का चरित 80 सन्धियो मे लिखा गया है और उत्तर-पुराण मे शेष 23 तीर्थंकरो और उनके समसामयिक अन्य शलाका-पुरुषो के चरित 42 सन्धियो मे समाप्त किये गये है। जैन-साहित्य मे राम का नाम 'पद्म' है। 'पद्मचरित' का अर्थ है, राम-चरित। 'हरिवंश पुराण' कृष्ण-चरित है। स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' (पद्म-चरित) प्रसिद्ध ही है। पुष्पदन्त के उत्तर-पुराण का एक अंश हरिवंश पुराण है जो कृष्ण-कथा है। 'पद्मचरित' और 'हरिवश पुराण' को क्रमशः राम-काव्य और कृष्ण-काव्य कहा गया है।

स्वयम्भू बहुत ही उच्चकोटि के कवि थे। उनके पुत्र त्रिभुवन भी पण्डित कवि थे। स्वयम्भू ने 'पउमचरिउ' 83 सन्धियो तक ही लिखा था। बाद मे त्रिभुवन ने सात और सन्धियाँ जोडकर उसे पूरा किया था। साधारणतः जैन काव्यो मे ब्राह्मणो और ब्राह्मणमत की कटु आलोचना अवश्य आती है। स्वयम्भू ने भी थोडी-बहुत की है, पर उनका मन इसमे रमता नही। वे उदार अधिक है। उनका काव्य बड़ी व्यापक भूमिका पर है। मनुष्य और प्रकृति के मनोरम चित्र खींचने में वे कमाल करते हैं। राम और सीता को उन्होने उज्ज्वल रूप मे अंकित किया है। राम को उन्होने साधारण मनुष्य के समान ही दुःख मे विचलित देखा है। यद्यपि उनकी तूलिका राग-विरागों के चित्रण मे बड़ी निपुण है और भाषा की बड़ी ही वेगवती धारा उन्हें सहजसिद्ध है, फिर भी राम के चरित्र मे महाकाव्यो-चित गरिमा—जो सुख और दुःख में, सफलता और विफलता में, उल्लास में और अवसाद में अद्वितीयता और अपूर्वता ला देती है—नही आ पायी है। सीता अवश्य उज्ज्वल बनी है, पर अन्त तक जाकर वह भी पराजित-सी होकर वैराग्य-मार्ग का अवलम्बन करती है ताकि फिर दूसरे जन्म में स्त्री होकर जन्म न लेना पड़े। यह सब होते हुए भी स्वयम्भू का काव्य बहुत उच्चकोटि का है। उनके पुत्र त्रिभुवन, पण्डित अधिक हैं कवि कम। महिमा में स्वयम्भू के निकट पहुँचनेवाले प्रबन्ध-कवि पुष्पदन्त है। भाषा की सम्पत्ति में वे स्वयम्भू के समकक्ष हैं। पाण्डित्य में कदाचित् कुछ अधिक ही हो। अपने को उन्होंने 'अभिमानमेरु' कहा है। परन्तु हृदय की उदारता, कल्पना की विशालता, सहज प्रेषण-सामर्थ्य और, सबसे बढ़कर, मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति में वे स्वयम्भू से घटकर ही दिखते हैं। स्वयम्भू की कविता

की भाषा सरल, प्रसाद-गुण-युक्त है; पुष्पदन्त की अलंकृत और शब्दगुणमयी। निस्सन्देह स्वयम्भू और पुष्पदन्त दोनों केवल अपभ्रंश के ही नहीं, भारतीय भाषाओं के काव्य के अद्भुत ज्वलन्त ज्योतिष्क हैं। दोनों भारतीय साहित्य के प्रथम श्रेणी के कवियों में स्थान पाने योग्य है। अब तक अपभ्रंश साहित्य का ठीक-ठीक पता न होने के कारण ही ये दोनों कवि भारतीय काव्य-साहित्य में अपरिचित से रहे हैं। अपभ्रंश भाषा को इन दोनों कवियों ने बड़े ही अनमोल रत्न दिये हैं।

प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त अन्य काव्यरूपों का उपयोग भी जैन कवियों ने किया है। रास, रसायन, फाग, चर्चरी आदि तत्काल-प्रचलित काव्य-रूपों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया गया है। सर्वत्र उद्देश्य है—साधारण जनता में उसी की भाषा में, उसी के परिचित काव्यरूपों के माध्यम से धर्म का सन्देश पहुँचाना।

जोइन्दु का 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' तथा मुनि रामसिंह का 'पाहुड़-दोहा' रहस्यवादी ढग के दोहे हैं, जिनमे बताया गया है कि परमप्राप्तव्य परमेश्वर बाह्य पदार्थों में नहीं है, बाह्याचारों से वह प्राप्त नहीं होता। वह तो अन्तर में ही सदा विद्यमान है। ध्यान से समाधि द्वारा समरसीकृत मनोभूमि पर ही उसका निवास है। इन रचनाओं को आसानी से परवर्ती निर्गुणिया कवियों और समसामयिक बौद्ध और नाथ सिद्धों के दोहों के साथ एक जाति का समझा जा सकता है। जोइन्दु के इस दोहे पर से यदि 'जैन' विशेषण हटा दिया जाये तो ऐसा लगेगा कि वह किसी नाथ सिद्ध या निर्गुणमार्गी भक्त की रचना है। उदाहरणार्थ :

देवु न देवले नहु सिलए, नहु चंदणि नहु चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाण घणु सिउ सठिउ समचित्ति॥

अर्थात्,

देव न देवलि नहिं सिला नहिं चदन नहिं चित्रि,
अक्षय निरंजन ज्ञानधन सिव संस्थित समचित्ति।

बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश-रचनाओं में भी इसी प्रकार के बाह्याचारविरोधी, बाह्य-पूजा-निषेधी समाधिगम्य परमतत्व की झलक मिलती है। जैनों और बौद्धों के तत्त्ववाद अलग-अलग है, पर इस बात मे दोनो एक है कि परम-प्राप्तव्य को खोजने के लिए किसी बाहरी उपादान की जरूरत नहीं है। साधना द्वारा, ध्यान द्वारा उसे अन्तर मे ही उपलब्ध किया जा सकता है। परवर्ती निर्गुणमार्गी कवियों में इस सिद्धान्त की नये सिरे से स्थापना और उसका प्रचार हुआ है। अन्तर इतना है कि उनमे भक्ति नामक नया तत्त्व भी आ जुड़ा है।

सरहपाद कहते हैं कि जब तक खुद ज्ञान न प्राप्त कर लो तब तक शिष्य बनाने की गलती न करो। यह काम कुछ ऐसा ही है जैसे अन्धा अन्धे को कुएँ से काढ़ने का प्रयत्न करता है। दोनो एक-दूसरे को लिये-दिये अन्त मे कुएँ मे जा गिरते हैं। यह दोहा बहुत अंशों में शब्दश ... है ... मिलता है। सरहपाद का दोहा इस प्रकार ... के दोहे से

जाव ण आप जणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ।
अंधां अंध कढाव तिम, वेण्ण वि कूव पडेइ। (सरह)
जाका गुरु भी अंधला चेला खरा निरन्ध।
अंधे अंधा ठेलिया दोऊ कूप पडत॥ (कबीर)

इसी प्रकार सरहपाद कहते है . सारी दुनिया मे अक्षर (शास्त्रज्ञान) बढ गया है, निरक्षर कोई नही। पर अक्षर तभी सार्थक होता है जब निरक्षर (क्षर-रहित) हो जाये :

अक्खर बाढा सअल जगु, णाहि णिरक्खर कोइ।
ताव से अक्खर घोलिया, जाव णिरक्खर होइ। (सरह)

कण्हपा कहते है—पण्डित लोग आगम वेद, और पुराण पढकर मान करते है (पर तत्त्व की बात समझने का प्रयत्न नही करते), यह उसी प्रकार का प्रयत्न है जैसे पके बेल के चारों ओर भौंरा चक्कर लगाता रहता है (पर रस नही पा सकता) :

आगम - वेअ - पुराणेंहि पंडिअ माण वहन्ति
पक्क-सिरीफले अलिअ जिम, वाहेरीअ भमन्ति। (कण्हपा)

जोइन्दु कहते है—देवालय भी, देवता भी, शास्त्र भी, गुरु भी, तीर्थ भी, वेद भी, काव्य भी, सब नाशवान है। जो भी वृक्ष कुसुमित है वह सब अन्ततोगत्वा ईंधन ही हो जाता है :

देउल देउ वि सत्थु गुरु, तित्थु वि वेउ वि कव्वु।
वच्छु जु दीसै कुसुमियउ, इंधणु होसइ सव्वु॥ (जोइन्दु)

मुनि रामसिंह कहते है—बहुत पढता है, पर उसमे तालू ही सूखता है। अरे मूढ, कोई एक ऐसा अक्षर क्यो नही पढता जिससे तू शिवपुर मे पहुँच सके ?

बहुयइँ पढियइँ मूढ पर तालू सूकइ जेण।
एक्कु जि अक्खर तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण॥
(मुनि रामसिंह)

इस प्रकार की ज्ञानमार्गी वैराग्य-व्यंजक रचनाएँ जैन और बौद्ध आचार्यो ने काफी मात्रा मे की थी। सब उपलब्ध नही हो सकी, पर जितनी भी मिली है उनसे इस प्रकार के साहित्य की समृद्धि का पता चलता है और परवर्त्ती हिन्दी साहित्य मे जो इस भावधारा का समृद्ध साहित्य उपलब्ध होता है, उसका प्रेरणास्रोत और विकास-क्रम समझना आसान हो जाता है। अपभ्रंश-काव्य-परम्परा का यह एक महत्त्वपूर्ण अंग है। पर मैं आपको इसमे अधिक देर भटकाना नही चाहता। अब हम अपभ्रंश के रसात्मक साहित्य की चर्चा करेंगे।

अपभ्रंश-ग्रन्थों के प्रकाशन से अनेक साहित्यिक रहस्य स्पष्ट हुए है। जब-जब कोई जाति नवीन जातियो के सम्पर्क मे आती है तब-तब उसमे नयी चेतना के लक्षण दिखायी देते हैं। साहित्य में नवीन चेतना काव्यरूपो, छन्दों और विषय-विशेष के प्रति दृष्टिकोण मे प्रकट होती है। वैदिक साहित्य के बाद लौकिक सस्कृत-

काव्य की नयी चेतना की सूचना श्लोक से मिलती है, प्राकृत की गाथा से और अपभ्रंश की दोहा छन्द से। दोहा अपभ्रंश का इतना लाड़ला छन्द है कि किसी समय अपभ्रंश काव्य को दोहाबन्ध या दूहाविद्या कहने की प्रथा चल पड़ी थी। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में दो बन्दीजनों को दूहाविद्या में विवाद करते हुए कहा गया है। दूहाविद्या अर्थात् अपभ्रंश-काव्य। माइल्ल धवल नामक कवि ने 'दव्वसहाव-पयास' (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) को पहले दोहाबन्ध में लिखा था। लोग उसका उपहास करते थे। अपभ्रंश गँवारू भाषा जो ठहरी! यह देखकर कवि माइल्ल धवल ने उसे गाहाबन्ध (गाथाबन्ध) में परिवर्तित किया :

'दव्वसहाव पयास' दोहयबंधेण आसि ज दिट्ठं।
त गाहाबधेण य रइयं माइल्ल धवलेण।

गाहाबन्ध की यह भाषा प्राकृत है। कहने का मतलब यह कि दोहा छन्द अपभ्रंश में इतना प्रचलित था कि लोग छन्द और भाषा को एकमेक करके देखने लगे थे। कब यह सहज-मनोहर छन्द भाषा-काव्य में आ गया, यह कहना कठिन है। इसका सबसे पुराना प्रयोग कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में मिलता है। राजा पुरूरवा प्रिया-विरह में व्याकुल जंगल में घूम रहा है। वह उन्मत्त है, राजोचित मर्यादा की बात भूल जाता है। नियम-कायदे से राजा को संस्कृत में ही बोलना चाहिए, ऐसा नाट्यशास्त्री आचार्यों का कठोर निर्देश है। इस नियम की अवहेलना केवल पागल ही कर सकता है। राजा पुरूरवा सचमुच पागल हो गया था। वह संस्कृत छोड़कर प्राकृत में बोलता है, कभी-कभी अपभ्रंश में भी। अपभ्रंश जब बोलता है तो अनायास यह दोहा उसके मुँह से निकल पड़ता है :

मइँ जाणिअँ मिअलोयणी णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव ण णावतडि सामलो धाराहरु बरिसेइ।

इसे ब्रजभाषा का दोहा बनाने में बहुत थोड़ा ही आयास करना पड़ेगा—

मैं जान्यो मृगलोचनिहि निसिचरि कोइ हरेइ।
जौं लो न नव तडि श्यामल धाराधर बरसेइ॥

कुछ लोग अपभ्रंश के इन पद्यों को प्रक्षिप्त मानते हैं। यदि कालिदास का काल सन् ईसवी की पाँचवीं-छठी शताब्दी हो तो यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं है कि उस समय दोहा छन्द प्रचलित था। डेढ़-दो सौ वर्ष बाद के तो दोहाबन्ध के ग्रन्थ भी मिलने लगते हैं। यदि जंगल में प्रियाविरह की चपेट से विक्षिप्त राजा द्वारा कवि ने तत्काल प्रचलित ग्राम्य छन्द में प्रलाप करा दिया तो इसमें अचरज की क्या बात है? जो लोग कालिदास का समय और भी पुराना मानते हैं, उन्हें जरूर कठोर आपत्ति होगी। वे यदि चाहें तो इसे और अन्य अपभ्रंश पद्यों को प्रक्षिप्त मानकर सन्तोष कर सकते हैं। मुझे तो इस समय [illegible] प्रसन्नता ही हो रही है कि कालिदास को यह छन्द [illegible] उन्होंने इस छन्द को धन्य किया, [illegible] और [illegible] लेखनी से इस छन्द में रचना करने का लो[illegible] [illegible] लिया [illegible]

खोजकर कुछ लिख ही दिया। जो भी हो, आज से डेढ हजार वर्ष पहले यह छन्द खूब प्रचलित हो गया था।

कुछ पश्चिमी विद्वानो ने यह बताया है कि किसी समय बलख के ग्रीक सैनिको मे होमर की कविताओ का प्रचार था। उन्ही लोगो ने या उनके सम्पर्क मे आये आभीर आदि ने ग्रीक 'हेक्सा मीटर' की तौल पर भारतीय जनभाषा मे यह दोहा छन्द बना लिया था। पर यह बात कल्पना की उड़ान मात्र की सूचना देती है। किसी ठोस प्रमाण पर इस मत की पुष्टि नही हुई।

अब तक हमने जैन और बौद्ध साधुओ और साधकों की रचनाओं की चर्चा की है। स्वभावतः उनमे धार्मिक पुट है, वैराग्य की ओर झुकाव है, तत्त्वदर्शन को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति है और भिन्न मतावलम्बियो का उपहास करने का प्रयास है। परन्तु लोकजीवन के सरस हृदयों को, बिना किसी धार्मिक आग्रह के, प्रकट करनेवाला अपभ्रंश-साहित्य बहुत अधिक मात्रा मे किसी समय विद्यमान था। दुर्भाग्यवश वह सब सुरक्षित नही रह सका। हेमचन्द्र के 'प्राकृत-व्याकरण' मे सब जगह तो व्याकरण के नियमो को स्पष्ट करने के लिए एक-दो पदों को निदर्शनरूप में दिखाकर चलता कर दिया गया है, परन्तु अपभ्रंश के प्रकरण मे वैयाकरण की कंजूस बुद्धि का सहारा नही लिया गया। नियमों के बनाने मे हेमचन्द्राचार्य ने 'अल्पाक्षरेण लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यंते वैयाकरणाः' वाले सिद्धान्त का ही पालन किया है, पर अपभ्रंश के उदाहरणो में पूरे-का-पूरा दोहा उद्धृत कर दिया है। वैयाकरणो की दुनिया मे निश्चय ही इस फिजूलखर्ची के लिए उन्हे दण्डभागी होना पड़ेगा, पर साहित्यिको के लिए तो वे अमूल्य निधि छोड़ गये है। पता नही कहाँ-कहाँ से उन्होंने इन बहुमूल्य दोहों का संग्रह किया था! निश्चय ही उनमे कई प्रसिद्ध कवियो की रचनाएँ रही होंगी। इनमें लौकिक जीवन की सहज अभिव्यक्तियों का बड़ा ही मनोरम चित्र मिलता है। जान पड़ता है उन्हे इनके लोप हो जाने का भय था, इसलिए यत्नपूर्वक बचा रखना उनका उद्देश्य था। उन्हे जैन लोग 'कलिकालसर्वज्ञ' कहते थे। कदाचित् उन्होने आधुनिक युग के सहृदयों के मनोभाव को दूरदृष्टि से ताड़ लिया था।

यह उन दिनों की बात है जब संस्कृत का साहित्य माघ, भारवि और श्रीहर्ष के वाग्वैभव का आस्वादन कर रहा था। वचन-वक्रिमा, अलंकरण-चातुरी, शब्द-गुम्फ, अनुप्रासो की छटा, यमको की घटा, विकट पदबन्ध और बुद्धिवैभव से अनुस्यूत उक्ति-विलास से मनोरम कला-जगत् इस काव्य के गुण है। बडे-बडे छन्दों मे बँधी हुई कवि-प्रौढोक्ति इस काव्य को दुरूह और विद्वद्ग्राह्य बनाती है, न्याय-व्याकरण की सूक्ष्म युक्तियाँ इसे बहु-विचित्र शोभा से समृद्ध करती हैं। यह काव्य बार-बार अनुशीलन और सावधान अध्ययन की माँग करता है; काव्यलक्षणों की बारीकियों, शब्दशास्त्र के अनुशासन और उक्तिवैचित्र्य की मार्मिक जानकारी की अपेक्षा रखता है; राजनीति के निपुण घात-प्रतिघातो, राजसभा के अभिजातगृहीत कायदे-कानूनों, वस्त्रालंकरण की परिपाटी-विहित विच्छित्तियों और माल्य-

उपलेपन-अंगरागों की सहृदयजन-वांछित विधियों के ज्ञान की आवश्यकता चाहता है; शोभा, विलास, कान्ति, हाव-भाव, विब्बोक, मोट्टायित, कुट्टमित आदि अयत्नज और यत्नज चेष्टाओं के भेदोपभेदों को रसास्वादन की आवश्यक शर्त मानता है। पद्य तो पद्य, गद्य में भी यह समय सुबाहु, दण्डी और बाण का युग है। इस युग में गद्य को पद्य से भी अधिक परिष्कृत रुचि और सुशिक्षित वचन-वैदग्ध्य का विषय माना गया है, गद्य को कवियों के परिष्कृत वाग्विलास की कसौटी माना गया है, कथाकारों के मुकुटमणि बाणभट्ट ने कहा था—'उज्जवल दीपक और उपमा आदि अलंकारों से सम्पन्न, अपूर्व नूतन पदार्थों के समावेश से विरचित, निरन्तर श्लेषालंकार से घनीभूत होने के कारण किंचित् दुर्बोध्य कथा-काव्य उज्ज्वल प्रदीप के समान, उपादेय घन संनिविष्ट चम्पक कली की उस मनोहर माला के समान, जिसमें बीच-बीच में चमेली के फूल पिरोये होते है, किसका मन हरण नही करते ?'

हरंति कं नोज्ज्वल दीपकोपमै-
नंवैः पदार्थैरुपपादिता कथाः।
निरन्तर श्लेषघनाः सुजातयो
महास्रजश्चम्पक कुड्मलैरिव ॥

इसी पाण्डित्यख्यापिनी, बुद्धिग्राह्य, सावधान-पाठ्य मनोरम अभिजात काव्य के वातावरण में अपभ्रंश के इन सहज-सुकुमार मर्मभेदी अव्याज-मनोहर कविताओं की रचना होती है। सीधी बात सीधे हृदय से निकलती है और सहृदय के हृदय पर सीधी चोट करती है। अलकरण के लिए कोई आयास नही, वक्रभगिमा के लिए दौड़-धूप नही, परिपाटी-विहित रसिकता की परवा नहीं, लीला-विलास विच्छित्तियों के निपुण विवेचन की कोई खबर नही—सरल मानस की सहज अभिव्यक्ति!

काव्य-जगत् की रूढियों से त्रस्त, परिपाटी-विहित मार्मिकता से घायल और कृत्रिम भावभंगियों से ऊबे सहृदय को यहाँ शान्ति की साँस लेने का अवसर मिलता है। बहुत पहले कविकुलगुरु कालिदास ने कभी कहा था :

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥

राजाओं के अन्तःपुर में दुर्लभ इस प्रकार का मनोहर शरीर यदि आश्रमवासियों का हो तो फिर निश्चय ही वन-लताओं ने उद्यान-लताओं को गुणों में बहुत दूर पीछे छोड़ दिया है।

इन कविताओं को पढ़कर महाकवि की इस उक्ति की याद आये बिना नही रहती।

स्वयम्भू, त्रिभुवन और पुष्पदन्त-जैसे कवियों के काव्य की भाषा अवश्य ही अपभ्रंश है, परन्तु वे शास्त्रीय परम्परा के कवि हैं। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत के काव्यों का गम्भीर अध्ययन किया था। अलंकार, रस और पिंगल के पूर्ण ज्ञाता थे। परन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण में उद्धृत दोहों में ग्रामीण कवियों की सरल

अभिव्यक्ति है, उनमे कोई आडम्बर नही है, वक्रता नही है, रसनिष्पत्ति के लिए चिन्तन-जन्य भंगिमा नही है। स्वयम्भू लोकभाषा के प्रेमी थे, परन्तु रससृष्टि के अभिजातजनोचित नियमों के परिपालक भी थे। 'हरिवंशपुराण' मे स्वयम्भू ने लिखा है कि उन्हें इन्द्र से व्याकरण, व्यास से विस्तरण, पिंगल से छन्द और प्रस्तार-विधि, भामह-दण्डी से अलंकरण, बाणभट्ट से घनघनित शब्दाडम्बर, हरिसेन तथा अन्य कवियों से कवित्व-गुण और चउम्मुह (चतुर्मुख) से छन्दण, द्विपदी और ध्रुवकों मे जड़ित पद्धड़ियाबन्ध प्राप्त हुआ .

इन्देण समप्पिउ वायरणु। रस भरहे वासें वित्थरणु॥
पिंगलेण छंद पय पत्थारु। भम्भह दण्डिणिहि अलंकारु॥
बाणेण समप्पिउ घणघणउ। तें अक्खर डम्बर घण घणउ॥
हरिसेणि पाविउ णित्तणउ। अवरेहि मि कर्हहि कवित्त णउ॥
छन्दणिय-दुवइ-धुवएहिं जड़िय। चउमुहेण समप्पिय पद्धड़िय॥

इस वक्तव्य से उनके गम्भीर अध्ययन और शास्त्रीय ज्ञान का परिचय मिलता है। निश्चय ही उनके काव्य मे इस गम्भीर अध्ययन-मनन का साक्ष्य वर्त्तमान है। वे विकट बन्ध के कवि कहे गये है। पर जिन दोहों की चर्चा हम आगे करने जा रहे है वे ऐसे पण्डितों के लिखे नही जान पडते। पण्डित वे हो भी तो पण्डिताई से बहुत ऊपर उठे हुए हैं। सहज भाव बड़ी कठोर साधना से प्राप्त होता है।

कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट हो सकेगी।

एक विरह-व्याकुला प्रिया कहती है कि 'किसी प्रकार यदि मैं प्रिय को पा जाती तो एक ऐसा खेल करती जो अब तक किसी ने नही किया। उसके प्रत्येक अग मे ऐसा पैठ जाती जिस प्रकार पानी मिट्टी के नये कसोरे में प्रवेश कर जाता है—अंग-अंग मे भीन जाता है' :

जइ केवइँ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवं सब्वंगे पइसीसु॥

प्रेमपरवशा वधू कहती है—'माई री, जब मन स्वस्थ हो तो मान की सुधि की जाये। यहाँ तो बात ही कुछ और है। ज्यों ही प्रिय को देखती हूँ, ऐसी हड़बडी मचती है कि फिर अपनी समझी-बूझी को याद ही कौन करे! सारा सोचा-समझा गायब हो जाता है :

अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधि चिंतिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु॥

मान करनेवाले दूल्हे को सिखाया जा रहा है—'प्यारे, मैंने तुम्हे बहुत बार मना किया कि मान देर तक न किया करो। वेपीर, इस मान-मनौअल मे रात बीत जायेगी और जल्दी-जल्दी दड़बड़ विहान हो जायेगा' :

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिआ मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दड़वड़ होइ विहाणु॥

कोई वयस्का सखी सहजवकिम-लोचना नायिका को परिहास-पेशल वाणी में

समझा रही है—'बिटिया, मैंने तुम्हें कितनी बार कहा कि इस दृष्टि को बाँकी न किया करो। वह जो कानवाली बर्छी होती है न, जो हृदय में घुसकर मांस नोचकर बाहर निकलती है, उसी प्रकार तुम्हारी यह बाँकी दृष्टि शिकार को बेधती है':

बिट्टीए मई भणिय तुहुं मा कुरु वंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भाल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि॥

बंकिम कटाक्षों के तीखेपन को इस प्रकार समझाया जाता है—'जैसे-जैसे वह साँवरी अपने बंकिम लोचनों को घूमना सिखाती है, वैसे-वैसे मन्मथ अपने बाणों को खरे पत्थर पर पजा-पजाके (घिस-घिसके) तीखा कर लेता है' (ये बाण फूलों के नहीं, इस्पात के होंगे ?):

जिवँ-जिवँ बंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ-तिवँ वम्महु णिअअ-सरु खरि पत्थरि तिक्खेइ॥

विरहिणी ग्राम-वधू काक के शकुन पर अब विश्वास नहीं करती। सुनते-सुनते कान पक गये, पर प्रिय का आना नहीं हुआ और यह काग है कि बोलता ही जा रहा है। उसने उड़ाना चाहा इस मिथ्याभाषी को, हाथ उठाकर। विरह से दुबली कलाइयों से चूड़ी निकलकर पृथ्वी पर गिरी, लेकिन कागा की बात ठीक ही थी। अचानक प्रिय दिख गया। आधी चूड़ियाँ धरती पर गिर गयी थी। पर सहसा प्रिय-दर्शन से खुशी की लहर दौड़ी, दुबली कलाई फूलकर मोटी हुई, आधी चूड़ियाँ तड़ाक से टूट बिखरी!

वायसु उड्डावतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टु तड़त्ति॥

कैसी सहज अभिव्यक्ति है! कोई बनाव-सिंगार नहीं, कोई आडम्बर नहीं, सहज उल्लास का सहज प्रकाशन।

मान करनेवाले प्रेमी से प्रिया कहती है—'देखो प्यारे, जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है और मौत का आना एकदम तै है। ऐसी हालत में यह रूठने की बात क्यों? रूठोगे तो ये वियोग के एक-एक दिन देवताओं के सौ-सौ बरसों के समान हो जायेंगे':

चंचल जीवणु ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं।
होसहिं दिअहा रूसणा दिव्वइं बरिस सयाइं॥

सीधा-सा अकाट्य तर्क है!

काव्य-शिक्षा-सिद्ध कवि जमके उत्तान शृंगार का चित्रण करता था, पर कहीं-न-कहीं उसके हृदय में चोर बैठा होता था। वह जानता था कि लोग इस बात को अच्छा नहीं समझेंगे। इन दोहों के कवि में ऐसी झिझक नहीं थी। राधा के पयोधरों की महिमा वह इस प्रकार वर्णन करता है—'इन्होंने श्रीकृष्ण को आँगन में ही नचा दिया और लोगों को अचरज में डाल दिया। अब राधा के इन मनोहर अंगों का जो होना हो, हो!'

हरि णच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहिं राह पओहरहं जं भावइ तं होउ॥

अब्दुल रहमान ने भी 'सन्देशरासक' मे विरह की अभिव्यजना इन्ही प्रतिदिन के जीवन मे प्राप्त होनेवाले सहज उपमानो के सहारे की है। विरह-विधुरा प्रिया कहती है—'मेरा प्रिय मेरे हृदय मे सुनार की तरह उत्कण्ठा जाग्रत करता रहता है, क्योकि पहले तो विरह की आग मे जलाया करता है और फिर आशा के जल से सीचा करता है':

सुन्नारह जिम मह हियउ पिअ उक्किख करेइ।
विरह हुयासि दहेवि करि आसा जलि सिंचेइ॥

'फिर, ऐ रात्रि, तुम्हारी शिकायत भी क्या करूँ? यह शिकायत क्या इतनी थोड़ी है कि तीन लोक मे अँट सके? दुःख के दिनो में तो तू चौगुनी हो जाती है, पर सुख-संगम के समय एकदम छोटी हो जाती है। इस अन्याय की कोई सीमा है?'

जामिणि जं वयणिज्ज तुअ, तं तिहुय णि णहु माइ।
दुक्खिहि होइ चउग्गणी झिज्जइ सुह-संगाइ॥
—'सन्देश-रासक'

'प्रबन्ध चिन्तामणि,' 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' मे जो मुंज और मृणालवती सम्बन्धी दोहे प्राप्त होते हैं उनमे भी अत्यन्त सहज अभिव्यक्ति है। गतयौवना मृणालवती को सम्बोधन करके मुंज कहता है—'ऐ मृणालवती, क्यो चिन्ता करती है कि तेरा यौवन समाप्त हो गया है? मिश्री चूर-चूर भी हो जाये, तो भी चूरे उतने ही मीठे बने रहते हैं':

मुंज भणइ मुणालवइ गउ जुव्वणु मति झूरि।
जो सक्कर सय खण्ड किअ तो वि स मिट्ठी चूरि॥

फक्कड राजा मुंज की, जो मृणालवती के प्रेम के धोखे मे गिरफतार हुआ और बाँधा जाकर दर-दर घुमाया गया, यह कैसी चुटीली उक्ति है!

पर हेमचन्द्र के संगृहीत दोहो में केवल शृंगार ही नही है। उसकी सबसे अधिक आकर्षक बात है, वीर-पत्नियो का गर्व। पति की वीरता को सहज गर्व का विषय बनाकर ये वीरबालाएँ ऐसी दर्पोक्तियाँ करती हैं कि बस देखते ही बनता है। यह एकदम नवीन प्राणस्पन्दी काव्य है।

'अरी ओ सखी, मेरा वल्लभ जब देखता है कि अपना दल टूट रहा है और शत्रु का दल बढ़ा आ रहा है, तभी निराशा के अन्धकार को चीरती हुई शशि-रेखा की भाँति उसकी करवाल चमक उठती है':

भग्गिउ देक्खिवि निअअ बलु, बलु पसरिअउ परस्सु।
उम्मिल्लइ ससिरेह जिव करि करवालु पियस्स॥

'देख-देख, मेरा कान्त वह है, लोग जिसकी सौ-सौ लडाइयों की बहादुरी का बखान किया करते हैं, देख किस प्रकार त्यक्तांकुश मतगजराजो के विशाल कुंभो

को लगातार तलवार की चोटों से विदीर्ण करता जा रहा है' :

सगर गर्ण्हि जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कंतु।
अहिमतहँ चत्तंकुसहँ गयकुंभइँ दारंतु।

'सुन सखी, मेरा प्यारा वीरों की उस निविड़ घटा के भीतर से अपना रास्ता निकाला करता है जहाँ बाणों से बाण कटा करते हैं और तलवारों से तलवारें छीजती रहती हैं। ऐसी भयंकर रणघटा में ही यह अपना मार्ग बनाता है' :

जहि कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहि तेहइ भड घड निवहि कंतु पयासइ मग्गु॥

'भलेमानस, तू अगर बड़े आदमियों के बड़े-बड़े महलों को पूछता है तो देख, बड़े महल वे हैं। पर ऐसे महान् का घर पूछता है जो संकट-कातर लोगों के उद्धार का सामर्थ्य रखता है तो देख उस कुटिया को जहाँ मेरा कान्त रहता है' :

जइ पुच्छह घर बड्डाइँ तो बड्डा घर ओइ।
विहलिअजण—अब्भुद्धरणु कंतु कुडीरइ जोइ॥

'अरी ओ सखी, तू क्या उसकी शूरता और वदान्यता की बड़ी बड़ाई कर रही है! बेकार बकवास न कर। मैं उसके दो दोषों को भली-भाँति जानती हूँ—दान करने लगता है तो सर्वस्व उलीचकर दे देता है, मुझे बचा लेता है; जूझने लगता है तो सब-कुछ दाँव पर लगा देता है, तलवार बचा लेता है। ऐसे कंजूस की तू बड़ाई कर रही है। झूठ है, सब झूठ है' :

महु कंतहु बे दोसड़ा हेल्लि म झंखहि आलु।
देन्तहो हउ पर उव्वारिउ जुज्झन्तहो करवालु॥

कुमारी प्रार्थना करती है—'हे गौरी, इस जन्म मे और अगले जन्म में मुझे ऐसा वर दो जो त्यक्तांकुश मत्तगजराजों से हँसता-हँसता भिड़ जाये!'

आएहिं जम्मेहिं अन्नेहिं वि गवरि सु दिज्जइ कंतु।
गयमत्तच्चत्तंकुसहँ जो अब्भिडइ हसंतु॥

किसी शत्रुपक्षीय शूर की प्रशंसा सुनकर वीरबाला की यह दर्पोक्ति सुनिए—'जब तक कुम्भतट पर सिंह की चपेट की चटाक नहीं पड़ती तभी तक सारे मतवाले गजराजों के पग-पग पर ढोल बजा करते हैं' :

जाम न निवडइ कुंभयडि सीह चवेड चडक्क।
ताम समत्तहँ मयगलहँ पइ पइ वज्जइ ढक्क॥

'बलैया जाऊँ उस प्यारे की, जिसके पैरों में मृत योद्धाओं की अँतड़ियाँ उलझी हुई हैं, सिर कन्धे से झूल पड़ा है तो भी कटार पर हाथ जमा हुआ है' :

पाइ विलग्गी अंत्रड़ी सिरु ल्हसिअउं खन्धस्सु।
तो वि कडारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कंतस्सु॥

शत्रुसेना से घिरे शूर की दर्पोक्ति भी सुनिए—'अरे ओ हृदय, शत्रु बहुत है, तो क्या आसमान पर या बादल पर चढ़ जाऊँ? मेरे भी तो दो हाथ हैं। मरना ही है तो मारके मरूँगा' :

हिअडा जइ वेरिअ घणा तो कि अब्भि चडाहुँ ।
अम्हाहि वि बे हत्थड़ा जइ पुणु मारि मराहुँ ॥

शृंगार और शौर्य का यह अद्भुत लोक है। यहाँ भय और आशंका का कोई स्थान नहीं है, भविष्य की चिन्ता से फूंक-फूंककर कदम रखनेवालों की पगध्वनि यहाँ नहीं सुनायी देती। 'भला ऐसे पुत्र के उत्पन्न होने में लाभ ही क्या है और मर जाने से नुकसान ही क्या है जिसके रहते बाप की जमीन दूसरे भोगते रहें' :

पुत्तें जाए कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीडी भूहडी चप्पिज्जइ अवरेण ॥

इन दोहों में शृंगार रस और वीररस के अतिरिक्त नीति के दोहे भी हैं। परवर्ती साहित्य में इन सभी अंगों का समुचित विकास पाया जाता है। परवर्ती साहित्य के अध्ययन के लिए इनका महत्त्व बहुत अधिक है।

अपभ्रंश में एक तरफ जहाँ लौकिक रस के सहज-सरस दोहे लिखे जा रहे थे, वहीं अन्य छन्दों की भी रचनाएँ हो रही थीं। जैन कवियों ने अपने काव्यों में बड़े-बड़े छन्दों का भी प्रयोग किया है। मुख्यतः वे कडवक-बद्ध हुआ करते हैं। कडवक अपभ्रंश के काव्य-रूपों का पारिभाषिक शब्द है। पज्झटिका, पद्धड़िया आदि छन्दों की कुछ पंक्तियाँ देकर बाद में घत्ता, उल्लाला आदि छन्द दिये जाते थे जो बहुत-कुछ तुलसीदास और जायसी के चौपाई-दोहों के पूर्व-रूप हैं। इसे पद्धड़िया-बन्ध भी कहते हैं। स्वयम्भू ने अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश कवि चउम्मुह (चतुर्मुख) को पद्धड़िया-बन्ध का राजा बताया था। उन्होंने कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार किया है कि उन्होंने पद्धड़िया-बन्ध की प्रेरणा चउम्मुह से ही ली थी। धीरे-धीरे अपभ्रंश में रोला, उल्लाला, वीर, काव्य, छप्पय, कुण्डलिया, रासक आदि बड़े-बड़े छन्द भी प्रचलित हुए। वे भी उतने ही सरस बन पड़े जितने दोहे। अब्दुल रहमान के 'सन्देश-रासक' में अनेक प्रकार के छन्दों का बहुत सुन्दर प्रयोग हुआ है। 'प्राकृतपैंगलम्' में कई कवियों के बड़े मनोहर छन्द उदाहरण रूप में उद्धृत हैं। 'प्राकृतपैंगलम्' में बब्बर, जज्जल, विज्जाहर (विद्याधर) आदि कई कवियों के नाम भी मिल जाते हैं। इनकी वीररस और शृंगाररस की कविताएँ बहुत ही उच्चकोटि की हैं। काशी-कान्यकुब्ज के महाराजा जयिच्चन्द्र (जयचन्द) की वीरता बतानेवाली यह कविता कितनी उत्साहवर्द्धक है :

भअ भज्जिअ बंगा, भग्गु कलिंगा,
तेलंगा रण मुक्कि चले ।
मरहट्ठा ढिट्ठा लग्गिअ कट्ठा
सोरट्ठा भअपाअ पले ।
चंपारण कंपा पव्वय झंपा
ओत्था ओत्थी जीव हरे ।
कासीसर राणा कियउ पआणा
विज्जाहर भण मंतिवरे ।

जज्जल की यह प्रसिद्ध उक्ति 'प्राकृतपैंगलम्' में ही उद्धृत है :

पिधउ दिढ़ संणाह वाह उप्पर पक्खर दइ।
बधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ ॥
उड्डल णह पंह भमउ। रिउ सीसहि डारउ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउ ॥
हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल मुंह मह जलउ।
सुरताण सीस करवइ जाल दतेजि कलेवर दिअ चलउ ॥

उदाहरणों को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं है। ये छन्द केवल इतनी सूचना दे जाते हैं कि किसी समय अपभ्रंश भाषा में बहुत ही उत्तम कोटि का साहित्य उपलब्ध था। यद्यपि इस समय हमारे पास जैन कवियों के धार्मिक काव्य ही कुछ बचे रह गये हैं, पर लौकिक रस का प्रचुर साहित्य इस भाषा में विद्यमान था, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस प्रसंग में उल्लेख्य है कि लौकिक शृंगाररस का एक ही पूरा काव्य उपलब्ध हुआ है—अद्दहमाण या अब्दुल रहमान नामक पंजाबी मुसलमान कवि का 'सन्देश-रासक'। यह विरह का काव्य है। इसमें कवि ने बड़ी ही कुशलता से एक विरहिणी नारी के वियोगाकुल हृदय का चित्र खींचा है। यद्यपि ग्रन्थ में प्रधान रूप से रासक छन्द का ही प्रयोग हुआ है, पर अन्य बड़े-छोटे छन्द भी इस ग्रन्थ में कम नहीं हैं। इस पुस्तक की कुछ पंक्तियों की बानगी देना अनुचित नहीं होगा। एक विरहिणी, जो विजयनगर की है, प्रिय-विरह से कातर होकर किसी की राह जोह रही है। तभी मुलतान का कोई आदमी, जो व्यापार के सिलसिले में मालिक का पत्र लेकर खम्भात जा रहा है, मिल जाता है और वह अपना सन्देश उसके हाथों भेजती है। विरहिणी का प्रथम परिचय बड़ा ही करुण है। यद्यपि अपूर्व सुन्दरी है, उभरे हुए वक्षःस्थल और भिड की तरह पतली कटि तथा हंस के समान गतिवाली है, फिर भी विरहाग्नि की आँच से उसका चेहरा काला पड़ गया है, सोने का-सा रंग म्लान हो गया है जैसे चन्द्रमा राहु द्वारा पराभूत हो गया हो। वह दीनानना राह जोह रही है, आँखों से निरन्तर जलधारा प्रवाहित होती जा रही है :

विजयनयरहु कावि वररमणि,
उत्तुंगथिरथोरथणि विरुडलक्क धयरट्ठपउहर।
दीणाणण पहु णिहइ जलपवाह पवहत दीहरि।
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सांमलिमपवन्नु।
णज्जइ राहि विडम्बिअउ ताराहिवइ सउन्न।

फिर सामने किसी बटोही को जाते देखती है और उसे रोकती है। उसके पास पहुँचने की उतावली से उस विरहकातरा तन्वंगी की दुर्दशा हो जाती है। तेजी से जो वह पथिक की ओर बढ़ी तो कमर की रशनावली टूट गयी, किंकिणियाँ कण-क्वणन के साथ बिखर गयीं। किसी तरह मेटा ओ॰ मे निष्ठुर गाँठ बाँध-बूँध आगे बढ़ी तो मोतियों व । उसे

विरहिणी ने सँभालकर कुछ आगे बढ़ने का प्रयत्न किया तो चरणों में नूपुर ही उलझ गया और उसकी किंकिणियाँ रास्ते में बिखर गयीं :

तं जं मेल्ल तुरंत गंठि फिट्टुर गुज्झय
तुडिय ताव मुत्तावलि णवसर हार लय।
सा णिवि णिवि संवरिवि चडवि पुणि संचलिय
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पखुडिय॥

इस उतावली की कोई हद है! पथिक मिला मुलतान का निवासी, सम्भात का यात्री। विरहिणी का पति वहीं रहता था। फिर सन्देशा! विरह का अपार समुद्र! जितना ही गम्भीर, उतना ही उद्दाम!

अब्दुल रहमान बड़े ही निपुण कवि थे। उन्होंने आरम्भ में अपना परिचय देते हुए कहा है कि वे प्राकृत के काव्य और गीत विषयों में निपुण हैं। निस्सन्देह उनके इस छोटे-से काव्य से पता चलता है कि वे महान् कवि रहे होंगे। प्राकृत-काव्य पर उनका अनुराग भी बहुत है। उन्होंने बड़ी विनम्रता से अपना काव्य आरम्भ किया है। उनका लक्ष्यीभूत श्रोता थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा सहृदय है। वे कहते हैं कि जो लोग पण्डित हैं वे इस कुकवित्व के लिए क्यों ठहरेंगे, जो एकान्त मूर्ख हैं उनका मूर्खता के कारण इसमें प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसलिए जो लोग न पण्डित हैं और न एकदम मूर्ख हैं, मध्यवर्ग में आते हैं, उन्हीं को यह कविता प्रिय लगेगी। उनके सामने ही कविता बार-बार पढ़ी जा सकती है

णहु रहइ बुहह कुकवित्तरेसु,
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसु।
जिण मुक्ख न पंडिय मज्झयार।
तिहँ पुरउ पढिव्वउ सव्ववार॥

इस काव्य में विरह की अनेक सूक्तियाँ भी हैं। पर अधिकांश विरहिणी के कोमल हृदय की सरल अभिव्यंजना है। ऋतुवर्णन का बहाना भी कवि ने ढूँढ लिया है और तीसरे प्रक्रम में प्रकृति के बदलते हुए विभिन्न रूपों के साथ मनुष्य के रागात्मक हृदय का अद्भुत स्वारस्य चित्रित किया है। इस विरह-वर्णन के अत्यन्त करुण चित्र में भी कवि का प्राकृत भाषा का प्रेम प्रकट हो जाता है। शरत्काल के वर्णन में विरहिणी नायिका पथिक से पूछती है :

'कहो पथिक, क्या उस देश में रात को निर्मल चन्द्रमा की ज्योत्स्ना नहीं छिटकती? क्या अरविन्दों पर विहार करनेवाले हंस कलरव नहीं करते? क्या कोई सुललित राग से प्राकृत भाषा का गाना नहीं गाता? क्या कापालिक (निर्दय) भाव से कोई पंचम सुर में तान नहीं छेड़ता? क्या वहाँ प्रात काल की प्रत्यूष वेला में ओस से भीगे पुष्पसमूह मह-मह नहीं कर उठते? हे पथिक, मैं तो समझती हूँ कि मेरा प्रिय अरसिक ही है जो शरत्काल में भी घर नहीं लौटता' :

कि तहि देस णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह,
अह कलरउ न कुणति हंसफल सेवि रविंदह।

अह पायउ णहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण,
अह पंचमु णहु कुणइ कोइ कावालिय माइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओसगित्तु घणु कुसुम भरु।
अह मुणिउ पहिय अणरसिउ पिउ सरइ समइ जुण गरइ घरु!

कैसा है वह देश जहाँ प्राकृत का ललित राग भी नहीं गाया जाता!! अब्दुल रहमान का अपना नगर ऐसा अरसिक नहीं था। वहाँ तो प्राकृत और रासक से नगर-मार्ग मुखरित होते रहते थे। इस कवि ने साम्बपुर या मुलतान का बड़ा ही मनोहर और जीवन्त वर्णन किया है। वहाँ के धवलतुंग प्राकारों का उल्लेख करते हुए जब नगर के जीवन-क्रम का परिचय देता है तो पहली बात वह यही कहता है कि चतुर व्यक्तियों के साथ नगर में प्रवेश किया जाये तो अत्यन्त मधुर-मनोहर प्राकृत छन्द सुनायी देंगे, चौबे लोगों का वेद-पाठ सुनायी देगा और नाना रूपों में निबद्ध रासक सुनायी देंगे :

विविहविअक्खण सत्थिहि जइ पवसिइ णिरु
सुम्मइ छन्दु मणोहरु पायउ महुरयरु॥
कहव ठाइं चउवेइहिं वेउ पयासियउ
कहुँ बहुरूवि णिवद्धउ रासउ भासियइ॥

प्राकृत के मनोहर छन्द, वेद और रासक! रामायण, महाभारत, नलदमयन्ती, सारंगा-सदयवच्छ, सब बाद में! इसी में इस कवि का प्राकृत (और अपभ्रंश) काव्य के प्रति राग स्पष्ट हो जाता है। हर ऋतु का वर्णन कवि ने बड़ा ही मनोरम किया है। वर्षा के प्रसंग मे—

झंपवि तम बद्दलिण दसह दिसि छायउ अम्बरु।
उन्नवियउ घुरहुरइ घोरु घणु किसणाडंबरु॥
णहह मग्गि णहवल्लि तरल तडयडिवि तडक्कइ।
दद्दुर रड्णु रउद्दु सद्दु कुवि सहवि ण सक्कइ।
निवड निरन्तर नीरहर दुद्धर धरधारोहभरु।
किम सहउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल रसइ सरु।

कवि की यह उक्ति बादलों की घनघोर घटा, काले मसृण आडम्बर के साथ घुरघुराती हुई घुमड़ती हुई ध्वनि, नभोमार्ग मे बिजली का तड़तड़ाना, दादुरों की रौद्र रटन और रुई के पहल-पर-पहल के समान फैले हुए जलभरित मेघों की दुर्धर धारा—पंक्तियों का बिना अर्थ समझे भी प्रत्यक्ष कर देती है। विरहिणी की यह करुण हृदयवेदना कि ऐसे समय मे शिखर पर बैठी कोयल की दुःसह कूक कैसे सहूँ, मूर्तिमन्त होकर प्रकट होती है। पर हर ऋतु मे बदली हुई प्रकृति के साथ ताल मिलाकर चलनेवाली मानव-प्रकृति प्राकृत के रागो मे बराबर मूर्तिमती हो उठती है। अब्दुल रहमान कोयल की कूक के साथ रागो की दुनिया की कूक को कभी नही भूलते। वसन्त मे एक तरफ विभिन्न पुष्पों के रंगों, गन्धो, रूपों मे प्रकृति के अन्तरतर की उल्लास-वेदना कसमसा उठती, है, कोयल कूकने लगती है और भौंरे

इसके लेखक है। बाद में राजशेखर सूरि ने देखा कि इसमें कुछ कथाएँ छूट गयी है। उन्होंने चौबीस प्रबन्धों का 'प्रबन्धकोश' लिखा और इन दोनों में छूटी हुई कथाओं को परवर्ती जैन पाठकों ने विविध हस्तलेखों के हाशिए पर लिख रखा था, जिनका संग्रह मुनि जिनविजयजी ने 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' नाम से सम्पादित किया है। इन दो संग्रहों के हिन्दी अनुवाद भी मैंने किये हैं। पर अभी तक वे प्रकाशित नहीं हो सके हैं। इन तीन प्रबन्धों में अपभ्रंश की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं जो इस भाषा के विपुल साहित्य की ओर इंगित करती है। सोमप्रभ नाम के एक दूसरे जैन आचार्य हुए है जिन्होंने 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक एक विचित्र काव्य लिखा जो है तो मुख्यतः प्राकृत में, पर एक-दो कथाएँ संस्कृत में और कुछ अंश अपभ्रंश में है। अपभ्रंश के कुछ दोहे इसमें आये हैं। कदाचित् कवि ने कथाओं को रोचक बनाने के उद्देश्य से और उन्हें सामयिक और स्थानिक रंग देने के लिए अज्ञात और अप्रसिद्ध कवियों के दोहे बीच-बीच में रख दिये हैं। इन दोहों में कई हेमचन्द्र के उदाहरणों में मिल जाते हैं और कई 'प्रबन्ध चिन्तामणि' आदि में भी। इसमें स्वयं सोमप्रभ के दोहे भी है, पर अन्य कवियों की कविताओं से इतना तो पता चल ही जाता है कि अपभ्रंश का बहुत व्यापक साहित्य उन्हें उपलब्ध था और फिर यह भी कि कुछ कवियों के दोहे इतने प्रसिद्ध थे कि कई-कई ग्रन्थकारों ने उद्धृत किये।

यह सत्य है कि इस विशाल साहित्य का अधिकांश नहीं मिला। पर जो मिला है, वह निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है।

['आलोक-पर्व' से]

बौद्ध सिद्धों का जीवनदर्शन एवं साहित्य

बौद्ध सिद्धों का साहित्य बहुत विस्तृत है। उसके सम्बन्ध में कई विद्वानों ने बड़े परिश्रम से तिब्बती, चीनी और भारतीय साहित्य-स्रोतों से जो सामग्री प्रस्तुत की है वह अपने-आपमें बहुत विस्तीर्ण है, लेकिन फिर भी ऐसा लगता है कि इस विशाल साहित्य के एक अंशमात्र का ही वह परिचय दे सका है। आज से लगभग पौन शताब्दी पहले महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल दरबार लाइब्रेरी से सिद्धों के बारे में बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई थी। उन्होंने उसे बंगाक्षरों में 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ में आचार्य मुनिदत्त की संस्कृत-टीका के साथ पचास गीतियों का संग्रह था और उसके साथ ही अद्वय वज्रपाद की

संस्कृत-टीका के साथ आदिसिद्ध सरहपाद का 'दोहा कोश', आचार्य पादीय 'दोहा कोश', 'मेखला' टीका सहित काण्हपाद का 'दोहा कोश' तथा 'डाकार्णव' संकलित थे। ये दोहाकोश और गीतियाँ इस विश्वास के साथ प्रकाशित की गयी थी कि उनकी भाषा आरम्भिक बँगला भाषा है। इसके पश्चात् स्व. डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने 1929 ई. में नेपाल राजगुरु के पुस्तकालय से 'दोहा कोश' की एक और प्रति उपलब्ध की। साथ ही उन्होंने नेपाल दरबार लाइब्रेरी से 'दोहा कोश' की एक और खण्डित् प्रति प्राप्त की। इन दोनों दोहाकोशो मे कुछ नयी सामग्री प्राप्त हुई, जिसका सम्पादन करके उन्होने 1935 ई. मे कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'जर्नल ऑफ लैटर्स' में प्रकाशित कराया और फिर 1938 ई. मे कलकत्ता संस्कृत सिरीज से पुस्तकाकार भी प्रकाशित कराया। इसमें तिल्लोपाद का 'दोहा कोश', काण्हपाद का 'दोहा कोश', सरहपाद के विभिन्न स्रोतों से प्राप्त 'दोहा कोश' और विभिन्न पाण्डुलिपियों या मुद्रित प्रतियों में प्राप्त होनेवाले कई अपभ्रंश पद—अर्थात् तिल्लोपाद के दोहा कोश पर 'सार्थपंजिका', सरहपाद के दोहा कोश पर अद्वयवज्र की टीका 'विषयपद मंजिका', काण्हपाद के दोहा कोश की टीका 'मेखला' मे प्राप्त अपभ्रंश उद्धरण थे। इस दिशा में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बत के शाक्य मठ से उपलब्ध सरहपाद का 'दोहा कोश' बहुत महत्त्वपूर्ण खोज थी। इसमे सरहपाद के अब तक प्राप्त दोहो से कही अधिक दोहे थे। जो दोहे मूल रूप मे प्राप्त नही हो सके, उनके तिब्बती अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर भी उन्होंने पुस्तक मे संकलित कर दिया। यह ग्रन्थ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से प्रकाशित हो चुका है।

इस प्रकार तिब्बत और नेपाल से सिद्धो की मूल सामग्री और उनके अनुवाद प्राप्त हुए और एक खोयी हुई निधि का पता चला। इस दिशा में डॉ. एम. सहीदुल्ला का कार्य विशेष उल्लेख्य है। उन्होने शास्त्रीजी द्वारा प्रकाशित अपभ्रंश पद्यों की तिब्बती अनुवादो से तुलना करके उनकी भाषा और भाव पर महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया। उनका अध्ययन फ्रान्सीसी भाषा मे है। भाषा की दृष्टि से डॉ. सु. कु. चटर्जी ने इन पर गम्भीर विचार किया। बाद मे अनेक विद्वानों ने इन गीतो और दोहों पर अनेक दृष्टियो से विचार किया है। जो संस्कृत-टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं उन्हें सरसरी निगाह से भी देखा जाय तो मालूम होगा कि कितना विशाल साहित्य इन सिद्धों और इनके अनुयायियों ने लिखा था। दुर्भाग्यवश अधिकांश पुस्तकें अब मिलती नही। कभी-कभी चीनी और विशेषकर तिब्बती अनुवादों मे इनका कुछ परिचय मिल जाता है। इस अमूल्य साहित्य की जानकारी हमें इन्हीं अनुवादों से मिली है। इसके लिए भारतीय साहित्य का विद्यार्थी इन देशो के महान् विद्या-प्रेमियो का चिर कृतज्ञ रहेगा।

बौद्ध सिद्धों की जो भी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं वे 'सन्ध्याभाषा' मे लिखी गयी हैं। यह 'सन्ध्याभाषा' शब्द भी पण्डितों के ऊहापोह का विषय रहा है। किसी समय मुझे स्व. म. म. पं. विधुशेखर भट्टाचार्य का यह सुझाव मान्य लगा था कि

मूल शब्द 'सन्धा भाषा' था और अर्थ था 'सन्धाय' या 'अभिप्रेत्य' कही हुई भाषा। भागवत के श्लोकों से इसका समर्थन किया गया था। पर लगता है टीकाकार इसे 'सन्ध्या भाषा' कहना ही उचित समझते थे। स्वयं भागवत को व्यास की 'समाधि-भाषा' कहा गया है—'समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।' इसका परवर्ती रूप कबीर की उलटबाँसियों में पाया जाता है।

जालन्धरपाद का कहा जानेवाला एक अपभ्रंश पद राहुलजी को नेपाल मे मिला है। यद्यपि इसकी भाषा बिल्कुल बिगड़ी हुई है, तथापि इस पद से उनके मत के विषय मे एक धारणा बनायी जा सकती है। यद्यपि जालन्धरपाद अक्षय निरंजन-निरालम्ब शून्य को नमस्कार कर रहे हैं और यह लग सकता है कि वे बौद्ध लोगो की भाँति एक अनिर्वचनीय 'शून्य' को अपना उपास्य मानते हैं, तथापि इस अस्पष्ट पद से भी यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि वे सरहपाद के 'महासुख' नामक 'सत्' आनन्द को ही अपना चरम प्राप्तव्य मानते हैं। एक ऐसा समय गया है जब सहजयानी और वज्रयानी साधक शून्य को निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक या धनात्मक रूप में समझने लगे थे। इसी भाव को बताने के लिए वे 'सुखराज' या 'महासुख' शब्द का व्यवहार करते थे। ये साधक चार प्रकार के आनन्द मानते थे: प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। अन्तिम और श्रेष्ठ आनन्द सहजानन्द है। यही सुखराज है, यही महासुख है, इसे किसी शब्द से नही समझाया जा सकता। यह अनुभवैकगम्य है। इसमे इन्द्रिय-बोध लुप्त हो जाता है, आत्म-भाव या अस्मिता विलुप्त हो जाती है, 'केवल' रूप मे अवस्थिति होती है। सरहपाद ने इसी भाव को बताने के लिए कहा है:

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ
णट्ठिअ अप्प सहावा।
सो हले सहजन तनु फुड़
पुच्छहि गुरु पावा।

इतना वे लोग भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध देव ने इस शब्द का कभी प्रयोग नही किया और इस भाव की प्रज्ञप्ति के लिए कुछ भी नही कहा। परन्तु साथ ही वे बुद्धदेव के मौन को अपने पक्ष की पुष्टि मे ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुखराज के विषय मे जो मौन रह गये, वह इसलिए कि वह वाणी से परे था—'जय हो इस कारण-रहित सुखराज की जो जगत् के नाशमान चचल पदार्थो मे एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध को भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था'.

जयति सुखराज एप कारण रहितःसदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदन समये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः ॥

नडपाद की 'सेकोद्देश की टीका' में सरहपाद का वचन, पृ. 63

सो, यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है, क्योंकि इसका न आदि है, न अन्त है, न मध्य है; न इसमे अपने का ज्ञान रहता है, न पराये का; न यह जन्म

है, न मोक्ष; न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराज को सरहपाद ने इस प्रकार कहा है :

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ
णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह,
णउ पर णउ अप्पाण॥

—ज डि. ले. पृ 13

जालन्धरपाद ने सरहपाद के ग्रन्थ पर एक टिप्पणी लिखी थी, इसलिए उनके ऊपर सरहपाद के विचारों का प्रभाव होना बिल्कुल स्वाभाविक है। राहुलजी ने नेपाल के बौद्धों में 'चर्यागीति' नामक पुस्तक से जो पद संग्रह किया है, वह स्पष्ट रूप से सरहपाद के बताये हुए उक्त मत का समर्थन करता है। वे चतुरानन्द (चार प्रकार के आनन्द) की बात कहकर बताते हैं कि परमानन्द और विरमानन्द के बीच ही जो आनन्द (सहजानन्द) आच्छन्न नहीं हो जाता, जो सबके ऊर्ध्व में और सबके अतीत है, वह महासुख है। जालन्धरपाद ने उस महासुख का अनुभव किया था :

आनंद परमानंद विरमा, चतुरानंद जे सभवा।
परमा विरमा माझे न छादि रे महासुख सुगत सप्रदप्रापिता॥

—'गंगा' पु., पृ. 253

यह महासुख शैव तान्त्रिकों के सहजानन्द के बहुत नजदीक है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि जालन्धरपाद को परवर्ती साहित्य में शैव सिद्ध मान लिया गया है।

वर्तमान अवस्था में उनके मत के विषय में इससे कुछ अधिक कह सकना सम्भव नहीं है, परन्तु उनके शिष्य कृष्णपाद के मत के विषय में कुछ अधिक कह सकना सम्भव है। उनके कई पद और दोहे प्राप्त हुए हैं और उन पर संस्कृत टीका भी उपलब्ध हुई है। संक्षेप में आगे उनके मत का सार-संकलन किया जा रहा है। यहाँ इतना कह रखना उचित है कि म. म. प. गोपीनाथ कविराज ने 'सिद्धान्त वाक्य' से गोपीचन्द और जालन्धरनाथ का जो संवाद उद्धृत किया है,[1] वह बहुत परवर्ती जान पड़ता है। वस्तुतः वह अपभ्रंश से या पुरानी हिन्दी से संस्कृत में रूपान्तरित जान पड़ता है। हम आगे 'गोरखबोध' के प्रसंग में उस पर विचार करेंगे।

कान्हूपाद या कृष्णपाद (कानिपा) के दोहों का एक संग्रह 'दोहा कोश' नाम से श्री हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया है। उस पर 'मेखला'[2] नामक संस्कृत-टीका भी मिली है। इनको फिर से तिब्बती अनुवाद से मिलाकर डॉ. बागची ने सम्पादित किया है। इन दोहों के अतिरिक्त 'चर्याचर्यविनिश्चय' में संस्कृत-टीका के साथ उनके कई पद भी छपे हैं। इन्हीं सबके आधार पर नीचे का संकलन प्रकाशित किया जा रहा है।

मूल शब्द 'सन्धा भाषा' था और अर्थ था 'सन्धाय' या 'अभिप्रेत्य' कही हुई भाषा। भागवत के श्लोकों से इसका समर्थन किया गया था। पर लगता है टीकाकार इसे 'सन्ध्या भाषा' कहना ही उचित समझते थे। स्वयं भागवत को व्यास की 'समाधि-भाषा' कहा गया है—'समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।' इसका परवर्ती रूप कबीर की उलटबाँसियों मे पाया जाता है।

जालन्धरपाद का कहा जानेवाला एक अपभ्रंश पद राहुलजी को नेपाल मे मिला है। यद्यपि इसकी भाषा बिल्कुल बिगड़ी हुई है, तथापि इस पद से उनके मत के विषय मे एक धारणा बनायी जा सकती है। यद्यपि जालन्धरपाद अक्षय निरंजन-निरालम्ब शून्य को नमस्कार कर रहे है और यह लग सकता है कि वे बौद्ध लोगों की भाँति एक अनिर्वचनीय 'शून्य' को अपना उपास्य मानते है, तथापि इस अस्पष्ट पद मे भी यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि वे सरहपाद के 'महासुख' नामक 'सत्' आनन्द को ही अपना चरम प्राप्तव्य मानते है। एक ऐसा समय गया है जब सहजयानी और वज्रयानी साधक शून्य को निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक या धनात्मक रूप मे समझने लगे थे। इसी भाव को बताने के लिए वे 'सुखराज' या 'महासुख' शब्द का व्यवहार करते थे। ये साधक चार प्रकार के आनन्द मानते थे: प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। अन्तिम और श्रेष्ठ आनन्द सहजानन्द है। यही सुखराज है, यही महासुख है, इसे किसी शब्द से नही समझाया जा सकता। यह अनुभवैकगम्य है। इसमे इन्द्रिय-बोध लुप्त हो जाता है, आत्म-भाव या अस्मिता विलुप्त हो जाती है, 'केवल' रूप मे अवस्थिति होती है। सरहपाद ने इसी भाव को बताने के लिए कहा है:

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ
णट्ठिअ अप्प सहावा।
सो हले सहजन तनु फुड़
पुच्छहि गुरु पावा।

इतना वे लोग भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध देव ने इस शब्द का कभी प्रयोग नही किया और इस भाव की प्रज्ञप्ति के लिए कुछ भी नही कहा। परन्तु साथ ही वे बुद्धदेव के मौन को अपने पक्ष की पुष्टि मे ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुखराज के विषय में जो मौन रह गये, वह इसलिए कि वह वाणी से परे था—'जय हो इस कारण-रहित सुखराज की जो जगत् के नाशमान चंचल पदार्थों मे एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध को भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था':

जयति सुखराज एष कारण रहितःसदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदन समये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञ.॥

नडपाद की 'सेकोद्देश की टीका' में सरहपाद का वचन, पृ. 63

सो, यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है, क्योंकि इसका न आदि है, न अन्त है, न मध्य है; न इसमे अपने का ज्ञान रहता है, न पराये का; न यह जन्म

है, न मोक्ष; न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराज को सरहपाद ने इस प्रकार कहा है :

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ
णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह,
णउ पर णउ अप्पाण ॥

—ज. डि. ले., पृ. 13

जालन्धरपाद ने सरहपाद के ग्रन्थ पर एक टिप्पणी लिखी थी, इसलिए उनके ऊपर सरहपाद के विचारों का प्रभाव होना बिलकुल स्वाभाविक है। राहुलजी ने नेपाल के बौद्धों में 'चर्यागीति' नामक पुस्तक में जो पद संग्रह किया है, वह स्पष्ट रूप से सरहपाद के बताये हुए उक्त मत का समर्थन करता है। वे चतुरानन्द (चार प्रकार के आनन्द) की बात कहकर बताते हैं कि परमानन्द और विरमानन्द के बीच ही जो आनन्द (सहजानन्द) आच्छन्न नहीं हो जाता, जो सबके ऊर्ध्व में और सबके अतीत है, वह महासुख है। जालन्धरपाद ने उस महासुख का अनुभव किया था :

आनद परमानंद विरमा, चतुरानंद जे संभवा।
परमा विरमा माझे न छादि रे महासुख सुगत सप्रदप्रापिता ॥

—'गंगा' पु., पृ. 253

यह महासुख शैव तान्त्रिकों के सहजानन्द के बहुत नजदीक है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि जालन्धरपाद को परवर्ती साहित्य में शैव सिद्ध मान लिया गया है।

वर्तमान अवस्था में उनके मत के विषय में इससे कुछ अधिक कह सकना सम्भव नहीं है, परन्तु उनके शिष्य कृष्णपाद के मत के विषय में कुछ अधिक कह सकना सम्भव है। उनके कई पद और दोहे प्राप्त हुए हैं और उन पर संस्कृत टीका भी उपलब्ध हुई है। संक्षेप में आगे उनके मत का सार-संकलन किया जा रहा है। यहाँ इतना कह रखना उचित है कि म. म. प. गोपीनाथ कविराज ने 'सिद्धान्त वाक्य' से गोपीचन्द और जालन्धरनाथ का जो संवाद उद्धृत किया है,[1] वह बहुत परवर्ती जान पड़ता है। वस्तुतः वह अपभ्रंश से या पुरानी हिन्दी से संस्कृत में रूपान्तरित जान पड़ता है। हम आगे 'गोरखबोध' के प्रसंग में उस पर विचार करेंगे।

कान्हूपाद या कृष्णपाद (कानिपा) के दोहों का एक संग्रह 'दोहा कोश' नाम से श्री हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया है। उस पर 'मेखला'[2] नामक संस्कृत-टीका भी मिली है। इनको फिर से तिब्बती अनुवाद से मिलाकर डॉ. बागची ने सम्पादित किया है। इन दोहों के अतिरिक्त 'चर्याचर्यविनिश्चय' में संस्कृत-टीका के साथ उनके कई पद भी छपे हैं। इन्हीं सबके आधार पर नीचे का संकलन प्रकाशित किया जा रहा है।

मूल शब्द 'सन्धा भाषा' था और अर्थ था 'सन्धाय' या 'अभिप्रेत्य' कही हुई भाषा। भागवत के श्लोकों से इसका समर्थन किया गया था। पर लगता है टीकाकार इसे *'सन्ध्या भाषा' कहना ही उचित समझते थे। स्वयं भागवत को व्यास की 'समाधि-भाषा'* कहा गया है—'समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।' इसका परवर्ती रूप कबीर की उलटबाँसियों में पाया जाता है।

जालन्धरपाद का कहा जानेवाला एक अपभ्रंश पद राहुलजी को नेपाल में मिला है। यद्यपि इसकी भाषा बिल्कुल बिगड़ी हुई है, तथापि इस पद से उनके मत के विषय मे एक धारणा बनायी जा सकती है। यद्यपि जालन्धरपाद अक्षय निरंजन-निरालम्ब शून्य को नमस्कार कर रहे हैं और यह लग सकता है कि वे बौद्ध लोगों की भाँति एक अनिर्वचनीय 'शून्य' को अपना उपास्य मानते है, तथापि इस अस्पष्ट पद से भी यह स्पष्ट समझ मे आ जाता है कि वे सरहपाद के 'महासुख' नामक 'सत्' आनन्द को ही अपना चरम प्राप्तव्य मानते हैं। एक ऐसा समय गया है जब सहजयानी और वज्रयानी साधक शून्य को निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक या धनात्मक रूप मे समझने लगे थे। इसी भाव को बताने के लिए वे 'सुखराज' या 'महासुख' शब्द का व्यवहार करते थे। ये साधक चार प्रकार के आनन्द मानते थे: प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। अन्तिम और श्रेष्ठ आनन्द सहजानन्द है। यही सुखराज है, यही महासुख है, इसे किसी शब्द से नही समझाया जा सकता। यह अनुभवैकगम्य है। इसमे इन्द्रिय-बोध लुप्त हो जाता है, आत्म-भाव या अस्मिता विलुप्त हो जाती है, 'केवल' रूप में अवस्थिति होती है। सरहपाद ने इसी भाव को बताने के लिए कहा है:

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ
णट्ठिअ अप्प सहावा।
सो हले सहजन तनु फुड़
पुच्छहि गुरु पावा।

इतना वे लोग भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध देव ने इस शब्द का कभी प्रयोग नही किया और इस भाव की प्रज्ञप्ति के लिए कुछ भी नही कहा। परन्तु साथ ही वे बुद्धदेव के मौन को अपने पक्ष की पुष्टि मे ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुखराज के विषय मे जो मौन रह गये, वह इसलिए कि वह वाणी से परे था—'जय हो इस कारण-रहित सुखराज की जो जगत् के नाशमान चंचल पदार्थों मे एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध को भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पडा था':

जयति सुखराज एप कारण रहित.सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदन समये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञ.॥
नडपाद की 'सेकोद्देश की टीका' में सरहपाद का वचन, पृ. 63

सो, यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है, क्योंकि इसका न आदि है, न अन्त है, न मध्य है; न इसमें अपने का ज्ञान रहता है, न पराये का; न यह जन्म

है, न मोक्ष; न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराज को सरहपाद ने इस प्रकार कहा है :

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ
णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह,
णउ पर णउ अप्पाण ॥

—ज डि. ले, पृ. 13

जालन्धरपाद ने सरहपाद के ग्रन्थ पर एक टिप्पणी लिखी थी, इसलिए उनके ऊपर सरहपाद के विचारों का प्रभाव होना बिल्कुल स्वाभाविक है। राहुलजी ने नेपाल के बौद्धो में 'चर्यागीति' नामक पुस्तक से जो पद सग्रह किया है, वह स्पष्ट रूप से सरहपाद के बताये हुए उक्त मत का समर्थन करता है। वे चतुरानन्द (चार प्रकार के आनन्द) की बात कहकर बताते है कि परमानन्द और विरमानन्द के बीच ही जो आनन्द (सहजानन्द) आच्छन्न नहीं हो जाता, जो सबके ऊर्ध्व मे और सबके अतीत है, वह महासुख है। जालन्धरपाद ने उस महासुख का अनुभव किया था :

आनद परमानद विरमा, चतुरानंद जे संभवा।
परमा विरमा माझे न छादि रे महासुख सुगत संप्रदप्रापिता ॥

—'गगा' पु., पृ. 253

यह महासुख शैव तान्त्रिकों के सहजानन्द के बहुत नजदीक हैं। इसलिए आश्चर्य नही कि जालन्धरपाद को परवर्ती साहित्य मे शैव सिद्ध मान लिया गया है।

वर्तमान अवस्था मे उनके मत के विषय मे इससे कुछ अधिक कह सकना सम्भव नही है, परन्तु उनके शिष्य कृष्णपाद के मत के विषय मे कुछ अधिक कह सकना सम्भव है। उनके कई पद और दोहे प्राप्त हुए है और उन पर संस्कृत टीका भी उपलब्ध हुई है। संक्षेप मे आगे उनके मत का सार-सकलन किया जा रहा है। यहाँ इतना कह रखना उचित है कि म. म. पं. गोपीनाथ कविराज ने 'सिद्धान्त वाक्य' से गोपीचन्द और जालन्धरनाथ का जो संवाद उद्धृत किया है,[1] वह बहुत परवर्ती जान पड़ता है। वस्तुत. वह अपभ्रंश से या पुरानी हिन्दी से संस्कृत मे रूपान्तरित जान पड़ता है। हम आगे 'गोरखबोध' के प्रसंग मे उस पर विचार करेंगे।

कान्हूपाद या कृष्णपाद (कानिपा) के दोहों का एक संग्रह 'दोहा कोश' नाम से श्री हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया है। उस पर 'मेखला'[2] नामक संस्कृत-टीका भी मिली है। इनको फिर से तिब्बती अनुवाद से मिलाकर डॉ. बागची ने सम्पादित किया है। इन दोहों के अतिरिक्त 'चर्याचर्यविनिश्चय' में संस्कृत-टीका के साथ उनके कई पद भी छपे है। इन्ही सबके आधार पर नीचे का सकलन प्रकाशित किया जा रहा है।

कृष्णपाद मानते थे कि इस शरीर में ही चरम प्राप्तव्य की प्राप्ति होती है। शरीर का जो मेरुदण्ड है, वही कंकालदण्ड कहा जाता है, उसे ही मेरु-पर्वत कहते हैं; क्योंकि श्री सम्पुटतन्त्र मे कहा गया है कि पैरों के तलवे में भैरव-रूप धनुपाकार वायु का स्थान है, कटिदेश मे त्रिकोण उद्धरण है जिसके तीन दलों पर वर्तुलाकार वरुण का वास है और हृदय मे पृथ्वी है जो चतुरस्र भाव से सब ओर व्याप्त है। इसी प्रकार कंकालदण्ड के रूप मे गिरिराज सुमेरु स्थित है।[3] इसी गिरिराज के कन्दरकुहर मे नैरात्म धातु-जगत् उत्पन्न होता है। इसी गिरिकुहर मे स्थित पद्म में यदि बोधि चित्त पतित होता है तो कालाग्नि का प्रवेश होता है और सिद्धि में बाधा पड़ती है;[4] क्योंकि 'शुक्र सिद्धि' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट ही लिखा है कि यदि सर्वसिद्धि का निधान बोधिचित्त (शुक्र, नायपन्थियों का बिन्दु) नीचे की ओर पतित हो और स्कन्धविज्ञान मूच्छित हो जाय तो उत्तम सिद्धि कहाँ से प्राप्त हो सकती है ?[5]

यहाँ यह समझ रखने की जरूरत है कि समस्त बौद्ध वज्रयानी और सहजयानी साधक मानते है कि दो प्रकार के सत्य होते हैं: लोक-संवृत-सत्य अर्थात् लौकिक सत्य और पारमार्थिक सत्य अर्थात् वास्तविक सत्य। लोक मे बोधिचित्त का अर्थ स्थूल शारीरिक शुक्र है, जबकि पारमार्थिक सत्य मे वह ज्ञातृरूप चित्त है। इसी प्रकार पद्म और वज्र के सावृतिक अर्थ स्त्री और पुरुष के जननेन्द्रिय हैं, परन्तु पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक अर्थ आध्यात्मिक हैं जो आगे स्पष्ट होंगे। कृष्णाचार्यपाद के एक पद की टीका मे टीकाकार ने बताया है कि जो लोग गुरु-सम्प्रदाय के अन्दर नहीं है वे लोग सावृतिक (व्यावहारिक) अर्थ लेकर शरीर-रूप कमल के मूलभूत बोधिचित्त को 'शुक्र' समझते हैं।[6] कृष्णाचार्यपाद ने इस वृत्ति को मार डालने का संकल्प किया था। स्कन्धविज्ञान के मूच्छित होने का क्या अर्थ है, यह समझना जरूरी है। इसीलिए इसके विकास पर एक सरसरी निगाह दौड़ाकर हम आगे बढ़ेंगे।

किस प्रकार यह तान्त्रिक प्रवृत्ति बौद्ध-मार्ग में प्रविष्ट हुई थी, इसका इतिहास बहुत मनोरंजक है। इस विषय मे भदन्त शान्तिभिक्षु ने 'विश्वभारती पत्रिका' मे एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। अनुसन्धित्सु पाठकों को वह लेख (वि. भा. प., खण्ड 4, अंक 1) पढ़ना चाहिए। यहाँ प्रकृति-विषय से सम्बद्ध कुछ तथ्यों का संकलन किया जा रहा है, इससे परवर्ती प्रसंग स्पष्ट होगा। जो साधक साधनामार्ग मे अग्रसर होने की इच्छा रखता है, उसके लिए चित्त को वश मे करना परम आवश्यक है। इस चित्त में यदि कामनाओं के उपभोग न करने के कारण क्षोभ हुआ तो साधना मिट्टी मे मिल जायेगी। यही सोचकर अनंगवज्र ने कहा था कि इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए जिससे चित्त क्षुभित न हो, यदि चित्तरत्न संक्षुब्ध हो गया तो कभी सिद्धि नहीं मिल सकती।[7] फिर यह विक्षोभ दमन कैसे किया जाय ? वासनाएँ दबाने से मरती नहीं, अपितु और अन्तस्तल में जाकर छिप जाती हैं। अवसर पाते ही वे उद्बुद्ध हो जाती हैं और साधक को दबोच लेती हैं। इसीलिए उनको दबाना

ठीक नहीं। उचित पन्था यह है कि समस्त कामनाओं का उपभोग किया जाय, तभी शीघ्र चित्त का संक्षोभ दूर होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी।[8] इस प्रकार से कामोपभोग का साधना-क्षेत्र मे प्रवेश हुआ। इस साधना की पृष्ठभूमि मे शून्यवाद था। शून्यता और समस्त भावो और अभावो से मुक्त निःस्वभावता ही साधक का चरम लक्ष्य है। कामनाओ के उपभोग के लिए स्त्री की आवश्यकता है। इसीलिए वज्रयान मे पाँच बुद्धो और अनेक बोधिसत्वो की शक्ति कल्पना की गयी है। सिद्धि प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है, इसलिए जो बुद्ध सिद्ध हो गये है उनके भी गुरु है। यह गुरु शून्यता ही है। जैसे गुड़ का धर्म माधुर्य है और अग्नि का धर्म उष्णता है, उसी प्रकार समस्त धर्मो का धर्म समस्त स्वभावो की स्वभावशून्यता है।[9] शून्यता का मूर्त्तरूप ही वज्रसत्व है। वज्रसत्व, वज्रधर, वज्रपाणि, तथागत इसी शून्य के नाम है, यही वज्रधर समस्त बुद्धो के गुरु है।

बौद्ध दर्शन में समस्त पदार्थो को पाँच स्कन्धो मे विभक्त किया गया है : रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, सज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध और विज्ञान-स्कन्ध। इस शरीर मे भी ये ही पाँच तत्त्व हैं और पाँचो बुद्ध—वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य-- इन्ही पाँच स्कन्धों के विग्रह है। इन बुद्धो की पाँच शक्तियाँ है और नाना भाँति के चिह्न, रंग, वर्ण, कुल आदि है। इस प्रकार समस्त बुद्धो की आश्रयभूमि जिस प्रकार समस्त विश्वब्रह्माण्ड है, उसी प्रकार यह शरीर भी है। इसीलिए शरीर की साधना परम आवश्यक है। काया-साधना से शून्यता-रूप परम प्राप्तव्य प्राप्त किया जा सकता है। समस्त बुद्धों और उनकी शक्तियों की आवास-भूमि यह शरीर ही है। नीचे भदन्त शान्तिभिक्षु के लेख से एक कोष्ठक उद्धृत किया जा रहा है जिससे बुद्ध, उनकी शक्तियो, रंग, रूप, चिह्न और कुल आदि का परिचय हो जायगा। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह साधना नाथ-साधना का या तो पूर्वरूप है या उससे अत्यधिक सम्बद्ध है।

अब इस मानव-शरीर का प्रधान आधार उसके रीढ या मेरुदण्ड है। सो, इस मेरुदण्ड के भीतर तीन नाड़ियों से होता हुआ प्राणवायु संचरित होता है। बायीं नासिका से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करनेवाली नाडियाँ चलती है (नाथ-पन्थियों की इड़ा-पिंगला से तुलनीय), जिनमें पहली प्रज्ञाचन्द्र है और दूसरी उपायसूर्य। प्रज्ञा और उपाय नाथपन्थियो की इच्छा और क्रिया-शक्ति की समशील है। मध्यवर्त्ती नाड़ी अवधूती है जो नाथपन्थियो की सुषुम्णा की समशीला है। इस नाड़ी से जब प्राणवायु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नही रहता, इसीलिए अवधूती नाड़ी को ग्राह्य-ग्राहकवर्जिता कहा जाता है।[10] मेरुगिरि के शिखर पर महासुख का आवास है जहाँ चौंसठ दलो का एक कमल है। यह कमल चार मृणालों पर स्थित है, प्रत्येक मृणाल के चार क्रम हैं और प्रत्येक क्रम के चार-चार दल हैं—इस प्रकार यह ($4 \times 4 \times 4$) चौंसठ दलों का कमल (पद्म) है जहाँ वज्रधर (योगी) इस पद्म का आनन्द उसी प्रकार लेता है जिस प्रकार भ्रमर प्रफुल्ल कुसुम का।[11] इन चार मृणालों के

पंचस्कन्ध	पंच तथागत या ध्यानी बुद्ध	रंग	वर्ण	चिह्न	[illegible] कुल	शक्तियाँ	शक्तियों के दूसरे नाम	[illegible]	रस ([illegible])	चिह्न
रूप	वैरोचन	शुक्ल	यवर्ग	[illegible]	मोह	मोहरति	लोचना	पृथ्वी	मधुर	[illegible]
वेदना	रत्नसम्भव	पीत	टवर्ग	रत्न	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	लवण	[illegible]
संज्ञा	अमिताभ	रक्त	तवर्ग	पद्म	राग	रागरति	पाण्डुरवासिनी	तेज	[illegible]	पद्म
संस्कार	अमोघ सिद्धि	श्याम	पवर्ग	[illegible]	[illegible]	[illegible]	—	—	—	—
विज्ञान	अक्षोभ्य	कृष्ण	चवर्ग	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
शून्यता	वज्रधर	शुक्ल	अन्तस्थ	[illegible]			प्रज्ञापारमिता			

और राग—दोनों से रहित, दोनों से अतीत। श्रीमद् आदिबुद्ध ने कहा भी है कि विराग से बढ़कर पाप नहीं है और राग से बढ़कर पुण्य नहीं है।[10] सो, कृष्णपाद ने परम तत्त्व का साक्षात्कार करके यह सत्य वचन कहा है :

नितरंग सम सहजरूअ सअल कलुष विरहिते।
पाप पुण्य रहिए, कुच्छ नाहिं फलु कान्हु कहिए ॥ 10 ॥

यह साधना नाथमार्गियों की साधना से बहुत-कुछ मिलती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि नाथसिद्ध भी भावभावविनिर्मुक्तावस्था को अपनी साधना का चरम लक्ष्य मानते हैं।

सन्दर्भ

1 स भ रट, जिल्द 6 पृ 27

2 कृष्णपाद की एक शिष्या का नाम भी मेखला था। यह अनुमान किया जा सकता है कि टीका उन्हीं की लिखी हो। मेखला वज्रयान-सम्प्रदाय में बहुत गौरव का पात्र मानी जाती हैं वे चौरासी सिद्धों में एक हैं। 'वर्णरत्नाकर' में मेखला नाम से जिस नाथ सिद्ध का उल्लेख है वे यही हैं।

3. स्थित पादतलेरायुर्भैरवो धनुराकृति
स्थितोऽस्ति कटिदेशे तु त्रिकोणोद्धरणन्तथा ॥
वर्तुलाकाररूपो हि वरुणस्त्रिदले स्थित ॥
हृदये पृथवी चैव चतुरस्रा समन्ततः।
कंकालदण्डरूपो हि सुमेरुगिरिराट् तथा ॥

4. वर गिरि कन्दर कुहिर जगु तहि सअल चित्तरथइ।
विमल सलिल सोसिज्जइ कालागि पइट्ठइ ॥ 14 ॥—बौ. गा. दो, पृ. 127

5. पतिते बोधिचित्ते तु सर्वसिद्धि-निधान के।
मूर्छिते स्कंधविज्ञाने कुत. सिद्धिरनिन्दिता ॥

6. गुरुसम्प्रदाय विहीनस्य सैव डोम्बिनी अपरिशुद्धावधूतिका सरोत्तरं कायपुष्करं तन्मूलं तदेव बोधिचित्त सवृत्याशुकरूप मारयामि ॥—बौ. गा. दो., पृ 21

7. तथा तथा प्रवर्तते यथा न क्षुभ्यते मन.।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ॥

8. दुष्करैं नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्धयति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयश्चाशु सिद्धयति ॥

9. गुड़े मधुरता चाग्नेरुष्णत्वंप्रकृतिर्यथा।
शून्यता सर्वधर्माणा तथा प्रकृतिरिष्यते ॥

10. है (?) वज्र में सरोरुहपाद ने कहा है :
ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसंस्थिता।
अवधूती मध्यदेशेतु ग्राह्यग्राहकवर्जिता ॥

11. ललना रसना रविशशि तुड़िया वेनवि पासे ।
चउपत्तर चउक्कम चउमृणाल थिअ महासुहवासे ।।5।।
एवं काल वीअलइ कुमुमिअ अरविन्दए ।
महुअरए सुरअवीर सिघप मअरन्दए ।।6।।—बौ. गा. दो., पृ. 124

12. शून्यातिशून्य महाशून्यसर्वशून्यमिति चतु.शून्यस्वरूपेण पत्रचतुष्टय चतुरादि स्वरूपेण चतुर्मृणालसस्थिता । कुर्वेत्याद् । महासुख वसत्यस्तिवितिति महासुखवासे उष्णीपकमल तत्र सर्वशून्यालयो डाकिनी जालात्मक जालधराभिधान मेरुशिखरमित्यर्थः ।—वही, पृ. 124

13. एहु सो गिरिवर कहिअ मरिएहु सो महासुह पाव ।
एत्थु रे निसम्म सहज खगुन हइ महासुह जाव ।।26।।

14-15, गो. प., पृ 15

16. वसेदत्र देवी च डाकिन्यभिख्या
लसद्बाहुवेदोज्ज्वला रक्तनेत्रा ।
उमानोदितानेक सूर्यप्रकाशा
प्रकाश वहन्ती सदा शुद्धबुद्धे. ।।
—पट्चक्र निरूपण, 7

17. 'मालती-माधव' की बौद्ध साधिका सौदामिनी आकाशपथ से विचरण करती जब उस पथ पर आती है, जहाँ मधुमती और सिन्धु नदी के संगम पर भगवान् भवानीपति का 'अपौरुश्रेय-प्रतिष्ठ' विग्रह सुवर्णविन्दु है, तो भक्तिपूर्वक शिव को प्रणाम करती है :
"अय च मधुमती सिधु सभेदपावनो भगवान् भवानीपतिपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्णबिन्दुरित्याख्यायते ।" (प्रणम्य)
जय देव भुवन-भावन जय भगवन्नखिलवरद-निगमनिधे ।
जय रुचिर चन्द्रशेखर जय मदनान्तक जयादिगुरो ।—मा, मा., 9-4

18 नगरे बाहिरें डोम्बि तोहारि कुडिआ ।
छोइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाडिया ।।
आलो डोम्बि तोए सग करिबे म साँग ।
निघ्घन कान्ह कापालि जोइ लाँग ।।
एक सो पदमा चौषट्ठी पाँखुडी ।
तहि चडि नाचअ डोम्बि बापुडी ।।—चर्या., पद 10, पृ. 9

10. एक्क न किज्जइ मत न तंत
णिअ घरणी लेइ केलि करन्त ।
णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ
ताव कि पंचवण्ण विहरिज्जइ ।।28।।
—बौ. गा. दो., पृ. 131

20. विरागानापरं पापं न पुण्य सुखतः परम् ।
अयोऽक्षर-सुखे चित्त निवेश्यं तु सदा नृप ।।

'कबीर मंसूर' में बताया गया है कि सत्यपुरुष समस्त जगत् का उत्पन्नकर्ता है। वह कभी गर्भ में नहीं आता—सबसे अतीत, सबसे परे, सबसे ऊपर। कबीर साहब उसी सत्यपुरुष के अनागत-वक्ता (भविष्यवक्ता) हैं। इनमें सब गुण वे ही हैं जो उक्त सत्यपुरुष में हैं। वस्तुतः वे उनसे अभिन्न हैं, और संसार के त्राणकर्ता हैं। यही कबीर साहब सत्ययुग में 'सुकृति' नाम से, त्रेतायुग में 'मुनीन्द्र' नाम से, द्वापर में 'करुणामय स्वामी' नाम से और कलिकाल में 'कबीर' नाम से अवतीर्ण हुए हैं।

सत्यपुरुष ने स्वयं ही जो अपना स्वरूप उत्पन्न किया, वह कबीर साहब हैं। इन्हीं कबीर साहब के द्वारा ब्रह्म-सृष्टि को सूक्ष्मवेद दिया गया। यह वेद निर्दोष और निष्कलंक था, पर दुर्भाग्यवश सदा ऐसा नहीं रह सका। कारण यह है कि सत्यपुरुष ने सृष्टि के लिए छः पुत्र उत्पन्न किए थे—1. सहज, 2. इच्छा, 3. सुहंग (=सोहं), 4. अंकुर, 5. अचिन्त (=अचिन्त्य), 6. अक्षर। ये छहों बड़े तेजस्वी और तपस्वी हुए। सारा जगत् उस समय जल से परिपूर्ण था और उसमें सत्यपुरुष ने अपनी सातवीं सन्तान—एक अण्डे को छोड़ दिया। यह अण्डा अक्षर-पुरुष के पास—जो उस समय तपोमग्न था—आकर फूटा और उसमें से दुर्दमनीय कालपुरुष निरंजन पैदा हुआ, जिसे पिता ने पहले से ही असंख्य युगपर्यन्त अखण्ड राजभोग की अनुज्ञा दे दी थी। इसी अण्डे को मन्वादि शास्त्रों में 'हिरण्य-गर्भ' कहा गया है। यह कालपुरुष बड़ा प्रचण्ड, अभिमानी और प्रतापी हुआ। इसी के नाम नाना शास्त्रों में नाना भाव से आये हैं। कुछ नाम ये हैं: काल, कैल, अंकार, ओंकार, निरंकार, निर्गुण, ब्रह्म, ब्रह्मा, धर्मराय, खुदा, अल्लाह, करीम, अद्वैत, केशव, नारायण, हरि, विश्वम्भर, वासुदेव, जगदीश, जगन्नाथ, परमेश्वर, ईश, विश्वनाथ, खालिक, रब, रब्बिल, आलामी, हक इत्यादि।

पिता (सत्यपुरुष) की आज्ञा से इसी निरंजन ने इस सृष्टि का जाल पसारा। इस सारी सृष्टि को बनाने के मसाले को एक कूर्मजी ने बड़ी सावधानी से अपने पेट में छिपा रखा था। कूर्मजी का आकार कछुए का है और वे सृष्टि के आधार हैं। उनका आकार भी निरंजन से दूना है। खैर, निरंजन तो सृष्टि करने का निश्चय कर चुका था। वह कूर्मजी से मसाले के लिए लड़ पड़ा। कूर्मजी ऐसे दुर्दान्त को मसाला क्यों देने लगे? लड़ाई हो गयी। चालाक निरंजन ने कूर्मजी के तीन सिर चबा डाले और फिर तो रास्ता साफ हो गया। कूर्मजी के पेट में पड़ी हुई सामग्री दिख गयी। निरंजन ने उसे चुरा लिया और तब वह इस भवजाल को खड़ा करने में समर्थ हो गया। बेचारे कूर्मजी को सत्यपुरुष की आज्ञा बाद में मालूम हुई और वे चुप हो रहे।

अब सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए कालपुरुष (निरंजन) ने आद्याशक्ति या माया को उत्पन्न किया और उसके संयोग से सत्वप्रधान ब्रह्मा, रजोगुणप्रधान विष्णु

और तमोगुणप्रधान शिव की सृष्टि की। ज्यों ही ये तीन देवता उत्पन्न हुए, वह अन्तर्धान होकर अपने लोक में चला गया। जाती बार माया से कहता गया कि 'इन पुत्रों को मेरा पता मत बताना।' सो, इन्होंने बाद में जब आद्याशक्ति या माया से पूछा कि 'तू कौन है, तेरा पति कौन है, हम लोग कौन है, और हमारे पिता कौन है?' तो माया ने जवाब दिया कि वही उनकी माता है, वही पिता और वही पत्नी भी। तीनों देवता इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुए। बताया जाता है कि स्वयं कबीरदास ने पहली रमैनी में इस तत्त्व की ओर इशारा किया है :

"तब बरम्हा पूछा महतारी। को तोर पुरुष कवन तैं नारी।।"

इस पर माया ने उत्तर दिया :

"हम तुम तुम हम और न कोई। तुमही पुरुष हमही तोर जोई।।"

—बीजक, प्रथम रमैनी

इधर जब निरंजन अपने लोक में जाकर समाधिस्थ हुआ तो उसने सूक्ष्मवेद को अपने हृदय में धारण कर लिया था। उसकी सूक्ष्म बातें तो भीतर ही रह गयी, पर जो स्थूल अंश था वह उसकी नाक से साँस के साथ ही गिर गया। यही 'त्वचा-ज्ञान' वाला आधुनिक वेद है। इसमें रस नहीं, केवल छिलका-भर ही है। इसीलिए कबीर-पन्थी लोग इसे 'त्वचा-ज्ञान' कहते हैं। यह स्थूल अंश ही आजकल वेद के नाम पर चल रहा है। जब ब्राह्मण लोग भक्ति-गद्गद स्वर में कहते है, "जिसके निःश्वास ही वेद है और इन वेदों से ही जिसने जगत् का निर्माण किया है",* तो वे असल में धूर्त निरंजन की स्तुति करते हैं। बेचारे जानते भी नहीं कि वे कितने धोखे में है!

सूक्ष्मवेद के यों जो चार वेद उत्पन्न हुए, दोषी तथा पाखण्डी निरंजन के संसर्ग से हुए और इसलिए उनमें कलुष का रह जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है! निरंजन खूब जानता था कि यदि एक बार लोगों को सूक्ष्मवेद का ज्ञान हो जाये तो उसे कोई पूछेगा भी नहीं, इसीलिए वह बहुत होशियारी से संसार को अपने जाल में फँसाये हुए है। किन्तु कबीरदास जब इस संसार में भलेमानुसों के उद्धार के लिए प्रकट हुए तो उन्होंने चारों सूक्ष्म वेदों को फिर से पृथ्वीवासियों के निकट प्रकट कर दिया। इस प्रकार कबीर साहब की—

1. कूटवाणी ही सूक्ष्म ऋग्वेद है,
2. टकसार-वाणी ही सूक्ष्म यजुर्वेद है,
3. मूकज्ञान-वाणी ही सूक्ष्म सामवेद है, और
4. बीजक-वाणी ही सूक्ष्म अथर्ववेद है।

* यस्य निःश्वसित वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्। निर्ममे तमहं वन्दे ज्ञानरूपं जनार्दनम्। और भी—अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेदि यद ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथ:—र्वांगिरस इतिहासपुराणविद्या उपनिषद श्लोक सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि निःश्वासितानि।—बृहदारण्यक, 2।4

और आजकल जो वेद के नाम पर पुस्तकें चल रही हैं वे ओ३म से निकली हैं। ओ३म की माता कुण्डलिनी है, कुण्डलिनी महामाया है, महामाया नागिन है और इसीलिए ये स्थूलवेद जहरीली नागिन के जहर से आपादमस्तक सिक्त हैं! कहते हैं, इसी महामाया नागिन को लक्ष्य करके कबीर साहब ने कहा है :

अन्तरजोत सबद एक नारी। हरि ब्रह्मा ता के त्रिपुरारी॥

—बीजक, प्रथम रमैनी

इस धक्कामार वक्तव्य का क्या कुछ अर्थ है? ऊपर-ऊपर से देखने पर यह एक ऊटपटांग-सी बात लगती है, परन्तु विचार करने पर ऐसा नहीं लगता। इस वक्तव्य के पीछे एक बड़ी भारी परम्परा है।

इस देश में निर्गुण ज्ञान-मार्ग की परम्परा बहुत पुरानी है। वेद की मूल-संहिताओं में ही सगुण आत्मज्ञान और निर्गुण आत्मज्ञान के बीज उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु संहिताभाग में सगुण आत्मज्ञान पर अधिक बल है। वागम्भृणी के इस कथन में कि 'अहं विश्वेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः' सर्वव्यापी ऐश्वर्य-गुण-सम्पन्न सगुण आत्मज्ञान है। इस प्रकार के अनेक वचन मूल संहिताओं में खोजे जा सकते हैं जहाँ आत्मा को सर्वज्ञातृत्व, सर्वव्यापित्व, और सर्वकर्तृत्व आदि धर्मों या गुणों से युक्त बताया गया है। परन्तु उन्हीं दिनों निर्गुण आत्मज्ञान की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। बाद में कपिल ऋषि ने इस निर्गुण आत्मज्ञान को विशुद्ध तत्त्वचिन्तनमूलक दर्शन का रूप दिया जिसे 'सांख्य' कहते हैं। सांख्य दर्शन इस देश का बहुत पुराना तत्त्वचिन्तनपरक शास्त्र है। कुछ लोग तो इसे सबसे पुराना दर्शन कहते हैं और महाभारत के शान्तिपर्व के निम्नांकित श्लोक को अपने विश्वास के प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं :

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन्
वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे॥
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे
सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥

[हे राजन्! बड़े लोगों में जो ज्ञान है, और जो ज्ञान वेद, सांख्य और योग-शास्त्र में उपदिष्ट है और जो ज्ञान विविध रूपों में पुराणों में पाया जाता है, वह सभी सांख्य से ही आया है।]

सांख्य और योग का तत्त्वदर्शन एक ही है। कपिल ने निर्गुण आत्मज्ञान को युक्ति-तर्क द्वारा प्रतिष्ठित किया था। उसे प्राप्त करने का उपाय बतानेवाला शास्त्र योग है। प्राचीन शास्त्रों से जान पड़ता है कि जो लोग तत्त्वनिदिध्यासन, मनन, चिन्तन आदि द्वारा निर्गुण आत्मज्ञान का साक्षात्कार करते थे, वे 'सांख्य' कहलाते थे और जो तप, स्वाध्याय और अभ्यास-वैराग्य द्वारा इस 'केवल' स्वरूप का साक्षात्कार करते थे, वे योगी कहलाते थे। दोनों का तत्त्वज्ञान एक था। कुछ लोग कहते हैं कि मूल सूत्रों से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद हू-ब-हू एक ही है। जो भी हो, परम्परा से यही विश्वास किया जाता है

कि ये दोनों तत्त्ववाद एक ही हैं। गीता में भगवान् ने कहा है कि केवल बालबुद्धि के लोग ही सांख्य और योग को पृथक् मानते हैं, पण्डितजन ऐसा नहीं समझते। इस सांख्यमत में पुरुष अनेक है, प्रकृति उन्हें अपने बन्धन में बाँधती है। है दोनों ही अनादि। पुरुष विशुद्ध चेतनस्वरूप है, उदासीन है और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस विशुद्धस्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक वह बन्धन में है।—यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति में तीन गुण—सत्त्व, रजस्, तमस्—साम्यावस्था में रहते हैं। पुरुष के संयोग से यह साम्यावस्था विक्षुब्ध होती है और क्रमशः उस बन्धनरूप जगत् का विकास होता है। बुद्धि, मन, इन्द्रिय और भूतमात्र प्रकृति की ही विकृति है। गुणों की कमी-बेशी के कारण वे भिन्न रूपों में दिखायी दे रहे हैं। पुरुष कभी देह को, कभी मन को, कभी बुद्धि को अपना रूप मानता रहता है। ज्ञान होते ही वह इस गुणमयी प्रकृति से अलग होकर 'केवल' शुद्ध चेतन के रूप में आ जाता है। केवल-रूप में बने रहने की इस अवस्था का ही नाम कैवल्य या मोक्ष है। योगशास्त्र में इसी 'केवल' रूप में स्थित होने की अवस्था को प्राप्त करने के उपाय बताये गये हैं।

समुद्र में जिस प्रकार तरंगें उठा करती हैं, उसी प्रकार चित्त में असंख्य वृत्तियाँ उठा करती हैं। योगविद्या के शास्त्रकारों ने उन्हें पाँच मोटे विभागों में बाँटकर समझाया है—1. प्रमाण, 2. विपर्यय, 3. विकल्प, 4. निद्रा और 5. स्मृति। ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ राग, द्वेष और मोह में अनुविद्ध होती हैं, इसीलिए क्लेशकर हैं। इसीलिए मुमुक्षु व्यक्ति को इनका निरोध करना चाहिए। अभ्यास और वैराग्य से यह बात सम्भव है। साधारण अवस्था में पुरुष (=आत्मा) का प्रकृत स्वरूप यद्यपि निर्विकार ही रहता है, तथापि वह मोहवश अपने वास्तविक रूप से परिचित नहीं होता और 'वृत्तिसारूप्यता' को प्राप्त होता है। अर्थात् चित्त की जो वृत्ति *जिस समय उपस्थित रहती है, पुरुष उस समय उसीको अपना स्वरूप* समझ लेता है। कोई भी विषय चाहे वह बाह्य हो या आन्तर, जब तक चित्तवृत्ति का विषय नहीं हो जाता तब तक पुरुष उसे ग्रहण नहीं कर सकता, और मुग्ध होने के *कारण वह उन वृत्तियों से अपनी पृथक् सत्ता को अनुभव नहीं कर पाता।* वैराग्य और दीर्घ अभ्यास के बाद वह अपने-आपके स्वरूप को पहचानता है।

संप्रज्ञातसमाधि में ध्येय-विषयक वृत्तियाँ चित्त में वर्तमान रहती हैं और बराबर ही अपने अनुरूप संस्कार-प्रवाह को उत्पन्न करती रहती हैं। असंप्रज्ञातसमाधि में ऐसी कोई वृत्ति नहीं रहती। हृदय में पुनः-पुनः वैराग्य के अनुशीलन से समस्त चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। भगवान् ने गीता में कहा है कि यद्यपि चंचल मन को वश करना कठिन है, तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष सुख और आनुश्रविक अर्थात् केवल शास्त्र से जाने जानेवाले स्वर्गादि सुख—इन दोनों प्रकार की भोगाभिलाषाओं की निवृत्ति को 'वैराग्य' कहते हैं। यह वैराग्य दो प्रकार का होता है—अपर वैराग्य और पर वैराग्य। अपर वैराग्य की चार सीढ़ियाँ हैं—(1) राग और द्वेषवश जो इन्द्रिय-

चांचल्य होता है उसे रोकने की चेष्टा (यतमान संज्ञा), (2) राग और विराग के विषयों को अलग-अलग ठीक करना (व्यतिरेक संज्ञा), (3) इन्द्रियनिवृत्ति के बाद केवल मन द्वारा विषयों की चिन्ता (एकेन्द्रिय संज्ञा), और अन्त में, (4) मानसिक उत्सुकता को भी वश में करना (वशीकरण संज्ञा)। संप्रज्ञातसमाधि तक तो इस प्रकार के वैराग्य से ही प्राप्त हो जाती है, किन्तु वैराग्य की उत्कृष्ट अवस्था वह है (परवैराग्य) जब द्रष्टा पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि समस्त तत्त्वों से अपने को पृथक् समझ लेता है और समस्त विषयों के उपभोग से वितृष्ण हो जाता है। इसी 'परवैराग्य' के अनुशीलन से असंप्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है। यह समाधि चूंकि सप्रज्ञातसमाधिकालीन ध्येय-विषयक चिन्ता के विराम में कारण प्रत्यय (=परवैराग्य) के पुनः-पुनः अनुशीलन या अभ्यास से होती है, इसलिए सूत्रकार ने इसे 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व' कहा है। इसमें चित्तवृत्तियाँ तो निरुद्ध हो जाती हैं, पर संस्कार फिर भी बच रहता है। बहुत दीर्घकाल तक बने रहने के बाद इन संस्कारों की कोई उद्बोधक सामग्री न मिलने से वे भी समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए असंप्रज्ञातसमाधि को निरोध-समाधि और निर्बीज-समाधि भी कहते हैं। ऐसे भी योगी है जो ज्ञान का सम्यक् उद्रेक न होने के कारण प्रकृति, महान् या अहंकार को ही आत्मा मानकर निरोध-समाधि का अभ्यास करते हैं। उनकी समाधि को 'भवप्रत्यय' नाम दिया गया है। इसमें भ्रान्ति बनी रहती है, इससे इसमें कैवल्यज्ञान (अर्थात् पुरुष या आत्मा का केवल पुरुषरूप में ही अवस्थानरूप ज्ञान) नहीं होता। असंप्रज्ञातसमाधि के उत्कृष्ट उपाय है : श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृति और योगांग। इन उपायों के द्वारा जो समाधि होती है वही 'उपायप्रत्यय' कही गयी है। इस असंप्रज्ञातसमाधि की पूर्णता की अवस्था मे द्रष्टा अर्थात् पुरुष (आत्मा) 'केवल' स्वरूप मे अवस्थान करता है। यही कैवल्यप्राप्ति है।

इस अवस्था में चेतनस्वरूप पुरुष स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करता है। इसीलिए योगशास्त्र में उसे 'स्वप्रकाश' कहा जाता है। पातंजल में पुरुष को द्रष्टा कहा गया है। द्रष्टा दृशिमात्र है, वह प्रत्ययानुपश्य भी है (2/20)। टीकाकारों ने 'दृशि' का अर्थ किया है 'चित्' या स्वबोध। 'मात्र'-प्रत्यय के प्रयोग से उसे सर्वविशेषण-शून्य, सर्वधर्मशून्य कहा गया है। केवल, स्वबोधमात्र। सर्वविशेषणशून्य, सर्वधर्म-शून्य जो बोध है वही द्रष्टा है। इसी विचार से आगे चलकर 'स्वसंवेदन' ज्ञान और ज्ञाता के विचारों का विकास हुआ है।

यह ससार द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से या गृहीता, ग्राह्य और ग्रहणरूप से त्रिपुटीकृत है। योगशास्त्र मे गृहीता और द्रष्टा मे अन्तर बताया जाता है। द्रष्टा अविकारी ज्ञाता है, ग्रहीता विकारी। द्रष्टा और ग्रहीता एक-जैसे तो है, पर एक नहीं है। ग्रहीता बद्ध या अज्ञानी जीव है। बद्ध जीव मे कभी तो जानने की वृत्ति जाग्रत रहती है, कभी निरुद्ध। इसीलिए वह केवल 'ग्रहीता' कहा जाता है। मैं द्रष्टा हूँ, इस प्रकार की बुद्धि ही ग्रहीता है। परन्तु द्रष्टा सदा स्वद्रष्टा है। अपने को आप ही देखनेवाला। उसका ज्ञान उससे भिन्न नहीं है। वह स्वसंवेदन है।

उपनिषदों में कहा गया है कि जो ज्ञाता है, उसे कौन जान सकता है। वह स्वयं स्वय को जानता है, स्वयं ही वेदक है, स्वयं ही वेद्य; वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नही है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्', 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोवर्त्तते' (वृह. उप.) ।

इसी 'स्वसंवेद' शब्द से प्राकृत का 'सुसंवेद' बना है। 'सुसंवेद' ही आगे चलकर 'सुच्छंवेद' और 'सुच्छमवेद' के रूप मे परिवर्तित हुआ। यह सुच्छमवेद संस्कृत मे फिर से गृहीत हुआ। परवर्ती नाथपन्थियो ने अपने सस्कृत ग्रन्थों में 'सूक्ष्मवेद' शब्द का व्यवहार किया है। 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' मे सूक्ष्मवेद और स्थूलवेद, ये दो भेद किये गये हैं (पृ. 22-27 और पृ. 75-76)। इस ग्रन्थ के अनुसार स्थूलवेद यज्ञ-याग का विधान करते हैं और सूक्ष्मवेद प्रणव या ओंकार है। ओंकार ही वेदो का सार है।

यही निर्गुण आत्मज्ञान है।

भारतवर्ष के सभी आस्तिक दर्शन और पुराण-इतिहास आदि शास्त्र अपने को वेद पर आधृत या श्रुतिसम्मत मानते है। वेदान्त शास्त्र-वेद-सम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करता है। श्रुतियों में परात्परतत्त्व को समझाने के लिए अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ दी गयी हैं। उनमें से किसी एक को मुख्य वक्तव्य या महावाक्य मानकर उसी के आलोक में शेष अनुभूतियों की व्याख्या करने के कारण अनेक वेदान्ती मत प्रसिद्ध हुए है। परन्तु सभी वेदान्ती मानते हैं कि मनुष्य का सबसे बडा लक्ष्य—परमपुरुषार्थ—इस दुःखमय जगत् से छुटकारा पाना—मोक्ष—है। उनके मत से संसार दु.खरूप है और मोक्ष ब्रह्म-स्वरूप ही है। कहा गया है कि जब मनुष्य जान जाता है कि वह क्या है, उसका स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न है, तो उसका छुटकारा भी हो जाता है। वह जो छूट नही रहा है, उसका कारण अज्ञान या गलत जानकारी है। इसी गलत जानकारी को 'अविद्या' कहते हैं। सही जानकारी का नाम पराविद्या है। इस सही जानकारी का एकमात्र विषय है—आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान। इसीलिए वेदान्तशास्त्र को 'अध्यात्मविद्या' या 'ब्रह्मज्ञान' भी कहते हैं। जो वास्तविक ज्ञान है, उसे परासंवित् कहते हैं। संसार मे ज्ञान के लिए तीन बातें वर्तमान रहती हैं। कोई जाननेवाला होता है (ज्ञाता), कुछ बातें जानी जाती हैं (ज्ञेय), और कुछ जानकारी प्राप्त होती है (ज्ञान)। इस प्रकार संसार मे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान पृथक्-पृथक् होते हैं। पर ब्रह्म की जानकारी इससे भिन्न प्रकार की है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अलग नही होते। जो ज्ञाता है (आत्मा) वही ज्ञेय भी है (परब्रह्म) और वही ज्ञान भी है (परासंवित्)। श्रुतियो मे कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। और ब्रह्म क्या है? विशुद्ध चित्स्वरूप। सो, एक बार ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेद-बुद्धि समाप्त हो जाती है। दूसरे शब्दो में कहें तो जो संवित् है, जो संवेत्ता है और जो संवेदन है वह सब एक ही हैं। परासंवित् की प्राप्ति केवल व्यवहार की भाषा है। परासंवित् स्व-संवेदन ज्ञान है। स्वयं स्वयं को देखना ही

स्वसंवेद है। यही पराविद्या है, यही परासंवित् है। इसीलिए जिस परतत्त्व को वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है, और शैवागमों में शिव कहा जाता है, उसे 'स्वयं' नाम दिया जाता है—स्वयं स्वयं का प्रकाशक, स्वयं स्वयं का ज्ञाता और स्वयं स्वयं का ज्ञान :

कार्य-कारण-कर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलं।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत्।

इस अभेदमूलक आत्मज्ञान ने आगे चलकर सांख्य-योग में प्रथित निर्गुण आत्मज्ञान को प्रभावित किया है। आगमशास्त्रों में अनेक प्रकार से इस परासंवित् की महिमा बतायी गयी है। अनेक साधनाओं के बाद चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, तब वस्तुतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। यही महानन्दावस्था है। उसे केवल संवित्मात्र, स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। फिर साधक नित्य अस्खलित भाव से उस अवस्था में स्थित हो जाता है और नानात्व का, भेद-बुद्धि का, अवसान हो जाता है। 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' में इसी भाव को बताने के लिए कहा गया है :

निजावेशात् सम्यङ् निविड़तमनैरत्न्यविधिवत्।
महानन्दावस्था स्फुरति वितता काऽपि सततम्॥
ततः संविग्निस्थामलसुखचमत्कारजनकः।
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः॥

यह विद्या किसी शास्त्र के द्वारा नहीं समझायी जा सकती। अधिक-से-अधिक उसकी ओर इंगित किया जा सकता है। यह अनुभवैकगम्य है, स्वसंवेद्य है।

स्वसंवेदन ज्ञान ही सूक्ष्मवेद है—शब्दरूप में भी और अर्थरूप में भी। परन्तु नाथयोगी प्रणव या ओंकार को ही सूक्ष्मवेद मानते हैं। इसका क्या अर्थ है?

आत्मज्ञान के लिए आवश्यक है कि अनात्म वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लिया जाय। अभेद का ज्ञान तभी हो सकता है जब ठीक-ठीक मालूम हो जाये कि यह प्रपंचात्मक भेद क्यों ऐसा दिखायी दे रहा है। इसके लिए शास्त्रों में इस भेदात्मक विश्व का कारण समझाया गया है। यह प्रपंच कैसे बना? बना तो क्या अवभासित हो रहा है? इसकी भासमानता की क्या प्रक्रिया है?

कोई नहीं बता सकता कि परिदृश्यमान विश्वप्रपंच कब शुरू हुआ। इसीलिए यह अनादि कहा जाता है। श्रुति से जाना जाता है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म को इच्छा हुई कि 'मैं एक हूँ अनेक होऊँ'—'एकोऽहं बहुस्याम्'। क्यों उसे इच्छा हुई? उसे किस बात का अभाव था? कोई नहीं बता सकता। यह उसकी लीला है। यही इच्छा प्रथम स्पन्द है। ज्ञान से इच्छा हुई और इच्छा ने क्रिया का रूप धारण किया। इस प्रकार ज्ञान-इच्छा-क्रिया का क्रम शुरू हो गया। वस्तुतः सारा जगत् ज्ञान-इच्छा-क्रिया-रूप में त्रिपुटीकृत है। शाक्त आगमों में इस त्रिपुटीकरणवाली शक्ति को ही 'त्रिपुरा' कहा गया है। ब्रह्म की यह एक शक्ति है। शैव आगमों में परब्रह्म को ही 'परशिव' कहते हैं।

इस वेदवाक्य के आधार पर ही समस्त आस्तिक दर्शन सृष्टि-प्रपंच की व्याख्या करते हैं। ज्यों ही ब्रह्म में इच्छाशक्ति का आविर्भाव हुआ, त्यों ही वह सगुण हो गया। सृष्टि का हेतु यह सगुण ब्रह्म ही है। वेदान्त इसी को अपरंब्रह्म कहता है और शैवागम अपरशिव। यहीं प्रथमा कला का प्रादुर्भाव होता है; इसलिए शैवागम इसे 'सकल परमात्मा' कहते हैं। सकल अर्थात् कलायुक्त। सच्चिदानन्द-विभव परंब्रह्म या परमशिव से सगुण अपरंब्रह्म या सकल परमेश्वर तक आने की स्थिति तक कितने ही रूपों की कल्पना की जा सकती है। पर (सुप्रीम) तत्त्व क्रमशः सूक्ष्म (सटल्) और फिर क्रमशः स्थूल (ग्रॉस) रूप में व्यक्त हो रहा है। एक रूप से दूसरे तक पहुँचने की अन्तवर्त्ती अवस्थाएँ अनेक होगी। अनन्त हो सकती हैं। साधना-मार्ग के यात्रियों ने अपने अनुभव अनेक प्रकार के बताये हैं। मूल बात यह है कि सगुण ब्रह्म या सकल परमात्मा में जो इच्छा हुई वह एक प्रकार का स्पन्द या कम्पन्न (वाइब्रेशन) है, उपनिषदों की भाषा में 'एजन' है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द या नाद कम्पन का ही मूर्तरूप है। इसलिए शैव और शाक्त आगमों में ब्रह्म की (या शिव की) इस इच्छा को 'नाद' कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य अपने कानों से जो शब्द सुनता है वह स्थूल है, बहुत स्थूल। केवल बौद्धिक दृष्टि से हम उस प्रथम सूक्ष्म स्पन्द की बात सोच सकते हैं। इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ क्रिया लगी है। क्रिया को ही बिन्दु कहते हैं। 'शारदातिलक' (1.7) में कहा गया है कि सच्चिदानन्द-विभव शिव सकल (कला-सहित, सगुण) परमात्मा के रूप में प्रकट हुए और उन्हीं की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई :

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमात्मनः
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दुसमुद्भवः।

सकल परमात्मा की इस शक्ति को ज्ञानशक्ति कहते हैं। नाद इच्छाशक्ति है, बिन्दु क्रियाशक्ति है। यही ज्ञान, इच्छा और क्रिया का त्रिकोण है। नाद या इच्छाशक्ति गति है, बिन्दु या क्रियाशक्ति स्थिति। गति और स्थिति मिलकर रूप या आकार प्रकट करते हैं।

यद्यपि यह परम सूक्ष्म तत्त्व है, स्थूल उच्चरित शब्द से उसका ठीक-ठीक तात्पर्य नहीं समझा जा सकता; पर लाचारी यह है कि उसको मानसपटल पर ले आने का साधन तो हमारे पास यही स्थूल शब्दोंवाली भाषा है। सो, जब हम उस तत्त्व को समझाने के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं तो सारी बात उसमें अँटती नहीं। इसलिए ऐसे प्रसंगों में भाषा को साधनमात्र मानना चाहिए। उसकी सीमा में नहीं उलझना चाहिए। यहाँ स्थूल शब्दों में इस बात को समझाने का प्रयत्न किया जा रहा है। मान लीजिए, प्रथम स्पन्द नादरूप में प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर अ-कार है। सबसे स्थूल ओष्ठ्यवर्णों का अन्तिम म-कार है जो ओष्ठों को तो बन्द कर ही देता है, नाक तक की सहायता लेता है। अब, हमारा जाना हुआ मूल स्वर या नाद अ-कार ही है। मान लीजिए, प्रथम स्पन्द 'अ' रूप में

गतिशील हुआ। यदि सिर्फ गतिशील ही रहे तो कम्पन या स्पन्द नहीं होगा। स्थिति भी चाहिए। नाद ही गति है, विन्दु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही जगत् है। सो गतिरूप नाद सृष्टि के लिए आवश्यक है, उसके साथ विन्दु भी। मकार अनुस्वार या चन्द्रविन्दु-रूप में ही तो बदलता है। अब 'अ' स्वर 'म्' व्यंजन से रुद्ध हुआ। कण्ठ से ओष्ठ तक उसे यात्रा करनी पड़ी और ओष्ठ बन्द हो गये। बन्द होते-होते वह 'उ' जैसा हो जायेगा। इस प्रकार अ-उ-म् प्रथम स्पन्द हुआ। पर समाप्त नहीं हुआ। यह तो कम्पन है, चलता ही रहेगा। एक बार उठकर बन्द हो गया तो फिर कम्पन्न कैसा ? अ-उ-म् के इस अक्षरत्रय का मिलित रूप है 'ओम्'। स्थूलवर्णों से समझाया गया है, इसलिए इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जायेगा। परन्तु यह समझाने का एक तरीका-भर है। प्रथम विश्व-ब्रह्माण्ड-व्यापी स्पन्द (कॉस्मिक वाइब्रेशन) कुछ इसी प्रकार का—लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे—होगा। इसीलिए यह ओंकार विश्व का आरम्भ है। सगुणब्रह्म का यह नवरूप है। 'नव,' 'नवीन' आदि शब्द बहुत अच्छे नहीं हैं; क्योंकि जो नया होता है वह पुराना भी हो जाता है। प्रथम नया स्पन्द कभी पुराना नहीं हुआ। वह प्रति-क्षण नित्य स्पन्दित हो रहा है। इसलिए केवल 'नव' कहना ठीक कहना नहीं है—वह 'प्रणव' है—'नवंनवं जायमान.' है। स्वसंवेद्य ज्ञान का यह प्रथम व्यक्त रूप है। कोई आश्चर्य नहीं कि नाथ-साधकों ने इसे 'सूक्ष्मवेद' कह दिया। कबीरदास इस रहस्य को जानते थे। वे जानते थे कि जो आदि-ओंकार को ठीक-ठीक जानता है वह सृष्टि और प्रलय के रहस्य को —उस रहस्य के उस मूल कर्त्ता को, जो लिखकर मिटाया करता है, जानता है। 'ज्ञान चौतीसा' में इसीलिए उन्होंने कहा है :

ओ ओंकार आदि जो जाने। लिखि के मेटे सो सोइ जाने ।।

इसी आरम्भिक समष्टिव्यापिनी वाक् को 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है। एक ही कम्पन या स्पन्द के रूप को स्पष्ट करने के लिए इसे 'एका-क्षर' कहा है। नाथ-साधक जब कहते हैं कि सारी सृष्टि ओंकार से हुई है तो वे शैव और वेदान्त दर्शनों की भाषा में बोलते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि जिस स्वसंवेद्य अर्थ को इसके द्वारा प्रकट करना अभीष्ट था, वह इसके द्वारा पूरा व्यक्त नहीं हुआ। स्वसंवेद्य ज्ञान मे ज्ञातृ-ज्ञेय-भेद मिट गया रहता है, पर ओंकार या एकाक्षरात्मक स्पन्दन या एजन मे वह भेद आरम्भ होता है। प्राकृत के शब्द का संस्कृतीकृत रूप 'सूक्ष्मवेद' नाथ-साधकों के यहाँ अर्थान्तर मे संक्रमित हुआ है।

आगमो मे ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति को ही बीज, नाद, विन्दु कहा गया है। आधिदैविक भाषा में कहे तो ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव है। इस त्रिधा-विभाजित शक्तित्रय के अधिष्ठातृ देवता ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। सृष्टि करने को उद्यत अपरंब्रह्म ही के ठीक पूर्व की निष्कलुष अवस्था को निरंजन कहा जाता है। निरंजन ही सकल परमात्मा या अपरंब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है।

परंब्रह्म या परशिव से अपरंब्रह्म या सकल परमात्मा तक की परिणति का

व्यवहार में कोई विशेष उपयोग नहीं है। पर मध्यकाल के आगमों और निर्गुण-मार्गी साहित्य में मध्यवर्ती अवस्थाओं की कल्पना की गयी है और उन कल्पनाओं के आधार पर अविरमित बुद्धि के अनुयायियों ने पौराणिक गप लिखे हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, परब्रह्म से निरंजन तक की यात्रा की सैकड़ों अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है। कुछ की भी गयी है। उदाहरण के लिए नाथमत को लिया जाय। जब शिव में कार्य-कारण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्य-कारण के चक्र के संचालनकर्म से विरत हो जाते हैं तब वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसीलिए इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वयं' कहकर स्मरण करते हैं।[1]

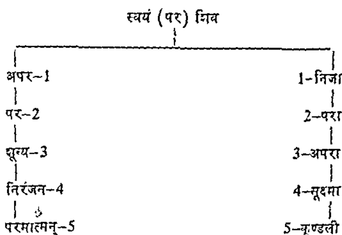
इन परमशिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें 'सगुण' शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परमशिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुत: इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (1) परमशिव की अवस्था-मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्त्ती, और प्राय: स्फुरित होने की उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरंपदम्' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमश: (2) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (3) स्पन्दित होती है, फिर (4) सूक्ष्म अहंता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (5) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमश: परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती है।[2] इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमश: परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।[3] इस प्रकार निखिलानन्दसन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्त्व परमात्मा या सगुणशिव के रूप में प्रकट हुए और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्त्व कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से शिव इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति, पालन और विलय में समर्थ

1 कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलं।
अव्यक्तं परमं तत्त्व स्वयं नाम तदा भवेत् ॥—सि. सि. स. 1 । 8

2. निजा परापरा सूक्ष्मा कुण्डली तासुपञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्ड परः शिवे ॥—सि. सि. स., 1 । 13

3. ततोऽस्मिनापूर्वमाविर्गात्र स्यादपरं परम्।
तत्त्व संवेदनाभासमुत्पन्न परम पदम् ॥
स्वेच्छामात्रतन्न शून्य सत्तामात्र निरंजनम्।
तस्मात्ततः स्वगाभासादभूः परमात्मपदं मतम् ॥—वही, 1 । 14-15

होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्म तत्त्व हैं। इनसे ही अत्यन्त सूक्ष्म 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार नीचे दी गयी सारणी से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जायगा :



इसी प्रकार की योजना अन्य आगमों मे भी मिलती है। शब्द सब समय समान नहीं होते, पर मतलब सबका एक ही होता है—परशिव का अपरशिव में परिणत होने के अनेक उपक्रम। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि ब्रह्म या परतत्त्व के प्रथम उपक्रम को सहज नाम दिया जा सकता है। उसमे कोई भी वैशिष्ट्य नही आया, परन्तु वैशिष्ट्य अंकुरित होने की प्रक्रिया शुरू हो गयी है। परब्रह्म का यह दूसरा रूप सहज है, तीसरा अंकुर। फिर अंकुररूप मे प्राप्त होने की स्थिति इच्छा कही जा सकती है। इच्छा होते ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप से आरम्भिक इदंता और अहंता का योगसूत्र 'सोऽहं' वृत्ति की अभिव्यक्ति होगी और इससे इदं और अहं का अचिन्त्य ऐक्य स्वय अभिव्यक्त होता रहेगा। सृष्ट्युद्यत परब्रह्म निरंजन के पूर्व की अवस्था 'अक्षर'—जो अभी तक निज रूप से क्षरित नहीं हुई है—कही जा सकती है। इस प्रकार ये संग्रह श्लोक बनेंगे :

सद्जानन्द विभवं यत्तत्त्वं परतः परम्।
सकलत्व गम्यमान सहज भावमास्थितम्।
अंकुरत्वं व्रजत्यस्मात् परेच्छा संप्रवर्त्तते।
इदंताऽहन्तयोर्योगं परं सोऽहमुदीर्यते।
अचिन्त्यरूपतां याति अक्षरं च ततोभवेत्।
तस्मात् सृष्ट्यैयतन् देवोनिरञ्जन इहोच्यते॥

अर्थात् सहजानन्द परतत्त्व से क्रमशः सहज—अंकुर—इच्छा—सोऽहं—अचिन्त्य—अक्षर—निरञ्जन प्रादुर्भूत हुए। यही वह क्रम है जो ऊपर 'कबीर मंसूर' में बताया गया है। 'कबीर मंसूर' में वह अविकसित मस्तिष्क के अधिकारियों को दृष्टि में रखकर पौराणिक शैली में कहा गया है। आध्यात्मिक सत्य को आधि-

दैविक भाषा में कहनेवाली शैली को ही पौराणिक शैली कहा जाता है। इस शैली में इन, अपरब्रह्म या निरंजन भाव तक की, अवस्थाओं को लोकविशेष के रूप में कहा गया है और उन लोकों के अधिष्ठातृ-देवता के रूप में ब्रह्म के तत्तत् स्वरूप को बैठा दिया गया है। पुराणों में और सहिताओं में व्यापक रूप से इस शैली का प्रयोग मिलता है।[1]

'योगसूत्र' (1.27) मे प्रणव अर्थात् ओंकार को ईश्वर का वाचक कहा गया है। भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि प्रणव ईश्वर का वाचक है और ईश्वर उसका वाच्य है तो यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध किस प्रकार का है ? क्या वह सकेत-कृत है अथवा प्रकाश-प्रदीप की भाँति अवस्थित है ? इस शका का तात्पर्य यह है : कुछ पदार्थ ऐसे है जिनके पद या नाम का संकेत किसी एक शब्द के द्वारा होता है; जैसे घट। घट शब्द कहने से घड़ारूप पदार्थ का बोध होता है परन्तु यदि घट शब्द का उच्चारण न भी किया जाय तो भी घडारूप पदार्थ ज्यो का त्यो बना रहता है। अर्थात् घट पद के बिना भी घट पदार्थ के ज्ञान मे कोई बाधा नही उत्पन्न होती। परन्तु कुछ दूसरे पदार्थ ऐसे है जिनके लिए शब्दमय चिन्तन की आवश्यकता होती है। संकेत उसमें भी है किन्तु उस नाम का अर्थ तद्विषयक सम्पूर्ण सम्बन्धों के चिन्तन से ही अवगत हो सकता है; जैसे पिता। पिता एक सम्बन्ध विशेप है। इसका अपने आप मे कोई अर्थ नही है। कोई व्यक्ति विशेष किसी व्यक्ति विशेप का पिता होता है। इसलिए पिता शब्दार्थ एक प्रकार के अनुव्यवसाय की अपेक्षा रखता है। पिता शब्द का अर्थ वस्तुत प्रदीप और प्रकाश के समान है। जिस प्रकार प्रदीप होने से प्रकाश का भान होता है उसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध मे पिता

1. उदाहरणार्थ विश्वनाथ सिंह की बीजक-टीका (पृ 240) मे उद्धृत 'सदाशिव सहिता' के ये वचन :

सौमित्रिरुवाच—
महर्लोक क्षितेरुर्ध्वमेककोटिप्रमाणत' ।
कोटिद्वयेन विख्यातो जनलोको व्यवस्थितः ।
चतुष्कोटिप्रमाण तु तपोलोको विराजित ।
उपरिष्टात्तत. सत्यमष्टकोटिप्रमाणत. ।
आयु.प्रमाण कौमार कोटिषोड़शसम्भवम् ।
तदूर्ध्वोपरि सख्यात भ्रमालोको सुनिष्ठितम् ।
शिवलोकस्तदूर्ध्वं तु प्रकृत्या च समागतम् ।···
तदूर्ध्वं सर्व सत्वाना कार्यकारणमानिनाम् ।
निलय परम दिव्य महावैष्णवसंज्ञकम् । ···
तदूर्ध्वं तु पर दिव्यं सत्यलोक व्यवस्थितम्
न्यासिना योगिना स्थान भगवद्भावितात्मनाम् ।
महाशम्भुमदतेज्ञ सर्वशक्ति समन्वित ।
तदूर्ध्वं तु स्वय भात गोलोकं प्रकृतेः परम् ।

—इत्यादि

शब्द का शब्दार्थ ज्ञात होता है। शब्दमय चिन्तन के अभाव में पिता शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। इसीलिए भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रणव क्या ईश्वर का उसी प्रकार से वाचक है जिस प्रकार 'घट' पद 'घड़ा' पदार्थ का, या इस शब्द का संकेत शब्दमय चिन्तन के द्वारा होता है जिस प्रकार पिता और प्रकाश शब्द का हुआ करता है। भाष्यकार का कहना है कि प्रणव अर्थात् ओ३म् शब्द ईश्वर का संकेत है—अवस्थित विषय के ले आने या प्रकाशन करने के अर्थ में। इसके बाद दूसरा प्रश्न यह है कि प्रणव क्या उसी प्रकार का संकेत है जिस प्रकार, अन्य पदार्थों के संकेत हुआ करते है ? अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों मे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नही माना जाता। एक ही शब्द एक भाषा में एक अर्थ में प्रयुक्त होता है, दूसरी भाषा मे दूसरे अर्थ मे। फिर एक काल में एक ही भाषा में किसी शब्द का प्रयोग एक अर्थ में होता है और दूसरे काल में दूसरे अर्थ में। बहुत-से पदार्थों के नये नाम भी गढ लिये जाते हैं। ठीक है, लेकिन सब होने पर भी शब्द और अर्थ का संकेत केवल व्यक्तिगत इच्छा का विषय नहीं है, वह एक प्रकार की सामाजिक स्वीकृति चाहता है। गुलाब के फूल को कोई यदि पद्म नाम देना चाहे तो नहीं दे सकता, क्योंकि अधिकाश मनुष्यो के चित्त मे पद्म शब्द दूसरे अर्थ में संकेतित है। अब प्रश्न यह है कि यह प्रणव या ओ३म् क्या ईश्वर के अर्थ में पतञ्जलि मुनि ने संकेतित कर दिया है या अन्य शब्दो की भाँति इसे भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है ? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते है कि सम्प्रतिपत्ति की नित्यता के कारण शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है, ऐसा आगमशास्त्र के जानकार लोग कहते हैं। सम्प्रतिपत्ति का अर्थ टीकाकारो ने समान व्यवहार की परम्परा बताया है। मन एक शब्द का जब एक अर्थ में व्यवहार करता है तब यह व्यवहार-परम्परा शुरू होती है। जहाँ तक ओंकार का प्रश्न है, वह अनादि काल से इसी अर्थ में व्यवहृत होता आ रहा है। इसलिए विभिन्न सर्गों में इसी अर्थ में व्यवहृत होने के कारण ओंकार शब्द ईश्वर का वाचक नित्यरूप से ही होता आया है। श्रुति में भी कहा है—'एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।' योगि याज्ञवल्क्य ने कहा है :

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योंकारः स्मृतोनाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥

अर्थात् परमेश्वर का रूप किसी ने देखा नहीं। वे भाव के द्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं और मनोमय हैं। ओंकार उनका नाम स्मरण किया जाता है, क्योंकि उसके द्वारा आह्वान किये जाने पर वे प्रसन्न होते हैं। कुछ लोगो का यह सिद्धान्त है कि अनादि परम्परा-क्रम से घट, पट इत्यादि शब्द अपने-अपने अर्थों में सिद्धवत् प्रयुक्त होते आ रहे हैं। इसलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानना चाहिए। वे लोग भाष्यकार के 'सम्प्रतिपत्ति' का अर्थ उसी प्रकार की नित्यता बताते है। परन्तु अधिकांश टीकाकारो को यह मत ग्राह्य नहीं। वस्तुतः भाष्यकार का आशय यही जान पड़ता है कि यह नित्यता युग-युगान्तर की सामाजिक स्वीकृति के कारण है। इसी को वे सदृश-व्यवहार-परम्परा कहते हैं। इसीलिए 'योग-भाष्य' के टीकाकारों ने इसे

कूटस्थ-नित्यता की भाँति न बताकर एक नया शब्द 'प्रवाह-नित्यता' बना लिया है। इसका तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न युगो के व्यवहार के प्रवाह मे सदा इसका इसी अर्थ में प्रयोग होने के कारण यह 'प्रवाह-नित्य' है।

परन्तु भाष्यकार ने इस नित्यता के लिए आगमवादियो को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है। आगमों में स्पष्ट कर दिया गया है कि ओकार घट-पटादि की तरह संकेतस्थापक शब्द नही है, बल्कि वह स्वयं अर्थ ही है। प्रणव, समष्टिव्यापी स्पन्द या एजन का जो रूप रहा होगा, उसी का स्थूल नाद मे ऐसा उच्चारण होता है। यह वाचक नहीं है, वलिक वाच्य का स्थूल उच्चारित नादात्मक रूप है। इसका अर्थ समष्टिगत प्रथम स्पन्द है जो नित्य नवीन तरंगो को उत्पन्न कर रहा है। परमात्म तत्त्व की कुण्डली-शक्ति जिस रूप मे तरंगित हो रही है, उसी को स्थूल रूप मे श्रोत्रग्राह्य बनाने का प्रयत्न ओकार है और उसी को नेत्र ग्राह्य या दृग्विषय बनाने का प्रयत्न कुण्डलीदण्ड, अर्धचन्द्र और विन्दु रूप मे उपस्थापित स्थूल विग्रह (ॐ) एक मोटा प्रयत्न है। यह उस अर्थ मे वाचक नही है जिस अर्थ मे घट-पटादि तत्तत् पदार्थो के वाचक हुआ करते है। यह वाच्य का ही प्रत्यक्ष, स्थूल विग्रह है। इस प्रकार आगमशास्त्र ओकार या प्रणव को सृष्टयर्थ उपक्रान्त परमेश्वर का रूप ही मानते है। स्थूल स्पन्द या कम्पन शब्द और अर्थ दोनो ही है। इसीलिए वे ओकार को वेद्य या वेदक न मानकर—वाच्य या वाचक न मानकर—वेद ही मानते हैं। इसकी नित्यता 'प्रवाह-नित्यता' नही है बल्कि 'स्वरूप-नित्यता' है। यह स्मरण रखने की बात है कि पातञ्जल योग-सूत्र के भाष्यकार ने प्रवाह-नित्यता शब्द का व्यवहार नही किया। यह टीकाकारों के मस्तिष्क की उपज है। इसी प्रकार 'सदृश-व्यवहार-नित्यता' भी टीकाकारों की ही देन है। भाष्यकार तो 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यता' शब्द का व्यवहार करते हैं—"सर्गान्तरेष्वपि वाच्य-वाचक शक्त्यपेक्षस्तथैव सकेतः क्रियते संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिन प्रतिजानते॥" (1.27)

ऊपर जो आगमो के अनुसार प्रणव की व्याख्या की गयी है, उसके प्रकाश मे देखने से 'सम्प्रतिपत्ति' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है कि प्रणव का परमात्मतत्त्व के अर्थ में व्यवहार विशिष्ट रूप से प्रतिपन्न होने के कारण नित्य है। वह किसी के द्वारा किसी समय सकेतित नही हुआ, वल्कि युक्ति-तर्क के द्वारा तद्रूप-सिद्ध (प्रतिपन्न) होने के कारण विशेष रूप से स्वयंसिद्ध है। परन्तु फिर भी सूत्र-कार और भाष्यकार, दोनों ने *'वाच्य-वाचक' शब्द का प्रयोग किया ही है।* पुराणों मे भी शिव को या परमात्मा को 'प्रणव-वाच्य' वताया जाता है। टीकाकारो ने भी 'लिंगपुराण' का यह वचन उद्धृत किया है—'शम्भो प्रणव-वाच्यस्य भावना तज्जपादपि।' इस प्रकार प्रणव को इन लोगो ने वाचक अवश्य स्वीकार किया है।

योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर शुद्ध अर्थात् धर्माधर्म से रहित, प्रसन्न अर्थात् अविद्यादि क्लेशों से रहित, केवल अर्थात् मन, वुद्धि आदि से हीन, और इसीलिए अनुपसर्ग अर्थात् जाति, आयु तथा भोग से शून्य-पुरुष विशेष है। वह आगमो के परमात्मतत्त्व से भिन्न है। इसलिए आगमो द्वारा वर्णित परमात्मतत्त्व पातञ्जल-

प्रकार बतायी गयी है—"प्रत्येक पिण्ड मे वही चंचला परासंवित् रूपायित हो रही है। प्रत्येक मनोभाव में उसी परासंवित् का रूप स्फुरित हो रहा है और प्रत्येक बौद्धिक व्यापार में उसी परासंवित् का प्रकाश उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार परासंवित् ही संसार के स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थों के रूप, प्रकाशित और बोध के रूप में प्रकाशित हो रही है।"

कबीरपन्थी साहित्य में इस अद्वैतवाद को भी एक प्रकार का अभिमान मानते है। इसलिए उनकी दृष्टि में यह सूक्ष्मवेद नही हो सकता। परवेद की तो सम्भावना ही नही है। वेद उनके मत से साधनमात्र है। गीता में जो कहा गया है 'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः' इसमें 'सर्ववेदैः' का अर्थ किया जाता है स्थूल, सूक्ष्म और पर। इन सब प्रकार के वेदों का लक्ष्य निरंजन या परमात्मा है और ये सब वेद अन्ततोगत्वा जीव का निरंजन के साथ अभेद ही सिखाते है। इस अभेद से भी विलक्षण तत्त्व परतत्त्व है। इसलिए सूक्ष्मवेद उसे कहना चाहिए जो इस विलक्षण परतत्त्व को प्रकट करे। साधन वह भी है। कबीरपन्थ दर्शन में निरजन के साथ अभेद-प्रतीति-रूप मिथ्याभिमान को दूर करनेवाली वाणी ही वह साधन हो सकती है। इसीलिए उन्होने सद्गुरु की वाणी को ही सूक्ष्मवेद की मर्यादा दी है।

निर्गुण आत्मज्ञान में प्रेम भक्ति को कोई स्थान नही है। वह 'परतत्त्व' के सत् और चित् रूप तक ही सीमित है। अर्थात् निर्गुण आत्मज्ञान केवल यह बताता है कि परतत्त्व 'है' (सत्), और वह चैतन्यस्वरूप (चित्) है। परन्तु यह निर्गुण आत्मज्ञान यह नही बताता कि परतत्त्व आनन्दमय भी है। अपनी आनन्दिनी-शक्ति के द्वारा ही वह लीला किया करता है। सभी भक्तिशास्त्रियों की तरह कबीर प्रभृति सन्तों ने भी उसके इस आनन्द-निकेतन रूप को महत्त्व दिया है। यह आनन्दिनी-शक्ति ही सच्चिदानन्द परब्रह्म की वह इच्छा है जिसके द्वारा लीला के लिए वह एक होकर भी बहुत्व की आकांक्षा रखता है। भक्ति सम्प्रदायों के अनुसार अद्वैतज्ञान सच्चिदानन्द भगवान् के पूर्णरूप की उपेक्षा करता है। भक्ति के लिए, जो भगवत्प्रेम का ही नामान्तर है, इस अद्वैतभाव के तिरस्कार की आवश्यकता है।

कबीर आदि सन्त मुख्य रूप से निर्गुण आत्मज्ञान की परम्परा में आते है परन्तु उन्होने प्रेम भक्ति को भी स्वीकार किया है। इसीलिए अद्वैततत्त्व के प्रत्याख्यान के लिए उन्हें सद्गुरु की वाणी को ही सर्वोत्तम साधन मानने को प्रेरित किया। इस प्रकार कबीरपन्थियों के अनुसार चूँकि कबीर ही सद्गुरु हैं, इसलिए उनकी वाणी ही परतत्त्व के साक्षात्कार का सर्वोत्तम साधन है, अतः सूक्ष्मवेद है। अन्य सन्तमतों में तत्तत् मतो के प्रधान गुरु ही सद्गुरु हैं, इसलिए उनकी वाणी ही वास्तविक वेद है। इस दृष्टि से देखें तो विविध सन्तमतो मे प्रयोग किये जानेवाले सूक्ष्मवेद शब्द का ठीक-ठीक अर्थ समझ मे आ जाता है।

विभिन्न मार्ग के अनुयायियों ने विभिन्न नामों से इस ब्रह्म-विवर्त्त की चर्चा की है। उदाहरण बढ़ाये जा सकते है जो बहुत आवश्यक नही है, परन्तु मूल बात यह है कि कबीरपन्थियों ने आगमो और संहिताओं के परम्पराप्राप्त विचारों को अपने

ढग से समझाने का प्रयत्न किया है। परात्पर तत्त्व किस प्रकार सूक्ष्म रूप में आवि-भूत होता है, यही मूल बात है। लोक, द्वीप, मुकाम आदि उसी को समझाने की कल्पनाएँ है। इनकी नियत संख्या नही है। विभिन्न रुचि के साधक चाहे जितनी कल्पना कर सकते है। कठिनाई यह है कि कल्पना को विद्वत्ता मान लिया जाता है—'ये यत्राधिक कल्पनाकुशलिनस्तेतत्र विद्वत्तमा'।

अब प्रश्न यह है कि कबीरपन्थी सन्तों ने नाथपन्थी सिद्धों की तरह ओंकार को ही सूक्ष्मवेद क्यों नही स्वीकार किया ?

ऊपर जो विवरण दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि ओंकार मूल समष्टिगत स्पन्द का रूप है। नाथपन्थी साधक निरजन और उसकी सूक्ष्मा शक्ति से परमात्म-तत्त्व और कुण्डलीशक्ति का आविर्भाव मानते हैं। जब असीम तत्त्व सीमा के बन्धन से बार-बार टकराता है तो कुण्डलित होकर गतिशील रूप-परिग्रह करता है। ओंकार मे इस परमात्मतत्त्व के कुण्डलित होने को प्रतीकरूप मे प्रकट किया गया है। यह ज्ञान की इच्छा और क्रिया—नाद और बिन्दु—का व्यक्त आदिरूप है, पर स्वयं ज्ञान नही है, ऐसा कबीरपन्थी मानते हैं। उनके मत से जीव बन्धन-मुक्त होकर जब हंस-रूप प्राप्त करता है तो ब्रह्म-रस का आस्वादयिता बनकर सदा ब्रह्म-रूप मे अवस्थान करता है। यह अद्वैत वेदान्तियों की मान्यता से भिन्न है। अद्वैत-भावना, जिसका वेद और उपनिषद् प्रचार करते है, एक 'भ्रममात्र' है। जिसे वेदान्ती ब्रह्म कहते है, वह जीव की भ्रम-जन्य अद्वैतबुद्धि की उपज है। हंस-रूप प्राप्त होने पर जीव की अलग सत्ता बनी रहती है। वह ब्रह्म से अभिन्न होकर भी भिन्न है। मुक्ति की अवस्था में वह ब्रह्म-रस का आस्वादयिता है। निस्सन्देह वह ब्रह्मतत्त्व का ही समानधर्मा है, पर उससे विशिष्ट है। सभी भक्तिमतों के समान कबीरपन्थी भी एक प्रकार की विशिष्टता को मानते है। वह क्या द्वैत भाव है या अद्वैतभाव है ? कबीरपन्थी कहते है कि वह न द्वैत है, न अद्वैत है, द्वैताद्वैत-विलक्षण है। इस विषय में वे नाथपन्थियों के समान ही है :

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्व न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम् ॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिर. पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महा मोहो द्वैताद्वैत विकल्पना ॥

—'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' पंचम उपदेश

सो, द्वैत और अद्वैत की कल्पना भी मोह ही है।

इस प्रकार कबीरपन्थी निरंजन और उसकी सूक्ष्मा शक्ति से आविर्भूत परमात्म-तत्त्व और उसकी कुण्डली भावशक्ति के प्रथम स्पन्द को जो नित्य नवीन होने के कारण प्रणव (प्र + नव) कहा जाता है और स्थूल अक्षर-रूप मे ब्रह्मतत्त्व का एकाक्षर प्रतीक ओंकार (ॐ) कहा जाता है, सूक्ष्मवेद मानने को प्रस्तुत नही। जब विविध साधनाओं ने भव-दु.ख से मुक्त जीव हंस-रूप मे क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म तत्त्व की ओर अग्रसर होना है तो क्रमश: स्वर्गलोक, फिर विष्णुलोक (वैकुण्ठ) और फिर निरंजनलोक तक पहुँचता है। यह सब इस मनुष्यदेह (पिण्ड) में प्राप्त है। यही

निरंजन निर्गुण आत्मज्ञान का विषय है। अत्यन्त भाव-गम्भीर भाषा मे कबीर के भक्तों ने इस अनुभूति को आधिदैविक भाषा मे इस प्रकार कहा है :

छोड़ि बैंकुठ को हंस आगे चला शून्य मे ज्योति जहँ जगमगाई।
जोति परकाश मे निरखि निहतत्त्व को आप निर्भय हुआ भय मिटाई ॥
अखिल निर्गुन वेद अस्तुति करै तीनिहूं देव को है पिताई।
भगवान् तिनके परे सेत मूरित धरे भाग को आन तिनको रहाई ॥

वेदो द्वारा स्तूयमान इस निरजनतत्त्व से परे भक्तो का भगवत्तत्त्व है। भगवत्तत्त्व ब्रह्म और परमात्मतत्त्व से परे है, ऐसा भागवतो का मत है। श्रीमद्भागवत में कहा है :

विदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्व यज् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति संज्ञते ॥

अनुभूति क्रमश. जब और गहराई मे प्रवेश करती है तो निरजनतत्त्व से परे अन्य तत्त्वों का साक्षात्कार होता है। अन्त मे वह भगवान् के सहज रूप को देखता है :

शून्य के बीच मे विमल बैठक तहाँ सहज अस्थान है गैब केरा !

लेकिन यह भी सब-कुछ नही है, वह यहाँ से भी दरेरा देकर निकल जाता है :

तहाँ से डोरि क्रम तार जो लागिया ताहि चढ़ि हस गो दे दरेरा।
भयो आनन्द सो फन्द सब छोड़िया पहुँचिया जहाँ सतलोक मेरा।

निरंजनतत्त्व के ज्ञान से परे जो परमज्ञान है, वही कबीरपन्थियो की दृष्टि से सूक्ष्मवेद है। यह केवल सच्चे गुरु की वाणी ही बता सकती है।

यहाँ आकर 'स्वसवेद' के अर्थ मे भारी परिवर्तन होता है। स्वसवेद्य ज्ञान वस्तुत. परासंवित् है, यह हम पहले देख चुके है। भारतीय साधना मे गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु के दो रूप है : मृण्मय और चिन्मय। गुरु का बाह्य शरीर पचभौतिक होने के कारण मृण्मय— मिट्टी का बना हुआ कहा जाता है, परन्तु उसके भीतर जो उसका ज्ञानरूप देह है वह ज्ञानमय होने के कारण चिन्मयरूप है। सच्चे गुरु की वाणी उसका चिन्मय वपु है। यह चिन्मयभाव परासवित् का वास्तविक रूप है। 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' में बताया गया है कि गुरु का चिन्मयरूप वस्तुतः परासवित् का ही स्वयंरूप है। इसलिए सच्चे गुरु की वाणी को ही सूक्ष्मवेद कहा जा सकता है। यहाँ वेद शब्द तत्त्व-साक्षात्कार के हेतु या साधन के अर्थ मे व्यवहृत है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा गया है कि सब वेदो मे वेद्य या ज्ञेय भगवान् ही है—'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्य.।' इस प्रकार सूक्ष्मवेद्य वह है जिसके द्वारा परतत्त्व वेद्य हो। कबीरपन्थी जब कहते है कि कबीर-वाणी ही सूक्ष्मवेद है तो उनका आशय यही होता है कि उसी वाणी से परतत्त्व वेद्य है। बाकी वाणियाँ परतत्त्व तक नही ले जाती। अन्य लोग भी गुरु के चिन्मय वपु को इसी रूप में ग्रहण करते हैं।

मध्यकाल के सभी सम्प्रदायो में गुरु की महिमा स्वीकार की गयी है। सन्तों के अव्यवहितपूर्व के प्रेरणादाता नाथमतानुयायियो में गुरु की महिमा का बहुत विस्तार

से बखान किया गया है। ध्यान, धारणा, आसन, प्राणायाम की साधना बहुत जटिल है। उसे सच्चा गुरु ही बता सकता है। कुण्डली भी दो रूपों में है : स्थूल और सूक्ष्म। प्रत्येक पिण्ड में जो कुण्डली विलसित हो रही है, वह स्थूल है। विश्वब्रह्माण्ड में जो शक्ति काम कर रही है, वह सूक्ष्मा कुण्डली शक्ति है। मूल परासंवित् की ही यह दोनों व्यक्त मूर्त्तियाँ है, इसीलिए केवल सद्‌गुरु की कृपा से ही कुण्डली के सूक्ष्म और स्थूल रूपों का ज्ञान हो सकता है और इन दोनों को रूपायित करनेवाली परासंवित् तक पहुँचा जा सकता है। 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' (4/30-32) में स्थूल, सूक्ष्म और पर कुण्डलीरूपों को समझाया गया है। यही परासंवित् वास्तविक ज्ञान है, वास्तविक ज्ञेय है। उसके प्राप्त होने से परशिव का 'स्वयं' रूप प्राप्त होता है। इसे 'निजपद' भी कहा जाता है। इस निजपद को अनुभव द्वारा ही समझा जा सकता है, यह अनुभवैकगम्य है। इसीलिए कहा गया है कि जो इस 'निजपद' को अनुभव करने की इच्छा रखता है, उसे गुरु के चरणों का *आश्रय लेना चाहिए :*

अनुबुभूपति यो निजविश्रमं
स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसंस्मरणात् परमं पदं
समरसीकरणं च न दूरतः ॥—सि. सि. सं., 5/59

इस विचार को सन्तमतवालों ने स्वीकार कर लिया था। इसीलिए 'निजपद' को प्राप्त करानेवाली गुरुवाणी को सूक्ष्मवेद की मर्यादा दी गयी है।

नाथ-आगम की भाँति कबीर-मार्ग भी ठीक वेदसम्मत मत का प्रतिपादन नहीं करता। कबीर ने कहा है कि 'वेद-कतेबा गमि नहीं तहाँ कबीर रह्या त्यौ लाइ'। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में भी परमपद को वेदातीत कहा गया है :

न ब्रह्माविष्णु रुद्रौ न सुरपति सुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापिवायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैवकल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते।

परन्तु वेदों का और वेदान्त का प्रत्याख्यान करने पर भी ये उसी परम्परा के अन्तिम छोर हैं। 'सूक्ष्मवेद' की कल्पना से वे प्रकारान्तर से अपने को वैदिक भी मानते हैं।

इस प्रकार 'सूक्ष्मवेद' एक लम्बी परम्परा का आखिरी किनारा है।

[हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय (चण्डीगढ़) की वार्षिक लेखक गोष्ठी में पठित, 1961 ई.]

सन्त-दर्शन

'सन्त' शब्द आजकल निर्गुणमार्गी भक्तों के लिए रूढ़-सा हो गया है। हिन्दी के पुराने साहित्य में यह शब्द साधारणत: विनयशील सम्पन्न सत्पुरुष के अर्थ में और विशेष रूप से भक्त साधु मात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। अपभ्रंशकाल मे ही संस्कृत के 'शतृ' प्रत्यान्त कृदन्त शब्द और 'मतुप्' प्रत्यान्त तद्धित शब्द 'अन्त'-प्रत्यान्त रूप मे प्रकट होने लगे थे। पुरानी हिन्दी मे भी यह परम्परा कायम रही। इस प्रकार 'सन्त', 'चलन्त', 'कहन्त' आदि कृदन्त तथा 'हनुमन्त', 'भगवन्त', 'गुनवन्त', आदि तद्धित शब्द प्रचलित हुए। संस्कृत का 'सत्' शब्द ही अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी मे सन्त-रूप मे प्रकट हुआ। परन्तु इसमे अर्थ-परिवर्तन भी हुआ और आधुनिक काल मे निर्गुणमार्गी भक्तो के लिए इसका प्रयोग रूढ़ हो गया। निर्गुणमार्गी धार्मिक सम्प्रदाय और भी है, पर सन्त शब्द केवल निर्गुणमार्गी साधु के लिए प्रयुक्त न होकर उन लोगों के लिए होने लगा है जो निर्गुणमार्गी होने के साथ ही साथ भक्ति साधना मे भी विश्वास करते हैं। मैं इन्ही निर्गुण-मार्गी भक्तो के सिद्धान्तों की यत्किंचित चर्चा करने का प्रयास कर रहा हूँ।

विक्रम की चौदहवी शताब्दी के बाद से इस प्रकार के सन्तमत का व्यापक प्रचार हुआ है। नामदेव, कबीर, रैदास, नानक, दादूदयाल आदि महान् भक्तों ने इस प्रकार की भक्ति को उसी प्रकार साधारण जनता मे प्रचारित किया जिस प्रकार सूरदास, तुलसीदास आदि महान् भक्तों ने सगुण भक्ति का प्रचार किया। इस निर्गुण भक्तिमार्ग के भक्त, जिन्हें आजकल सन्त कहा जाने लगा है, अवतार मे विश्वास नही करते, आप्तवाक्य समझे जानेवाले ग्रन्थों मे आस्था नही रखते; तीर्थ-व्रत, पूजा-अर्चा आदि को अनावश्यक समझते है, वर्णव्यवस्था को मान नहीं देते। इसमे से अधिकाश का जन्म समाज के निचले स्तर की जातियो मे हुआ था, अधिकाश को विधिवत् अध्ययन की कोई सुविधा नही मिली थी, उनकी वाणियाँ सीधी-सादी लोकभाषा मे कही गयी थी। शास्त्रीय भाषा के न तो वे कायल थे, न जानकार। परन्तु फिर भी उनका चरित्र उज्ज्वल था, हृदय विशाल था, बुद्धि सारग्राहिणी थी। वे सहज सत्य को सहज भाषा मे सहज ही कह गये है। वे भगवान् पर अविचलित आस्था रखते थे, भगवत्प्रेम को जीवन की चरम चरितार्थता मानते थे, विषयवासना को हेय मानते थे और साहस और दृढ़ता के साथ अपनी अनुभूत सच्चाई को अभिव्यक्ति देते थे। वे साधारण जनता में उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्य को प्रतिष्ठित करने मे सफल हो सके थे।

ऐसे लोगों की बात संस्कृत के विद्वानों की उपेक्षा का पात्र ही रही है। संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित दर्शन-सम्मेलन में इनकी बात जानने का संकल्प निस्सन्देह एक नये मोड़ की सूचना देता है। मैं इस प्रयत्न को महत्पूर्ण मानता हूँ और इसका स्वागत करता हूँ।

परन्तु यद्यपि मैंने श्रद्धा के साथ इनकी वाणियों को समझने का प्रयास किया है, तथापि मुझे लगता है कि श्रद्धा होने मात्र से कोई उस विषय का अधिकारी व्याख्याता नहीं हो जाता। इसीलिए महान् विद्वानों के सामने खड़ा होने में बहुत संकोच हो रहा है। मैं दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी नहीं हूँ और सच तो यह है कि इन सहज भक्तों की अनुभवगम्य वाणियाँ सही अर्थों में दर्शन है भी नहीं। इनमें पूर्व-पक्ष उत्तर-पक्ष आदि की विद्वत्प्रथित सरणियों के द्वारा क्रमबद्ध रूप से सिद्धान्त निर्णय का कोई प्रयत्न नहीं है। कभी-कभी परवर्ती काल के कुछ पढ़े-लिखे शिष्यों ने टीका लिखकर या अन्य प्रकार से इन्हें क्रमबद्ध दर्शन का रूप देने का प्रयास अवश्य किया है, पर वे प्रयास ही है, अधिक कुछ नहीं। कभी महान् सन्तों की वाणियों को 'सूक्ष्मवेद' भी कहा गया है जो 'सुच्छंवेद' का संस्कृतीकरण है। सुच्छंवेद वस्तुतः संस्कृत के 'स्वसंवेद्य' शब्द का अपभ्रष्ट रूप है जो भाषाशास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ सुधारकों के हाथ पड़कर पुनः संस्कृतीकृत होकर 'सूक्ष्मवेद' बन गया है। सही बात यही है कि यह सन्तों का 'अनभै-साँच' अर्थात् अनुभव-सत्य अर्थात् स्वसंवेद्य ज्ञान है। इसमें साधना की अनेक प्राचीन और नवीन धाराओं से सार ग्रहण किया गया है। मुसलमान धर्म, विशेषकर सूफी सन्तसाधना, से भी बहुत-कुछ लिया गया है, पर लेने का प्रयत्न अनायास-लब्ध है, अपने-आप आ गया है। अनेक प्रकार की भावधाराओं से जो बात बनी है उसके आधार पर क्रमबद्ध दर्शन बना लिया जा सकता है। मूल रूप में इन वाणियों में जीवनदृष्टि तो मिल जाती है, पर उसे क्रमबद्ध दर्शन नहीं कहा जा सकता।

इसके कुछ ही पूर्व भारतवर्ष के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इस्लाम जैसे एक सुसंगठित सम्प्रदाय का आगमन था। इस घटना ने भारतीय धर्ममत और समाज-व्यवस्था को बुरी तरह से झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जानेवाली जाति-व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी।

'मजहब' क्या है ? मजहब एक संघटित धर्ममत है। बहुत-से लोग एक ही देवता को मानते हैं, एक ही आचार का पालन करते हैं, और किसी नस्ल, कबीले या जाति के किसी व्यक्ति को जब एक बार अपने संघटित समूह में मिला लेते हैं तो उसकी सारी विशेषताएँ दूर कर उसी विशेष मतवाद को स्वीकार कराते हैं। यहाँ धर्मसाधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेध एक दूसरे में गुँथे होते हैं। भारतीय समाज नाना जातियों का सम्मिश्रण था। एक जाति का एक व्यक्ति दूसरी जाति में बदल नहीं सकता, परन्तु मजहब इसमें ठीक उलटा है। यह व्यक्ति को समूह का अंग बना देता है। भारतीय समाज की जातियाँ कई व्यक्तियों का समूह हैं, परन्तु किसी मजहब के व्यक्ति वृहत् समूह के अंग हैं। एक का व्यक्ति अलग हस्ती रखता है पर अलग नहीं हो सकता, दूसरे का अलग हो सकता है पर अलग सत्ता नहीं रखता।

मुसलमानी धर्म एक 'मजहब' है। भारतीय समाज-संगठन से बिल्कुल उल्टे

तौर पर उसका संगठन हुआ था। भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखकर व्यक्तिगत धर्म-साधना का पक्षपाती था, इस्लाम जातिगत विशेषता का लोप करके समूहगत धर्म-साधना का प्रचारक था। एक का केन्द्रबिन्दु चारित्र्य था, दूसरे का धर्म-मत। भारतीय समाज में यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चारित्र्य शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जाति का भी क्यों न हो। मुसलमानी समाज का विश्वास था कि इस्लाम ने जो धर्म-मत प्रचार *किया है उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनन्त स्वर्ग का* अधिकारी है, जो इस धर्म-मत को नही मानता वह अनन्त नरक मे जाने को बाध्य है। भारतवर्ष को ऐसे मत से एकदम पाला नही पडा था। उसने कभी यह विश्वास ही नही किया कि उसके आचार और मत को न माननेवाली जाति का कुफ्र तोडना उसका परम कर्त्तव्य है। किसी और का परम कर्त्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे नही मालूम था। इसीलिए जब नवीन धर्म-मत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और सभी पाये जानेवाले साधनों का उपयोग आरम्भ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक-ठाक समझ ही नही सका। इसीलिए कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गयी। वह विक्षुब्ध-सा हो उठा। परन्तु विधाता को यह कुण्ठा और विक्षोभ पसन्द नही था।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संघबद्ध धर्माचार के पालन की जरूरत महसूस हुई। इस्लाम के आने के पहले इस विशाल जन-समूह का कोई एक नाम तक नही था। अब उसका नाम 'हिन्दू' पडा। हिन्दू अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इस्लामी मत। स्पष्ट ही इस गैर-इस्लामी मत में कई तरह के मत थे। कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाण्डी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ शाक्त थे, कुछ स्मार्त्त थे तथा और भी न जाने क्या-क्या थे। हजारों योजनों तक विस्तृत और हजारों वर्षों में परिव्याप्त इस जनसमूह के विचारों और परम्परा-प्राप्त मतों का एक विशाल जंगल खड़ा था। स्मृति, पुराण, लोकाचार और कुलाचार की विशाल वनस्थली में से रास्ता निकाल लेना बडा ही दुष्कर कार्य था। स्मार्त्त पण्डितों ने इसी दुष्कर व्यापार को शिरोधार्य किया। सारे देश में शास्त्रीय वचनों की छान-बीन होने लगी। उद्देश्य था कि इस प्रकार का सर्व-सम्मत मत निकाल लिया जा सके, श्राद्ध-विवाह की एक ही रीति-नीति प्रचलित हो सके, उत्सव-समारोह का एक ही विधान तैयार हो सके। भारतीय मनीषा का शास्त्रों को आधार मानकर अपनी सबसे बडी समस्या के समाधान का यह सबसे बडा प्रयत्न था। हेमाद्रि से लेकर कमलाकर और रघुनन्दन तक बहुतेरे पण्डितों ने बहुत परिश्रम के बाद जो कुछ निर्णय किया, वह यद्यपि सर्ववादिसम्मत नही हुआ, परन्तु निस्सन्देह स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्यों की छानबीन मे एक बहुत-कुछ मिलता-जुलता आचरण-प्रवण धर्ममत स्थिर किया जा सका। निबन्ध-ग्रन्थो की यह बहुत बडी देन थी। जिस बात को आजकल 'हिन्दू-सोलिडैरिटी' कहते हैं, उसका प्रथम भित्ति-स्थापन इन निबन्ध-ग्रन्थों के द्वारा ही हुआ था। पर समस्या का समाधान इसने

नहीं हुआ।

इस प्रकार मुसलमानों के आगमन के साथ-ही-साथ हिन्दूधर्म प्रधानतः आचारप्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उसका केन्द्रबिन्दु हो गयी। इस समय पूर्व और उत्तर में सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपन्थी योगियों का था। हमने पहले ही देखा है कि ये लोग शास्त्रीय स्मार्त मत को भी नहीं मानते थे और प्रस्थानत्रयी, अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर आधारित किसी दार्शनिक मतवाद के भी कायल नहीं थे। पर जनता का ध्यान वे आकृष्ट कर सके थे। विविध सिद्धियों के द्वारा वे काफी सम्मान और सम्भ्रम के पात्र बन गये थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण-तत्त्व के उपासक थे, पर इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। विविध भाँति की शारीरिक साधनाओं के द्वारा, जिन्हें काया-साधन कहते थे, लोग परमतत्त्व को पाने के प्रयासी थे। इनमें जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे वे घरबारी नहीं होते थे, पर इनके शिष्यों में बहुत-से आश्रम-भ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जाति का रूप धारण कर चुके थे। हिन्दूधर्म इन आश्रमभ्रष्ट गृहस्थों का सम्मान तो करता ही न था, उलटे उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। ये आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ न तो हिन्दू थे—क्योंकि वे हिन्दुओं के किसी मत या आचार के कायल न थे, और न मुसलमान—क्योंकि इन्होंने इस्लामी धर्ममत को स्वीकार नहीं किया था। कुछ काल के इस्लामी संसर्ग के बाद ये लोग धीरे-धीरे मुसलमानी धर्म-मत की ओर झुकने लगे, पर इनके संस्कार बहुत दिनों तक बने रहे। जब वे इसी प्रक्रिया में से गुजर रहे थे, उसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ था।

यहाँ दो और प्रधान धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा कर लेनी चाहिए। पहली धारा पश्चिम से आयी। यह सूफी लोगों की साधना थी। मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ किया था। फिर भी ये लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उसका सामंजस्य आचार-प्रधान हिन्दूधर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परमतत्त्व की साधना ही उस विपुल वैराग्य के भार को वहन कर सकी जो बौद्ध संघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित था। देश में पहली बार वर्णाश्रम-व्यवस्था को एक अननुभूत-पूर्व विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नयी जाति की रचना कर लेते थे। इस प्रकार सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ सृष्ट होते रहने पर भी वर्णाश्रम-व्यवस्था एक प्रकार से चलती ही आ रही थी। अब सामने एक जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी समाज था, जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अंगीकार करने को बद्धपरिकर था। उसकी एकमात्र शर्त यह थी

कि वह उसके विशेष प्रकार के धर्म-मत को स्वीकार कर ले। समाज से दण्ड पानेवाला बहिष्कृत व्यक्ति अब असहाय नहीं था। इच्छा करते ही वह एक सुसंघटित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे समय मे दक्षिण से वेदान्तभावित भक्ति का आगमन हुआ, जो इस विशाल भारतीय महाद्वीप के इस छोर से उस छोर तक फैल गया। डा. ग्रियर्सन ने कहा था कि "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त (धार्मिक मतों के) अन्धकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी। यह भक्ति का आन्दोलन है।" इसने दो रूपो में आत्म-प्रकाश किया। पौराणिक अवतारो को केन्द्र करके सगुण उपासना के रूप मे और निर्गुण-परब्रह्म जो योगियो का ध्येय था, उसे केन्द्र करके निर्गुण प्रेम-भक्ति की साधना के रूप मे। पहली साधना ने हिन्दू-जाति की वाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सीचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का; एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एक ने श्रद्धा को पथप्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनो का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था, केवल बाह्याचार दोनो को सम्मत नही थे, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनो को अभीष्ट था, अहेतुक भक्ति दोनों की काम्य थी, बिना शर्त के भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण दोनों के प्रिय साधन थे। इन बातों मे दोनों एक थे। सबसे बड़ा अन्तर इनके लीला-सम्बन्धी विचारो मे था। दोनो ही भगवान् की प्रेम-लीला मे विश्वास करते थे। दोनों का ही अनुभव था कि भगवान् लीला के लिए ही इस जागतिक प्रपंच को सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण-भाव से भजन करनेवाले भक्त भगवान् को दूर से देखने में रस पाते रहे, जबकि निर्गुणभाव से भजन करनेवाले भक्त अपने-आपमे रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

कबीरदास ने माया के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह वस्तुत. वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थ मे ही। खूब सम्भव है कि कबीरदास ने भक्ति-सिद्धान्त के साथ ही माया-सम्बन्धी उपदेश भी रामानन्दाचार्य से ही पाया था, इसीलिए वे बराबर भक्त को मायाजाल से अतीत समझते हैं। यहाँ इतना और कह रखा जाय कि कबीरदास के 'निर्गुण ब्रह्म' में 'गुण' का अर्थ सत्त्व, रज आदि गुण हैं, इसलिए 'निर्गुण ब्रह्म' का अर्थ वे निराकार, निस्सीम आदि समझते है, निर्विषय नही।

ऊपर की चर्चा पर से यदि किसी नतीजे तक पहुँचा जा सकता है तो वह यही है कि (1) आचार्य रामानन्द ने अपने शिष्यो को किसी वेदान्तिक वाद का बन्धन नही लगाया था। वे स्वयं यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी थे, पर अद्वैतवादी भक्तिग्रन्थो को बडे सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनके लिए भक्ति ही बड़ी चीज थी, फिर चाहे वह निर्गुण की हो या सगुण की, द्वैत-भाव मे हो या अद्वैत-भाव मे। (2) उनकी उपदिष्ट भक्ति भिन्न-भिन्न रुचि, विद्या और संस्कारवाले शिष्यों मे नाना रूप मे प्रकट हुई; और (3) कबीरदास के पदो से, जैसा कि हम आगे देखेंगे, एकेश्वर-

वाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतविलक्षणवाद आदि कई परस्पर-विरोधी मतों के समर्थन हो सकते है, पर इस विरोध का कारण कबीरदास के विचारों की अस्थिरता नहीं है बल्कि यह है कि वे भगवान् को अनुभवैकगम्य और निखिलातीत तथा समस्त ऐश्वर्यों और विभूतियों का आधार समझते थे। इसीलिए लौकिक दृष्टि से जो बातें परस्पर-विरोधी दीखती है, अलौकिक भगवत्स्वरूप मे वे सब घट जाती हैं। यह बात भक्ति की दुनिया में नयी नहीं है। भक्त लोग एक ही साथ भगवान् के लिए कई परस्पर-विरोधी विशेषणों का व्यवहार करते है। 'लघुभागवतामृत' (पृ. 317) मे बताया गया है कि प्राकृत विशेषणों से भगवान् के अचिन्त्य रूप का बोध दुष्कर है। यही कारण है कि उनमे ऐसे अनेक विशेषणो का प्रयोग किया जाता है जो लौकिक दृष्टि से परस्पर-विरोधी जँचते है। इस अन्तिम बात की विवेचना करने का अवसर हम अन्यत्र भी पायेंगे।

गुरु नानकदेव

कार्तिकी पूर्णिमा इस देश की बहुत पवित्र तिथि है। इस दिन सारे भारतवर्ष मे कोई-न-कोई उत्सव, मेला, स्नान या अनुष्ठान होता है। शरत्काल का पूर्ण चन्द्रमा आज अपने पूरे वैभव पर होता है, आकाश निर्मल, दिशाएँ प्रसन्न, वायुमण्डल शान्त, पृथ्वी हरी-भरी, जलप्रवाह मृदुमन्थर हो जाता है। कुछ आश्चर्य नहीं कि इस दिन मनुष्य का सामूहिक चित्त उद्वेल हो उठे। इसी दिन महान् गुरु नानकदेव के आविर्भाव का उत्सव मनाया जाता है। आकाश में जिस प्रकार षोडश-कला से पूर्ण चन्द्रमा अपनी कोमल स्निग्ध किरणों से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार मानवचित्त मे भी किसी उज्ज्वल प्रसन्न ज्योतिपुंज का आविर्भाव होना स्वाभाविक ही है। गुरु नानकदेव ऐसे ही षोडशकला से पूर्ण स्निग्ध-ज्योति महामानव थे। लोकमानस मे अरसे से कार्तिकी पूर्णिमा के साथ गुरु के आविर्भाव का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। गुरु किसी एक ही दिन को पार्थिव शरीर मे आविर्भूत हुए होंगे, पर भक्तों के चित्त मे वे प्रतिक्षण प्रकट हो सकते हैं। पार्थिव रूप को महत्त्व दिया जाता है; परन्तु प्रति-क्षण आविर्भूत होने को आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक महत्त्व मिलना चाहिए। इतिहास के पण्डित गुरु के पार्थिव शरीर के आविर्भाव के विषय मे वाद-विवाद करते रहें, इस देश का सामूहिक मानवचित्त उसे उतना महत्त्व नहीं देता।

गुरु जिस किसी भी शुभ क्षण में चित्त में आविर्भूत हो जायें, वही क्षण

उत्सव का है, वही क्षण उल्लसित कर देने के लिए पर्याप्त है। 'न वो न वो भवसि जायमान'—गुरु, तुम प्रतिक्षण चित्तभूमि में आविर्भूत होकर नित्य नवीन हो रहे हो ! हजारों वर्ष से शरत्काल की यह सर्वाधिक प्रसन्न तिथि प्रभामण्डित पूर्णचन्द्र के साथ उतनी ही मीठी ज्योति के धनी महामानव को स्मरण कराती रही है। इस चन्द्रमा के साथ महामानवो का सम्बन्ध जोड़ने मे इस देश का समष्टिचित्त आह्लाद अनुभव करता है। हम 'रामचन्द्र', 'कृष्णचन्द्र' आदि कहकर इसी आह्लाद को प्रकट करते है। गुरु नानकदेव के साथ इस पूर्णचन्द्र का सम्बन्ध जोड़ना भारतीय जनता के मानस के अनुकूल है। आज वह अपना आह्लाद प्रकट करती है।

गुरु नानकदेव का आविर्भाव आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व हुआ। भारतवर्ष की मिट्टी मे युग के अनुरूप महापुरुषो को जन्म देने का अद्भुत गुण है। आज से पाँच सौ वर्ष पहले का देश अनेक कुसस्कारो मे उलझा था। जातियो, सम्प्रदायों, धर्मो और संकीर्ण कुलाभिमानो से वह खण्ड विच्छिन्न हो गया था। देश में नये धर्म के आगन्तुकों के कारण एक ऐसी समस्या उठ खडी हुई थी जो इस देश के हजारो वर्षो के लम्बे इतिहास मे अपरिचित थी। ऐसे ही दुर्घटकाल मे इस देश की मिट्टी ने ऐसे अनेक महापुरुषो को उत्पन्न किया जो सड़ी रूढियो, मृतप्राय आचारो, वासी विचारों और अर्थहीन सकीर्णताओ के विरुद्ध तीव्र प्रहार करने मे कुण्ठित नही हुए और इन जर्जर वातो से परे सबमे विद्यमान् सबको नयी ज्योति और नया जीवन प्रदान करनेवाले महान् जीवनदेवता की महिमा प्रतिष्ठित करने मे समर्थ हुए। इन सन्तों की ज्योतिष्क मण्डली मे गुरु नानकदेव ऐसे सन्त हैं जो शरत्काल के पूर्णचन्द्र की तरह ही स्निग्ध, उसी प्रकार शान्त-निर्मल, उसी प्रकार रश्मि के भण्डार थे। कई सन्तो ने कस-कसके चोटे मारी, व्यंग्य-बाण छोड़े, तर्क की छुरी चलायी, पर महान् गुरु नानकदेव ने सुधालेप का काम किया। यह आश्चर्य की वात है कि विचार और आचार की दुनिया मे इतनी बड़ी क्रान्ति ले आनेवाला यह सन्त इतने मधुर, इतने स्निग्ध, इतने मोहक वचनों का बोलनेवाला है। किसी का दिल दुखाये बिना, किसी पर आघात किये बिना, कुसंस्कारो को छिन्न करने की शक्ति रखनेवाला, नयी संजीवनी धारा से प्राणिमात्र को उल्लसित करनेवाला, यह सन्त मध्यकाल की ज्योतिष्क मण्डली में अपनी निराली शोभा से शरत्पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह ही ज्योतिष्मान् है। आज उसकी याद आये बिना नही रह सकती। वह सब प्रकार से लोकोत्तर है। उसका उपचार प्रेम और मैत्री है। उसका शास्त्र सहानुभूति और हित-चिन्ता है। वह कुसंस्कारों के अन्धकार को अपनी स्निग्धज्योति से भेदता है, मुमूर्षु प्राणधारा को अमृत का भाण्ड उँड़ेलकर प्रवाहशील बनाता है। वह भेदो में अभेद देखता है, नानात्व में एक का सन्धान बताता है, वह सब प्रकार से निराला है। इस कार्तिकी पूर्णिमा को अनायास उसके चरणों मे नत हो जाने की इच्छा होती है। गुरु नानक ने प्रेम का सन्देश दिया है; क्योंकि मनुष्यजीवन का जो चरम प्राप्तव्य है, वह स्वयं प्रेमरूप है। प्रेम ही उसका

स्वभाव है। प्रेम ही उसका साधन है। अरे ओ मुग्ध मनुष्य, सच्ची प्रीति से ही तेरा मान-अभिमान नष्ट होगा, तेरी छोटाई की सीमा समाप्त होगी, परम मंगलमय शिव तुझे प्राप्त होगा। उसी सच्चे प्रेम की साधना तेरे जीवन का परम लक्ष्य है। बाह्य आडम्बरों को तू धर्म समझ रहा है, मूल-संस्कारों को तू आस्था मानता है? नहीं प्यारे, यह सब धर्म नहीं है। धर्म तो स्वयं रूप होकर भगवान् के रूप में तेरे भीतर विराजमान है। उसी अगम अगोचर प्रभु की शरण पकड़। क्या पड़ा है इन छोटे अहंकारों मे? ये मुक्ति के नहीं, बन्धन के हेतु है।···धन्य हो, अगम अगोचर अलख अपार देव, तुम्ही मेरी चिन्ता करो। जहाँ तक देखता हूँ वहाँ तक—जल मे, स्थल मे, पृथ्वी में—सर्वत्र तुम्हारी ही लीला व्याप्त है, घट-घट मे तुम्हारी ज्योति उद्भासित हो रही है :

अगम अगोचर अलख अपारा चिन्ता करहु हमारी।
जल थलि महा अलि भरिपुरि ला ॥
घट घट जोति तुम्हारी !

अद्भुत है गुरु की वाणी की सहज-वेधक शक्ति। कही कोई आडम्बर नहीं, कोई बनाव नही, सहज-हृदय से निकली हुई सहज प्रभावित करने की अपार शक्ति। सहज-जीवन बड़ी कठिन साधना है। सहज-भाषा बड़ी बलवती आस्था है। सीधी लकीर खींचना टेढ़ा काम है। गुरु का अनाडम्बर सहज-धर्म ऐसी ही सहजवाणी से प्रचारित हो सकता था। कितनी अद्भुत निर्णयमान शैली है! कही भी पाण्डित्य का दुर्धर बोझ नही और फिर भी पण्डितो को आन्दोलित करनेवाली यह वाणी धन्य है :

कोई पढता सहसा किरता कोई पढे पुराना
कोई नामु जपै जपमाली—लागे तिसै धियाना
अब ही कब ही किछू न जाना।
तेरा एको नाम पेछाना
न जाना हरे मेरी कवण गती
हम मूरख अगिआन सरन प्रभु तेरी
कोई किरपा राखहु मेरी लाज पते।

ऐसी मीठी निरहकार सीधी वाणी से गुरु ने भटकती जनता को उसका लक्ष्य बताया। आज विद्वान् चकित हैं, पण्डित अचरज मे है—कितनी बड़ी ताकत और कैसा निरीह रूप! कालिदास ने ठीक ही कहा था—'ध्रुवं वपु. कांचनपद्मधर्मियन्मृदुप्रकृत्या च ससारमेव च।' जो रूप से स्वर्णकमल के धर्मवाला होता है, वह निश्चय ही स्वभाव से ही मृदु नही होता है किन्तु सारवान भी होता है। सारवन ही होता है। गुरु नानकदेव ऐसे ही काचन-पद्मधर्मी महामानव थे—'मृदुप्रकृत्या च समारमेव च।'

किसी लकीर को मिटाये बिना छोटी बना देने का उपाय है बड़ी लकीर खीच देना। क्षुद्र अहमिकाओ और अर्थहीन संकीर्णताओं की क्षुद्रता सिद्ध करने के लिए

तर्क और शास्त्रार्थ का मार्ग कदाचित् ठीक नही है। सही उपाय है बड़े सत्य को प्रत्यक्ष कर देना। गुरु नानक ने यही किया। उन्होने जनता को बड़े-से-बड़े सत्य के सम्मुखीन कर दिया। हजारो दीये उस महाज्योति के सामने स्वय फीके पड़ गये।

भगवान् जब अनुग्रह करते हैं तो अपनी दिव्य ज्योति ऐसे महान् सन्तों मे उतार देते है। एक बार जब यह ज्योति मानवदेह को आश्रय करके उतरती है तो चुप नही बैठती। वह क्रियात्मक होती है, नीचे गिरे हुए अभागे जनो को वह प्रभावित करती है, ऊपर उठाती है। वह उतरती है और ऊपर उठाती है। इसे पुराने पारिभाषिक शब्दों मे कहे तो कुछ इस प्रकार होगा कि एक ओर उसका 'अवतार' होता है, दूसरी ओर औरो का 'उद्धार' होता है। अवतार और उद्धार की यह लीला भगवान् के प्रेम का सक्रिय रूप है, जिसे पुराने भक्तजन 'अनुग्रह' कहते हैं। आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले परमप्रेयान् हरि का यह 'अनुग्रह' सक्रिय हुआ था, आज भी वह क्रियाशील है। आज कदाचित् गुरु की वाणी की सबसे अधिक तीव्र आवश्यकता अनुभूत हो रही है।

महागुण, नयी आशा, नयी उमग, नये उल्लास की आशा मे आज इस देश की जनता तुम्हारे चरणो मे प्रणति निवेदन कर रही है। आशा की ज्योति विकीर्ण करो, मैत्री और प्रीति की स्निग्ध धारा से आप्लावित करो। हम उलझ गये है, भटक गये है; पर कृतज्ञता अब भी हममे रह गयी है। आज भी हम तुम्हारी अमृतोपम वाणी को भूल नही गये है। कृतज्ञ भारत का प्रणाम अगीकार करो।

महात्मा रविदास

सन्तशिरोमणि महात्मा रविदास की अमृतोमय वाणियों से प्राय: हर धर्म-जिज्ञासु थोड़ा-बहुत परिचित है, परन्तु दुर्भाग्यवश उनकी वाणियाँ बहुत थोड़ी ही उपलब्ध हुई है। अधिकाश वाणियाँ भक्तो की मौखिक परम्परा मे ही जीवित रही और धीरे-धीरे विस्मृत भी होती गयी। लिखित रूप मे उनकी वाणियाँ बहुत कम उपलब्ध होती हैं। जो उपलब्ध है वे इधर-उधर बिखरी पडी है। प्रसिद्ध समाजसेवी आचार्य पृथ्वीसिंह 'आजाद' ने बड़े परिश्रम से अनेक दुर्लभ प्रतियों से पाठ सग्रह करके 'रविदास दर्शन' नाम का ग्रन्थ प्रकाशित किया है। इस पुस्तक का सम्पादन उनके दो सहयोगी विद्वानो डॉ. वेणीप्रसाद शर्मा और डॉ पीताम्बर नारायण ने बड़े परिश्रम और लगन के साथ किया है। इस संग्रह मे बहुत-सी बहुमूल्य वाणियाँ

आ गयी हैं, परन्तु अभी भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभी उपलब्ध वाणियाँ इतनी ही हैं। आज़ादजी ने अपने वक्तव्य मे इन वाणियों के संकलन का इतिहास दिया है। उससे जहाँ एक ओर पश्चिमी भारत मे महात्मा रविदास के भक्तों और अनुयायियो का परिचय प्राप्त होता है, वही यह भी पता चलता है कि भक्तों ने यथाशक्ति इन वाणियों को बचा लेने का व्यापक प्रयत्न किया था। भारतवर्ष के अन्य भागों मे भी खोज करने पर इन वाणियों का सन्धान पाया जा सकता है, क्योंकि मध्यकालीन भारत मे महात्मा रविदास सर्वजनश्रद्धेय भक्त के रूप में स्वीकृत हो चुके थे। उनकी सीधी-सादी मर्मस्पर्शी वाणियाँ लोगो के हृदय मे अपूर्व श्रद्धा और भक्ति की प्रेरणा देती रही हैं।

महात्मा रविदास बड़े ही मधुर स्वभाव के भक्त थे। उन्होने किसी पर कठोर आक्षेप या व्यंग्य नही किया। इस अर्थ मे वे सच्चे वैष्णव थे—अहिंसक, निरभिमान और मानदाता। वे कबीर के समसामयिक थे। आयु मे कबीर से बड़े थे या छोटे, इस विषय मे विद्वानो में मतभेद है, परन्तु इतना निश्चित है कि वे कबीर के बाद भी दीर्घकाल तक जीवित थे। स्वर्गीय आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सन्तो मे प्रचलित एक अनुश्रित का हवाला देते हुए बताया था कि सम्भवत: वह कबीर से आयु मे बडे थे। कहते हैं कि जब किसी ने महात्मा कबीरदास से पूछा था कि भगवद्भक्ति का मार्ग बताइए तो उन्होंने कहा था कि 'भाई, मैं तो माँ की गोद में बैठा हुआ गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया। मैं क्या जानूं कि रास्ता क्या होता है! रास्ता पूछना हो तो रैदास से पूछो, जिनके सिर पर माँ ने एक गठरी भी रख दी थी' :

'मैं तो आया माँ की गोद में, क्या जानूं मारग क्या होय,
राह पूछो रैदास से जिन गठरी लाई ढोय।'

ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि माँ को जब कही जाना होता है तो सबसे नन्हे शिशु को गोद मे लेकर चल पड़ती है, लेकिन जो बच्चा बडा होता है उसे छोटी-मोटी गठरी भी दे देती है और वह पीछे-पीछे चलता है। गठरी ढोने के कारण उसे श्रम करना पड़ता है और रास्ते का एक-एक पग उसके अनुभव में आ जाता है। रैदास ऐसे ही भक्त थे, जिन्होने परिश्रम से अपनी रोजी-रोटी का काम भी किया और साथ-ही-साथ भगवद्भक्ति के कठिनाई-भरे रास्ते पर चलते रहे। इस अनुश्रुति मे बताया जानेवाला दोहा कबीर की रचना है या नही, यह कहना कठिन ही है, परन्तु परवर्ती भक्तो मे कबीर और रैदास के [illegible] के सम्बन्ध में जो धारणा थी वह अवश्य स्पष्ट है [illegible] रविदा[illegible] जीवन

आचार्य पृथ्वीसिंह 'आज़ाद' द्वारा संगृहीत वाणियों से स्पष्ट होता है कि यह बात रविदास के केवल सासारिक जीवन की यथार्थता का ही संकेत नहीं करती, बल्कि उनके तत्त्वदर्शन को भी सही-सही व्याख्या प्रस्तुत करती है। अन्य सन्तो की तुलना में महात्मा रविदास ने अधिक स्पष्ट और जोरदार भाषा मे कहा है कि कर्म ही धर्म है। उनकी वाणियों से स्पष्ट होता है कि भगवद्भजन, सदाचारमय जीवन, निरहंकार वृत्ति और सबकी भलाई के लिए किया जानेवाला कर्म, ये ही वास्तविक धर्म है। यह बात अपने-आपमे नयी नही है। भारतवर्ष मे सभी ने यह स्वीकार किया है कि बड़ी बातो का कहना धर्म नही है बल्कि बड़ी बातो का आचरण धर्म है। 'मनुस्मृति' मे भी सच्चे जानकार लोगो द्वारा आचरित सत्य को धर्म कहा गया है। 'महाभारत' मे भी अनेक स्थलो पर बताया गया है कि धर्म सत्य के सेवन या आचरण का नाम है, परन्तु महात्मा रविदास की वाणियो में नयी बात यह है कि उस पर विशेष बल दिया गया है। जिस वाणी पर बल दिया जाता है वह महावाक्य होता है। अन्य वाणियों की व्याख्या उसकी अपेक्षा मे और उसके प्रकाश मे की जाती है। महात्मा रविदास की वाणियो मे यह बात एक महावाक्य की मर्यादा पा जाती है, लेकिन जो इनकी अपनी विशेषता भी कही जा सकती है। मूल बात भगवद्भक्ति तो सारे सन्तों की मुख्य बात है ही और महात्मा रविदास की भी है, लेकिन कर्ममय जीवन पर जोर देना उनका विशेष सन्देश है। सत्य की उपलब्धि का दावा कोई भी कर सकता है, परन्तु उसकी वास्तविक परीक्षा अन्तर-वैयक्तिक सन्दर्भो और सामाजिक जीवन के विभिन्न सन्दर्भों के आचरणों से ही होती है। कर्ममय जीवन मे ही सत्य की सुगन्ध मिल सकती है। समाज मे अलग-अलग रहकर किसी प्रकार के आचरण से विरत होने पर सत्य खण्डित और अपरीक्षित रह जाता है। जीवन मे सत्य की प्रतीति होने का सबसे उत्तम प्रमाण कर्म में ही मिलता है। जिसे परम सत्य की उपलब्धि हो जाती है, उसका हर आचरण पवित्र हो जाता है और हर कर्म पूजा बन जाता है। कबीरदास की यह उक्ति उसके जीवन मे अक्षरशः प्रतिफलित होती है :

जहँ जहँ डोलौ सोइ परिकरमा,
जो कछु करौ सो पूजा।
कहौ सो नाम सुनौ सो सुमिरन,
जानौ और न दूजा।

महात्मा रविदास के जीवन मे यह उक्ति पूर्णतः चरितार्थ हुई थी। उन्होंने अपना सवकुछ महाप्रेमिक के चरणों में समर्पित कर दिया था। उनका जीवन आदर्श था। सरल जीवन और ऊँचे विचारों की जो कल्पना तत्त्वज्ञानियों ने की है, वह उनमें साकार हो गयी थी। इस तपोमय जीवन का परिणाम वाणी की मधुरता और विचारों की निश्छल अभिव्यक्ति के रूप मे प्रकट होना है। महात्मा रविदास की वाणियों मे यह दोनों बातें प्रचुर मात्रा मे पायी जाती हैं।

महात्मा रविदास की प्रेरणामयी वाणियो ने सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित,

व्रत, पूजा-चर्चा आदि को अनावश्यक समझते हैं, वर्ण-व्यवस्था को मान नहीं देते। इनमें से अधिकांश का जन्म समाज के निचले स्तर की जातियों में हुआ था, अधिकांश को विधिवत् अध्ययन की कोई सुविधा नहीं मिली थी, उनकी वाणियाँ सीधी-सादी लोकभाषा में कही गयी थी। शास्त्रीय भाषा के न तो वे कायल थे, न जानकार। परन्तु फिर भी उनका चरित्र उज्ज्वल था, हृदय विशाल था, बुद्धि सारग्राहिणी थी। वे सहज सत्य को सहज भाषा में सहज ही कह गये हैं। वे भगवान् पर अविचलित आस्था रखते थे, भगवत्प्रेम को जीवन की चरम चरितार्थता मानते थे, विषयवासना को हेय मानते थे और साहस और दृढ़ता के साथ अपनी अनुभूत सच्चाई को अभिव्यक्ति देते थे। वे साधारण जनता में उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्य को प्रतिष्ठित करने में सफल हो सके थे।

इसके कुछ ही पूर्व भारतवर्ष के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इस्लाम-जैसे एक सुसंगठित सम्प्रदाय का आगमन था। इस घटना ने भारतीय धर्ममत और समाज-व्यवस्था को बुरी तरह से झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जानेवाली जाति-व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी।

मुसलमानी धर्म एक 'मजहब' है। भारतीय समाज-संगठन से बिल्कुल उलटे तौर पर उसका संगठन हुआ था। भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखकर व्यक्तिगत धर्म-साधना का पक्षपाती था, इस्लाम जातिगत विशेषता का लोप करके समूहगत धर्म-साधना का प्रचारक था। एक का केन्द्रबिन्दु चारित्र्य था, दूसरे का धर्म-मत। भारतीय समाज में यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चारित्र्य शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जाति का भी क्यों न हो। मुसलमानी समाज का विश्वास था कि इस्लाम ने जिस धर्म-मत का प्रचार किया है, उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनन्त स्वर्ग का अधिकारी होता है, जो इस धर्म-मत को नहीं मानता, वह अनन्त नरक में जाने को बाध्य है। भारतवर्ष को ऐसे मत से एकदम पाला नहीं पड़ा था। उसने कभी यह विश्वास ही नहीं किया कि उसके आचार और मत को न माननेवाली जाति का कुफ्र तोड़ना उसका परम कर्त्तव्य है। किसी और का परम कर्त्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे नहीं मालूम था। इसलिए जब इस नवीन धर्म-मत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और सभी पाये जानेवाले साधनों का उपयोग आरम्भ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक-ठीक समझ ही नहीं सका। इसीलिए कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गयी। वह विक्षुब्ध-सा हो उठा। परन्तु विधाता को यह कुण्ठा और विक्षोभ पसन्द नहीं था।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संघवद्ध धर्माचार के पालन की जरूरत महसूस हुई। इस्लाम के आने के पहले इस विशाल जनसमूह का कोई नाम तक नहीं था। अब उसका नाम 'हिन्दू' पड़ा। हिन्दू अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इस्लामी मत। स्पष्ट ही इस गैर-इस्लामी मत में कई

आर्थिक दृष्टि से वंचित और राजनीतिक दृष्टि से तिरस्कृत सहस्र-सहस्र अकारण दण्डित मनुष्यों में सिर ऊँचा करके चलने की शक्ति दी है और मनुष्य-जीवन के उत्तम लक्ष्य तक पहुँचने की प्रेरणा दी है। इसलिए यह कहना बिलकुल सही है कि ये वाणियाँ मनुष्यता की अमूल्य निधि हैं। इनके चिन्तन और मनन से पीढ़ियों तक प्रेरणा मिली है और मिलती रहेगी।

[वाराणसी, 23-3-1973]

सन्त दादूदयाल

मध्ययुग के महान् भक्त सन्तो मे दादूदयाल का स्थान बहुत ऊँचा है। उनका मधुर व्यक्तित्व, सहज दर्शन और अनुभूत सत्य की सम्प्रेषणक्षम वाणी उन्हे निश्चित रूप से अन्य सन्तो से विशिष्ट बना देती है। इनकी वाणियो के संकलन-सम्पादन करने का प्रयत्न बहुत दिनों से होता आ रहा है। म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी और आचार्य क्षितिमोहन सेन जैसे मूर्धन्य विद्वानों ने इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। परन्तु फिर भी उनकी सभी वाणियों का प्रामाणिक सम्पादन अभी तक नही हुआ था। यह कार्य स्वयं मंगलदासजी ने बडे परिश्रम से अब सम्पन्न किया है। स्वामी मंगलदासजी स्वयं भक्त तो हैं ही, सम्पादन कला के निपुण जानकार भी है। उन्होने दादूदयाल और उनके शिष्य-प्रशिष्य द्वारा लिखित साहित्य का गम्भीर अध्ययन भी किया है। दादूदयाल के शिष्यों मे साहित्य के संकलन का जैसा प्रयत्न किया था, वैसा कम सम्प्रदायों मे मिलता है। वे साधना के धनी भी थे और साहित्य के मर्मज्ञ भी। स्वामीजी ने उस परम्परा को कायम रखा है। उनकी सम्पादित 'दादू वाणी' सन्त-साहित्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है।

इन वाणियो का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और धार्मिक महत्त्व है। इस महत्त्व को ठीक-ठीक समझने के लिए उस युग के धार्मिक और सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य को समझ लेना आवश्यक है।

विक्रम की चौदहवी शताब्दी के बाद से इस प्रकार के सन्तमत का व्यापक प्रचार हुआ है। नामदेव, कबीर, रैदास, दादूदयाल आदि महान् भक्तो ने इस प्रकार की भक्ति को उसी प्रकार साधारण जनता मे प्रचारित किया जिस प्रकार सूरदास, तुलसीदास आदि महान् भक्तों ने सगुण भक्ति का प्रचार किया। इस निर्गुण भक्तिमार्ग के भक्त, जिन्हें आजकल 'सन्त' कहा जाने लगा है, अवतार मे नही करते, आप्तवाक्य समझे जानेवाले ग्रन्थो मे आस्था नही रखते, तीर्थ-

व्रत, पूजा-चर्चा आदि को अनावश्यक समझते हैं, वर्ण-व्यवस्था को मान नही देते। इनमे से अधिकाश का जन्म समाज के निचले स्तर की जातियों में हुआ था, अधिकांश को विधिवत् अध्ययन की कोई सुविधा नहीं मिली थी, उनकी वाणियाँ सीधी-सादी लोकभाषा मे कही गयी थी। शास्त्रीय भाषा के न तो वे कायल थे, न जानकार। परन्तु फिर भी उनका चरित्र उज्ज्वल था, हृदय विशाल था, बुद्धि सार-ग्राहिणी थी। वे सहज सत्य को सहज भाषा में सहज ही कह गये हैं। वे भगवान् पर अविचलित आस्था रखते थे, भगवत्प्रेम को जीवन की चरम चरितार्थता मानते थे, विषयवासना को हेय मानते थे और साहस और दृढ़ता के साथ अपनी अनुभूत सच्चाई को अभिव्यक्ति देते थे। वे साधारण जनता में उच्चतर आध्यात्मिक लक्ष्य को प्रतिष्ठित करने मे सफल हो सके थे।

इसके कुछ ही पूर्व भारतवर्ष के इतिहास मे एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इस्लाम-जैसे एक सुसगठित सम्प्रदाय का आगमन था। इस घटना ने भारतीय धर्ममत और समाज-व्यवस्था को बुरी तरह से झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्त्तनीय समझी जानेवाली जाति-व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी।

मुसलमानी धर्म एक 'मजहब' है। भारतीय समाज-सगठन से बिल्कुल उलटे तौर पर उसका संगठन हुआ था। भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखकर व्यक्तिगत धर्म-साधना का पक्षपाती था, इस्लाम जातिगत विशेषता का लोप करके समूहगत धर्म-साधना का प्रचारक था। एक का केन्द्रबिन्दु चारित्र्य था, दूसरे का धर्म-मत। भारतीय समाज में यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चारित्र्य शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जाति का भी क्यो न हो। मुसलमानी समाज का विश्वास था कि इस्लाम ने जिस धर्म-मत का प्रचार किया है, उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनन्त स्वर्ग का अधिकारी होता है, जो इस धर्म-मत को नही मानता, वह अनन्त नरक में जाने को बाध्य है। भारतवर्ष को ऐसे मत से एकदम पाला नहीं पडा था। उसने कभी यह विश्वास ही नही किया कि उसके आचार और मत को न माननेवाली जाति का कुफ्र तोड़ना उसका परम कर्त्तव्य है। किसी और का परम कर्त्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे नही मालूम था। इसलिए जब इस नवीन धर्म-मत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और सभी पाये जानेवाले साधनों का उपयोग आरम्भ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक-ठीक समझ ही नही सका। इसीलिए कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गयी। वह विक्षुब्ध-सा हो उठा। परन्तु विधाता को यह कुण्ठा और विक्षोभ पसन्द नहीं था।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियों को एक सघबद्ध धर्माचार के पालन की जरूरत महसूस हुई। इस्लाम के आने के पहले इस विशाल जनसमूह का कोई नाम तक नही था। अब उसका नाम 'हिन्दू' पड़ा। हिन्दू अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इस्लामी मत। स्पष्ट ही इस गैर-इस्लामी मत मे कई

तरह के मत थे, कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाण्डी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ शाक्त थे, कुछ स्मार्त्त थे तथा और भी न जाने क्या-क्या थे। हजारों योजनों तक विस्तृत और हजारों वर्षों मे परिव्याप्त इस जनसमूह के विचारों और परम्पराप्राप्त मतो का एक विशाल जंगल खड़ा था। स्मृति, पुराण, लोकाचार और कुलाचार की विशाल वनस्थली मे से रास्ता निकाल लेना बड़ा ही दुष्कर कार्य था। स्मार्त्त पण्डितों ने इसी दुष्कर व्यापार को शिरोधार्य किया। सारे देश मे शास्त्रीय वचनो की छान-बीन होने लगी। उद्देश्य था कि इस प्रकार का सर्व-सम्मत मत निकाल लिया जा सके, श्राद्ध, विवाह आदि की एक ही रीति-नीति प्रचलित हो सके, उत्सव-समारोह का एक ही विधान तैयार हो सके। भारतीय मनीषा का शास्त्रो को आधार मानकर अपनी सबसे बड़ी समस्या के समाधान का यह सबसे बडा प्रयत्न था। हेमाद्रि से लेकर कमलाकर और रघुनन्दन तक बहुतेरे पण्डितो ने बहुत परिश्रम के बाद जो कुछ निर्णय किया वह यद्यपि सर्ववादि सम्मत नही हुआ, परन्तु निस्सन्देह स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्यों की छानबीन से एक बहुत कुछ मिलता-जुलता आचरण-प्रवण धर्म-मत स्थिर किया जा सका। निबन्ध-ग्रन्थों की यह बहुत बडी देन थी। जिस बात को आजकल 'हिन्दू-सोलिडैरिटी' कहते हैं, उसका प्रथम भित्ति-स्थापन इन निबन्ध-ग्रन्थो के द्वारा ही हुआ था। पर समस्या का समाधान इससे नही हुआ।

इस प्रकार मुसलमानो के आगमन के साथ-ही-साथ हिन्दू धर्म प्रधानतः आचारप्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उसका केन्द्रबिन्दु हो गयी। इस समय पूर्व और उत्तर मे सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपन्थी योगियों का था। ये लोग शास्त्रीय स्मार्त्त मत को भी नही मानते थे और प्रस्थान-त्रयी (अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर आधारित किसी दार्शनिक मत-वाद के भी कायल नही थे। पर जनता का ध्यान ये आकृष्ट कर सके थे। विविध सिद्धियो के द्वारा ये काफी सम्मान और सम्भ्रम के पात्र बन गये थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण-तत्त्व के उपासक थे, पर इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। विविध भाँति की शारीरिक साधनाओ के द्वारा, जिन्हे काया-साधन कहते थे, लोग परमतत्त्व को पाने के प्रयासी थे। इनमे जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे, वे घरबारी नही होते थे। पर इनके शिष्यो मे बहुत-से आश्रम-भ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जाति का रूप धारण कर चुके थे। हिन्दू धर्म इन आश्रम-भ्रष्ट गृहस्थों का सम्मान तो करता ही न था, उलटे उन्हे तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। ये आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ न तो हिन्दू थे—क्योंकि ये हिन्दुओ के किसी मत या आचार के कायल न थे—और न मुसलमान—क्योंकि इन्होंने इस्लामी धर्म-मत को स्वीकार नही किया था। कुछ काल के इस्लामी संसर्ग के बाद ये लोग धीरे-धीरे मुसलमानी धर्म-मत की ओर झुकने लगे, पर इनके संस्कार बहुत दिनो तक बने रहे। जब वे इसी प्रक्रिया में से गुजर रहे थे, उसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ था।

यहाँ दो और प्रधान धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा कर लेनी चाहिए। पहली धारा पश्चिम से आयी। यह सूफी लोगों की साधना थी। मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ किया था। फिर भी ये लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उनका सामंजस्य आचार-प्रधान हिन्दू धर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परमतत्त्व की साधना ही उस विपुल वैराग्य के भार को वहन कर सकी जो बौद्ध संघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित था। देश में पहली बार वर्णाश्रम-व्यवस्था को एक अननुभूत-पूर्व विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नयी जाति की रचना कर लेते थे। इस प्रकार सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ सृष्ट होते रहने पर भी वर्णाश्रम-व्यवस्था एक प्रकार से चलती ही जा रही थी। अब सामने एक जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी समाज था, जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अंगीकार करने को बद्धपरिकर था। उसकी एकमात्र शर्त यह थी कि वह उसके विशेष प्रकार के धर्म-मत को स्वीकार कर ले। समाज से दण्ड पानेवाला बहिष्कृत व्यक्ति अब असहाय नहीं था। इच्छा करते ही वह एक सुसंघटित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे समय में दक्षिण से वेदान्तभावित भक्ति का आगमन हुआ, जो इस विशाल भारतीय महाद्वीप के इस छोर से उस छोर तक फैल गया।

इसने दो रूपों में आत्म-प्रकाश किया। पौराणिक अवतारों को केन्द्र करके सगुण उपासना के रूप में और निर्गुण-परब्रह्म जो योगियों का ध्येय था, उसे केन्द्र करके निर्गुण प्रेम-भक्ति की साधना के रूप में। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का; एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एक ने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था, केवल बाह्याचार दोनों को सम्मत नहीं थे, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को अभीष्ट था, अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी, बिना शर्त के भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण दोनों के प्रिय साधन थे। इन बातों में दोनों एक थे। सबसे बड़ा अन्तर इनके लीला-सम्बन्धी विचारों में था। दोनों ही भगवान् की प्रेम-लीला में विश्वास करते थे। दोनों का ही अनुभव था कि भगवान् लीला के लिए ही इस जागतिक प्रपंच को सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण-भाव से भजन करनेवाले भक्त भगवान् को दूर से देखने में

रम पाते रहे, जबकि निर्गुण-भाव से भजन करनेवाले भक्त अपने-आपमें रमे हुए *भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।*

इस प्रकार भक्त कवियों ने भारतीय धर्म-साधना के मर्मस्थल को पहचाना है। उनमें भी निर्गुणमार्गी सन्तों ने जहाँ एक ओर भारतीय साधना के मूल और मार्मिक पक्ष को लोकचेतना के ग्रहण योग्य बनाया, वहीं दूसरी ओर उसे मुसलमानों के ग्रहण करने योग्य भी बनाया। इस प्रकार उस युग की जो सबसे बड़ी चुनौती थी अर्थात् दो परस्पर उलझनेवाली संस्कृतियों का द्वन्द्व था, उसके लिए एक प्राणवन्त धर्म का मार्ग प्रशस्त किया गया। दादूदयाल इन्हीं महान् सेतु-निर्माताओं में थे। *उनकी वाणी में उस युग की जीवन्त समस्या का सशक्त* समाधान मिलता है। आज के सन्दर्भ में भी उसकी महिमा अक्षुण्ण है।

रामरहस्य साहेब की पंचग्रन्थी

कबीर-सम्प्रदाय को दार्शनिक और बुद्धिवादी रूप देने का श्रेय बिहार के महात्मा रामरहस्य (राम रहेस) साहेब को प्राप्त है। बाहर तो इस बात को कम लोग जानते ही हैं, बिहार में भी इस अत्यन्त मेधावी बिहारी महात्मा को कम लोग ही जानते हैं। रामरहस्य साहेब, कबीरचौरा शाखा के पन्द्रहवें गुरु महात्मा शरणदास के शिष्य थे। ये टेकारी राज (जिला गया, बिहार) के मन्त्री पं. भगवान दुबे के पुत्र थे। जन्मकालीन नाम 'रामरज' था, लेकिन विरक्त होने पर 'रामरहस्य' नाम ग्रहण किया। सन् 1762 ई. के बाद से ये गया में ही रहने लगे। सन् 1810 में इनका देहावसान हुआ था। इनकी लिखी हुई सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'पंचग्रन्थी' है, जिसे पन्थ में सम्मानपूर्वक 'सद्ग्रन्थ-पंचग्रन्थी' कहा जाता है।

रामरहस्य साहेब का शास्त्रों पर बड़ा अच्छा अधिकार था। इनकी 'पंचग्रन्थी' के बाद कबीरपन्थ का झुकाव अधिकाधिक शास्त्रीय होता गया है। सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को नियमबद्ध और तर्कसंगत बनाने में इनका महत्त्वपूर्ण हाथ है। इनके अनेक पद ऐसे हैं जिनमें 'कहहि कबीर' की भणिति है। सम्प्रदाय में इनका स्थान बहुत ऊँचा है और इनकी लिखी हुई कुछ पुस्तकें तो बहुत दिनों तक 'कबीर-कृत' ही समझी जाती रही हैं। 'अक्षरखण्ड की रमैनी' इन्हीं की लिखी हुई है।

'पंचग्रन्थी' यद्यपि 'बीजक' पर बाकायदा टीका नहीं है, परन्तु 'बीजक' के [illegible] को विवृत करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। ग्रन्थकार बराबर 'बीजक'

के शब्द, साखियाँ, रमैनियाँ और अन्य पद उद्धृत करते जाते हैं और बहुधा उनकी व्यवस्था भी बताते जाते है। सारा ग्रन्थ पद्यबद्ध है। हाल ही में कबीरपन्थी विद्वान् बाबा राघवदास ने आधुनिक हिन्दी मे इस ग्रन्थ की एक सुन्दर टीका लिखी है, जो बड़ौदा से छपकर प्रकाशित हुई है। ग्रन्थ पाँच भागो मे विभक्त होने के कारण पंचग्रन्थी कहलाता है। प्रथम प्रकरण मे पचकोशों का बड़ा विस्तृत और ब्यौरेवार वर्णन है। दूसरे प्रकरण का नाम 'समष्टि-स्तर' है, और तीसरे का 'मानुष-विचार'। चौथा प्रकरण शिष्य और गुरु के प्रश्नोत्तर के रूप मे है और जिज्ञासुओ के बड़े काम का है, इसमे शिष्य की ओर से किये गये प्रश्नो का गुरु ने उत्तर दिया है और सम्पूर्ण सिद्धान्त सहज भाषा में प्रकट कर दिये है। पाँचवाँ ग्रन्थ बहुत बड़ा है और ग्रन्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। इसका नाम 'टकसार' है। इसमें कबीरमत के मूल सिद्धान्तों का वर्णन है। इसी के अन्त मे अक्षरखण्ड की रमैनी है। किसी-किसी ने इसे पचग्रन्थी मे स्वतन्त्र ग्रन्थ माना है।

'पचग्रन्थी' के सिद्धान्तों को संक्षेप मे इस प्रकार समझा जा सकता है :

कबीरपन्थी लोग मानते है कि जीव का शुद्ध रूप चैतन्यस्वरूप है। उसने भ्रमवश अपने को अद्वैत ब्रह्म मान लिया है। 'अहं ब्रह्मास्मि', 'एकोऽहं' आदि जीव की कल्पना के सिवा और कुछ नही है। जीव की यही कल्पना सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म है। आनन्द का जो अहकार है अर्थात् जीव ने जो अपने को आनन्दरूप मान लिया है, यही माया है। सो, वस्तुत: यह जो नाना भाँति की सृष्टि है, वह जीव की इस भ्रान्त कल्पना के कारण ही ब्रह्म से उत्पन्न है।[1] कबीरदास ने 'बीजक' मे इसी बात को इस प्रकार कहा है कि 'एक जीव ही ने अखिल त्रिगुणात्मिका सृष्टि का विस्तार एक अण्डरूप ब्रह्म से माना और उसी ब्रह्म को निश्चल पति मान सब जीव स्त्रीभाव धारण करके सद्गुरु सतसग के बिना सौभाग्यवती बने है।[2] जिस तरह सागर मे अनेक तरंगों से जल स्थिरता को प्राप्त नही होता और जहाँ स्थिर है वहाँ वाडवाग्नि की ज्वाला शोषण करती है, उसी प्रकार जीव नाना कल्पना करके समुद्र की भाँति ब्रह्म को मानता है; परन्तु वहाँ भी उसे स्थिरता नही मिलती, क्योंकि वाडवाग्निरूपी ब्रह्म की इच्छा (= माया) सदा जगत् की उत्पत्ति करती रहती है। इसलिए चाहे ब्रह्म की मान्यता हो या जगत् की, जीव को स्थिरता नही मिलती। वह इस भ्रान्त कल्पना के कारण सदा 'त्राहि-त्राहि' पुकारता रहता है। जो लोग समझते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि' या जीव-ब्रह्म की एकता का ज्ञान होने मात्र से शान्ति मिल जायगी, वे भ्रम मे हैं। 'ब्रह्म' भी जीव की कल्पना है और उसको पा लेने के बाद भी जीव उतना ही दुखी रहता

1 जीव कल्पना एकोऽहम् । सोइ कहावै सच्चिद्ब्रह्म ।
आनद अहंकार सो माया । ब्रह्म वाच मातै मत्र जाया ।—'पचग्रन्थी', 4 । 5, 1-2

2 एक अंड ओंकार ते सब जग भयो पसार ।
कहहिं कबीर सब नारि राम की अविचल पुरुष भर्तार ॥—'बीजक', रमैनी, साखी 27

है, जितना जगत्प्रपंच में फँसे रहने पर रहता है।[1] उसका यह भ्रम तभी दूर होता है, जब वह सद्गुरु के वचनों के द्वारा स्थिर भूमि का और निज पद का पारख हो जाय। जब तक यह नहीं हो जाता, तब तक ब्रह्म प्राप्ति हो भी जाय तो जीव निरन्तर जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। वह उस कौए की भाँति हो जाता है, जो अपार समुद्र के बीच किसी जहाज पर जा बैठा हो और बार-बार उड़ाये जाने पर भी और कहीं ठौर न पाकर उसी जहाज पर लौट आता हो।[2]

जीव का शुद्ध चैतन्य रूप ही स्थिरपद या 'जमापद' है। जब यह जीव 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'एकोऽहं' का अहंकार ग्रहण करता है, तभी नानात्व का प्रपंच उपस्थित होता है; क्योंकि जीव अपने को ब्रह्म समझता है और ब्रह्म की सिसृक्षा या सृष्टि करने की जो इच्छा है, वही माया है। अहंतावासी जीव ही ब्रह्म है। जब वह गुरुमुख होता है, तो राम भूमिका में वास करने लगता है।[3] श्री विचारदास ने लिखा है कि "रामरहस्य साहेब (पचग्रन्थीकार) ने 'शुद्ध चेतन' (निजपद) का स्मरण 'राम भूमिका', 'आतम राम', 'रमैया', 'रमिता' आदि शब्दों से किया है और विचार (पारख) द्वारा उत्पन्न होनेवाले अपरोक्ष ज्ञान से उससे साक्षात्कार होने का सर्वत्र वर्णन किया है, जो सद्गुरु के वचनों के सर्वथा अनुकूल है। कतिपय टीकाकार अविद्योपाधिक जीवरूप को ही परमार्थ और स्थिरपद (जमापद) बताते हैं। उनका यह सिद्धान्त सद्गुरु के वचनों के अनुकूल नहीं है।"[4] वस्तुतः रामरहस्य साहेब ने पंचग्रन्थी में शुद्ध चेतन जो जीव का रूप है, उसी को जमापद कहा है। वही प्रपंचरहित चेतन जीव 'हंस' स्वरूप है और 'अहं ब्रह्मास्मि' की भ्रान्त कल्पनावाला जीव कालरूप है। काल, निरंजन और ब्रह्म एकार्थक शब्द हैं। काल का ही धर्म उपजावन और विनाशन है। शुद्ध हंसरूप स्थिरपद के साथ इसका बहुत भेद है।[5]

1. जथा अनेकन लहरि ते जल थिरता नहिं पाय।
   थीर जहाँ तहाँ बढ़वा, नीरहिं सोख कराय ॥ 11 ॥
   दुहूँ प्रकार थिरता नहीं, ब्रह्महु जगत् पर्यन्त।
   जीवहि दुःख दुसह अति बाहि ताहि बिलखन्त।—'पंचग्रन्थी', 4 (चतुर्थ प्रश्न का उत्तर)
2. ब्रह्म-सृष्टि या जीवरा, वायस जैसे जहाज।
   थिति नहीं, वार पार नहीं, फिरिफिरि रहै जहाज ॥ 21 ॥—'पंचग्रन्थी', 4 5.
3. जमा एक पद यहु भया कारण हुता पाय।
   हुंता वासी जीयरा, सोई ब्रह्म कहाय ॥ 45 ॥
   गुरु गवधी जीयरा हथि देहि शुभधार।
   वसे भूमिका राम पर, साधुरूप सुधकार ॥ 46 ॥
4 विचार., पृ. 26
5 उपजावन औ नाशन, ये गुण काल अहन्त। दयाल दीन उद्धारण, स्वत. हंस स्वाहन्त ॥
   —पंचग्रन्थी, 4 6

इस समूचे तत्त्ववाद को महात्मा रामरहस्य साहेब ने संक्षेप में इस प्रकार कहा है :

"हे हंस, सन्तों की संगति में ठहरकर अपनी स्थिर भूमिका का विचार करो। नाना भाँति की कल्पित वाणियाँ औघट घाट के समान है, वे 'थितिवाद' यानी स्थिरभूमिका के मार्ग को नही बताती; उनके चक्कर में पड़ना गलती है। तुम जिस-जिस मार्ग मे जाते हो, वही अपने सिर पर एक कल्पित काल राजा (ब्रह्म) की कल्पना कर लेते हो और चौरासी लाख योनियों का धोखा स्वयमेव उपजा लेते हो। इन नाना योनियों में भटकते हुए यदि तुमने कभी होश भी सँभाला, तो 'अहं ब्रह्मास्मि' के चक्कर मे पड़कर स्वय को ब्रह्म मान लिया। परन्तु, इससे तो तुम्हें स्थिरता मिलने से रही। हे जीव, यह ब्रह्म और जगत् दोनों ही धोखा है, दोनों ही तुम्हारे कल्पित है, तुम गुरु के बताये पारखपद से विचार कर देखो कि तुम्हारा वास्तविक स्वरूप क्या है। यह जो ब्रह्म और ईश्वर की मान्यता है, वह वस्तुतः काल कसाई है। गुरु ने पारख द्वारा तुम्हारे स्वतःपद (निजपद) का निर्णय कर दिया है। यही पद आतमराम है।[1] सो कल्पित इच्छा ही ब्रह्म है और ब्रह्म की इच्छा माया है। माया से ही त्रिदेव उत्पन्न हुए हैं और मन की कल्पना में पडकर इन्होंने ही लाख-लाख योनियों की सृष्टि की है। इस प्रकार एक जमा (शुद्ध चैतन्य) अनेकधा प्रकट हुआ है।"[2]

प्रतिबिम्बवादी वेदान्तियों के मत से प्रतिबिम्ब मिथ्या नही होता, बल्कि ग्रीवा के ऊपर स्थित अपने मुख का दर्पण-स्थित भान होना मिथ्या होता है।

1. हंसा ठहर देखु तिथि बाट।
काहे भटको औघट घाट।
जहाँ जहाँ जाहु तहाँ तहाँ दूजा तुही काल उपराजा।
कियो कल्पना जग की आपै चौरासी को साजा।
भये अनेक दुःख बहु पाये पुनि सो ब्रह्म कहावे।
ब्रह्म भये थिति कतहुँ न पाये जग इच्छा रहि जावे।
ब्रह्म जगत् दोउ धोखा जियरा कल्पित तेरो होई।
देखु दृष्टि गुरु बुद्धि परख पद तू है को यह कोई।
आतमराम स्वतःपद पूरण गुरु पारख ठहराई।
कहहि कबीर ठहर पद अपने दूजा मान कमाई॥
—'पंचग्रन्थी', 4 । 6

2. कल्पित इच्छा ब्रह्म कहावा। ब्रह्म की इच्छा माया गावा।
ताते त्रिगुण भये मन भाई। मन माने चौरासी आई।
कल्पित सृष्टि भयो विस्तारा। परे जीव मन ब्रह्म की धारा।
दुखित सुखित तेहि पद अनुरागी। जगे न मोह जनित बुधि भागी॥
सुख माने चौरासी खानी। भुगत कष्ट न परै पहिचानी।
ऐसहि बहुत दिवस गए बीती। एकै जमा अनेकन रीती।
—'पंचग्रन्थी', 4 । 7

यद्यपि प्रतिबिम्बत्व धर्म मिथ्या होता है, तो भी स्वरूप से प्रतिबिम्ब मिथ्या (कल्पित) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस मत के माननेवाले कहते हैं कि प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्ब से अभिन्न है और यदि प्रतिबिम्ब को मिथ्या कहा जायेगा, तो बिम्ब भी मिथ्या हो जायेगा। वस्तुतः वह प्रतीति ही मिथ्या है, जो अपने ग्रीवा पर स्थित बिम्बरूप मुख में प्रतिबिम्बत्व रूप से प्रतीत होती है। अर्थात् मुख रूप बिम्ब में जो प्रतिबिम्बत्व का ज्ञान होता है, वही मिथ्या है, वही भ्रम है। इसी प्रकार अज्ञानरूपी दर्पण मे शुद्ध ब्रह्म का प्रतिबिम्ब-रूप से भान होता है। वही प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है और उस प्रतिबिम्ब-रूप जीव की उपाधि अज्ञान है। जान पड़ता है, कबीरपन्थियों के सिद्धान्त पर इस मत का प्रभाव है।

हंसरूप जीव किस प्रकार शुरू मे भ्रान्त कल्पना का शिकार बनकर अपने को ब्रह्म समझने लगा, इस बात का जितना विस्तार कबीरपन्थी ग्रन्थों में पाया जाता है, उतना इस बात का विस्तार नहीं पाया जाता कि क्यों वह इस भ्रान्ति का शिकार बना। ख़ैर, प्रथमारम्भ में जब हंसदेह की दृष्टि भ्रान्तिवश प्रतिबिम्ब पर पड़ी और वह उसी पर मोहित होकर महा-आनन्दित हो रहा, उसी समय से कल्पना द्वारा वह अपने को अपने वास्तविक स्वरूप से पृथक् समझने लगा। अपने को अपने वास्तविक स्वरूप से पृथक् समझना ही 'सन्धिक' अवस्था है, कल्पना मे भ्रमित बने रहना ही 'काल' अवस्था है और प्रतिबिम्ब के साथ अपनी एकात्मता समझना ही 'झाँई' अवस्था है। ये तीनों ही भ्रान्त अवस्थाएँ हैं। 'काल' वस्तुतः अविद्याग्रस्त जीव की भ्रान्त कल्पना है, 'सन्धिक' माया की और 'झाँई' ब्रह्म की कल्पना की अवस्था है। इन तीनों भ्रान्त दशाओं से एकमात्र गुरु की वाणी ही उद्धार कर सकती है। इन समस्त असार भ्रान्तियों का निवारण उस 'सार' शब्द से ही हो सकता है। उसी से जीव अपने विशुद्ध स्वरूप को पहचान सकता है; नहीं तो यह भ्रान्ति मिटनेवाली नहीं है।[1]

अब, संसार में जितनी भी व्यक्त वाणियाँ (अनबनि बानी) है, वे सब अक्षरों का समवाय रूप ही हैं। ये वाणियाँ चार भागो मे विभक्त हो जाती हैं: काल, सन्धि, झाँई और सार। अविद्याग्रस्त जीव नाना प्रकार की उपासना, पूजा, माहात्म्य, जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि से मुक्त होने की अभिलाषा रखता है। वेदों मे और पुराणों में ये ही विधियाँ बतायी गयी है। ये सब 'काल' अवस्था की सूचक है। अतएव ये सारी वाणियाँ 'काल' कहाती हैं। ये भाले की भाँति लोकचित्त मे धँसी हुई है। इनसे उद्धार पाना बड़ा कठिन है।[2] इससे कुछ सूक्ष्म, किन्तु इतनी ही भ्रान्त

1. पहिले झाँई झाँकते, पैठा सधिक काल।
पुनि झाँई की झाँई रही, बिन गुरु सकै को टाल॥
—अक्षरखण्ड की रमैनी, साखी 3

2. अक्षर वेद पुरान बखान। धर्म कर्म तीरथ अनुमान।
अक्षर पूजा सेवा जाप। और महातम जेते पाप॥
मही कहावत अक्षर काल। जाय गड़ी उर होय के भाल॥—वही

कल्पना वह है, जहाँ जीव 'सोऽहं' आदि का जप करता है और माया-मन्त्रादि के चक्कर में पड़ा रहता है। समस्त तान्त्रिक प्रक्रियाओं, मन्त्रवाद और अतिप्राकृत सिद्धियों को बतानेवाले ग्रन्थ इसी श्रेणी में आते हैं। ये मायामुग्ध हैं और इनको 'सन्धिक' अक्षर कहते हैं।[1] इससे भी सूक्ष्म, परन्तु फिर भी इतनी ही भ्रान्तिपूर्ण कल्पना वह है, जहाँ मनुष्य अपने को उस अद्वैत सत्ता के साथ (जो वस्तुतः कल्पना-द्वारा रचित अपना ही प्रतिबिम्ब या झाँई है) अपने को अभिन्न समझता है, जिसे 'निर्गुण', 'अलख', 'अकह', 'अवाङ्मनसगोचर', 'विधि-निषेध से परे' आदि कहा जाता है। इस ब्रह्ममुग्ध प्रवृत्ति के व्यापक वचन झाँई शब्द हैं।[2] सो, इन तीन प्रकार के अक्षरों के चक्कर में सारा संसार बँधा है। इस अक्षरज्ञान से गुरु ही छुड़ा सकते हैं, गुरुवाणी ही 'सार' वाणी है। 'सार' शब्द निर्णायक वचन को कहते हैं, जिससे जीव सत्य और मिथ्या के स्वरूप को समझ सकता है—'सार शब्द निरुवार को नामा। जाते होय जीव को कामा!' इसीलिए 'बीजक' के 114वें शब्द में बताया गया है कि सार शब्द से ही जीव का उद्धार हो सकता है, क्योंकि काल (यम) ने दसों दिशा रुद्ध कर रखा है। जीव कल्पना [illegible] मिथ्या [illegible] के चक्कर में पड़ गया है, जिसका मूल ब्रह्म है, माया शिखर है और त्रिदेव शाखाएँ हैं और यह संसार पत्र है; जिसमें ब्रह्मा ने वेद, शिव ने योग और विष्णु ने दया (भक्ति) का जाल पसारा है; [illegible] फँसा रहा है। केवल कबीर के सार शब्द ही जीव को इस जाल से बचा सकते हैं।[3]

स्वय कवीरदास की वाणी में चार भेद वताये गये हैं : जीवमुख, मायामुख, ब्रह्ममुख और गुरुमुख। जहाँ कहीं भी सम्प्रदाय-मान्य सिद्धान्तों से कवीर की मूलवाणी का विरोध दिखता है, वहीं उसे या तो 'जीवमुख' कह दिया जाता है या माया-मुख या ब्रह्ममुख। इस प्रकार स्वयं कवीर की वाणियाँ भी अक्षरजाल के फन्दे से मुक्त नहीं हैं। 'बीजक' की अनेक वाणियाँ जीवमुख, मायामुख और ब्रह्ममुख हैं और इसलिए सिद्धान्तकोटि में आने के अयोग्य हैं। भक्तिमूलक वाणियाँ साधारणत जीवमुख कही गयी हैं, क्योंकि उनमें उपासना की प्रवृत्ति है। बताया गया है कि कबीर की भणितियों का भी विशेष तात्पर्य है। 'बीजक' में ये भणितियाँ सात प्रकार से आयी हैं :

1. 'हंस कबीर'—यह मुक्तात्मा का सूचक है;
2. 'कहहिं कबीर'—स्वोक्ति (गुरुवचन) का सूचक है;
3. 'कहैं कबीर' }
4. 'कबीर' } —ये दोनो अन्योक्ति के सूचक हैं अर्थात् इनसे औरों के वचनों का अनुवाद सूचित होता है;
5. 'दास कबीर'—लोकविशेषनिवासी ईश्वर के उपासकों का सूचक है;
6. 'कबीरा' }
7. कबीरन' } —कर्मी, अज्ञानी तथा वंचक गुरुओं के सूचक हैं।

यह लक्ष्य करने की बात है कि ये संकेत बीजक के लिए ही हैं या फिर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की स्थापना करनेवाले ग्रन्थो के लिए हैं। 'पंचग्रन्थी' में और अक्षरखण्ड की रमैनी में रामरहस्य साहेब ने बार-बार 'कहहिं कबीर' की भणिति का प्रयोग किया है। इस प्रकार 'कहहिं कबीर' की भणिति कोई भी अपने सद्गुरु के वचन कहते समय व्यवहार कर सकता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि वह पद स्वयं कबीर साहब के ही रचित हों। ऊपर जिस 114वें शब्द को उद्धृत किया गया है, वह 'बीजक' मे नहीं है और उसके वक्तव्य विषय को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि वह कबीरदास का अपना कहा हुआ नहीं होगा। फिर भी उसमें 'कहहिं कबीर' की भणिति है!

सन्देश-रासक

'सन्देश-रासक' मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मुनिजी ने अनेक दुर्लभ ग्रन्थरत्नों का उद्धार किया है। निस्सन्देह 'सन्देश-रासक' इन दुर्लभ ग्रन्थरत्नों मे श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी है। यह भाषा-काव्य के सर्वप्रथम मुसलमान लेखक अब्दुल रहमान की बहुत ही सुन्दर रचना है जो नाना दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। मुनिजी ने जिन तीन प्रतियो के आधार पर इसका सम्पादन किया है उनमें एक तो मूल रूप मे उपलब्ध 'सन्देश-रासक' की प्रति है, लेकिन शेष दो मे सस्कृत छाया—जैसे 'टिप्पनक' या टीकाएँ है। इनमे साम्य अधिक है, वैपम्य कम। परन्तु जो वैपम्य है वे काफी संकेतपूर्ण है। मुनिजी का अनुमान है कि लक्ष्मीचन्द्र-कृत टिप्पनक-रूपी व्याख्या को ही आधार मानकर किसी दूसरे पाठक ने कुछ हेर-फेर कर 'अवचूरिका' लिख ली होगी। यह अनुमान दोनो टिप्पणियों के मिलाने से ठीक ही जान पड़ता है। लक्ष्मीचन्द्र ने अपने टिप्पनक के अन्त मे लिखा है कि 'मैंने इस ग्रन्थ की कोई वृत्ति या टीका आँख से देखी नही, सुगुरु के पास बैठकर इसका अध्ययन भी नही किया और न इस दुनिया मे ग्रन्थकर्त्ता के मुख से इसे सुनने-समझने का अवसर ही पा सका। लेकिन गाहड़ क्षत्रिय के मुख से जैसी कुछ इस पुस्तक की प्रवृत्ति ज्ञात हुई उसे मुझ मूढमति ने (ज्यो-का-त्यो) लिख दिया। मैंने इसमें यदि कुछ गलत कहा हो, कोई पद या अर्थ अन्यथा लिख दिया हो तो मैं उसका दोपी नही हूँ। मैं इन बातों को नही जानता, गाहड़ ही जानते है':

> वृत्तिर्नास्य दृशा व्यलोकि सुगुरोः पार्श्वे न चाभाणि च
> नो कर्तुं (र्तुः) मुखतस्त्विदं भुवि मया चाश्रावि शास्त्रं क्वचित्।
> किन्तु क्षत्रियगाहडस्य मुखतो या या प्रवृत्तिः श्रुता
> सा सा ह्यत्र मया विमूढ़मतिना वार्ता निबद्धा ननु॥
> यदन्यथा मया प्रोक्तः कश्चिदर्थस्तथा पदम्।
> तदहं नैव जानामि तज्जानात्येव गाहडः॥

दूसरी टीका (*जिसे 'अवचूरिका' कहा गया है*) मे *इस प्रकार की कोई बात* नही कही गयी है। स्पप्ट ही लक्ष्मीचन्द्र ने बड़ी ईमानदारी के साथ अपनी बात कही है, उसमें कदाचित् यह ध्वनि भी है कि लक्ष्मीचन्द्र को स्वयं कही-कही पाठ और अर्थ के अन्यथा होने की आशंका थी और अपने को उत्तरदायित्व से मुक्त करने के लिए उन्होने स्पष्ट कह दिया है कि अगर कही दोप है तो उसकी जिम्मेदारी गाहड़ की है, उनकी नही। अवचूरिकाकार ने अपनी बुद्धि से उसका शोधन कर लिया था, इसलिए उन्हें ऐसा कुछ लिखना आवश्यक नही जान पड़ा। जो हो, ग्रन्थ के पढने से यह स्पप्ट हो जाता है कि कई जगह टीका में अर्थ ठीक नही समझा गया। कुछ स्थलो को विद्वान् पाठको के विचारार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। परन्तु यह कृतज्ञता के साथ प्रारम्भ मे स्वीकार कर लेना चाहिए कि लक्ष्मीचन्द्र की

टीका न होती और उसके आधार पर लिखी गयी अवचूरिका न होती तो इस ग्रन्थ को समझने में बड़ी कठिनाई होती। इसलिए निबन्ध प्रारम्भ करने के पूर्व क्षत्रिय गाहड़, लक्ष्मीचन्द्र और अवचूरिका के अज्ञात लेखक के प्रति श्रद्धापूर्वक प्रणति निवेदन कर देना आवश्यक कर्तव्य है।

इधर जयपुर के दिगम्बर-जैन-भाण्डार की कृपा से हमें 'सन्देश-रासक' की एक और दुर्लभ हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। इसमें भी एक टीका है जो बहुत-कुछ अवचूरिका से मिलती-जुलती है। अन्तर बहुत थोड़े स्थलों पर है। इस प्रति के पाठ और उस पर दी हुई टीका में कहीं-कहीं विचित्र अन्तर है। जान पड़ता है, लेखक ने पाठ किसी और प्रति से लिया है और टीका किसी और प्रति से। इस पुस्तक के आरम्भ का पन्ना नहीं है। आदि के खण्डित होने से और अन्त में कुछ उल्लेख न होने से यह पता नहीं चल सका कि टीका का नाम क्या है और लेखक कौन है। अवचूरिका से साम्य देखकर हमने इसका नाम अवचूरी दे दिया है और इस संस्करण के परिशिष्टरूप में उसे भी प्रकाशित कर दिया है। नीचे हम कुछ महत्त्वपूर्ण पाठों और अर्थों पर विचार कर रहे हैं।

1-1 जेणऽज्ज

दोनों ही टीकाकारों ने 'जेणऽज्ज' में 'अज्ज' का अर्थ शायद 'इत्यादि' समझा था, जो बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। इसको यदि 'आर्याः' (श्रेष्ठजनो) सम्बोधन मानकर अर्थ किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। इसे बुधजन ('बुहयण') का विशेषण माना जा सकता है।

1-19 मणुजणंमि

टिप्पणकार ने 'मणुजणंमि' का अर्थ किया है 'मनसि किमपि ज्ञात्वा', अर्थात् मन में कुछ जानकर। अवचूरिका में इसका अर्थ है : 'मनुष्यलोके'। ज्ञात होता है कि अवचूरिकाकार के सम्मुख 'मणुयजम्मि' पाठ रहा होगा। 'जम्म' या जन्म शब्द का अर्थ उन्होंने 'लोक' कर दिया है। हम 'मणुयजम्मि' पाठ स्वीकार करना ज्यादा उचित समझते हैं। टिप्पणकार के सम्मुख शायद 'बी'[1] प्रति का 'मणु मुणेवि किंचिय पयासियउ' पाठ ही था। ज्ञात होता है, दोनों टीकाकारों में से किसी ने 'मणुयजम्मि' पाठ नहीं देखा था।

1.4-4 'आरद्द', 'अद्दहमाण', 'पच्चाएसि', 'मिच्छदेस'

ग्रन्थकार ने दो छन्दों में इष्टदेवता को अर्थात् करतार को नमस्कार करने के बाद अपना परिचय दिया है, जो महत्त्वपूर्ण है। किन्तु ये दो छन्द आपात्-दृष्टि से

1 प्रतियों के 'ए', 'बी', 'सी' नाम मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'सन्देश-रासक' के अनुसार दिये गये हैं। 'ज' प्रति का आशय जयपुर की प्रति से है।

कुछ शिथिल लगते हैं और टीकाकारों ने जो व्याख्या की है उसे प्रकट करने मे समर्थ नही है। पहला छन्द है -

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स॥

टिप्पनक में इसका अर्थ इस प्रकार है :

'प्रतीच्यां पश्चिमदिशि प्रभूतः पूर्वप्रसिद्धो म्लेच्छनामा देशोऽस्ति। तत्र विषये आरद्दो देशीत्वात् तन्तुवायो मीरसेनाख्यः सम्भूतः उत्पन्नः।'

भाव यह कि पश्चिम दिशा में म्लेच्छ नामक देश है जो पूर्व में बहुत प्रसिद्ध है। वहाँ मीरसेन नामक जुलाहा (आरद्द) उत्पन्न हुआ। यहाँ 'आरद्द' शब्द विल्कुल नया है। मुझे अन्यत्र जुलाहा शब्द के अर्थ में यह शब्द नही मिला। देशीनाममाला मे भी यह नही है। 'आरद्ध' शब्द अवश्य है—**'आरद्धं च पवुड्ढे सयण्ह गेहागएसुं च'** अर्थात् 'आरद्ध' शब्द तीन अर्थों में व्यवहृत होता है - प्रवृद्ध, सतृष्ण और गृह में आया हुआ। केवल लक्ष्मीचन्द्र के 'टिप्पनक' के आधार पर ही 'आरद्द' शब्द 'देशी होने के कारण' (देशीत्वात्) जुलाहा अर्थ में व्यवहृत माना जा सकता है। अवचूरिका में इसका यही अर्थ स्वीकार कर लिया गया है। अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) ने अन्यत्र अपने को 'कोलिय' या 'कोरी' कहा है (1-19), इसलिए वे तन्तुवाय थे, इसमें तो कोई सन्देह नही, पर 'आरद्द' शब्द का यह अर्थ अज्ञातपूर्व अवश्य है। किसी शब्द के अन्य ग्रन्थो में न मिलने मात्र से उसके अर्थ के विषय में शंका उठाना उचित नही है। सम्भव है किसी अधिक जानकार को वह शब्द अन्यत्र मिल भी जाय, परन्तु मुझे दूसरी कठिनाई दिख रही है। 'आरद्दो मीरसेणस्स' का अर्थ 'आरद्दो मीरसेनाख्यः' नही हो सकता। 'मीरसेणस्स' षष्ठ्यन्त पद है, उसकी व्याख्या 'मीरसेनाख्यः' प्रथमान्त पद के रूप में नही होनी चाहिए। प्रो. हरिवल्लभ भायाणीजी (जिन्होने इस ग्रन्थ की अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी है) को भी यह बात खटकी है। उन्होने अपनी प्रस्तावना के 'नोट्स' (पृ. 95) में इंगित किया है कि वाक्य 'आरद्दो' तक समाप्त हो जाता है। 'मीरसेणस्स' का अन्वय अगले छन्द (सं. 4) से होगा जो इस प्रकार है :

तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु।
अद्दहमाण पसिद्धो संनेहयरासयं रइयं॥

भायाणीजी के मत से 'मीरसेणस्स' 'तह' (तस्य) का विशेष्य है। यह व्याख्या कामचलाऊ है। एक तो 'सन्देश-रासक' का लेखक इतना शिथिल वाक्य-विन्यास नही करता, दूसरे टीकाकारों को यह बात सूझी नही। फिर प्रथम छन्द में 'मीरसेणस्स' के स्थान पर इस रासक का समर्थ लेखक आसानी से कुछ ऐसा कर सकता था, जो अर्थ को पूरा भी कर देता और वन्ध को शिथिल भी नही होने देता। यहाँ कुछ-न-कुछ *गूढ अर्थ अवश्य होना* चाहिए।

'सन्देश-रासक' का कवि श्लेष करने के लिए महाप्राण वर्णो के स्थान पर पूर्ववर्त्ती अल्पप्राण वर्ण को रख देने में नही हिचकता। सिद्धासन का 'सिज्जासन'

(शय्यासन और सिद्धासन [सिज्झासण] दोनों अर्थों में), नट्ट-वरह (नाट्य-वहं और नष्टविरह के अर्थ में श्लेष करने के लिए) जैसे प्रयोग बहुत हैं। यहाँ भी क्या कवि आरद्ध (=गृह आगत) और 'आरद्द' (=तन्तुवाय) का श्लेष तो नहीं करना चाहता? कम-से-कम आरद्द का 'गृह आगत' अर्थ करने में 'मीरसेणस्स' की संगति बैठ जाती है। 'आरद्द' शब्द का अर्थ 'तन्तुवाय' न भी होता हो तो यह अर्थ ठीक बैठ जाता है। 'मीरसेन के घर आया हुआ, (विशेषण-विच्छित्ति-वश 'जुलाहा' भी) उसी का पुत्र कुल-कमल प्रसिद्ध अद्दहमाण हुआ।' यह अर्थ ठीक जमता है।

अस्तु। इस छन्द मे भी 'पच्चाएसि' में 'पश्चात्' शब्द के नियमानुसार 'पच्छा' होना चाहिए था; परन्तु कवि ने 'पच्चा' किया है। 'सन्देश-रासक' के विद्वान् सम्पादक ने अनुक्रमणिका में इस दोष से बचने के लिए 'प्रत्यग्देश' शब्द से इसे निष्पन्न किया है। 'सन्देश-रासक' में जहाँ कहीं कवि ने इस प्रकार की स्वतन्त्रता बरती है, वहीं वह श्लेष करना चाहता है, इसी से 'पच्चाएसि' देखकर सन्देह होता है कि यहाँ भी 'प्रत्यादेश' जैसे किसी अन्य शब्द की वह ध्वनि करना चाहता है। परन्तु इसके सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि 'आरद्ध' को 'आरद्द' बनाना सोद्देश्य होना चाहिए।

कवि अब्दुल रहमान विनयी और मानी कवि था। जहाँ कहीं उसने विनय किया है, वहीं प्रच्छन्न भाव से ऐसे अर्थों का विनिवेश किया है जो उसके मानी रूप को व्यक्त कर देते है। साधारणतः श्लिष्ट शब्द की योजना ही उसका कौशल है।

'अद्दहमाण' का अर्थ अब्दुल रहमान किया गया है। दोनो ही टीकाकार इस विषय मे एकमत है। मंगलाचरण को देखकर लगता है कि यह अर्थ ठीक ही है। किन्तु यहाँ भी कवि ने शब्द-गठन मे कुछ स्वतन्त्रता का परिचय दिया है। 'अब्दुल रहमान' मे 'रहमान' मुख्य पद है। इसमे से आरम्भिक अक्षर को छोड़ना उचित नही था। परन्तु जब कवि ने ऐसा किया है तो मानना चाहिए कि उसे कोई और अर्थ अभिप्रेत है। वस्तुतः 'पाइय कव्वेपु गीयविसएसु अद्दहमाण पसिद्धः' अर्थात् प्राकृत काव्य में और गीत-विषय में 'अद्दहमाण'—(रूप से, और नाम से) प्रसिद्ध अर्थ ही अभिप्रेत है। 'अद्दह' शब्द प्राकृत मे दो अर्थो मे प्रसिद्ध है—एक तो खौलने के अर्थ मे (तुल.—हिन्दी 'अदहन'=खौलता हुआ पानी) और दूसरा 'रक्षित' या 'आहित' अर्थ मे (तुल.—अद्दहिय=आहित, विपाक श्रुत 1-6)। 'पाइयसद्दमहण्णव' मे ये अर्थ दिये हुए हैं। इस प्रकार 'अद्दहमाण' शब्द का अर्थ 'आहितयशाः' होगा अर्थात् जिसका मान या यश प्राकृत काव्यो मे और गीत-विषयो मे सुरक्षित है। इस प्रकार यहाँ निपुण कवि ने विशेषण-विच्छित्ति के कौशल से यह इंगित किया है कि वह यथार्थनामा है और उसका यश या मान प्राकृत काव्यों और गीत-विषयों मे सदा के लिए सुरक्षित रहनेवाला है; या फिर इसका अर्थ होगा 'ज्वलन्त मानवाला'। दोनो ही अर्थो मे विशेषण-विच्छित्तिवश कवि अपने को गर्वपूर्वक

यथार्थनामा कहना चाहता है।

इस प्रकार यदि 'आरद्द' 'अद्दहमाण' के सम्बन्ध में इस प्रकार के इंगित का अनुमान ठीक हो तो 'पच्चाएसि' और 'मिच्छदेस' भी साभिप्राय होने चाहिए। पहले ही बताया गया है कि 'पच्चाएसि' (सप्तमी और तृतीया) में पश्चिम देश के साथ 'प्रत्यादेश' (=निराकरण) अर्थ अभिप्रेत हो सकता है। इसी प्रकार 'मिच्छदेस' से भी दो अर्थ अभिप्रेत जान पड़ते हैं--म्लेच्छ देश और मिथ्या देशना (गलत धर्म या मिथ्या धार्मिक विश्वास)।

ऐसा जान पड़ता है कि मीरसेन ने ही पूर्वधर्म का परित्याग करके मुसलमानी धर्म को स्वीकार किया था। मानी कवि ने अपने पिता को म्लेच्छ देश का निवासी कहने के साथ ही यह इंगित करना चाहा है कि उसके पिता ने जो मिथ्या देशना (धर्म) का प्रत्यादेश या त्याग किया, उसी के पुण्यप्रताप से (पच्चाएसि = प्रत्यादेशेन) यह कुलकमल कवि उसके घर में उत्पन्न हुआ। यह 'मिच्छदेस' या मिथ्या देशना पूर्व के प्रदेशों में बहुत अधिक (प्रभूत) मात्रा में विद्यमान था। मीरसेन धर्मान्तरित होने के बाद पूर्वदेश में आ गये थे, वहीं अब्दुल रहमान का जन्म हुआ (तह विसए संभूओ)।

अब्दुल रहमान में भारतीय साहित्य के संस्कार पूरी मात्रा में विद्यमान थे। रिज़ली ने बहुत पहले बताया था कि जुलाहे पंजाब से ढाका तक एक धनुपाकृति भूखण्ड में बसे हुए हैं और जान पड़ता है कि किसी समय वे सामूहिक रूप में मुसलमान हुए थे। मैंने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक (पृ. 19-21) में विस्तारपूर्वक दिखाया है कि किन कारणों से ये जुलाहे धीरे-धीरे मुसलमान हुए और पीढ़ियों तक उनमें हिन्दू संस्कार बने रहे। कबीर आदि इसी प्रकार के सद्योधर्मान्तरित जाति में उत्पन्न हुए थे। 'सन्देश-रासक' के ये दो छन्द मेरे अनुमान को पूर्णतः पुष्ट करते हैं। इस प्रकार समासोक्तिच्छल से 'सन्देश-रासक' के कुशल कवि ने एक दूसरा ही अर्थ ध्वनित किया है जो बिल्कुल साफ है। यह दूसरा अर्थ इस प्रकार होगा—पूर्व देश में जो मिथ्या धर्म-विश्वास व्यापक रूप से फैला हुआ है, (उसके) प्रत्याख्यान (के पुण्य) से मीरसेन के घर में उसी मिथ्या धर्म के देश में एक 'आरद्द' (1. घर आया हुआ पुत्र, 2. जुलाहा) उत्पन्न हुआ, जो उसके कुल का कमल सिद्ध हुआ। (कमल जिस प्रकार कीचड़ में उत्पन्न होता है उसी प्रकार छोटी जाति में यह कवि उत्पन्न हुआ), जिसका मान प्राकृत काव्य में और गीतविषयों में सदा सुरक्षित रहेगा और इसलिए उसका 'अद्दहमाण' नाम पूर्णतः उचित है।

ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करने के बाद मीरसेन जीविका के लिए या किसी अन्य कारण से पूर्व की ओर बढ़ आये थे। वहीं अब्दुल रहमान का जन्म हुआ। 'तह विसए संभूओ' में यही ध्वनि है।

1-14 'वाड'

'वाडि विलग्गा' =बाड़े पर लगी हुई (तुम्बिनी लता)। यहाँ दोनों ही व्याख्याओं में 'वृत्ति-विलग्ना' लिखा हुआ है जो वस्तुतः 'वृति विलग्ना' होना चाहिए। संस्कृत में 'वृति' बाड़े को कहते है, जो काँटेदार झाड़ों से फुलवारी आदि की रक्षा के लिए लगायी जाती है। 'मेघदूत' के यक्ष का माधवी-मण्डप इसी प्रकार के कुरवक की 'वृति' से आवेष्टित था (कुरवकवृतेर्माधवीमण्डपस्य), सम्भवतः लेखनदोष से 'वृत्ति' लिख गया है। संस्कृत का 'वाट' (घिरा हुआ स्थान) इसी शब्द से बना हुआ बताया जाता है। (तुल.—वेश-वाट, श्मशान-वाट, गणिका-वाट)। किन्तु 'वाट' शब्द स्वयं प्राकृत का जान पड़ता है और इसे वृति से स्वार्थक अण् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'वार्त' जैसे वलुप्तान्तर शब्द से निष्पन्न माना जा सकता है।

1-15 गहिल्ली, नवरंगचंगिमा

जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंगचंगिमा तरुणी।
ता किं गामगहिल्ली ताली सद्दे ण णच्चेइ॥

अर्थात् यदि भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट भावों और छन्दों के अनुसार नवरंग-चंगिमा (नूतनवर्णप्रधाना ?) तरुणी नाचती है तो क्या गामगहिल्ली ताली बजाकर न नाचे ? कवि ने विनयवश अपनी कविता के औचित्य को बताने के लिए ऐसे कई छन्द लिखे है। उन दिनों रासक-काव्यों में इस प्रकार विनय और कवित्वविषयक औचित्य दिखाने की प्रथा थी। समसामयिक कवि चन्दबरदाई ने भी इस प्रकार के अनेक छन्द 'पृथ्वीराज-रासो' में लिखे हैं। एकाध तो 'सन्देश-रासक' के छन्दों से बहुत मिलते-से हैं। चन्द की इसी भाव की गाथा इस प्रकार है :

सत्त खनं आवासं महिलानं मद्द सद्द नूपुरया।
सतफल बज्जुन पयसा पब्बरियं नैव चालंति॥

अर्थात् सतखण्डे महलों मे मद-विह्वल नूपुर-ध्वनि के साथ यदि अभिजात तरुणियाँ नाचती है तो क्या पर्वतवासिनी स्त्रियाँ पैरों से घुँघची बजाकर भी न चलें ?

यहाँ विचारणीय शब्द है 'गहिल्ली' और 'नवरंग-चंगिमा'। टिप्पनक में 'गाम-गहिल्ली' का अर्थ दिया है, 'ग्रामवधू' और अवचूरिका में है 'ग्राम-ग्रथिला'। 'ग्रथिला' वस्तुतः 'गहिल्ली' (हि. 'गहेलरी', तुल.—'रहु-रहु मुगुध गहेलरी पेम न लाजूं मारि'—कबीर) प्राकृत 'गहिल', सं. ग्रहिल (?) (ग्रह-गृहीत) का स्त्री-लिंग रूप है और इसका अर्थ होता है पागल। 'पाइयसद्दमहण्णव' में बताया गया है कि श्राद्धप्रतिक्रमण-सूत्रवृत्ति में यह इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। यहाँ इस शब्द का प्रयोग मुग्ध जन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कबीरदास के 'मुगुध गहेलरी' में भी यही भाव है।

'नवरंग-चंगिमा' का अर्थ 'नूतनवर्णप्रधाना नायिका' दिया है। अवचूरिका में

कोई अर्थ नही दिया गया। 'देशीनाममाला' में 'चंग' शब्द का अर्थ चारु या सुन्दर दिया हुआ है (दे. 3-1), 'ढोलामारूरा दूहा' में चंगी शब्द का प्रयोग सुन्दरी अर्थ में पाया जाता है :

ऊनर आज स वज्जियउ सीय पड़ेसी पूर।
दहसी गात निरंधणा धण चंगी घर दूर॥ 288॥

विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में चंगिम और चारु, दोनों शब्दों का साथ-साथ प्रयोग किया है, अर्थ वहाँ भी सुन्दर या चोखा जान पड़ता है :

हय लग्गिय चंगिम चारु कला
तरवारि तमक्किय बिज्जु झला। (4-230 पंक्ति)

रंग शब्द का प्रयोग प्रेम, नाट्यशाला, नृत्य आदि अनेक अर्थों में होता है। यहाँ प्रेम या राग अर्थ अपेक्षित जान पड़ता है। इस प्रकार 'नवरंग-चंगिमा' का अर्थ हुआ, 'नवीन अनुराग से मनोहर वनी हुई'।

10 17-18 चउमुहेण, तिहुयणि

प्रथम प्रक्रम का सत्रहवाँ छन्द इस प्रकार है :

जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा।
जइ चउमुहेण भणियं ता सेसा मा भणिज्जंतु॥

अर्थात् जिसके पास जितनी काव्यशक्ति हो, उतनी नि.संकोच होकर प्रकट करनी चाहिए। यदि चउमुह ने कविता लिखी तो बाकी कवि क्या कुछ कहे ही नहीं ?

यहाँ 'चउमुह' शब्द का अर्थ दोनो टीकाकारो ने चतुर्मुख अर्थात् ब्रह्मा बताया है और चतुर्मुख-भणित काव्य चारों वेदों को बताया है। ऐसा लगता है कि कवि ने यहाँ अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि चउम्मुह या चउमुह की ओर संकेत किया है। स्वयम्भू ने चउम्मुह को छड्डणी द्विपदी और ध्रुव से जटित पद्धड़िया बन्ध का दाता कहा है :

छड्डणि दुवइ ध्रुवएंहि जडिय
चउमुहेण सम्मप्पिय पद्धडिय।
—रिट्ठिनेमिचरिउ ('पउमचरिउ' की प्रस्तावना, पृ. 125)

यहाँ अपभ्रंश के इस प्रसिद्ध कवि की ओर ध्यान गये बिना नही रहता।

चउमुह की चर्चा करने के बाद तुरन्त ही तिहुयण का भी नाम कौशलपूर्वक ले लिया गया है :

णत्थि तिहुयणि जं च णहु दिट्ठ
तुम्हेहिँ वि जं न सुउ, वियडवंधु सुच्छंधु सरसउ।
णिसुणेविणु को रहइ ललियहीणु मुक्खाह फरसउ॥

तिहुयणि = त्रिभुवने। टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'हे कवियो, त्रिभुवन में ऐसा कुछ नही जो तुमने न जाना हो और न सुना हो। फिर

तुम्हारे विकट-बन्ध, सुन्दर छन्दों से बने सरस काव्यों को सुनकर मेरे-जैसे मूर्खों के नीरस लालित्यहीन प्राकृत काव्य को कौन सुनेगा ? परन्तु इस छन्द को सुनकर त्रिभुवन का और स्वयम्भू के 'विकट बन्ध-सुछन्द-सरसता' के लिए प्रसिद्ध काव्य का स्मरण नहीं हो आता।[1] विकटबन्ध आदि के पूर्व 'युष्माकं' या 'युष्मत्कृतं' तो टीकाकारों का जबरदस्ती जोड़ा हुआ शब्द है। मूलपक्ष में त्रिभुवन में प्राप्त विकट बन्ध, सुछन्द और सरस काव्य का ही उल्लेख है।

एक बात और। 'चउमुह' के साथ ही 'सेसा' का आना भी अर्थपूर्ण है। ऐसा जान पड़ता है कि स्वयम्भू का एक कीर्तिनाम 'शेष' पड़ गया था। या तो इसका कारण उनके सभी ग्रन्थों का 'शेष' रह जाना और उनके पुत्र त्रिभुवन द्वारा पूरा किया जाना हो, या जैसाकि त्रिभुवन ने स्वयं इंगित किया है, 'विजय सेसिय' विरुद के कारण हो। 'पउमचरिउ' की 83वीं सन्धि की पुष्पिका में यह श्लोक है :

कइरायस्स बिजयसेसियस्स वित्थारिओ जसो भुवणे।
तिहुयण-सयंभुणा पोमचरिय सेसेण णिस्सेसो॥

इसमें 'विजय-सेसिय' विरुद तो है ही, 'सेस' शब्द का इतना प्रयोग है कि यह अनुमान पुष्ट होता है कि लोक में स्वयम्भू 'सेस' नाम से परिचित थे। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ 'सेस' नाम में कवि इस तथ्य की ओर इंगित करना चाहता है कि 'चउमुह' ने कविता की तो क्या 'सेस' न करें ! यहाँ 'सेस' का अर्थ 'बाकी' है और इंगित से यह भी कहा गया है कि 'शेष' (=स्वयम्भू) कोई मामूली कवि नहीं थे।

फिर एक बात और कही जा सकती है। 'सन्देश-रासक' का लेखक कहता है कि 'त्रिभुवन में ऐसा कुछ नहीं है जो तुमने न देखा हो' और फिर आगे कहता है 'तुमने न सुना हो' ऐसा 'विकट बन्ध-सुछन्द सरस' (काव्य)। मेरा अनुमान है कि विकट-बन्ध आदि विशेषण स्वयम्भू के काव्य के लिए ही व्यवहृत हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि त्रिभुवन, अब्दुल रहमान के थोड़े ही पूर्ववर्ती थे या समसामयिक थे, और स्वयम्भू अधिक पूर्ववर्ती। इसीलिए उन्होंने त्रिभुवन के लिए तो 'दिट्ठ' (=देखा है) का प्रयोग किया है और स्वयम्भू के काव्य के लिए 'सुअ' (=सुना हुआ) कहा है। ये बातें बहुत क्षीण प्रमाण पर आधारित हैं, पर मेरा विश्वास है कि ज्यादा छान-बीन करने पर इस बात पर ज्यादा विश्वासयोग्य सामग्री प्राप्त होगी और अब्दुल रहमान के काल-निर्णय की कुंजी हाथ लगेगी। यदि त्रिभुवन का समय दसवीं शती का उत्तरार्द्ध हो, तो अब्दुल रहमान का समय ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। वर्तमान प्रसंग में इससे अधिक कहना सम्भव नहीं है।

1. 'पउमचरिउ' के ऽ(?)नामक हस्तलेख में स्वयम्भू के सम्बन्ध में एक छन्द है। 'विकट बन्ध-सुछन्द' आदि शब्दों से उसी का उल्लेख जान पड़ता है।
'सुच्छन्दवियड्डबन्धो छन्दोऽलंकारणहदुप्पिच्छो।
वाभरणकेसराड्ढो सयम्भु पञ्चाणणो जयउ।'
स्वयम्भू का यह छन्द भी स्मरणीय है—
'दोहरसमासणालो सद्ददलं अत्थकेसराधवियं।
बुधमहुयरपीयरसो सयमुवम्भुपल जयउ॥' (प. च., 1।2)

1-18 पत्तेहिं, आसासिज्जइ, सइवत्ती, छेयरिहिं।

ऊपर 18वें पद्य के तीन चरण दिये है। यह रड्डा छन्द मे लिखा गया है। शेष दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

तो दुग्गच्चिय छेयरिहिं पत्तेहि अलहंतेहिं।
आसासिज्जइ कह कह वि सइवत्ती-रसिएहिं॥

दोनो टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार समझा है—'फिर भी दारिद्र्यप्राप्त छेक (सहृदय) लोग जिस प्रकार पर्वतादि प्रदेश मे बहुमूल्य होने के कारण पान नही पा सकते, किसी-किसी प्रकार शतपत्रिका का आस्वादन कर लेते हैं, उसी प्रकार कुछ लोग मेरा काव्य भी पढ लेंगे।'

यहाँ विचार्य यह है कि 'आसासिज्जइ' का अर्थ 'आस्वादन' कैसे होगा। 'आश्वस्यते' हो सकता है। वस्तुतः पूरे ग्रन्थ में कई स्थानो पर 'आसासि' का प्रयोग आश्वस्त होने के अर्थ मे ही हुआ है (तुल.—पहिउ भणइ थिरु होहि धीरु आससि खणु, 2-98, इत्यादि)।

मुझे लगता है कि पूरे पद्य का अर्थ दूसरे ढंग से करना होगा। टीकाकारों का अर्थ कुछ जँचता नही। कितना भी दरिद्र सहृदय हो, पान के बदले शतपत्रिका चबाने लगेगा, यह बात जमती नही। फिर 'आसासिज्जइ' शब्द भी इस अर्थ को स्वीकार करने नही देता। मेरा सुझाव यह है :

'दुग्गच्चिय' के स्थान पर 'ए' प्रति का 'दोगच्चिय' पाठ अधिक उचित है। दुर्गति शब्द से सिद्ध करने पर 'च्च' की संगति नही बैठेगी, परन्तु 'दौर्गत्य' से 'दोगच्च' आसानी से सध जायेगा। वस्तुतः प्राकृत में 'दोगच्च' शब्द का प्रयोग दरिद्रता और निर्धनता के अर्थ में हुआ भी है। (मिलाइए– सुपासनाह-चरिय, 230, 'पाइयसद्दमहण्णव' मे उद्धृत), 'छेअर' भी प्राकृत के 'छेआरिय' (=छेकाचार्य=शिल्पाचार्य) का घिसा रूप जान पडता है। 'पत्त' शब्द को 'पत्र' का रूप मानने से ही यह गड़बडी हुई है। पत्र का अर्थ पत्ता तो होता है, पर पान के रूढ अर्थ में 'पर्ण' शब्द के प्राकृत रूप 'पण्ण' या 'पान' का ही व्यवहार होता है। सम्भवतः 'पत्र' शब्द से 'पान' का अर्थ ठीक-ठीक निकलता न देखकर ही 'ए' प्रति के लेखक ने 'पन्निहि' पाठ बदल दिया है जो सम्भवतः गलती से लेखक ने 'पुन्निहि' लिख दिया है। पाद-टिप्पणी में 'पुन्निहिं' छपा है। 'पत्त' शब्द ही कवि का अभिप्रेत है। किन्तु 'पत्र' से बना हुआ नही, 'पात्र' से बना हुआ। 'पत्त' का सस्कृत रूप 'पात्र' कष्ट-कल्पित नहीं है, प्राकृत ग्रन्थों मे उपलब्ध है। 'सइवत्ती' शब्द भी संस्कृत 'शतपत्रिका' (=कमलिनी) का रूप है। इस प्रकार इस छन्द का भावार्थ निम्नांकित होगा :

"तो भी 'दारिद्र्य-ग्रस्त' सहृदय जन (जिस प्रकार) पात्र न मिलने से शतपत्री (=कमलिनी) पत्रों के रसिक होकर भी आश्वस्त हो लेते हैं, उसी प्रकार मेरे इस मामूली काव्य को भी कभी-कभी सहृदय लोग पढ लिया करेंगे (इसी आशा

से मैं काव्य लिख रहा हूँ)।" इसमें अपने काव्य को जड़ धातु-पात्र की अपेक्षा कोमल और जीवन्त कमल-पत्र कहकर कवि ने कौशल से उसकी सप्राणता और कोमलता की ओर इंगित भी किया है। विनय के आवरण में इस प्रकार मान प्रकट करनेवाले कवि कम मिलेंगे।

1-22 मयणमणह

दोनों टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है 'मदनमनस्काना'; किन्तु 'सी' प्रति में पाठ मिलता है 'मयणमहप्पहदीवयरी', इसका अर्थ होगा 'मदन के माहात्म्य को प्रकाशित करनेवाला'। ध्यान देने की बात है कि 'कामियमणहर' अर्थात् 'कामियों के लिए मनोहर' पहले ही कह दिया गया है, अतएव फिर से 'मदनमनस्काना' एक प्रकार से पुनरावृत्ति होगी। इस दृष्टि से 'मयणमहप्पहदीवयरी' अधिक उचित होगा।

2-24 पहु णिहइ, पउहर (पयहर?) दीहर (दयहर?)

द्वितीय प्रक्रम के प्रारम्भ में काव्य की नायिका का वर्णन इस प्रकार शुरू होता है:

विजयनयरहु कावि वररमणि।
उत्तंगथिरथोरथणि, विरुडलक्क धयरठ्ठपउहर।

टीकाकारों का कहना है कि विजयनगर (विक्रमपुर) की कोई वर-रमणी थी जो उत्तंग-स्थिर-स्थूल-स्तना, भ्रमरी (वरें, भिड़) के मध्यभाग के समान कटिवाली और धृतराष्ट्र या हंस के समान गति (पदघरा) वाली थी। विरहिणी होने के कारण उसका मुखमण्डल दीन हो गया था, (नयनों से) दीर्घतर जलप्रवाह बह रहा था और प्रभु (पति) जो परदेश गया हुआ था उसे देख रही थी। [परदेशगतं प्रभुं पश्यति—अवचूरिका, परदेशगतं पतिं पश्यति—टिप्पनक]। 'पहु'=प्रभु ठीक है, 'निहइ' का अर्थ देखती है कदाचित् ठीक ही है, पर अर्थ कुछ जमा नहीं। परदेशगत पति को विरहिणी देखती है, यह अर्थ कुछ कमजोर है। मुझे लगता है कि यहाँ पहु (=प्रभु) नहीं, पहु (=पथ) होना चाहिए। 'निअ' का अर्थ जोहना, देखना, प्राकृत में मिलता है (हेम. 4-181)। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के एक दोहे में 'मग्गु निअन्त' (=मार्ग देखती हुई, बाट जोहती हुई) प्रयोग दिखाया है:

पहिया दिट्ठी गोरड़ी, दिट्ठी मग्गु निअन्त।
अंसूसासेहिं कंचुआ, तितुब्बाण करन्त॥

["पथिक, गोरी दिखी?" "दिखी; मार्ग जोहती हुई और कंचुको को आँसू से भिगोकर उच्छ्वासों से सुखाती हुई।"]

'निअ' का अकार ही महाप्राण में बदलकर 'ह' हो गया है। अपभ्रंश में ऐसा प्रायः हो जाता है। 'मग्गु निअन्त', 'पहु निहइ' एक ही मुहावरे के दो रूप हैं। इसलिए यहाँ अर्थ करना चाहिए, 'पथ निहारती हुई खड़ी थी, बाट जोह रही थी',

इत्यादि।

एक बात और खटकती है। 'सन्देश-रासक' का निपुण कवि 'पउहर' का तुक 'दीहर' से नही मिला सकता। यहाँ कुछ पाठ की गडबड़ी होनी चाहिए। उपलब्ध प्रतियों से इस सम्बन्ध में कोई सहायता नही मिलती। प्रथम तो 'पदधरा' के लिए 'पउहर' शब्द व्याकरण-सम्मत नही है; 'पयहर' होना चाहिए। 'पद' का 'पअ' और उसका प्रथमान्त या द्वितीयान्त रूप 'पउ' बन जायगा, पर वह समास मे नही आयेगा (समास में तो पूर्वपद प्रातिपदिक रूप मे ही आना चाहिए)। इसलिए 'पयहर' पाठ होना चाहिए। सम्पादक ने पाद-टिप्पणी में इस पाठ का समर्थक कोई पाठान्तर नही दिया, यह केवल व्याकरण-सम्मत रूप है और उचित है। 'पयहर' यदि पाठ हो, तो नीचे की पंक्ति मे 'दयहर' सुकवि-जनोचित तुक होगा। मुझे लगता है कि टीकाकारो ने अर्थ न समझने के कारण 'दीहर' बना दिया है। परन्तु यदि पाठ-निर्णय मे केवल पोथियों के अक्षरों को ही प्रमाण न मानकर साहित्यिक चारुता को भी प्रमाण माना जाय, तो 'दयहर' ही उचित पाठ होगा। 'पयहर' व्याकरणसम्मत होने से उचित है, 'दयहर' काव्य-शास्त्र-सम्मत होने से। 'दीहर' का तुक मद्धिम है और अर्थ मे भी कोई चारुता नही आती। लक्ष्मीचन्द्र ने 'दीर्घभर' अर्थ किया है जिससे अनुमान होता है कि मूल शब्द चार अक्षरों का रहा होगा। 'दय' शब्द के दो अर्थ हेमचन्द्र ने देशीनाममाला मे दिये है (5-33)—एक, पानी (अम्बु), दूसरा, शोक। दयहर का अर्थ होगा दयधर (दु.ख-व्यंजक), शोक को धारण करनेवाला। यह जलप्रवाह का विशेषण है। इस प्रकार अर्थ की संगति बैठेगी और काव्य में भी चारुता आयेगी।

'दय' शब्द 'सन्देश-रासक' मे 'दया' के अर्थ में भी आया है (तुल.—पहिय जइ दय करहि, 68), इसलिए 'दयहर' का अर्थ दयनीय भी हो सकता है। दयहर —दया का आहरण करनेवाला=दयनीय।

2-25 छिहंतु, छिवंतु, अद्धुड्डीणउ

इस प्रकार विलाप करती हुई उस मुग्धा ने रास्ते पर जाते हुए एक पथिक को देखा जो पृथ्वी 'चलणो' से छिहता या 'छिवता' जा रहा था, अद्धड्डीण था :

इम मुद्धह विलवंतियह, महि चलणेहि छिहंतु।
अद्धुड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु॥

टीकाकारों ने 'चलणेहि छिहंतु' ('सी' प्रति के आधार पर, 'छिवंतु') का अर्थ किया है 'चलणाभ्यां क्रामन्'। 'चलणाभ्यां' मे द्विवचन देखकर स्पष्ट ही उन्होंने 'चलण' का अर्थ चरण किया है। चरण के अर्थ में 'चलण' शब्द का प्रयोग प्राकृत में भी हुआ है। (सेतुबन्ध, 6-3)। किन्तु 'क्रामन्' अर्थ चिन्त्य है। हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' (4-182) मे छिह् और छिव् दोनों धातुओ को स्पर्शार्थक (छूने के अर्थ मे प्रयुक्त) बताया गया है। वस्तुत: 'छिव्' से ही हिन्दी का 'छू' धातु निष्पन्न है। इसलिए दोनों पाठों का अर्थ एक ही होगा—'पृथ्वी को चरणों से छूता हुआ'।

भाव यहाँ यह है कि पथिक इतनी तेजी से जा रहा था कि धरती को पैरों से छू-छूकर निकल जाता हुआ दिखायी दे रहा था। 'अद्धुड्डीणउ' में भी इसी तेज गति को बताया गया है—आधा उड़ा हुआ-सा। टिप्पणकार ने अर्थ बताया है अर्द्धोद्विग्न (=आधा उद्विग्न) और अवचूरिकाकार ने 'अध्वोद्विग्न' (=रास्ता चलने से उद्विग्न या थका हुआ-सा), किन्तु दोनों ही अर्थ प्रसंग के अनुकूल नहीं हैं। 'सन्देश-रासक' में उद्विग्न अर्थ में कई जगह 'उब्बिन्न' शब्द आया है, यथा—

झिज्जन्ती णिरु दीसहि उब्बिन्नियनयण। 68

पढिय इह गाह मियनयणि उब्बिन्निया। 85 इत्यादि।

कोई कारण नहीं कि यहाँ उद्विग्न का 'उड्डीण' हो जाय। वस्तुतः इस प्रकार रूपान्तर न तो व्याकरणसम्मत है, न भाषाशास्त्र द्वारा अनुमोदित। इसलिए यहाँ अर्थ 'तेज जाता हुआ' (आधा उड़ा-उड़ा-सा) ही होना चाहिए, 'पवहन्तु' में भी इसी तेजी की ओर इंगित है। नायिका जब उसे कातर-भाव से पुकारती हुई कहती है कि 'ठाहि-ठाहि निमिसद्धु' (क्षण-भर के लिए ठहर जाओ), तो वहाँ भी तेज चलने की ओर ही इंगित है।

2-28 संझसिय

पडिउट्ठिय सविलक्ख सलज्जिर संझसिय।

नायिका स्खलित होकर गिर गयी, फिर उठी, सविलक्षा, सलज्जिरा, संझसिता! टिप्पणकार ने 'संझसिय' का अर्थ किया है, 'सम्भ्रमिता' और अवचूरिकाकार ने 'संझसिता'। 'देशीनाममाला' (3-61) में 'झसिय' के दो अर्थ बताये गये हैं: पर्यस्त और आक्रुष्ट। पर्यस्त का अर्थ है उत्क्षिप्त और आक्रुष्ट का अर्थ है जिस पर आक्रोश किया गया हो, झुँझलाया गया हो। यहाँ प्रथम अर्थ अपेक्षित जान पड़ता है।

2-31 पहियणिहिँ (पहियणिहि ?)

कुसुमसराउहु रूवणिहि विहिँ णिम्मविय गरिट्ठ।

तं पिक्खेविणु पहियणिहिँ गाहा भणिया अट्ठ॥

अर्थात् कुसुमशरायुध-रूपा, गरिष्ठा रूपनिधि इस नायिका को विधि ने बनाया है। उसे देखकर पथिक ने आठ गाथाएँ पढ़ीं (पथिकेन अष्टौ गाथा भणिताः)। दोनों टीकाओं का यही भाव है, मगर 'पहिय' के साथ जो 'णिहिँ' है, वह छूट जाता है। 'बी' प्रति के लेखक ने 'णिहिँ' के स्थान पर 'जणि' बना लिया है। सम्भवतः इस 'निरर्थक' शब्द से उन्हें सार्थक 'जणि' शब्द का उपयोग अच्छा जान पड़ा। परन्तु पाठ 'णिहिँ' ही है। 'णिह' प्राकृत और अपभ्रंश में 'रागयुक्त' या 'स्नेही' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'आचारांग-सूत्र' में इसका ऐसे अर्थ में प्रयोग हुआ है (पा. स. म.)। आगे की आठ गाथाओं और प्रक्षिप्त माने गये दोहों को पढ़कर स्पष्ट लगता है कि पथिक उस सुन्दरी को देखकर रागाविष्ट हो गया था। पहियणि=रागाविष्ट

पथिक द्वारा। यहाँ 'हि' मे अनुस्वार नहीं होता तो भी तृतीया के रूप में कोई अन्तर नहीं आता, और प्रथम दोहे के पाद मे 'रूवणिहि' के साथ तृतीय पाद के 'पहियणिहि' का तुक मिल जाता तो अधिक चमत्कारजनक होता। 'गरट्ठ' पाठ भी काव्यदृष्टि से अधिक संगत होता।

2-30 अइकुडिलमाइ, पिहुणा

नायिका की सुन्दर अलकों के बारे कवि का कहना है :

अइकुडिलमाइ पिहुणा विविहतरंगिणिसु सलिलकल्लोला।
किसणत्तणंमि अलया अलिउलमालव्व रेहंति ॥ 32 ॥

टीकाकारों के अर्थ का भाव यह है—अति कुटिल मात्रा के कारण प्रधान (अतिकुटिलमात्रया प्रधाना.), तरंगिणियों के सलिल-कल्लोल के समान वक्र, कालिमा में अलिकुल-माला के समान अलक शोभित हो रहे है।

यहाँ 'माइ' का अर्थ 'मात्रया' किया गया है और 'पिहुणा' का प्रधान। 'माइ' शब्द प्राकृत में 'मात्रा' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। किन्तु 'देशीनाममाला' (6-128) में एक 'माइ' शब्द आया है जिसका 'रोमश' अर्थ दिया हुआ है। यहाँ मात्रा अर्थ ही ठीक जान पड़ता है। इस 'माइ' शब्द का 'मात्रा' शब्द मे रूपान्तर कुछ भ्रामक है। वस्तुतः यह भाववाचक प्रत्यय के रूप में व्यवहृत होता है। 'अइकुडिलमाइ' का संस्कृत-रूपान्तर होगा—'अतिकुटिलत्वे'। इसी प्रकार 33वें छन्द में 'अकलंकमाइ वयणं वासरणाहस्स पडिबिम्बं' की छाया होगी—अकलंकत्वे वदनं **वासरनाथस्य प्रतिबिम्बम्।**

तैंतीसवें पद्य मे भी 'माइ' शब्द 'मात्रा' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। 'पिहुण' या 'पेहुण' का अर्थ होता है 'मयूरपिच्छ' ('देशीनाममाला', 6-58), 'प्रधान' नहीं (पा. स. म.)। 'पिहुण' शब्द देखकर 'प्रधान' की याद भी नही आ सकती। कदाचित् 'प्रधान' अर्थ समझनेवाले टीकाकारों के सामने 'पिहण' पाठ रहा हो और उसी से उन्होंने 'प्रधान' शब्द का अनुमान कर लिया हो। 'पिहण' पाठ बहुत बुरा न होता। लेकिन फिलहाल उसे छोड़कर जो पाठ मिलता है, उसी पर विचार किया जाय। 'विविह-तरंगिणिसु सलिलकल्लोला' का अर्थ होगा, विविध तरंगिणियो में सलिल-कल्लोल (की भाँति); परन्तु यह अर्थ कुछ स्पष्ट नही है। 'ए' प्रति में 'विविहतरंगंसु' पाठ है जिसका अर्थ है 'विविध तरंगों में'। यह कुछ उत्तम लगता है। 'ए' प्रति में जो 'तरंगंसु' पाठ है, वह वस्तुतः 'तरंगेसु' या 'तरंगेसुं' रहा होगा। नीचेवाली पंक्ति, ऊपरवाली पंक्ति का अर्थ-निर्णय करने में सहायक है। 'कृष्णत्व में अलिकुल-माला के समान अलक सुशोभित हो रहे है।' यहाँ 'के समान सुशोभित हो रहे हैं' का अन्वय ऊपर के उपमानों के साथ भी है। 'कृष्णत्व' सामान्य धर्म है और 'अलिकुल-माला' उपमानपद है। 'अलक' उपमेय है। स्पष्ट है कि कवि सप्तमी विभक्ति में सामान्य धर्म कहता है और प्रथमा बहुवचन में उपमान पद बताता है। नीचे ऐसा ही है। ऊपर भी ऐसा ही होना चाहिए। अब इस छन्द में

यदि तीन उपमान और तीन सामान्य धर्म हों तो इस प्रकार होंगे :

सामान्य धर्म	उपमान
1. अइकुडिलमाइ	पिहुणा
2. विविहतरंगिणिसु (विविहतरंगसु)	सलिल-कल्लोला
3. किसणत्तणम्मि	अलिउलमाला

अब अर्थ इस प्रकार स्पष्ट हो गया :

1. अति कुटिल मात्रा में (अत्यन्त कुटिलत्व में)—पिहुणपिच्छ की भाँति या पिशुन-कुटिल जन की भाँति।[1]
2. विविध तरंगिता में—सलिल-कल्लोल (पानी की लहरों) (की भाँति)।
3. कृष्णत्व मे—अलिकुल-माला (की भाँति)।

2-31 (के बाद का पद) विवि, वियड्ढपरि, वियड्ढलु

पहिउ भणइ विवि दोहा तसु सु वियड्ढपरि।
इकु मणि विंभउ थियउ कि रूविणि पिक्खि करि॥
किं नु पयावयइ अंधलउ अहवि वियड्ढलु आहि।
जिणि एरिसि तिय णिम्मविय ठविय न अप्पह पाहि॥

टिप्पणक का भावार्थ है—'पथिक ने उसे देखकर दो दोहे (दोधक-द्वय) कहे। (पथिक दो दोहे कहता है।) उस स्त्री के सम्बन्ध में (तस्या) उस विदग्ध-परिणा (पथिक ?) द्वारा ? (विदग्ध-परिणा ?) मन में एक विस्मय उत्पन्न हुआ। उस रूपवती को देखकर मैं ऐसा मानता हूँ—क्या प्रजापति अन्धा है या षंढ (नपुंसक) है जिसने इस प्रकार की स्त्री का निर्माण करके अपने ही पास नहीं रख लिया ?'

ये चार पंक्तियाँ दो प्रतियों मे मिलती हैं। 'ए' प्रति मे नही हैं और इस पर अवचूरिका टीका भी नही है। सम्पादक ने इसे प्रक्षिप्तप्राय ही समझा है। जान पड़ता है कि टिप्पणक मे इसका भद्दा अर्थ देखकर अवचूरिकाकार ने इसे छोड़ दिया।

टिप्पणक का अर्थ भ्रामक है और स्पष्ट भी नही है। पथिक ने दो दोहे पढे। मगर इसमें दोहा एक ही है। प्रथम दो पंक्तियाँ रासक छन्द की है, दोधक या दोहे की नही। इसलिए या तो एक दोहा छूट गया है या फिर 'विवि' शब्द का अर्थ 'दो' नही है, कुछ और अर्थ है। 'विदग्धपरिणा' अर्थ कुछ समझ मे आने लायक नही है। 'सु' की कोई संगति नही बैठायी गयी और 'तस' का अर्थ 'तस्या' भी कष्ट-कल्पित है। 'विवि' का अर्थ 'दो' उचित है, इसलिए एक दोहे की कमी ही यहाँ दिखायी दे रही है। यदि यह मान लिया जाय कि दोहा एक ही था तो 'विवि' शब्द

1. 'पिशुन' शब्द का भी प्राकृत-रूप 'पिहुण' बन सकता है और कुटिलत्व में पिशुन व्यक्ति के साथ उपमा देना भी संगत ही होगा।

का अर्थ कुछ और होना चाहिए। यहां इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कुछ सुझाव देने का प्रयास किया जा रहा है, परन्तु थोड़ी कष्टकल्पना इस प्रयास में भी है।

प्रसंग यह है कि पथिक ने सोचा था कि विधि ने (प्रजापति ने) कुसुम-शरा-युधरूप लावण्यनिधि स्त्री का निर्माण किया है। उसके बाद ही उसके मुख से आठ गाथाएँ निकली, जो ऊपर उद्धृत पद्यों के बाद हैं। उचित तो यही था कि वे आठ गाथाएँ शुरू हो जाती; परन्तु कुछ समझकर और रूपिणी को देखकर (रूविणि पिक्खि करि) पथिक के मन मे (मणि) उस प्रजापति के (तस) वियड्ढ (वैदग्ध्य = वेयड्ढ—वियड्ढ) पर विस्मय हुआ, इसलिए उसने एक दोहा (दो नही) (गाथाओं के पढ़ने के पहले ही) पढ दिया।

बि+वि > बीअ+वि > द्वितीयोऽपि = दूसरा भी।

'विवि' का अर्थ 'दो' नहीं है, यह तो स्पष्ट है। दो दोहे पथिक ने नही कहे। इसलिए इसका अर्थ 'दूसरा भी (एक) दोहा' ऐसा ही उचित है। इसके पूर्ववर्त्ती दोहे में प्रथम पंक्ति में विधि या ब्रह्मा की अपूर्व निर्माण-शक्ति की चर्चा है और दूसरी पंक्ति में पथिक का सुन्दरी को देखकर रागयुक्त होकर आठ गाथाओ के पढ़ने की बात है। इसके बाद ही कवि कहता है कि पथिक ने उस ब्रह्मा के (जिसकी अद्‌भुत निर्माण-शक्ति का वह कायल हो चुका था) वैदग्ध्य पर भी एक दूसरा दोहा (पहले में तो उसकी रचना-शक्ति की प्रशंसा कर चुका था) कहा, क्योकि उसके मन मे इस अपूर्व सुन्दरी को देखकर (जिस प्रकार ब्रह्मा की निर्माण-शक्ति पर आश्चर्य हुआ था उसी प्रकार उसके वैदग्ध्य पर भी) विस्मय हुआ। यही अर्थ संगत जान पड़ता है। यद्यपि उपलब्ध प्रतियों मे सिर्फ दो मे यह मिलता है, तथापि इसे प्रक्षिप्त नही कहा जा सकता क्योकि टिप्पणकार को ये दोहे मिले थे। जान पड़ता है कि 'विवि' का अर्थ उन्हें स्पष्ट नहीं हुआ और उन्होने 'दो दोहे' अर्थ लिख दिया जिससे असंगति जान पड़ी और परवर्त्ती प्रतियो के लेखको ने इसे प्रक्षिप्त समझ लिया। 'गाहा भणिया अट्ठ' के बाद तुरन्त ही गाथाएँ शुरू होनी चाहिए, यह भी प्रक्षिप्त समझने का एक हेतु था। परन्तु मैंने जो अर्थ सुझाया है उससे इसकी संगति लग जाती है। प्रथम दोहे के दो विषय है—(1) ब्रह्मा की निर्माण-चातुरी, और (2) नायिका का रूप। दोनो के बारे मे पथिक का क्रमशः कहना असंगत नही है। फिर दोहा उसने मन-ही-मन पढा, गाथा जोर से। आगे है—'गाहा तं निसुणेविणु' (उन गाथाओं को सुनकर)। अर्थात् नायिका ने केवल गाथाएँ ही सुनी, दोहा नही।

2-44 कयवरहिँ अहिणवियअइ

इसका अर्थ दोनों टीकाकारों मे से किसी ने नहीं किया है। जान पड़ता है कि यह शब्द 'कृतिकर' या 'कृतकर' से बना है, जिसका अर्थ 'मायावी जादूगर' या 'खेल-तमाशा दिखानेवाला' होता है।

'अहिणवियअइ' पद स्वीकार करने से एक मात्रा अधिक हो जाती है। 'ज' प्रति का 'अहिणवियइ' पाठ, छन्द और मात्रा, दोनों दृष्टियों से उचित है। इसका अर्थ 'अभिनीत किया जा रहा है' होना चाहिए। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'अभिनीयते' किया है। टिप्पणकार ने इसका अर्थ 'अभिनूयते' किया है जो कदाचित् स्तुत्यर्थक 'अभि'-पूर्वक 'नू' धातु से बना है। 'प्राकृतशब्द-महार्णव' में 'अहिनु' का अर्थ स्तुति करना या 'प्रशंसना' दिया हुआ है। सम्भवतः यही अर्थ ध्यान में रखकर अवचूरिका के लेखक ने 'उच्चयंते' अर्थ किया है। लेकिन 'ज' प्रति का 'अहिणवियइ' पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अर्थ बहुत स्पष्ट हो जायगा। 'रामायणमभिनीयते' अर्थात् रामायण का अभिनय किया जा रहा है।

चाई = त्यागी। सम्भवतः इसी से ढोंगी और फिर 'चोर' अर्थ विकसित हुए हैं।

2-45 चल्लहि चल्ल करंतिय

आयण्णहि (आइन्निहि ?) सुसमत्य पीन-उन्नय-थणिय
चल्लहि चल्ल करंतिय कत्य वि णट्टणिय।

इसका अर्थ टिप्पणक में इस प्रकार है :

कुत्रापि आकर्णने (र्पणे) समर्थाः पीनोन्नतस्तन्यः नर्तक्यः चलचलेति शब्दं कुर्वन्त्यश्चलन्ति।

अर्थात्, कहीं आकर्णन (या आकर्षण) में समर्थ पीनोन्नत-स्तनी नर्तकियाँ 'चल-चल' शब्द करती हुई चलती हैं। अवचूरिका के लेखक ने भी प्रायः यही अर्थ किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से 'आकर्षणे समर्थाः' कहा है और 'चलन्ति' के स्थान पर 'परिभ्रमणं कुर्वन्ति' कहा है।

प्रथम तो 'आयण्णहि' शब्द ही विचार्य है। इसका अर्थ 'आकर्पणे' कैसे हो सकता है? 'आयण्णह' को आकर्षण का रूप मानना कष्टकल्पित है। फिर नर्त्तकियाँ 'चल-चल' करती हुई चल रही हैं या परिभ्रमण कर रही हैं, यह कोई चमत्कार नहीं रखता। कोई मतलब भी नहीं निकलता कि क्यों बेचारी नर्तकियाँ 'चल-चल' शब्द करती हुई चल रही हैं या परिभ्रमण कर रही हैं।

'आयण्णहि' के स्थान पर 'बी' प्रति में 'आइन्निहि' पाठ है जो पूर्ववर्ती पंक्ति के 'आइन्निहि वंसवीण काहल मुरउ' के प्रयोग के अनुकूल है और वही पाठ ठीक जान पड़ता है। 'आइन्निहि' अर्थात् सुनते हैं। 'आयण्णहि' का भी यही अर्थ है।

चल्ल, चहल्लणग, उच्चोल ('देशीनाममाला') आदि शब्द देशी हैं और 'कटि-वस्त्र' लहँगा और नीवी के लिए प्रयुक्त होते हैं (पा. स. म.)। 'चल्लहिं' का अर्थ हुआ 'कटि-वस्त्र' या लहँगे को'। फिर 'चल्लन' शब्द चंचल या चालित के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार अन्तिम पंक्ति का अर्थ हुआ—नटिनियाँ चंचलचारी से चल्लण (=कटिवस्त्र) को 'चल्ल' करती हुई (जघनांशुक को चालित करती हुई)। 'सुसमत्य' या 'सुसमर्थ' 'नट्टिनिय' का विशेषण नहीं जान पड़ता। यह

सुननेवाले लोगों का बोधक है और 'आयन्निहिं' क्रिया का कर्ता है। पहले बताया गया है कि कुछ लोग वंशी, मुरज, बीन, काहल, ढोल, मृदंग, खोल आदि सुन रहे हैं। ये साधारण लोग हैं। फिर कहा है कि कहीं प्राकृतवर्णनिबन्ध (टीकाओं में यह अर्थ है जो चिन्त्य जान पड़ता है, शायद पयवण्णनिबद्ध=पदवर्ण-निबद्ध) गान सुनायी दे रहा है, यह भी साधारण लोगों का उपभोग्य है। परन्तु जो लोग सुसमर्थ हैं, कुछ खर्च कर सकते है, वे नर्तकियों के गान सुनते हैं और नृत्यपरायण नर्त्तकियों की चंचल चारियों का (जिसमें कटिवस्त्र चचल हो उठता है) रस लेते है।

2-46 परिघोलिर

भमहिं कावि मयविभल गुरुकरिवरगमणि।
अन्न रयणताडकिहि परिघोलरसवणि॥

'परिघोलिर' का अर्थ दोनों टीकाकारों ने 'प्रतिघोलन्त' किया है जो वस्तुतः इसी शब्द के संस्कृतीकरण का प्रयास है। वस्तुतः इसका अर्थ 'घूमता हुआ', 'चक्करदार फिरता हुआ' है। 'गउडवहो' में यह मिलता है और 'घोलिर' शब्द का प्रयोग 'गाथा-सप्तशती' (3-38) मे भी मिलता है। 'समराइच्च कहा' (5-78) में भी यह शब्द इसी अर्थ मे है।

2-47 णिवडब्भर (उभरे हुए?), नियकोयणिहिं

अवर कह्व णिवडब्भर घणतुगत्थणिहिं
भरिण मज्झु णहु तुट्टइ ता विभिउ मणिहिं।
कावि केण सम दर हसइ निय कोअणिहि।
(ब्भम हसइ नियइ-मइ-कोइणिहि।)
छित्ततुच्छतामिच्छ तिरच्छियलोयणिहि।

अर्थात् (और कहीं निपट उभरे हुए (?) घन-तुंग वक्षस्थलोंवाली (सुन्दरी भ्रमण कर रही हैं), भार से बीच ही मे नही टूट गयी, यह आश्चर्य है (लोगों के मन में)। कोई किसी के साथ हँसती है थोड़ा-थोड़ा (!) अपने मद-कौकुचों से (मदकौकुचाभ्याम्) (?) उन तिरछी आँखों से, जिनमें महीन काजल की रेखा लगी हुई है।)

'णिवडब्भर' का अर्थ एक टीकाकार ने 'निविड़ोत्तर' किया है, दूसरे ने 'निविडोद्धुर'। परन्तु दोनों मे एक भी 'णिवडब्भर' के निकट नही जाता। यहाँ 'निवडब्भर' परवर्त्ती हिन्दी के 'निपट' और 'ऊभर' 'ऊभट' (उभरे हुए) के संयुक्त शब्द का पूर्वरूप जान पड़ता है। 'निवडब्भर' अर्थात् निपट उभरे हुए।

तीसरे चरण का पाठ कुछ गड़बड़ मालूम पड़ता है। टीकाकारों ने 'मदकौकुच' जैसा एक विचित्र शब्द गढकर समझा तो दिया है, पर समझ मे नही आ रहा है। एक बात स्पष्ट है। 'मद' का वाचक 'मअ' या 'मय' शब्द या इनसे कोई मिलता-जुलता शब्द अवश्य टीकाकारों द्वारा स्वीकृत पाठ मे था, जो सम्पादक द्वारा स्वीकृत

पाठ में तो नहीं मिलता किन्तु पाद-टिप्पणियों के पाठान्तरों में मिलता है। इस चरण में छन्द भी त्रुटित है। एक मात्रा कम है। निश्चय ही कुछ छूट गया है। असल में 'बी' प्रति का पाठ सब दृष्टियों से शुद्ध है—'नियइ मइ कोइणिहिं'। 'सी' प्रति में 'दर' नहीं है। जान पड़ता है कि किसी ने पूर्ववर्त्ती आदर्शों में हाशिये पर 'दर' लिख रखा था जो बाद में टीकाकारों द्वारा व्यवहृत प्रति के मूल पाठ में जुड़ गया है। पाठ इस प्रकार होना चाहिए :

कावि कैण सम हसइ नियइमइकोइणिहि।

यह छन्द की दृष्टि से भी शुद्ध है। 'दर' बाहर से आ गया है। अब विचार किया जाय कि इससे अर्थ स्पष्ट होता है या नहीं। टीकाओं को देखकर निश्चित ज्ञात होता है कि 'नियअमअकोउणिहिं' जैसा पाठ उनके सामने था, जिसका अर्थ उन्होंने 'निजक-मद-कौकुचाभ्याम्' किया था। 'कोकुच' का अर्थ स्पष्ट नहीं है, सम्भवतः वह किसी देशी शब्द का संस्कृतीकृत रूप हो। 123वें पद में 'मयना-कोइणिहिं' (वंककडक्खिहि तिक्खिहि मयनाकोमणिहिं) आया है। वहाँ भी लोचनों का ही विशेषण है। टिप्पणकार ने वहाँ 'मदेन कूणिताभ्यां' और अवचूरिकाकार ने 'मदनाकोचनाभ्यां' अर्थ किया है। 'निजक-मद-आकोचन' का अर्थ हो सकता है 'अपने-आपके मद से ही आकुंचित होनेवाले' (नयनों से कोई तरुणी किसी पुरुष के साथ हँस रही है)। यह अर्थ भी असंगत नहीं है, परन्तु 'बी' प्रति वाला पाठ अधिक ठीक जान पड़ता है और प्रसंग से अनुकूल भी है। 'निअइ' (सं.—निकृति) कपट के अर्थ में प्राकृत में प्रयुक्त होता है और 'मइ' मति के अर्थ में (पा. स. म.)। 'कोउणि' या 'कोइणि' 'कोपिनी' (=कोपवती) है। नीचेवाला पद पूरा समस्त पद है। उसका अर्थ है—'महीन काजल की रेखा अँजी हुई आँखों से'। अब नीचे के प्रस्तावित पाठवाले चरणों का अर्थ होगा—'कोई (तरुणी) किसी व्यक्ति के साथ, उन कजरारी तिरछी आँखों से, जिनमें बनावटी कोप का भाव है, हँस-हँसकर बातें कर रही है।' अर्थ की दृष्टि से भी यही पाठ ठीक जान पड़ता है।

2-48 णं ससिसूर णिवेसिय

इसका अर्थ टीकाकारों ने 'मन्ये शशिसूर्यौ गण्डयोर्निविष्टौ' किया है। 'रेहइ' को छोड़ ही दिया है। 'रेहइ' का अर्थ है राजते, अर्थात् 'शोभित होता है'। यह एकवचन की क्रिया है, इसलिए इसका कर्त्ता भी एकवचन का होना चाहिए। वस्तुतः 'ससि' अलग है और प्रथमान्त है। 'सूर' अलग है और द्वितीयान्त है। अर्थ हुआ मानो चन्द्रमा स्वयं सूर्य को गण्डतल में निवेशित करके शोभित है। यहाँ चन्द्रमा मुख का उपमान है और सूर्य विमल हँसी से उद्भासित आभा का।

2-50 अइ मल्हिरउ चमक्कउ

थणभार गुरुवियडउ का कट्टिहि परइ,
अइ मल्हिरउ चमक्कउ तुरियउ णट्टु सरइ।

टिप्पणक में इसका अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—'काचिद् रमणभारं गुरु विकटम् अतिस्थूलत्वात्, कष्टेन बिभर्ति। तस्याश्चलन्त्या उपानहोश्चमचमच्छब्दोऽतिमन्थरस्तु (सत्त्व) रितं न सरति।' अवचूरिका में भी लगभग यही अर्थ है, केवल 'बिभर्ति' के आगे 'धारयति' लिखकर उसे और भी स्पष्ट कर दिया गया है। 'मल्हण' शब्द 'देशीनाममाला' (6।119) में लीला के अर्थ में आया है। 'मल्हिर' शब्द उसी शब्द से बना जान पड़ता है। इस प्रकार 'अइ मल्हिरउ' का अर्थ हुआ 'अत्यन्त लीलायित'।

'चमक्कउ' का अर्थ 'उपानहोश्चमचमच्छब्दो' अर्थात् जूतों का चमचम शब्द भी कष्टकल्पित जान पड़ता है। वस्तुतः 53वें छन्द में 'चिक्कणरउ चबाइहि' अर्थात् 'मृदु शब्दवाले चर्मपाद' या जूतों का वर्णन आया है। यहाँ उसका कोई प्रसंग नहीं है। यहाँ कवि केवल 'गुरु विकट रमणभार' के कारण गति में आयी हुई मन्थरता का वर्णन करना चाहता है। वस्तुतः 'अइ मल्हिरउ' और 'चमक्कउ' दोनों ही रमणभार से सम्बद्ध हैं। 'चमक्कउ' 'चमत्कृत' का अपभ्रंश-रूप है, जिसका अर्थ है, 'विस्मित', 'आश्चर्यान्वित' या विस्मय और आश्चर्य। प्राकृत में 'चमक्क' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, 'विस्मय' और 'आश्चर्य' के अर्थ में और 'विस्मित करना' और 'आश्चर्यान्वित करना' के अर्थ में। प्रथम अर्थ में 'धर्मरत्नसंग्रह' और 'उपदेश-टीका' में इसका प्रयोग हुआ है और दूसरे अर्थ में 'विवेकमंजरी' और 'विक्रान्त-कौरव' नामक ग्रन्थों में। 'पाइअसद्दमहण्णव' में ये दोनों अर्थ दिये हुए हैं।

अस्तु, ऊपर की पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—"कोई रमणी 'गुरु विकट रमणभार' (नितम्ब) को अत्यन्त कष्ट से धारण कर रही है, जिससे उसकी गति में विस्मयकारक या आश्चर्यजनक लीलायित गति आ गयी है। वह शीघ्रता से चल नहीं पाती।"

2-64 (के बाद) पुरउ··· ···रवि

निम्नांकित दो पंक्तियाँ केवल 'बी' प्रति में प्राप्य हैं :

पुरउ सुवित्थरउ वन्नउ अद्धउ जइवि,
करि अज्जु गमणु मह्नु भग्गा घू अत्थवइ रवि।

इन पंक्तियों की कोई टीका नहीं मिलती। परन्तु इसमें कई शब्द ऐसे हैं जो विचारणीय हैं। ऊपरवाली पंक्ति में दो मात्रा कम है। सम्भवतः 'जइवि' के बाद 'नवि' शब्द और था जो किसी कारणवश छूट गया है। 'नवि' का अर्थ है, नहीं (तुल.—'ढोला मिलसि म बीसरसि नवि आविमि ना लेसि')। इस शब्द के जोड़ देने के बाद छन्द और तुक ठीक बैठ जाते हैं और अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। भाव यह है कि पुर का 'मैंने सविस्तार वर्णन किया, यद्यपि वह (वर्णन) आधा भी नहीं हुआ। (हे पथिक! आज गमन करके भागो नहीं, रवि निश्चित रूप से अस्तमित हो रहा है।)'

2-65 इक्कणि

मुद्रित प्रति में जो पाठ स्वीकार किया गया है, उसकी प्रथम दो पंक्तियों मे छन्दोभंग है। किन्तु 'ज' प्रति का पाठ इस दोष से रहित है। अन्तिम दो पंक्तियाँ मुद्रित प्रति में इस प्रकार हैं :

तिह हुंतउ हउं इक्किण लेहउपेसियउ,
खंभाइत्तई वच्चउं पहुआएसियउ।

दोनों टीकाएँ इसका अर्थ इस प्रकार देती हैं :

'ततोऽहं लेखवाहक एकेन प्रेषित: स्तंभतीर्थे प्रभा (म्वा) दिष्टो व्रजामि', अर्थात् वहाँ मैं किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रेषित हुआ हूँ और स्वामी का आदेश पाकर स्तम्भतीर्थ को जा रहा हूँ। इसमें कई शब्द विचारणीय हैं। 'लेहउ' का अर्थ लेख या लेखक हो सकता है, 'लेखवाहक' नही। फिर 'इक्किण' का अर्थ किया गया है 'किसी एक के द्वारा' और 'पेसियउ' का अर्थ किया गया है 'प्रेषित'। 'किसी एक के द्वारा भेजा गया हूँ' और 'प्रभु से आदिष्ट हूँ', ये दोनों बातें संगत नही हैं। प्रभु का जब आदेश है तब यही कहना चाहिए था कि 'प्रभु से भेजा गया हूँ'। फिर 'इक्किण' शब्द अनावश्यक हो सकता है। 'इक्किण' का कुछ और अर्थ होना चाहिए। आगे काव्य मे पथिक बार-बार कहता है, 'मुझे जल्दी है'। इसलिए वह जिस काम से भेजा गया है, वह ऐसा होना चाहिए कि उसके सिवा कोई दूसरा उसे न कर सके और जिसका किया जाना अत्यन्त आवश्यक हो। टीकाओं से ऐसा कोई अर्थ प्रकट नही होता। 'बी' और 'ज' प्रति मे 'इक्कणि' पाठ है जो ठीक जान पड़ता है। 'देशीनाममाला' में 'इक्कण' शब्द का अर्थ किया गया है 'चोर' (दे. ना. मा., 1।180)। इस प्रकार 'इक्कणि' शब्द का अर्थ हुआ 'चोरीवाला', जो लेखक का विशेषण हो सकता है। 'चौर्य' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'सीक्रेट' के अर्थ मे संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। (तुल.—चौर्यरत, चौर्य-प्रेम)। इसलिए 'इक्कणि लेह' का अर्थ हुआ गोपनीय लेख (सीक्रेट डॉक्यूमेण्ट)। ऐसे गोपनीय लेख सांकेतिक भाषा मे लिखे जाते थे। ऊपर से उनका अर्थ और होता था, लेकिन जानकार व्यक्ति ही उनका ठीक अर्थ समझता था। 'प्राकृत' में 'उवेश' शब्द 'उपदेश' के अर्थ मे आता है—'सरहे कियउ उवेस' (सरहपा)। 'बी' प्रति और 'ज' प्रति के पाठ से अर्थ खुल जाता है कि 'इक्कणि लेह उवेसियउ' का अर्थ हुआ, 'गोपनीय लेख में उपदेशित होकर'। भाव यह हुआ कि पथिक को कोई ऐसा लेख दिया गया है जो सांकेतिक भाषा मे लिखा गया है। किसी दूसरे के हाथ मे अगर वह लेख पड़ भी जाय तो वह उसका अर्थ नही समझ सकता।

यहाँ विशेष द्रष्टव्य यह है कि यद्यपि 'इक्कण' शब्द 'देशीनाममाला' मे देशी शब्द के रूप में आता है, किन्तु वह संस्कृत के 'एकायन' शब्द से बन सकता है। एकायन ऐसे मार्ग को कहते हैं जिसमें से एक ही आदमी निकल सके। कदाचित्

इसी शब्द से 'एकायन लेख' का सम्बन्ध हो, जिसका मतलब होगा ऐसा लेख, जिसे कोई दूसरा न समझ सके, बल्कि एक ही आदमी समझ सके।

2-72 ओसहे (आसहे ?), तग्गन्ति

तुह विरह पहरसचूरिआइं विहडंति जं न अंगाइ।
तं अज्ज कल्ल सघडण ओसहे णाह तग्गंति॥

इस गाथा का भाव दोनों टीकाकारों ने एक ही दिया है—"हे नाथ, तुम्हारे विरह-प्रहार से संचूर्णित अंग जो विघटित नहीं हो रहे हैं उसका कारण क्या है ?—आजकल में संघटन या मेल; इस औषध के प्रभाव से ये रह रहे हैं (बने हुए हैं) —'अद्यकल्ये संघटन (म्) मेल इत्यौषधप्रभावेन तिष्ठति'।"

यहाँ 'ओसहे' का अर्थ 'औषध से' और 'तग्गन्ति' का अर्थ 'तिष्ठन्ति' किया है। पूरी गाथा का भाव ऐसा जान पड़ता है कि अंगों के विघटन अर्थात् अलग-अलग हो जाने में कोई वस्तु बाधक है। टीकाकारों के मत से आजकल मे मिलन-रूपी औषध ही वह वस्तु है। किन्तु मिलन तो हो नही रहा है, इसलिए मिलन-रूपी औषध का वर्तमान प्रसंग में बाधक होना युक्तिसंगत नही है। मिलनरूपी औषध जब प्राप्त हो जायगी, तो विरह-प्रहार का कोई प्रश्न ही नही रह जायगा। यहाँ विरहावस्था में उसका यही अर्थ किया जा सकता है कि 'विरह-प्रहार से सचूर्णित अंगों का विघटन जो नही हो रहा है, वह इसलिए कि आजकल मे मिल जाने की आशा है।' मिलन नहीं, मिलन की आशा विघटन में बाधक है। कालिदास ने भी 'मेघदूत' में 'आशापाश' को ही नारियों के फूल की तरह सुकुमार प्रेमपूर्ण हृदय के टूटकर विखर जाने में बाधक बताया है :

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां।
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥

विरह-काल में औषध का काम मिलन नहीं, मिलन की आशा करती है, इसलिए यदि 'ओसहे' पाठ हो तो आशा का अध्याहार करना होगा।

'तग्गंति' 'तग्ग' धातु मे बना है। अर्थ है—तागना। तागा या धागा देशी शब्द है जिसका अर्थ है सूत्र या सूत। हेमचंद्र ने 'देशीनाममाला' मे 'धागे के कंकण' के अर्थ मे 'तग्ग' शब्द का प्रयोग बताया है ('देशीनाममाला', 5।1) हिन्दी के 'तागपाट' शब्द में यह अर्थ सुरक्षित रह गया है। हिन्दी में 'तागना' धातु भी सुरक्षित है, अर्थ है—तागे से जोड़ना या सीना। इसलिए 'तग्गंति' का अर्थ हुआ—'तागे से सिये जाते है।' टीकाकारों ने 'तिष्ठन्ति' अर्थ करके इस शब्द के साथ न्याय नही किया। 'सन्देश-रासक' के विद्वान् सम्पादक ने भी 'प्राकृत-शब्द-सूची' में इस अर्थ की ओर इंगित किया है। वस्तुतः 'ओसहे' पाठ अशुद्ध जान पड़ता है। यह 'सी' प्रति का पाठ है। 'ए' प्रति में 'उसहे' पाठ है तथा 'बी' प्रति में 'संघडहे'। स्पष्ट ही यह शब्द प्रतिलिपिकारों के सामने कई रूपों में आया है। जान पड़ता है कि मूल पाठ 'आसहे' था जिसका अर्थ होता है—आशा से। इस पाठ को मान लेने से अर्थ

बहुत स्पष्ट हो जाता है और किसी प्रकार के अध्याहार की आवश्यकता नहीं रह जाती है। अतः मेरा प्रस्ताव है कि 'ओसहे' के स्थान पर 'आसहे' पाठ स्वीकार करना चाहिए। ऐसा मान लेने पर अर्थ इस प्रकार होगा :

"हे नाथ, तुम्हारे विरह के प्रहार से संचूर्णित अंग जो टुकड़े-टुकड़े होकर *बिखर नहीं जाते, (वह इसलिए कि) आजकल में मिलन होगा, इस आशा से ताने* जाते रहते हैं।"

2-73 मुक्की, मुक्क

ऊसासडउ न मिल्हवउ, दज्झण अंग भएण।
जिम हउ मुक्की वल्लहइ, तिम सो मुक्क जमेण ॥

टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार समझाया है—'अपने पति की वस्तु की रक्षा करती हुई वह पति के लिए आशीर्वाद कहती है—शरीर जलने के डर से मैं उच्छ्वास नहीं छोड़ती। इसीलिए आशीर्वाद है कि जैसे मैं वल्लभ से छोड़ी गयी हूँ वैसे वह यमराज द्वारा मुक्त किया जाये—'ततः आशी.—यथाऽहं वल्लभेन मुक्ता तथा स ज (य) मेन मुच्यात्'। इसमें 'मुक्क' शब्द का अर्थ किया गया है, 'मुच्यात्'; परन्तु मुक्क शब्द का सीधा-सादा अर्थ है—मुक्त, छोड़ा हुआ। यदि अर्थ इस प्रकार किया जाय तो 'मुक्क' शब्द की संगति बैठती है :

"अंग जल जाने के डर से मैं उसास नहीं छोड़ती। जिस प्रकार मैं वल्लभ द्वारा छोड़ दी गयी हूँ (मुक्की), उसी प्रकार वह (साँस, प्राण) भी यमराज के द्वारा छोड़ दिया गया है अर्थात् मेरे प्राणों को यमराज भी नहीं ले जा रहा है।"

सम्पादक ने इस दोहे के सम्बन्ध में लिखा है कि "यद्यपि यह दोहा सब आदर्शों में मिलता है और इसकी व्याख्या भी मिलती है, तथापि अग्रिम पद्य में कहे हुए वर्णन के अनुसार यह प्रक्षिप्त जान पड़ता है।" अग्रिम पद्य में कहा गया है, 'हे पथिक ! यह गाथा कहकर प्रिय को मना लेना।' स्पष्ट है कि केवल गाथा कहकर मनाने की बात है, दोहे की नहीं। यदि मेरे द्वारा सुझाया हुआ अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो सम्पादकों की आशंका का भी कोई कारण नहीं रह जायगा; क्योंकि 72वीं गाथा ही सन्देशा है। इस दोहे में कोई सन्देशा नहीं है। गाथा पढ़ने के बाद नायिका ने पथिक को जीवित रहने की सफाई-भर दी है। इसमें कोई सन्देशा या मनाने की चिरौरी नहीं है और न जैसा टीकाकारों ने समझ लिया है, वैसा कोई आशीर्वाद ही है। यह तो केवल विरहिणी ने पथिक से यह बतलाया है कि मैं विरह-प्रहार से जर्जर होकर भी जो जी रही हूँ, उसका कारण है कि यमराज भी मुझसे विमुख हो गया है !

2-75 परिवाडि

पियविरहानलसंतविअ जइ वच्चउ सुर लोइ।
तुअ छड्डिय हियअट्ठियह तं परिवाडि ण होइ ॥

टीकाकारों ने परिवाडि का अर्थ 'प्रतिपन्नम्' किया है। होना चाहिए—परिपाटी अर्थात् शिष्टाचार, पद्धति, रीति। 'विशेषावसक्त भाष्य' की 1085वीं गाथा में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पउमचरिउ' (3।3।3।6।7) में यह शब्द इसी अर्थ में आया है। 3।16।9 में 'परिवाडिए तुम्महुँ हिण्डएउ जिमंतणउ' में 'परिवाडि' शब्द परिपाटी अर्थात् शिष्टजन की रीति के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। यहाँ इस गाथा का भाव यह होगा कि 'यदि मैं तुम्हें अपने हृदय में स्थित छोड़कर विरहाग्नि से सन्तप्त होकर सुरलोक चली जाऊँ तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि शिष्टजन की परिपाटी यह नहीं है कि किसी को घर में बैठाकर स्वयं दूसरी जगह चला जाय।'

2-77 गरुअउ परिहवु किन सहउ पइ पोरिस निलएण

दोनों टीकाकारो ने 'पइ' का अर्थ 'त्वया' किया है और 'पोरिस निलएण' का अर्थ किया है, 'पौरुष निलयेऽपि सति'। 'पौरुषनिलयेण' तृतीयान्त पद होगा और उसे सप्तम्यन्त नही किया जा सकता। यदि 'पोरिस निलए' से 'न' अलग कर दिया जाये और 'पोरिस निलये' इतने का ही अर्थ किया जाये तो 'ण' का अर्थ अलग करना पड़ेगा। 'ज' प्रति में 'किन सहउ' के स्थान पर 'किन सहउ' और 'बी' प्रति में 'किम सहउ' पाठ है। 'परिहउ' के स्थान पर 'ए', 'बी', 'ज' प्रतियों में 'परिहसु' पाठ है। इस दोहे का उचित पाठ इन प्रतियों के पाठो के अनुसार इस प्रकार होगा :

गरुअउ परिहसु किन (किम) सहउ सहउ पइ पोरिस निलएण
जिहि अंगिहिं तू विलसियउ ते दद्धा विरहेण।

अर्थ होगा, "तुम्हारे जैसे पौरुष-निलय के रहते हुए भी क्या मैं गुरुतर परिहास नहीं सह रही हूँ, कि जिन अंगो के साथ तुमने विलास किया वे विरह के द्वारा दग्ध किये जा रहे हैं ?"

ऐसा अर्थ करने मे 'किन' या 'किम' को एक शब्द माना गया है जिसका अर्थ होता है 'क्या'। प्रथम पंक्ति के अन्त का 'न' निषेधार्थक है। इस प्रकार के प्रयोगों की परम्परा अपभ्रंश और बिहारी आदि के दोहों में मिलती है :

गड़े बड़े छबि छाक छकि छिगुनी छोर छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँग उही नह-दी महदी नैन।

2-78 छावडइ

विरह परिग्गह छावडइ पहराविउ निरवक्खि।
तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि॥

'छावड़' शब्द का अर्थ झापड़ या चपेटा है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के 1।146 और 1।192 मे 'चाविडा' शब्द का प्रयोग 'चपेटा' अर्थ मे बताया है। 'विरह परिग्गह छावडई' का अर्थ होना चाहिए 'विरह परिग्रह के' चपेटों से

(निरन्तर प्रहार किया गया है), 'तुट्टी देह ण हुउ हियउ' में 'तुट्टी देह' को टीकाकारों ने बिल्कुल ही छोड़ दिया है। 'छावड़' या 'छावड़ा' का अर्थ 'चपेटा' कर लिया जाय तो अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है :

"विरह के चपेटों से शरीर पर निरपेक्ष प्रहार हुआ है, उससे देह तो टूट गयी है पर हृदय घायल नहीं हो सका है; क्योंकि वह तुम्हारे द्वारा सम्मानित है।"

2-79 पाली, धण

मह ण समत्थिम विरह सउ ता अच्छउं विलवंति।
पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मंति॥

इसका भाव टीकाकारों ने यह बताया है कि विरह से मेरा सामर्थ्य नहीं चल सकता (विरह पर मेरा वश नहीं है), इसलिए रोती रहती हूँ; क्योंकि गोपालों का पूत्कार ही प्रमाण है (अर्थात् ग्वाले रो-चिल्ला भर सकते हैं), परन्तु धन अर्थात् गायें मालिकों द्वारा घुमायी जाती हैं, दूसरों के द्वारा नहीं। 'पाली' और 'धन' दोनों ही के आगे 'गो' शब्द का अध्याहार कर लिया है, परन्तु 'पाली' शब्द का सीधा-सादा अर्थ है—पालन करनेवाली (धाय); 'धण' शब्द अपभ्रंश में तथा उत्तरकालीन हिन्दी में भी दुलहिन के अर्थ में बहुत प्रचलित रहा है (तुल.—'ढोल सामला धण चंपकवण्णी', हेमचन्द्र)। इसलिए मुझे लगता है कि यहाँ सीधा-सादा अर्थ यह है कि 'दुलहिन या बहू' को पति जहाँ चाहे ले जा सकता है, उसका पालन करनेवाली धाय केवल रो सकती है। इसी प्रकार मैं केवल रो सकती हूँ। तुम्हारा प्रेमजन्य विरह मेरे मन को जहाँ चाहे घुमाता रहता है, उस पर मेरा वश नहीं।

2-84 अणियत्तखणं (० खलं ?)

अणियत्तखलं जलवरिहणेण लज्जंति नयन नहु धिट्ठा।
खण्डवयनजलणं विय विरहग्गी तवइ अहिययरं॥

दोनों टीकाकारों ने 'अणियत्तखण' का अर्थ 'अनिवृत्तलक्षणं' किया है जो मुद्रित प्रति में स्वीकृत पाठ के अनुसार ठीक नहीं लगता। 'ल' का लोप सम्भव नहीं है। जब दोनों टीकाकारों ने 'लक्षण' अर्थ दिया है तो पाठ में कहीं-न-कहीं 'ल' अवश्य रहा होगा। 'ज' प्रति में 'अणियत्तखलं' पाठ है जिसका रूपान्तर होगा 'अनिवृत्तस्खलनं,' अर्थात् जिस जलवर्षण का स्खलन कभी निवृत्त नहीं होता। ऐसा ज्ञात होता है कि टीकाकारों के सामने 'अणियत्तखलं' न होकर 'अणियत्तलखं' पाठ था। उन्होंने 'लखं' का 'लक्षणं' कर लिया। परन्तु अर्थ की दृष्टि से 'अणियत्तखलं' पाठ ही अच्छा है।

2-86 सिज्जासणउ

तुय समरंत समाहि मोहु विसम ढ्रियउ,
तह खणि खुवइ कबालु न वाम करट्ठियउ।

सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खट्टंग लय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय ।।

इसमें 'समाहि मोहु', 'कवालु', 'सिज्जासणउ' और 'खट्टंग' शब्द श्लिष्ट है जो विरहिणी और कापालिक दोनों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए है। विचारार्ह शब्द है—सिज्जासणउ। टीकाकारों ने 'सिज्जासण' शब्द के दो अर्थ बताये हैं। कापालिक के पक्ष में 'शय्याया अधस्तादशनम्' और विरहिणी के पक्ष मे 'शय्यायामासनम्'। प्रथम अर्थ चिन्त्य है। शय्या के नीचे (या ऊपर ?) भोजन कापालिक का कोई लक्षण नही है। वस्तुत: होना चाहिए 'सिद्धासनम्', जिसका प्राकृत रूप होगा 'सिज्झासणम्' या 'सिज्जासनम्'। सिद्धासन योग का प्रसिद्ध आसन है। यह समाधि-काल का प्रशस्त आसन माना जाता है।

2-90 विवज्जइ, धूमइण (धू जइ ण ?)

सोसिजंत विवज्जइ सासे दीउन्हएहिँ पसयच्छी।
निवडंत वाहभर लोयणाइ धूमइण सिच्चंति ।।

टिप्पणक में इसका अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—"दीर्घाक्ष्या. दीर्घोष्णै: श्वासैः शोष्यमाणोऽपि विवर्द्धते विरहाग्निः। यद् धूम्रेण निपतद् वाष्पभरे लोचने स्रवतः।' अर्थात् उस दीर्घाक्षी के दीर्घ उष्ण श्वासों से सुखायी जाकर भी विरहाग्नि बढ़ रही है; क्योंकि धूम्र से (?) झड़ते हुए अश्रु से पूर्ण आँखें स्रवित होती रहती हैं।" यह अर्थ ठीक नहीं जमता। यहाँ टीकाकार ने 'विवज्जइ' का अर्थ किया है 'विवर्द्धते' और 'सिच्चन्ति' का अर्थ किया है 'स्रवतः'। दोनों ही चिन्त्य है। 'विवज्जइ' का अर्थ 'विपद्यते' होना चाहिए। इस अर्थ में अपभ्रंश में और प्राकृत मे इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। 'विपद्यते' अर्थात् मरता है या मर जाती है। अवचूरिका में 'विपद्यते' अर्थ ही दिया है। सिच्चंति' का 'सीचती है' अर्थ ठीक ही होगा। अवचूरिकाकार ने यही अर्थ स्वीकार किया है। इसी तरह अवचूरिकाकार ने 'धूमइण' की व्याख्या में 'ध्रुवं निश्चयं यदि सा न (सिच्यते)' अर्थ दिया है जो स्पष्ट ही 'ए' प्रति के 'धू जइ ण' पाठ के अनुसार है। सब मिलाकर अवचूरिका की व्याख्या और उसके द्वारा स्वीकृत पाठ उत्तम है। इस पाठ के अनुसार अवचूरिकाकार ने जो अर्थ लिखा है, उसका भावार्थ यह है कि विरहिणी कहती है कि 'हे पथिक ! तुम प्रिय से जाकर कहना कि वह प्रसृताक्षी (नायिका) दीर्घ-उष्ण श्वासो से सुखायी जाने से मर जाती यदि लोचनो से निरन्तर झड़नेवाली अश्रुधारा उसे निश्चित रूप से न सींचती रहती।'

2-95 पिय विरह विओए······कसु पहिय भणें।

पिय विरह विओए, संगम सोए, दिवस रयणि झूरंत मणे,
णिरु अंगु सुसंतह, वाह फुसंतह अप्पह णिद्दय किंपि भणे।

तसु सुयण निवेसिय, भाइण पेसिय, मोहवसण बोलंत खणे,
महु साइय वक्खरु, हरि गउ तक्खरु, जाउ सरणि कसु पहिय भणे ॥

इस पद्य की अन्तिम दो पंक्तियाँ 'सी' प्रति में नहीं हैं। दोनों टीकाएँ उपलब्ध हैं। दोनों ही टीकाकार इसका जो अर्थ देते हैं वह प्रायः एक ही है। अवचूरिका का पाठ अधिक शुद्ध है, इसलिए उसे ही यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

"प्रिय विरह वियोगाय, संगम सूचकाय रात्रिंदिनं क्लिश्यन्ती नितरामंगं शोषयन्ती वाष्पानि मार्जयन्ती आत्मनो निर्दयाय प्रियाय किं भणामि ! परं त्वं त्वेवं वदे — *यत्वां हृदये निवेश्य भावेनाप्रेक्ष्य मोहवशात् क्षणं, तयोक्तं मम स्वामिनो* वक्खरं नाम वस्तु विरहनामा तस्करो हृत्वा गच्छति प्रत्यहम् तद्भण प्रिय, कस्य शरणं गच्छामि ?"

टिप्पणक ने 'वक्खरं' की व्याख्या में 'वक्खरं रूपं नाम वस्तु' कहा है, इतना ही विशेष है। ऐसा जान पड़ता है कि दोनों ही टीकाकारों ने 'विरह विओए संगम सोए' को 'णिद्दय' का विशेषण माना है।

पियविरहविओए = प्रियविरह-वियोगाय (प्रियविरह वियोगे ?)
संगमसोए = संगमसूचकाय (संगम-शोके ?)
अप्पह = आत्मनः
णिद्दय = निर्दयाय (हे निर्दय ?)
किंपि = किं (किमपि ?)
तसु = त्वां (तस्य ? तादृश ?)
सुयण (पाठां.—सुयणु) = हृदये (सुतनु ?)
निवेसिय = निवेश्य (निवेशित ?)
भाइण = भावेन
पेसिय = आप्रेक्ष्य (?) (पाठा.—भेसिय) (प्रेक्षित ?)
बोलंत = तयोक्तं (?) (निर्गमयति ?)
महु = मम
साइय = स्वामिनः
वक्खरु = रूपं। नाम वस्तु
हरि गउ = हृत्वा गच्छति (हृत्वा गतः ?)
पहिय = पथिक (प्रहुता, प्रहृता, निर्मथिता ?)

यह पद्य भाषाशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण समझा गया है। यदि टीकाकारों का दिया हुआ अर्थ ठीक है तो संस्कृत की चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर अपभ्रंश में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग का यह एकमात्र उदाहरण है। साथ ही 'णिद्दय' में एकवचन में षष्ठी विभक्ति का लोप भी इस पद्य में पाया जाता है जबकि हेमचन्द्र ने बहुवचन में षष्ठी विभक्ति के लोप होने का विधान किया है। टीकाओं में दिये हुए कुछ अर्थ कष्ट-कल्पना से ही सिद्ध हो सकते हैं। 'संगम सोए' का अर्थ 'संगमसूचकाय' चिन्त्य है। यहाँ 'संगम के शोक' 'संगम के सोच' से ज्यादा उपयुक्त ज्ञात

होता है। 'किंपि' का 'कि' अर्थ भी चिन्त्य है। 'कुछ भी' (किमपि) अर्थ ज्यादा संगत होता। 'तसु' का अर्थ 'त्वां' भी ठीक नही जँचता। पुस्तक मे सर्वत्र 'तसु' पष्ठी का ही रूप माना गया है, किन्तु अपभ्रंश मे यह 'तादृश' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। 'सुयण' का अर्थ 'हृदये' कैसे हुआ, यह भी विचारणीय है। इस प्रकार पूरे छन्द का अर्थ बहुत स्पष्ट नही हुआ है, ऐसा जान पड़ता है। 'निवेसिय' और 'पेसिय' का अर्थ क्रमशः 'निवेश्य' और 'आप्रेक्ष्य' दिया हुआ है जो असम्भव तो नही है, लेकिन सारे ग्रन्थ मे इस प्रकार के प्रयोग प्रायः निष्ठान्त प्रत्ययों में हुए है। यहाँ भी 'निवेशित' और 'प्रेक्षित' के रूप मे अर्थ किया जाता तो ग्रन्थ की भाषा की प्रकृति के निकट होता। 'बोलंत' का 'तया उक्तं' अर्थ भी जबरदस्ती ही जान पड़ता है। 139वें पद्य में इस धातु का प्रयोग 'बिताने' के अर्थ मे हुआ है—'इम तवियउ बहु गिंभ कहिंवि मइ बोलवियं', अर्थात् 'इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु तपी और मैंने किसी प्रकार उसे बिताया।' टीकाकारों के शब्दों मे 'कष्टं कृत्वा मया निर्गमितः' है, यहाँ भी 'बोलंत' का अर्थ 'बिताते हुए' उचित होगा।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'सुयण' का अर्थ 'हृदये' भी समझ में नहीं आता। 'बी' प्रति में 'सुयणु' पाठ है जो अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह 'सुतनु' (सुन्दर शरीर) का प्राकृत रूप है। 'ज' प्रति मे 'सामिय' पाठ है जो टीकाकारों के दिये हुए अर्थ का समर्थन करता है। वस्तुतः 'सामिय' पाठ ही उचित भी है।

जो हो, 92वें पद्य मे विरहिणी ने कहा था कि 'मुझे सन्देशा तो बहुत कहना है पर तुम उतावले हो, सो हे पथिक, उस प्रिय से एक गाथा, एक वत्थु और एक डोमिल कह देना':

"संदेसडउ सवित्थरु तुहु उत्तावलउ,
कहिय पहिय पिय गाह वत्थु तह डोमिलउ ॥"

स्पष्ट ही तीनों छन्द सन्देश के है। टीकाकारों द्वारा सुझाये अर्थ में प्रस्तुत छन्द केवल प्रिय को सन्देशा नही है, बल्कि पथिक से प्रार्थना है कि वही नायिका की ओर से कुछ बात कह दे। इस प्रकार 92वें छन्द से (और 'सन्देश-रासक' में अपनायी हुई सारी 'सन्देश-पद्धति' से) इसका सामंजस्य नही है। शायद इसी असामंजस्य को देखकर 'सी' प्रति के लेखक ने इस छन्द (95वें) के अन्त की दो पंक्तियों को छोड़ दिया है। इसमे 'पहिय' शब्द आता है जो पूरे ग्रन्थ मे 'पथिक' का वाचक है। परन्तु 'पहय' जैसे शब्द भी ग्रन्थ में आये है (पद्य 103), जो 'प्रहत' या 'प्रहता' के प्राकृत रूप है। यदि 'पहिय' को 'प्रहता' या 'प्रहृता' के अर्थ में लिया जाता, तो यहाँ असामंजस्य नही उत्पन्न होता।

इसके पूर्व नायिका ने अपनी कष्टकथा बतायी है और कहा है, 'जब से तुम प्रवास में गये तब से मुझे नींद भी नहीं आ रही है, स्वप्न-समागम का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है।' इसके बाद वह कहती है कि दिन-रात चिन्तित रहने से उसके अंग सूख गये हैं। परन्तु यह 'रूप' तो इस नायिका का अपना नही है, यह तो प्रिय का है। उसने (प्रिय ने) उस प्रकार उसे अपनाया था, दुलारा था, प्रेमपूर्वक निहारा

था और जाते समय सहेज गया था। वही रूप अब विरह नामक तस्कर चुरा ले गया। हाय भाग्य की मारी (पहिय=प्रहता) या लुटी हुई (पहिय=प्रहृता) किसकी शरण जाय !

इस प्रकार समूचे पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा :

"हे निर्दय, प्रिय-विरह-जन्य वियोग से, संगम के सोच से दिन-रात चिन्तित रहनेवाले मन से अपने आपके बारे मे (जिसके अंग निरन्तर सूखते जा रहे हैं, जिसे आँसू पोंछते रहना पड़ता है) मैं कुछ भी क्यों न कहूँ (उससे क्या लाभ है!), परन्तु (*चिन्ता है उस प्रिय के द्वारा सँभालकर रखने को दिये हुए इस 'रूप' नामक* वस्तु की !) उसी प्रकार (प्रिय ने) जिसे अपने सुन्दर शरीर से लगाया (सुतनु-निवेशित), प्रीतिपूर्वक निहारा (भावेन प्रेक्षित) मुझे सहेजा, वह रूप नामक उसकी वस्तु (उपस्कर) चोर (=विरह) चुरा ले गया। (कब चुराया?) जब मैं मोहवश (बेहोशी की हालत में) समय बिता रही थी (मोहवशेन निर्गमिति क्षणे)। हाय ! लुटी हुई मैं अब किसकी शरण जाऊँ !"

'पहिअ' शब्द का अर्थ 'देशीनाममाला' (6-6) में 'मथित' भी बताया गया है। यहाँ 'पहिय' का अर्थ *'निर्मथिता' भी किया जा सकता है,* परन्तु *'प्रहता' या* 'प्रहृता' अधिक प्रसंगानुकूल होगा। अवचूरिका में 'प्रत्यहं' कदाचित् इसी शब्द का अर्थ है।

2-99 इक्कइ

'इक्कइ' का अर्थ टीकाकारों ने एक किया है। किन्तु इसे या तो तृतीयान्त होना चाहिए या सप्तम्यन्त और इसका अर्थ भी इसी प्रकार करना चाहिए। इसलिए इसका अर्थ होना चाहिए *'अकेले में' या 'अकेले से'; क्योंकि प्राकृत में 'इक्कु'* या 'एक्क' शब्द 'अकेला' के अर्थ में प्रयुक्त होता है (पा. स. म., पृ. 238)।

2-100 पडिल्लो; वोलियंतो

'पडिल्लो' का अर्थ 'क्षिप्त्वा' किया गया है। पड़ाया हुआ या डाला हुआ उचित अर्थ है। 'वोल्लियंतो' का अर्थ 'ऋक्षितं कृत्वा' बताया गया है। बोरते हुए या डुबोते हुए ठीक अर्थ है। हिन्दी की 'बोरना' धातु का यह पूर्वरूप है।

2-103 पढ़िय (पढ़ि); वियसेविणु

एय वयण आइन्निवि दीहर लोयणिहिं।
पढिय अडिल्ल वियसेविणु मयणुक्कोयमणिहिं।।

दोनों टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—'एतद्वचनमाकर्ण्य दीर्घतरादया मदनोत्कौतुच्यया अडिला पठिता।' स्पष्ट ही इसमें 'वियसेविणु' शब्द का अर्थ छूट गया है। अर्थ है, 'विकसित होकर'। चौदहवें पद्य में 'विअसाउ' शब्द का प्रयोग 'विकसतु' अर्थ में हुआ है। 'विअस' धातु में 'एविणु' नामक पूर्वकालिक

क्रिया के प्रत्यय से 'विअसेविनु' या 'वियसेविणु' रूप बनेगा। परन्तु विकसित होने का हेतु क्या है ? उसके बाद जो 'मयणुक्कोयणिहिं' है वह हेत्वर्थक तृतीया है। 'आकोयण' और 'उक्कोयण' ('आकोचन' और 'उत्कोचन') का प्रयोग आँखों की विशेष प्रकार की मदनचेष्टा के अर्थ में पुस्तक में अन्यत्र भी हुआ है। यहाँ भी अर्थ वही है। द्वितीय पंक्ति मे एक मात्रा अधिक है। 'ए' प्रति का 'पढ़ि' पाठ कदाचित् अधिक ठीक है।

2-104 ताकं तहं (ताकं तह ?) महकंतहं (महकंतह ?)

जइ मइ णत्थि णेहु ताकं तहं,
पंथिय कज्जु साहि मह कंतहं।
जं विरहग्गि मज्झणक्कंतह,
हियउ हवेइ मज्झ णक्कंतह ॥

यह पद्य अडिल्ल छन्द मे है। टिप्पणक में इसका लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है :

चउपइ इक्कु जमक्कु जि दीसइ।
अडिल छंदु सु बुहहि सलीसइ॥

अडिल्लच्छंदोलक्षणम् :

चतुःपदेषु एक सदृशो यमको भवति।
स विबुधैः अडिल्लच्छन्दः कथ्यते।

अर्थात् जिसके चारों पदों में एक समान यमक होता है उसे पण्डित लोग अडिल्ल छन्द कहते है। इसलिए एक समान यमक की दृष्टि से 'ताकं तहं' और 'मह कंतहं' पाठ ही उचित है, क्योंकि शेष दो पदों में 'णक्कंतह' (नाक तक) और णंकंतह (नक्तान्त तक) पाठ है। व्याकरण की दृष्टि से भी 'ताकं तहं' (तर्कयामि तथा) और 'मह कंतहं' (मम कांतस्य) पाठ ही अधिक उपयुक्त है।

2-105 मयणाउहवहिय

कहि ण सवित्थरु सक्कउ मयणाउहवहिय,
इय अवत्थ अम्हारिय कंतह सिव कहिय।
अंगभंगि णिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि,
विहलंघल गय मग्ग चलंतिहि आलसिहि॥

'मयणाउहवहिय' का अर्थ टिप्पणकार ने मदनशरव्याप्तया (तृतीयान्त) किया है और अवचूरिकाकार ने 'मदनायुधबाधितो' (प्रथमान्त) किया है। दूसरा अर्थ मूल के अधिक निकट है। 'सक्कउ' क्रिया का कर्ता प्रथमान्त ही होना उचित है। परन्तु मदनायुध 'वधिता' (मदन-बाण-हता) कदाचित् और भी उपयुक्त होता। 'विहलंघल' को दोनों टीकाकारों ने ज्यों-का-त्यों रख दिया है। फर्क इतना है कि टिप्पणकार ने 'विहलंघला' को नायिका का विशेषण माना है और 'गय' को

एकदम छोड दिया है; या यों कहना चाहिए कि 'विहलंघल गय' को नायिका का विशेषण समझकर एक शब्द मे ही व्याख्या कर दी है और अवचूरिकाकार ने इसे गति (गय) का विशेषण समझा है। 'शब्दकोश' मे सम्पादक ने 'विहलंघल' का अर्थ 'विह्वल' किया है, परन्तु यह शब्द 'विह्वलाग' से वना जान पड़ता है। प्राकृत मे यह शब्द इसी से वना हुआ वताया जाता है। 'पाइयसद्द-महण्णव' के अनुसार भी यही अर्थ सगत है। 'सुर-सुन्दरी-चरिअ' (15-205) मे लगभग इसी प्रकार के प्रसग मे 'विअडा विहलघला पडिआ' का प्रयोग है। इस प्रकार इस शब्द को 'विह्वलागी' माना जा सकता है और वह नायिका तथा गति दोनों का ही विशेषण हो सकता है।

2-110 'तुरियउ' (तुरिउ)

पहिउ भणइ पसयच्छि तुरियउ किं वज्जरहि।

इसमे एक मात्रा अधिक है। उचित पाठ 'तुरिउ' होना चाहिए जो 'त्वरित' का अपभ्रंश रूप है। मुद्रित प्रति मे इसका कोई पाठान्तर नहीं है। मुझे प्रसन्नता है कि 'ज' प्रति मे 'तुरिउ' पाठ ही मिला है। इसलिए इस पाठ के बारे मे कोई शंका नही रह गयी। यह पाठ छन्द और व्याकरण दोनों दृष्टियों से ठीक है। यह और वात है कि 'ज' प्रति की टीका मे इसका अर्थ 'किन्तु' दिया गया है जो चिन्त्य है।

2-111 पउक्कु (पडिक्कु ?)

हियउ पउक्कु पडिउ दीवंतरि।
णाइ पतगु पडिउ दीवंतरि॥

दोनो टीकाकारो ने इसका अर्थ किया है, 'मम हृदयं द्वीपांतरे पतितं शून्यं जातमित्यर्थ।' 'ज' प्रति मे भी यही अर्थ दिया है। मतलव यह हुआ कि 'मेरा हृदय द्वीपान्तर मे पतित है' अर्थात् शून्य है। परन्तु इन सभी टीकाकारों ने 'पउक्कु' शब्द का अर्थ छोड दिया है।

'सी' प्रति मे 'पडिक्कु' पाठ है जो ठीक जान पडता है। अर्थ है, 'फडककर' (फडका हुआ ?)। मतलव यह हुआ कि पतंग जैसे फडककर दीप मे पड़ जाता है वैसे ही मेरा हृदय भी उछलकर दूसरे द्वीप मे चला गया है। 'ए', 'बी' और 'ज' प्रतियो मे 'प्रियंगु (या पयगु) णाइ पडिक्कु' पाठ है जो अन्वय की दृष्टि से सुन्दर होगा। पतग की भाँति फडका हुआ। इसलिए 'पउक्कु' के स्थान पर 'पडिक्कु' पाठ ही ज्यादा उचित है। टीकाकारों ने कुछ अर्थ नही समझा और उसे छोड़ ही दिया।

2-112 उत्तरायणि, णिउड्य, तीयउ, होइयउ

उत्तरायणि वड्ढिहि दिवस,
णिसि दक्खिण इट्ठ पुव्व णिउड्डउ।

दुच्चिय वड्ढहि जत्थ पिय,
इहु तीयउ विरहायणु होइयउ ॥

यह पाठ कई दृष्टियों से चिन्त्य है। प्रथम तो छन्द की दृष्टि से ही यह अशुद्ध है। ग्रन्थ के हिसाब से यह 'चूडिलउ' (2–110) छन्द है जिसका लक्षण टिप्पणक में इस प्रकार दिया है।

दोहा छंदु जि दु दलु पढ़ि मत्त ठविज्जिहिं पंच सु वेहा।
चूडिल्लउ तं बुह मुणहु गल्हु पयपइ सव्वु मु एहा ॥

अर्थात् दोहा छन्द के बाद पाँच मात्रा जोड़ने से चूडिल्लअ बनता है। 'उत्तरायणि' मे यदि मुद्रित प्रति के अनुसार 'त' का द्वित्व होना स्वीकार कर लिया जाय तो दोहा छन्द नही बनता। इसलिए 'ज' प्रति मे आया हुआ 'उत्तरायणि' पाठ ही संगत है। मुद्रित प्रति के अनुसार प्रथम पंक्ति मे 14 मात्राएँ होती है, जबकि दोहे में 13 मात्राएँ ही होनी चाहिए। दूसरी पंक्ति में 14 मात्राएँ 'पुव्व' शब्द पर समाप्त हो जाती है। इसके बाद पाँच मात्राएँ होनी चाहिए। 'णिउइउ' मे चार ही मात्राएँ है। इसमे 'णिओइउ' (नियोजित) पाठ उचित है। यह केवल छन्द-दृष्टि से ही नही, व्याकरण-दृष्टि से भी उचित होगा; क्योंकि 'नियोजित' का 'णिओइउ' पाठ ही व्याकरण-संगत है। 'ज' प्रति में णिओयउ' पाठ दिया हुआ है, जो व्याकरण और छन्द दोनों दृष्टियों से उचित सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी मैंने 'णिओइउ' पाठ सगत समझा है। इसका कारण आगे दिया जा रहा है। छन्द की दृष्टि से चौथी पक्ति भी चिन्त्य है। इसमें 'विरहाय' तक दोहे की 11 मात्राएँ समाप्त हो जाती है। उसके बाद 'णु होइयउ' में छः मात्राएँ हैं। इसलिए यहाँ भी एक मात्रा अधिक है। 'होइउ' पाठ होता तो व्याकरण, छन्द और तुक, तीनो दृष्टियों से वह अधिक ग्रहणीय होता। 'तीयउ' का अर्थ है 'तृतीय', लेकिन 'तीअ' या 'तीय' शब्द भी तृतीय के अर्थ मे अधिक प्रयुक्त होता है। आगेवाला अकार, जिसका प्रथमान्त रूप 'उकार' हो गया है, स्वार्थक प्रत्यय है, इसलिए निरर्थक-सा ही है। कवि कठिनाई में पडकर ही ऐसे स्वार्थक प्रत्ययों का व्यवहार करते हैं। मुझे लगता है कि पाठ 'तीयउ' नही था, वल्कि 'तीउ अ' था। मेरे इस अनुमान की पुष्टि के लिए थोड़े अर्थ-विचार की आवश्यकता है। सभी टीकाकारो ने इनका अर्थ लगभग एक ही प्रकार से किया है जिसका भाव यह है कि उत्तरायण मे दिन बढ़ते है, दक्षिणायन में रातें बढती है (यह पूर्व-नियोजित है, अर्थात् पहले से तय है।) टीकाकारों ने इस वाक्य का अर्थ छोड़ दिया है, इसलिए मैंने इसे कोष्ठ के अन्तर्गत कर दिया है। लेकिन जिसमें दोनों ही (दिन और रात) बढ़ जाते हैं, हे प्रिया, यह तीसरा 'विरहायण' उत्पन्न हो गया है। इतना लिखने के बाद तीनों ही टीकाओं में एक अर्थ-गर्भित वाक्य दिया हुआ है। वह इस प्रकार है—'द्वयोर्हानौ तुर्यः गुणायनः चकारात्।' अर्थात् दिन और रात दोनों ही जब छोटे हो जाते हैं तो चौथा 'गुणायन' होता है। वह पद्य में आये हुए 'च' शब्द से ध्वनित होता है। इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ यह है कि जब दिन बढ़ता है तो उत्तरायण होता है, रात बढ़ती है तो

दक्षिणायन होता है, दोनो ही बढते हैं तो 'विरहायण' होता है और जब दोनों ही घटते है तो 'सुखायन' होता है। मूल पद्य में तीन का उल्लेख है, चौथे का नही। टीकाकार कहते है कि कवि के मन मे यह चौथा भी था, क्योंकि अगर ऐसा न होता तो वह 'च' शब्द का प्रयोग न करता। जब उसने कहा कि तीसरा 'विरहायण' भी (च = भी) होता है तो उसके मन में चौथे 'सुखायन' की भी कल्पना अवश्य रही होगी। लेकिन कठिनाई यह है कि पूरे पद्य में 'च' शब्द (जो अपभ्रंश में 'अ' बन जाता है) खोजने पर भी नही मिलता। निस्सन्देह टीकाकारो को च(अ) कहीं-न-कही पद्य में मिला था। नही तो तीन-तीन टीकाएँ एक स्वर से यह वाक्य न लिखती। 'च' शब्द तृतीय के बाद होना चाहिए या फिर 'विरहायणु' के बाद होना चाहिए। तभी ऐसा अर्थ निकाला जा सकता है। मेरा अनुमान है कि 'तीयउ' में 'तीय अ' या 'तीउ अ' ऐसा पाठ था, जिसका सस्कृत-रूपान्तर होगा 'तृतीय च', जिसे बाद मे लिपिकारो ने ठीक न समझने के कारण उलटकर लिख दिया। इन बातों को ध्यान मे रखते हुए मेरा यह अनुमान है कि मूल पद्य का पाठ इस प्रकार रहा होगा :

उतरायण वड्ढिह दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिओइउ।
दुच्चिय बुड्ढिह जत्थ पिय,
इहु तीय अ विरहायणु होइउ॥

व्याकरण, छन्द, तुक और टीकाएँ, चारो दृष्टियो से यही पाठ शुद्ध होगा।

2-113 तो जाइअइ अ कज्जि मइ अइआवलइ

यह पद्य मुद्रित प्रति में इस प्रकार है :

गयउ दिवसु थिउ सेसु वहिय गमु मिल्हियइ,
णिसि अत्थमु बोलेवि दिवसि पुणु चल्लियइ।
विवाहरि दिण विंव जुन्ह गोसिहि वलइ,
तो जाइअइ अ कज्जि मइ अइआवलइ।
जइ न रहहि इणि ठाइ पहिय! इच्छहि गमणु,
चूडिल्लउ खडहड्उ पियह गाहाइ भणु॥

पद्य का भाव यह है कि नायिका कहती है कि 'हे पथिक, दिन बीत गया। थोडा-सा बाकी रह गया है। अब जाने की बात छोड़ो। रात बिताकर फिर दिन मे चलना।' इस पर पथिक ने उत्तर दिया कि 'हे बिम्बाधरे! दिन में सूर्य के बिम्ब का प्रकाश प्रभात होते ही जल उठता है। मैं कार्य मे जाने को उत्सुक हूँ।' इस पर नायिका ने कहा—'हे पथिक, यदि जाना ही चाहते हो, रुकना नही चाहते तो प्रिय से एक चूडिल्लउ, खडहडउ और एक गाहा कह देना।'

इसमें चौथी पंक्ति विचारणीय है। उस पंक्ति का अर्थ टिप्पणकार ने लिखा है, 'अत. कारणाद् रात्रावेव कार्ये उत्सुके मया गम्यते' और अवचूरिका में इस प्रकार अर्थ दिया गया है, 'मया औत्सुक्ये कार्ये गम्यते' और 'ज' प्रति की टीका में

'मयि उत्सुक्ये अति कार्यं गम्यते' है। स्पष्ट है कि टिप्पणकार को जो शब्द मिला था उसमें कोई रात्रिवाचक शब्द था। परन्तु अन्य दो टीकाकारों ने रात्रिवाचक किसी शब्द का अर्थ नही दिया है। या तो उन्होंने रात्रिवाचक शब्द का अर्थ करना छोड़ दिया है या उन्हे जो पाठ प्राप्त था उसमें रात्रिवाचक कोई शब्द नही था। हमने पहले कई पद्यो मे देखा है कि टीकाकार कई बार मूल में आये हुए शब्दो की उपेक्षा कर जाते हैं। इसलिए मूल मे रात्रिवाचक शब्द हो तो भी सम्भावना है कि टीकाकार उसे छोड़ गये हों। इस बात की पुष्टि 'ज' प्रति के मूल पाठ और टीका से होती है। 'ज' प्रति की मूल प्रति मे 'रयणि' शब्द है, किन्तु टीका मे उसका अर्थ नही दिया गया। जो हो, टिप्पणकार के सामने ऐसा पाठ अवश्य था जिसमे रात्रि-वाचक कोई शब्द था और 'ज' प्रति मे तो वह है ही। मुद्रित प्रति की टिप्पणी मे 'सी' आदर्श का पाठ इस प्रकार दिया हुआ है, 'रइणि तो जाइ हुउ कज्जिहि आवलउ', परन्तु इस पाठ मे छन्दोभंग है। मुद्रित प्रति के पाठ मे भी छन्दोभंग है। 'ज' प्रति का यह पाठ अधिक शुद्ध जान पड़ता है। इसमे छन्दोभग नही है, अर्थ स्पष्ट है और 'रयणि' शब्द के आने से टिप्पणकार द्वारा दिये अर्थ के अनुकूल भी है। पाठ इस प्रकार है :

रयणि तोइ जाइहउ कज्जि हउं आवलइ।

इसका अर्थ हुआ कि 'रात रहते ही जाऊँगा, मैं कार्य के लिए व्याकुल हूँ।' यह पाठ उचित जान पड़ता है।

2-120 पच्चिल्लइ

अणरइ छारुछित्तु पच्चिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढए।
इहु अच्चरिउ तुज्झ उक्कंठि सरोरुह अम्ह वड्ढए।

सभी टीकाकारो ने 'पच्चिल्लइ' का अर्थ 'प्रेरयति' किया है। परन्तु वस्तुतः यहाँ अर्थ होना चाहिए---और भी जलना या दहकना। प्राकृत मे 'चिल्ल' धातु का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। 'पाइयसद्दमहण्णव' मे यह शब्द और इसके प्रयोग दिये हुए है। हिन्दी मे 'चिलकना' और 'चिलचिलाना' इसी धातु से आये हैं। टीकाओ में जो 'पुनः अरति रक्षा युक्तः' लिखा है, वस्तुतः 'राख' का सस्कृत बना लिया गया है। किन्तु मूल पाठ से स्पष्ट है कि 'क्षार' होना चाहिए जिसका अर्थ 'राख' भी हो सकता है और 'कोयला' भी हो सकता है। पूरे वाक्य का अर्थ यह होगा—'अनरइ (अरति) अर्थात् बेचैनी का क्षार (कोयला) क्षिप्त होते रहने से यह (विरहाग्नि) और भी प्रज्वलित हो उठती है।' टीकाकारों ने 'पच्चिल्लइ' का अर्थ 'प्रेरयति' करके 'परलोकाय' भी जोड़ दिया है जो मूल पद्य मे कही नही मिलता, अतएव कष्ट-कल्पित है।

2-121 णेय, परिखड्डिउ, रंजियउ, तह पय जंपइ

मुद्रित प्रति में पाठ इस प्रकार है :

खधउ दुवइ सुणेवि अंगु रोमंचियउ,
णेय पिम्म पारवडिउ पहिउ मणि रंजियउ।
तह पय जपइ मियनयणि सुणिहि धीरि खणु,
किहु पुच्छउ ससि वयणि पयासहि फुडुवयणु।

टिप्पणकार ने इसकी जो व्याख्या की है उसका भाव यह है कि वह पथिक 'खधक' और 'दुवइ' सुनकर अग मे रोमाच-कंचुक हो गया; अर्थात् उसके अंग मे इस प्रकार रोमाच हुआ मानो उसने रोमो का कचुक धारण कर लिया तथा प्रेम नहीं गया। नायिका ने पथिक का मन रंजित किया। तथापि हे मृगनेत्रे ! मन को धीर करके कुछ पदो को कहो, फिर वैसे ही मैं कुछ पूछता हूँ। यदि हे शशिवदने, स्फुट (प्रकट) बोलो।

अवचूरिका और 'ज' प्रति की टीका मे भी लगभग यही अर्थ है, किन्तु वहाँ 'रोमांचियउ' का सीधा अर्थ रोमाचित दिया है, 'रोमाचिकचुको बभूव'। इसी प्रकार 'परिवडिउ' का अर्थ 'परिपतित' दिया हुआ है। इतना ही अन्तर है। अब यदि मुद्रित प्रति का पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो दूसरी पक्ति से अन्त तक पथिक की अवस्था का वर्णन है और तीसरी पक्ति से पथिक की उक्ति है। किन्तु दोनो में ठीक सम्बन्ध स्थापित नही होता। अवचूरिका मे 'तह पय जपइ' का अर्थ 'तां प्रति जल्पति' दिया है जो उचित जान पडता है। किन्तु टीकाकार का 'तथापि' अर्थ बिल्कुल असगत है। 'ज' प्रति मे 'परिवडिउ' के स्थान पर 'परिवरिउ' पाठ है जो अधिक उचित जान पडता है। इसी प्रकार 'वी' प्रति का 'रंचियउ' पाठ साहित्यिक दृष्टि से उपयुक्त है। 'प्रेम नही गया था' या 'प्रेम परिपतित नही हुआ' दोनों अर्थों की कोई सगति नही है। 'पहिउ मणि रजियउ' अर्थात् 'पथिक का मन रंजित हुआ' के बदले 'पहिउ मण रचियउ' अधिक सुन्दर पाठ है। जान पड़ता है कि टीकाकारों ने 'रचियउ' का ठीक अर्थ न समझने के कारण उसे 'रंजियउ' बना दिया। 'रचियउ' का सीधा सम्बन्ध तुलसीदास के 'मन जाहि राँच्यो' मुहावरे से है। बिहारी ने भी इस मुहावरे का प्रयोग इस पक्ति मे किया है—'मन काँचै नाचै वृथा साँचै राँचै राम।'

'परिवरिउ' का अर्थ है 'घिरना', आवेष्टित होना—इसका प्रयोग इसी अर्थ मे 'सुपासनाहचरिय' (125) मे मिलता है। 'णेय' शब्द अपभ्रंश मे अवश्य ही 'नैव' के अर्थ में मिलता है; परन्तु यह संस्कृत के 'नेय' से भी बन सकता है, जिसका अर्थ होता है— 'ले आया हुआ', 'आरोपित', 'दूसरो से ग्रहण किया हुआ'। इस पक्ति का पाठ 'ज' और 'वी' प्रतियों के आधार पर इस प्रकार होगा जो साहित्यिक दृष्टि से और भाषा की दृष्टि से भी उत्तम होगा, क्योंकि 'मन राँच्यो' मुहावरे का प्रयोग बाद तक मिलता है और 'रोमचियउ' की तुक 'रचियउ' अधिक उपयुक्त है :

णेय पिम्म परिवरिउ पहिउ मण रंचियउ।

इसका अर्थ प्रथम पक्ति के साथ मिलाकर इस प्रकार होगा—खन्धक और द्विपदी को सुनकर पथिक रोमांचित हुआ और वह नेय-प्रेम अर्थात् नायिका के प्रेम

का स्वयं अनुभव करके उस प्रेमानुभूति से परिवेष्टित हो गया और उसका मन भी रँच गया, अनुरक्त हो गया।

ऐसा अर्थ करने के बाद तृतीय पंक्ति का अर्थ स्पष्ट होता है। मुद्रित प्रति मे जो पाठ है उसमें छन्दोभंग है। वस्तुत. 'सी' प्रति का या 'ज' प्रति का पाठ ज्यादा उचित है। दोनों बहुत-कुछ मिलते हैं। 'सी' प्रति का पाठ इस प्रकार है :

तह जंपइ मियनयणि सुणिहि धीरयसु खणु।

और 'ज' प्रति का पाठ है :

तह जंपइ मियणयणि णिसुणि तुह धीरि खणु।

भाव यह होगा कि पथिक उस अवस्था मे प्राप्त होकर (तुह) बोला, 'हे मृग-नयने ! सुनो, क्षण-भर धैर्य धारण करो', इत्यादि; इनमे 'ज' प्रतिवाला पाठ और भी अच्छा है।

3-117 दसणिहि, खयहि, कुसुम सरच्छयहि

मुद्रित प्रति मे इस पद्य की तीसरी और चौथी पंक्तियाँ इस प्रकार है :

दसिउ दसणिहिं भुअगि अंगु चंदणु खयहि,
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसम सरच्छयहि।

छन्द की दृष्टि से ये दोनो पंक्तियाँ ठीक नही हैं। दोनों में एक-एक मात्रा अधिक है। 'ज' प्रति का पाठ छन्द, काव्य-सौष्ठव और अर्थ, सभी दृष्टियों से उत्तम है। वह इस प्रकार है :

दंसिउ दुसहु भुयंगि अंगि चंदणु तवइ,
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसमसरिच्छयइ।

'भुयंगि अंगि' मे यमक तो है ही, इस पाठ को स्वीकार कर लेने से अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है ! अर्थ है, 'दुःसह भुजंग के द्वारा दंशित चन्दन अंग मे तपता रहता है।' चन्दन के साथ 'तवइ' क्रिया का प्रयोग कवि ने अन्यत्र भी किया है और ऐसे ही प्रसंग मे :

हरियंदणु सिसिरत्थु उवरि जं लेवियउ,
तं सिहणह परितवइ अहिउ अहिसेवियउ।

इसलिए यह पाठ कवि का सम्मत जान पड़ता है। 'खिव' धातु का प्रयोग जलने के अर्थ मे कवि ने अन्यत्र भी किया है :

भयभेसिय अइरावइ गयणि खिवतियइ। 140

इसलिए ऊपर उद्धृत दूसरी पंक्ति का अर्थ यह होगा :

"क्षार से उत्पन्न हार फूल के वाणो द्वारा उत्पन्न क्षत स्थान पर (घाव पर नमक छिड़कने के समान) जलन करता है।" 'कुसुम सरच्छयइ' सप्तम्यन्त प्रयोग है और अच्छा अर्थ देता है। इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि 'ज' प्रति वाला पाठ स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार अन्तिम पंक्ति मुद्रित प्रति मे इस प्रकार है :

'उल्हवइ ण केणइ विरहज्झल पुणवि अंग परिहिसयहिं'

छन्द की दृष्टि से इसमे भी दो मात्राएँ अधिक हैं। 'सी' और 'ज' प्रति का 'विरहहव' पाठ अधिक उचित है। कवि ने अन्यत्र अग्नि के अर्थ में 'हुव' शब्द का प्रयोग किया है :

विरह हवि तविय तणु। 130

क्रिया-रूप मे भी इसका प्रयोग है :

हिवइ हवेइ मज्झ णक्कतह। 104

इसलिए यहाँ भी 'विरहरव' पाठ कवि-सम्मत जान पड़ता है। 'परिहिंसयहिं' की जगह 'परिहिंसियहिं' पाठ व्याकरण-सम्मत भी है और कवि के 'परि' उपसर्ग के अन्यत्र प्रयोगो के अनुकूल भी है और छन्द की दृष्टि से तो यह ठीक है ही। तुल.—परिघोलिर 46, परिभमण 54, परितवइ 135, इत्यादि।

इस पद्य की प्रथम दो पक्तियो मे 'ज' प्रति का पाठ इस प्रकार है :

विवसाविय रवियरिहि तवहि अरविय तवणि।
अमियमओ विहु जणइ दाह बिस जम्मगुणि ॥

यह पाठ अर्थ और छन्द, दोनो दृष्टियो से मुद्रित प्रति से अधिक शुद्ध और ग्राह्य है।

3-138 निभंति

मुद्रित प्रति मे यह दोहा इस प्रकार है :

तणु घणसारिण चंदणिण अलिउ जि किवि चच्चंति,
पुणवि पिएण व उल्हवइ पियविरहग्गि निभंति।

इसमें 'निभति' शब्द विचारणीय है। टिप्पणक मे इसका अर्थ दिया हुआ है 'भ्रमो न' अर्थात् 'इसमें भ्रम नही है' और अवचूरिक में 'निर्भ्रांतम्' अर्थात् 'एकान्त-भाव से'। 'ज' प्रति में 'अत्र श्रमण' लिखा है जो वस्तुतः 'अत्र भ्रमो न' का अशुद्ध पढा हुआ रूप है। जान पड़ता है कि ठीक पाठ 'निभति' नही था बल्कि 'न भंति' था, जिसका सीधा अर्थ हो सकता है—'भ्रम नही'; बाद में उसे गलत पढ़ लिया गया और उसे 'निभंति' पढ लिया गया। यह 'न भंति' पाठ अपभ्रंश-परम्परा के अनुकूल है। हेमचन्द्र द्वारा उदाहृत यह दो दोहो में आया है :

आयइँ लोअहो लोअणइँ जाईं सरइँ न भंति। 365।1

तथा,

अहरिउ-रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भंति। 416।1

3-141

मुद्रित प्रति में यह पद्य इस प्रकार है :

गिभ तवणि खर ताविय बहु किरणुक्करिहिं,
पउ पडंतु पुक्खरहु ण मावइ पुक्खरिहिं।

पयहत्थिण किय पहिय पयहि पवहंतयह,
पइ पइ पेसइ करलउ गयणि खिवंतयह ॥

यह पूरा पद्य विचारणीय है। 'सन्देश-रासक' के विद्वान् सम्पादक ने अन्तिम दो पंक्तियों को सन्देहास्पद माना है (देखिए नोट्स, पृ. 97), परन्तु द्वितीय पंक्ति भी विचारणीय है। टीकाकारों के अनुसार इस पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा :

"ग्रीष्म तपन की खर-उत्तप्त किरणों के उत्कर्ष से सम्बन्धित जल पुष्कर से (अवचूरिका, 'पुष्करावर्त के समान') गिरता हुआ पुष्करियों में (अव.'नदियों में') नहीं अँटता और मार्ग में प्रवसित पथिक जलधार से पदत्राणहस्त (हाथ में जूता लिये) बना दिये गये हैं। आकाश में बिजली से ही करल (पगदण्डक) दिखायी देते हैं, और तरह से नहीं।"

जान पड़ता है कि टीकाकारों ने दूसरी पंक्ति के 'पुष्कर' का अर्थ 'बादल' किया है। 'अवचूरिका' में 'पुष्करावर्त' कहकर इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। 'मेघदूत' में कालिदास ने मेघ को 'पुष्करावर्त' का वंशज बताया था। तीसरी और चौथी पंक्ति में पाठान्तर भी अनेक हैं। 'पयहत्थिण' शब्द का अर्थ है, 'हाथ में पैरवाले'। 'पवहंतयह' का अर्थ 'प्रवास करते हुए' किया गया है, किन्तु किसी पाठ से यह अर्थ समर्थित नहीं होता। यह 'पवहंतियइ' या 'पवहंतियहि' पाठ था जो अधिकांश प्रतियों में प्राप्त होता है। 'पेसइ' का अर्थ टीकाकारों ने 'प्रेक्षते' किया है। प्राकृत और अपभ्रंश में इसका बहुप्रचलित अर्थ है, 'भेजता है'। 'करलउ' बिल्कुल अपरिचित जान पड़ता है। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'पगडण्डक' किया है जो आधुनिक हिन्दी की 'पगडण्डी' से मिलता है। 'देशीनाममाला' में एक शब्द 'करड' है जो इससे मिलता है और जिसका अर्थ होता है, 'कर्बुर रंग का'; अर्थात् कबूतर से मिलता-जुलता हुआ रंग। 'गयणि' के स्थान पर 'सी' प्रति का 'गयण' पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। प्रायः सभी प्रतियों में 'खिवंतिय०' या 'खिवंतियइ' पाठ है। केवल एक प्रति में 'खिवंतयह' पाठ है जो न प्रसंगानुकूल है और न टीकाओं में दिये गये अर्थ के अनुकूल है। वस्तुतः यह पद अब्दुल रहमान की कवित्व-शक्ति का उत्तम निदर्शक है। इसमें उन्होंने साभिप्राय विशेषणों और क्रियाओं का प्रयोग किया है जो एक और अर्थ को ध्वनित करते हैं। उसका एक अर्थ तो प्रायः वही है जो टीकाओं में दिया गया है; किन्तु दूसरा अर्थ रसपरक है और विरहिणी की अवस्था के अनुकूल है। अधिकांश पाण्डुलिपियों की, और सुन्दर अर्थ की दृष्टि से, अन्तिम दो पंक्तियों का पाठ इस प्रकार होना चाहिए। यह पाठ 'ज' प्रति के पाठ से बहुत-कुछ मिलता-जुलता होगा :

पयहत्थिण किय पहिय पहिहिं पवहंतियह,
पइ पइ पेसइ करलउ गयण खिवंतियह।

पूरे पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा :

वर्षा-वर्णन से सम्बन्धित प्रथम अर्थ—"ग्रीष्मताप से खरतप्त किरणों के सम्पर्क के कारण बादल से झरता हुआ पानी (पउपडंतु) पोखरियों में समा नहीं रहा है

(ण मावइ)। (तुलनीय : केशवदास, 'माई कहाँ धौ य माएगी मूरति जो दिन द्वै यहि भाँति बढ़ैगी')। ये पोखरियाँ रास्तो पर बढ़ती हुई पथिकों को पैर हाथ में लेने के लिए मजबूर कर रही हैं, अर्थात् पोखरियों का पानी रास्ते पर आ जाने के कारण पथिको ने जूते अपने हाथ मे ले लिये हैं। पद-पद पर आसमान को जलानेवाली बिजली रास्ता दिखा रही है।"

समासोक्ति द्वारा व्यंजित दूसरा अर्थ—प्रथम पंक्ति का पूर्ववत् ही होगा। दूसरी पंक्ति का प्रत्येक शब्द अर्थ-गर्भ है। 'पउ पडंतु' का दूसरा अर्थ होगा 'पैर पडता हुआ'। 'णमावइ' का दूसरा अर्थ होता है, 'नवाती है, झुकाती है।' कवि यहाँ कहना चाहता है कि इस वर्षाकाल मे प्रेमियो की बड़ी दारुण अवस्था है। पैर पड़ते हुए बादलो को पोखरियाँ और भी झुका रही हैं या नहीं मान रही हैं। इसी प्रकार तीसरी पंक्ति से भी एक दूसरा अर्थ ध्वनित होता है। अर्थ यह है, 'रास्ते में बहती हुई (निचली श्रेणी की स्त्रियाँ) पथिको को पैर हाथ मे लेनेवाला बना रही हैं' यानी, पैर पडवा रही है। चौथी पंक्ति का दूसरा ध्वनित अर्थ यह होगा—'कर्बुर वर्ण का आकाश दु ख पाती हुई विरहिणियो के पति को (पइ) पैरों के पास (पइ) भेज रहा है।'

इस पद्य मे निम्नांकित शब्दो मे श्लेष है :

पउ पडतु—(1) गिरता हुआ पानी; (2) पैर पड़ता हुआ;

पुक्खरहु—(1) पुष्कर (मेघ) से; (2) पुष्कर को भी;

णमावइ—(1) नही अँटता; (2) झुकाती है;

पयहत्थिण—(1) जिन्होने पैर हाथ मे ले लिया है अर्थात् जिन्होने पैर मे पहना हुआ जूता हाथ मे ले लिया है वे; (2) पैर पर हाथ देनेवाले।

पहिहि पवहतियह—(1) पथ पर बहनेवाली; (2) चंचल-स्वभाव स्त्रियाँ;

पइ पई (1) पदे पदे; (2) पति पदे;

पेसइ—(1) दीखता है; (2) भेजता है;

करलउ—(1) पगडण्डी (टीका); (2) करड, कबूतर के रंग का, कर्बुर वर्ण वाला (हे दे. ना.);

खिवतियह—(1) विद्युत्; (2) विरह की ज्वाला से जलनेवाली विरहिणी।

3-148 दुद्धर धर धारोह भरु

वर्षा-वर्णन के प्रसंग मे बादलो के वर्णन 'दुद्धर धर धारोह भरु' का अर्थ टीकाकारो ने किया है, 'दुर्द्धर धारौघभर' अर्थात 'दुर्द्धर धारा समूह से भरा हुआ।' लेकिन ऐसा अर्थ करने से 'धर' शब्द व्यर्थ हो जाता है। 'सन्देश-रासक' के विद्वान् सम्पादक को भी इस शब्द का अर्थ स्पष्ट न होने का सन्देह हुआ था (नोट्स, पृ. 97)। मुझे जान पड़ता है कि यह शब्द व्यर्थ तो है ही नहीं, वरन् कवि की उत्कृष्ट निरीक्षण-शक्ति और कल्पना-नैपुण्य का निदर्शक है। इसमें बताया गया है कि मेघो के निपट निरन्तर क्रम रूई के छोटे-छोटे पहलों के समूह सजाये हुए-से जान पडते

कमलमृणाल भी चले गये। पता नहीं कि टिप्पणकार ने यह अर्थ किस पाठ के आधार पर किया। परन्तु जिस पाण्डुलिपि (बी) में टिप्पणक प्राप्त हुआ है, उसमें अन्तिम पंक्ति का पाठ इस प्रकार है :

'मरिम मुरालागमि तग्गागमि'

कदाचित् 'तग्ग' शब्द का भाव 'तागा' समझकर उन्होंने मृणालतन्तु कर लिया है। परन्तु फिर भी इस पाठ और इस अर्थ का कोई सामंजस्य समझ मे नही आता। अवचूरिकाकार ने जो अर्थ दिया है, उससे लगता है कि पाठ कुछ इस प्रकार का रहा होगा :

'मरिम मरालागमिणहु तग्गमि'

यहाँ 'हु' हिन्दी के 'भी' अव्यय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका संस्कृत मे अवचूरिकाकार ने 'च' अर्थ दिया है। 'मरलागमणि' का अर्थ हुआ 'मरालों के आगमन से' और 'तग्गमि' का अर्थ हुआ, 'उनके जाने से'। पूरे का अर्थ हुआ, 'मराल के आगमन और गमन दोनों से मैं मरती हूँ।' यहाँ 'मराल' शब्द अर्थ-गर्भ है। इसमें एक और अर्थ ध्वनित होता है—'मराल' अर्थात् 'मरणवाला'! 'हु' अव्यय का 'भी' अर्थ में प्रयोग अन्यत्र भी है :

णहु किहु कहइ। 96

—'किहु' अर्थात् कुछ भी।

3-186 कोसिल्लि

मुद्रित प्रति में जिस पंक्ति में यह शब्द आया है, वह इस प्रकार है :

लइ ढुक्कउ कोसिल्लि हिमन्तु तुसार भरु

टिप्पणक, अवचूरिका और 'ज' प्रति की टीका में भी 'कोसिल्लि' का अर्थ 'कुशलेन' अर्थात् कुशलतापूर्वक दिया हुआ है। किन्तु 'देशीनाममाला' में इस शब्द का अर्थ दिया गया है—प्राभृतम्। इस अर्थ को स्वीकार कर लेने से इस पंक्ति का विशेष अर्थ यह होगा—हेमन्त तुषार-भार का उपहार लेकर आ पहुँचा; यह अर्थ निस्सन्देह उत्तम है।

3-192 सूडिय

टिप्पणकार ने इस शब्द को छोड़ दिया है, लेकिन 'अवचूरिका' और 'ज' प्रति की टीका में 'सूडिताः सतः' कहकर चलता कर दिया गया है; कोई अर्थ नहीं दिया गया है। हेमचन्द्र (4।106) ने 'सूड्' धातु को 'भंज्' धातु का आदेश माना है। इसलिए 'सूडिय' का अर्थ होगा, 'तोड़ा हुआ'।

3-195 मत्तमुक्क (मज्जमुक्क), विवहगंधक्करसु,

वरच्छणि, सीमलिणिय,

'ए' प्रति के सिवाय बाकी तीनो प्रतियो में 'मज्जुमुक्क' पाठ है। केवल 'ए' में

'मत्तमुक्क' पाठ है। लेकिन तीनों ही टीकाओं मे 'मात्रामुक्त' अधिक अर्थ दिया हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि टीकाकारों के सामने 'मत्त-मुक्क' पाठ ही था। लेकिन अधिकांश प्रतियों में होने के कारण 'मज्जमुक्क' पाठ ही ज्यादा ठीक है, जिसका संस्कृत-रूपान्तर 'मद्य-मुक्त' होगा। इसी प्रकार 'ज' प्रति में आया हुआ 'विविह गन्धुक्करसु' उत्तम है। सभी टीकाकारो ने इसका संस्कृत-रूपान्तर 'विविधगन्धोत्कर्ष' दिया है। इससे 'विविहगन्धक्कु रसु' रूप का बनना सहज है। नीचे की पंक्ति में 'इक्ख रसु' के साथ इसकी तुक मिलायी गयी है। इस दृष्टि से भी ऊपर की पंक्ति मे 'रसु' ही होना चाहिए, 'रिसु' या 'रेसु' नही। 'वरच्छणि' पाठ भी चिन्त्य है, यद्यपि सभी टीकाकारों के सामने यही पाठ रहा होगा; क्योंकि सभी ने इसका अर्थ किया है, 'वरोत्सवे'। मगर 'बी' और 'ज' प्रति मे जो 'वरत्थणि' पाठ है वह ज्यादा उचित है, जिसका अर्थ है 'वरार्थिनी', अर्थात् वर की प्रार्थना करनेवाली। आगे के 'पीणुन्नयथणिय' मे 'थणि' के साथ इसका यमक भी है।

3-199 उवाडयणि

इस शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'गर्दभी' किया है। प्रसंग यह है कि नायिका कह रही है कि 'मैंने प्रिय को बुला लाने के लिए अपने मन को दूत बनाकर भेजा। प्रिय तो आया नही, मेरा मन भी वही प्रिय के पास रह गया। यह उसी प्रकार हुआ जैसे गर्दभी सीग के लिए गयी और उसके कान भी खो गये।' 'उवाडयणि' का अर्थ 'गर्दभी' समझने का कोई आधार नही है। 'ज' प्रति मे 'वाडव्वणि' पाठ है। यह उचित पाठ जान पड़ता है। संस्कृत में 'बड़वा' घोड़ी को कहते हैं। उसी से बना हुआ 'वाडव्य' शब्द खच्चर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'वाडव्य' से अपभ्रंश का 'वाडव्व' बना है और उसी में 'णी' स्त्रीलिंग प्रत्यय जोड़कर 'वाडव्वणी', 'खच्चरी' के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

3-208 मुद्रित प्रति में यह पूरा पद्य इस प्रकार है :

पज्जलंत बिरहग्गि-तिव्व झालाउलं,
मयरद्धउवि गज्जंतु लहरि घण भाउलं।
सहवि दुसहु दुत्तर बिचरिज्जइ सब्भयं,
मह णेहह किवि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भयं।

टिप्पणकार ने इसका जो अर्थ किया है, उसकी हिन्दी छाया यह है :

"मकरध्वज भी 'घन भाव से'—या—'आकुल' भाव से प्रज्वलन्त विरहाग्नि-तीव्र ज्वालाकीर्ण रूप से गर्जन कर रहा है और मैं दुस्तर-दुसह भाव से सहन करती हुई सभय बनी रहती हूँ। परन्तु सोचती हूँ कि मेरे स्नेह से अपीड़ित रहकर स्तम्भ-तीर्थ नामक दुर्ग मे मेरा प्रिय वाणिज्य करता है।"

अवचूरिकाकार ने जो अर्थ किया है उसकी छाया यह जान पड़ती है :

"प्रज्वलन्त विरहाग्नि तीव्र ज्वालाकुल में, मकरध्वज की भाँति गरजता हुआ

(है)। लहरी घन-निविड-प्रभा-कान्त्याकुल दु.सह में सहन करके सभय-भाव से ही विचरण किया जाता है। मेरे स्नेह का कोई दुर्ग निर्भय-भाव से वाणिज्य करता है।"

इस टीका में सप्तम्यन्त विशेषणों का विशेष्य क्या है यह स्पष्ट नही होता। इसीलिए सारा अर्थ अस्पष्ट लगता है। किन्तु 'ज' प्रति में यही अर्थ दिया गया है और वहाँ सप्तम्यन्त पदो को प्रथमान्त कर दिया गया है, जिससे लगता है कि ये सब विशेषण मकरध्वज के हैं। दोनों पाठों को यदि मिलाकर अर्थ किया जाय तो अर्थ इस प्रकार बनता है—

"विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला से आकुल मकरध्वज भी गरज रहा है, जो लहरी-घन-निविड-प्रभा-कान्ति से व्याकुल दुःसह और दुस्तर है, उसे सहन करके भयपूर्वक भ्रमण किया जाता है, किन्तु मेरे स्नेह का कोई दुर्ग है जिसमें वह निर्भय वाणिज्य करता है।"

परन्तु इतने से भी कवि का तात्पर्य स्पष्ट समझ में नही आता। चौथी पंक्ति में जो 'किवि' है, 'ज' प्रति में इसके स्थान पर 'कि' है किन्तु टीका में अर्थ 'किमपि' ही दिया है। इसका अर्थ प्रसंग के अनुकूल होना चाहिए। इसके पूर्व के छन्दों में नायिका ने वसन्त में रसगन्धलुब्ध भ्रमरों की क्षुब्धता का वर्णन किया है। वे परस्पर मिलित कण्टको से विद्ध हो रहे है तो भी तीक्ष्ण कण्टको के दुःख की अवहेलना करके मधुपान कर रहे हैं। रस-लोभ से रसिकगण अपने शरीर की परवा नही करते। प्रेम मोह में कोई पाप की आशंका भी नही करते :

विज्झंति परुप्पर तरु लिहंति,
कंटग्ग तिक्ख ते णहु गणंति।
तणु दिज्जइ रसियह रसह लोहि,
णहु पाउ गणिज्जइ पिम्म मोहि।

इस मधु-प्रेम-व्यापार की क्रीड़ा को देखकर ही नायिका के मन में विस्मय हुआ और उसने यह छन्द पढा :

मह पिक्खवि विभिउ मणिहि हूउ,
सुणि पहिय कहिउ रवणिज्जरूउ। 207

इसलिए इसमें मधु-प्रेम में कष्ट पाने की बात होनी चाहिए और साथ ही विस्मय का भी कोई हेतु अवश्य होना चाहिए। यह विस्मय तभी हो सकता है जब ऐसी ही अवस्था मे ऐसा कुछ घटता न दिखे। नायिका के मन की स्थिति से यह अनुमान किया जा सकता है कि जब सभी लोग प्रेम के लिए कठोर पीडा को सहकर भी प्रेम-पात्र की ओर कठिनाई के साथ अग्रसर हो रहे है, उसी समय, उसी अवस्था में उसका प्रिय क्यों ऐसा नही कर रहा है! उसके मन मे यह भी बात आ सकती है कि पुरुष भ्रमरों को रस के लोभ से अपना शरीर दे रहे हैं और वह भी इसी प्रकार रस-लोभ से अपने प्रिय को अपना शरीर अर्पण करना चाहते हैं। परन्तु फिर भी उसका प्रिय समस्त विघ्न-बाधाओं के भय को दूर करके क्यों नही आ रहा है! जब सभी लोग भय और कष्ट की परवा किये बिना दुस्तर-तरण कर रहे हैं,

तो उसका प्रिय ही क्यों ऐसा भय और जोखिम नहीं उठा रहा है ! उसके मन में यह भी वितर्क उठ सकता है कि कदाचित् यह उसके प्रेम की ही कमजोरी है और यह प्रेम उसके प्रिय तक नहीं पहुँच रहा है। वह उसके प्रेम के लिए दुर्गम है। भ्रमरों के पुष्प तक पहुँचने मे बाधक कण्टक है। उन्ही का भय या जोखिम नायिका के प्रिय के मार्ग का बाधक भयंकर समुद्र है। भ्रमर अगर कण्टको की उपेक्षा कर सकता है, तो उसके प्रिय को भी समुद्र की उपेक्षा करनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है, यही विस्मय का हेतु है। इस दृष्टि से देखने पर इस पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा :

दु:सह दुस्तर गर्जमान मकरध्वज को, जो जलती हुई विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला से उसी प्रकार आकुल है, जिस प्रकार बडवाग्नि की ज्वाला से समुद्र आकुल रहता है और जो घनी तरगो के आवर्त्त से उसी प्रकार भ्रमाकुल है जिस प्रकार समुद्र हुआ करता है, सहकर भी सब लोग जोखिम उठाकर विचरण कर रहे हैं, किन्तु मेरा प्रिय, मेरे स्नेह के लिए दुर्गम है, बिना किसी प्रकार के भय या जोखिम को उठाये, निर्भय होकर वाणिज्य कर रहा है।

यहाँ 'दुग्ग' शब्द का प्रयोग करके कवि ने समासोक्ति के द्वारा यह भी बताना चाहा है कि भयंकर मकरध्वज (समुद्र) मे स्थित दुर्ग जिस प्रकार उसकी भयकरता से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार मेरा प्रिय भी मकरध्वज (कामदेव) की भयकरता से अप्रभावित है। टिप्पणकार की व्याख्या का 'मम स्नेहेन अपीडित:' वाक्याश इसी बात की ओर इशारा करता है। जिस प्रकार समुद्र-स्थित दुर्ग समुद्र की बाधाओ से निर्भय होकर व्यापार करता है, उसी प्रकार मेरा प्रिय भी कामदेव की बाधाओ से निर्भय होकर व्यापार कर रहा है।

यहाँ मकरध्वज, झालाउल, लहरिघण, भाउल आदि शब्दों का प्रयोग करके कवि ने कामदेव के साथ ही भयंकर समुद्र की व्यजना की है। मकरध्वज शब्द का प्रयोग करके उसने बताना चाहा है कि सभी लोग जब मकरध्वज (समुद्र) की भयंकरता की उपेक्षा कर रहे है तो उसका प्रिय ही मकरध्वज (कामदेव) की क्यो न उपेक्षा करे। इसके बाद नायिका के चित्त मे यह वितर्क उपस्थित होता है कि कदाचित् उसका प्रिय उसके प्रेम के लिए दुर्गम है। 'मह णेहह किवि दुग्ग' से तात्पर्य प्रिय से है। 'भय' शब्द का व्यवहार जोखिम के अर्थ मे होता है।

3-219 नच्चीयइ, बसंतकालु, हार, परिग्विल्लरीहिं

'ज' प्रति का 'णच्चियइ' पाठ छन्द और व्याकरण की दृष्टि से उचित है। 'बी' प्रति मे 'वसन्तकालु' के स्थान पर 'बसन्तयालु' (बसन्त-ताल:) पाठ है जिसका अर्थ होगा अपूर्व वसन्तताल (बसन्त राग के ताल से) नाचा जा रहा है, जो उत्तम ज्ञात होता है; 'परिखिल्लरी' का अर्थ टिप्पणकार ने 'परिवेष्टिता' किया है और अवचूरिका में 'परिखेलन्ती' अर्थ दिया है। दे. ना. मा. (2170) मे 'खल्लिरी' का अर्थ 'संकेत' या अभिनव' दिया हुआ है जो यहाँ प्रसंगानुकूल जान पड़ता है। इससे

'परिखिल्लरी' का अर्थ होगा [illegible] की आंगिक चेष्टाओं को करती हुई'; इस प्रसंग मे भी 'बी' प्रति का 'हारि' पाठ ज्यादा उचित है, अर्थ है, 'हार द्वारा'।

3-223 पहावरिउ, अणाइ, अनंत

'पहावरिउ' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने 'पन्थानं आवरयन्' किया है, अर्थात् 'पथ को आवृत करता हुआ'। भाव यह हुआ कि ज्यों ही विरहिणी पथिक को सन्देश देकर दक्षिण की ओर मुड़ी, निकट ही पथ को आवृत करता हुआ उसका पति दिखायी दिया और वह तुरन्त हर्षित हुई ('आसन्न पहावरिउदिट्ठु णाहु तिणि झत्ति हरिसिय')। किन्तु यह अर्थ कुछ स्पष्ट नही है। 'पहावरिउ' शब्द का अर्थ होगा *'पथावरित', अर्थात् मार्ग से ढका हुआ या छिपा हुआ।* मतलब यह हुआ कि पति तो उसका निकट ही आ गया था किन्तु रास्ते के मोड़ के कारण आवरित-सा था, दिखायी नही दे रहा था। 'पहावरिउ' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है, प्रभा से आवरित। कवि 'पहावरिउ' शब्द के प्रयोग से दो अर्थ ध्वनित करना चाहता है। नायिका का प्रेमी मार्ग के मोड़ के कारण दिखायी नही दे रहा था, लेकिन नायिका को देखनेमात्र से 'प्रभावृत्त' भी हो गया! रड्डा के अन्त में जो दोहा है, वह इस प्रकार है :

जेम अचिंतउ कज्जु तसु सिद्ध खणद्धि महंतु
तेम पठंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु

अर्थ है—'जिस प्रकार उस नायिका का अचिन्तित महान् कार्य क्षणार्द्ध मे ही सिद्ध हो गया, उसी प्रकार पढ़ने-सुननेवालों का भी हो, अनादि-अनन्त परम-पुरुष की जय हो।' यही ग्रन्थ का अन्तिम दोहा भी है। इसलिए कवि का अनादि-पुरुष का स्मरण कर लेना उचित है। किन्तु 'सी' प्रति मे एक पाठ और भी है जो किसी टीकाकार की दृष्टि में नही पड़ा है। यह पाठ 'जयउ अणाइतु अन्तु' है, अर्थात् 'अनागत (भावी) अन्त की जय हो'। यदि यह पाठ स्वीकार किया जाय तो अन्तिम पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा :

"उसी प्रकार पढ़ने-सुननेवालों के अनागत अन्त की जय हो; अर्थात् पढ़ने-सुननेवालों के मन मे जो भी इच्छा हो उसका अन्त भविष्य मे जययुक्त होवे।" यह अर्थ इस दोहे को भगवान् की स्तुति न बनाकर सीधे-सादे आशीर्वादात्मक भरत-वाक्य के रूप मे कर देता है। परन्तु यह पाठ काफी महत्त्वपूर्ण है। 'अनागत अन्त' का अर्थ है, कयामत का दिन! यह पाठ कवि को निश्चित रूप से मुस्लिम धर्मानुयायी सिद्ध करता है।

['सन्देश-रासक' की प्रस्तावना]

वली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
साद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थाव
वली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजा
साद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
वली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
साद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
वली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
साद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
वली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
साद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
वली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
साद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
वली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
साद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
वली [illegible]
साद द्विवेदी [illegible]
वली [illegible]
साद द्विवेदी [illegible]
वली [illegible]
साद द्विवेदी [illegible]
वली [illegible] हजारीप्रसाद द्विवेदी
साद द्विवेदी [illegible] द्विवेदी ग्रन्थावली
वली [illegible] हजारीप्रसाद द्विवेदी
साद द्विवेदी [illegible] द्विवेदी ग्रन्थावली
वली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
साद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

[illegible]

[illegible]

[illegible]